सूचना

हम शीघ्र 'प्राकृतिक विज्ञान कार्यालय' मुंबईमें स्थापित करनेका विचार कर रहे हैं। अतएव जबतक कार्यालय स्थापित न हो एस. के. मिश्र, बरेली या [illegible] एण्ड सन्स, पीलीभीतसे पुस्तक मंगावें और कार्यालय सम्बन्धी पत्र व्यवहार करें।

मैनेजर प्राकृतिक विज्ञान कार्यालय.

सेठ करोड़ीमल,

मालिक फर्म छोटेलाल दुर्जनमल, खारा कुवा, मुंबईवालोंने

पुरस्कार रूपसे

डाक्टर पी. आचार्यके निमित्त

मिस्टर चिंतामण सखाराम देवळे द्वारा

मुंबई वैभव प्रेस, सर्वेन्ट्स ऑव इंडिया

सोसाइटी'ज़ बिल्डिंग, सैंडर्स्ट रोड

मुंबईसे मुद्रित कराया

और

पं. सरस्वती किशोर मिश्र गली नवाबान, बरेलीने

प्रकाशित किया।

सूचना

पुस्तक वी. पी. द्वारा भेजनेका नियम नहीं है। अतः पुस्तकका मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेजना चाहिये।

मैनेजर प्राकृतिक विज्ञान कार्यालय.

समर्पण
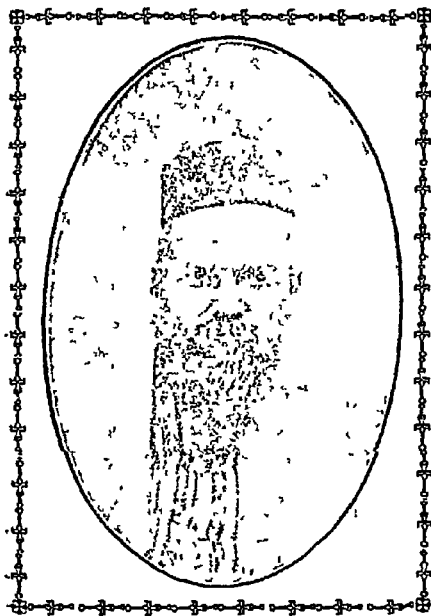
श्री० पं० वनवारी लाल मिश्र, सैयाह हिन्द।

हे पिता! हमें जीवन पर्यन्त यही खेद रहेगा कि हम आपके जीवनकालमें इस तुच्छ शरीरसे आपकी कोई सेवा करनेको समर्थ न हुए। परन्तु इसके साथ यह प्रसन्नताभी है कि आप हमारे इस कार्यसे, जो हम मानव जातिकी शारीरिक व्याधियोंका इति करनेके निमित्त कर रहे थे, वहुत सन्तुष्ट थे। अतः आपके आशीर्वादसे इस कार्यमें सफलता प्राप्त होनेकी पहिली सीढ़ी प्राकृतिक विज्ञान मुद्रित होनेसे आपके पूज्य एवं पवित्र चरणोंमें शीष नवाकर आपकी भेंट यही 'प्राकृतिक विज्ञान' है। आशा है आप हमें अपने समस्त पुत्रोंमे दीन एवं असहाय जानकर हमारी इस तुच्छ भेंटको स्वीकार करके निश्चय प्रसन्न होंगे।

कर्नल

यदि

आप नेचरोपैथिक डाक्टर बनना चाहते हैं

तो

अनेक बार प्राकृतिक चिकित्साका समझके साथ

पाठ कीजिये

और

तदुपरान्त जबतक हमारा इन्सटीट्यूट

कहीं स्थापित न हो जाय तबतक

पत्र व्यवहार द्वारा शिक्षा

प्राप्त करिये।

पत्र द्वारा शिक्षा देनेकी फीस	२०)
परीक्षा लेनेकी फीस	५)
डिप्लोमा प्रदान करनेकी फीस	५)

पी० आचार्य,

नेचरोपैथ।

भूमिका

जहांतक हमको स्मरण है हमारी बाल्यकालसेही चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते और खेलते-कूदते प्रत्येक समय प्रकृतिकी लीलाएं नयन गोचर होनेपर अपने पितासे प्रश्नपर प्रश्न करनेकी प्रकृति थी, जिससे वह उत्तर देते, देते दुःखी हो जाते थे। किन्तु उन्होंने हमको ढाई वर्षकी आयुसे अपने साथही रक्खा था, और वह निरन्तर भारत भ्रमण करते रहते थे, जिससे प्रायः अनेक स्थानोंपर अनेक भारतीय एवं योरोपीय विद्वानोंसे परिचय होनेके कारण हमको बहुतसे प्रश्नोंका उचित उत्तर मिल जाता था, परन्तु फिरभी हम सन्तुष्ट नहीं होते थे। हमारे प्रश्नभी भिन्न, भिन्न विषयोंपर और बड़े जटिल होते थे। अतः किसी एक विषयके विद्वानकी यह सामर्थ्य नहीं थी कि वह हमारे समस्त प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दे सके, और इसी कारण वश हमारे पिता हमारे शिक्षणार्थ किसी विशेष शिक्षकको नियुक्त न करसके, और ग्यारह वर्षकी आयुतक हमको अपने साथ भारत भ्रमणही कराते रहे। वह हमको सदा स्वयं विद्याध्ययन कराते थे और यथाशक्ति हमारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी-भी चेष्टा करते थे। परन्तु यदि हमारा कोई प्रश्न शरीर विज्ञानके सम्बन्धमें अति जटिल होता था तो वह बहुधा निरुत्तर होजाते थे, प्रत्युत कभी, कभी तो डाक्टरोंके व्यवसायकी तीव्र निन्दा किया करते थे। वह कहा करते थे :—"यह बड़ाही घृणित व्यवसाय है। क्योंकि डाक्टर लोग केवल मांस, अस्थियों, रक्त और शरीरके अन्य दूषित पदार्थोंकाही स्पर्श नहीं करते हैं वरन् योरोपमें तो डाक्टर लोग अनुभव प्राप्त करनेके निमित्त मल-मूत्रादिका स्वाद लेनेमेंभी आनाकानी नहीं करते हैं।" उनके इस कथनसे हमें डाक्टरोंके व्यवसायसे घृणा होनेकी अपेक्षा दिनोंदिन शरीर विज्ञानसे रुचि होती गयी, और अन्तमें वही विषय हमारे जीवनका उद्देश्य हो गया। इसीसे जब हमारी आयु छः वर्षकी थी हम अपने पितासे बहुत कुछ दण्डित होनेपरभी वर्षा ऋतुमें होनेवाली छोटी, छोटी मेंढकोंको मार और चीरकर बड़े ध्यानसे देखा करते थे; और अन्य छोटे, छोटे जीवोंकोभी

हमको 'प्राकृतिक विज्ञान' लिखनेकी कैसे सूझी ?

मारकर चीरना और उनके प्रत्येक अवयवको देखना हमारे लिए स्वाभाविक होगया था। इसके अतिरिक्त हमारे छोटे चचाकी पुत्रीने बहुतसे कबूतर पाल रक्खे थे। अतः कबूतरोंके अण्डे और बच्चे या कभी, कभी बिल्ली द्वारा मारे हुए कबूतर हमारी प्रयोग शालामें बहुत उपयोगी होते थे। अपात्र श्मशानों या पशुओंके वध स्थानोंमेंभी जानेसे हमें कोई घृणा या भय न था; और अपने पिताके साथ जब कभी हम ऐसे नगरमें जाते थे जहां कि मैडिकल म्यूज़ियम और मैडिकल विद्यालय हो तो हम अवश्य उसे देखनेका प्रयत्न करते थे, और हमारी प्रबल इच्छा रहती थी कि हमभी किसी दिन संसारमें अद्वितीय डाक्टर बनें और किसी ऐसे अमृतकी खोज करें जिससे कभी मनुष्यकी मृत्यु न हो, या ऐसे साधनोंका ज्ञान प्राप्त करें जो न्यूनातिन्यून मनुष्यकी असमय मृत्यु न हो, और कोई मनुष्य कभी किसी रोगसे पीड़ित न हो। इसके अतिरिक्त हमको किसी ऐसे रासायनिक पदार्थकीभी खोज थी, जिसकी सहायतासे पेड़े या अन्य खोयेकी मिठाई सेवन करनेपर शरीरमें यथेष्ठ रक्तकी उत्पत्ति होसके। क्योंकि हमको पेड़े बहुत प्रिय थे और [illegible]नकी नीरसताके कारण हमारे पिता इस भयसे हमें उन्हें सेवन नहीं करने देते थे कि [illegible] शरीरमें रक्तकी उत्पत्ति बहुत कम होती है। किन्तु शरीर विज्ञान और रसायन शास्त्रका ज्ञान प्राप्त करनेके निमित्त यह सब कुछ अभिलाषा होते हुएभी हमको विद्याध्ययनके अनावश्यक परिश्रमसे बहुतही घृणा थी। हम केवल नैसर्गिक रीतिसेही शिक्षा प्राप्त करनेके प्रेमी थे। हमारी इच्छा थी कि किसी प्रकार मस्तिष्कमें ऐसी ज्ञान ज्योति हो जो स्वतः बिना किसी परिश्रमके हमको संसारकी समस्त विद्याएं प्राप्त हो जायँ। इसके साथ, साथ हमको यह विश्वासभी था कि यदि हमको कोई ऐसा गुरु न मिलेगा, जो बिना परिश्रमके हमें ज्ञान प्राप्त करा सके, निश्चय प्रकृतिकी सहायतासे न्यूनाति न्यून हम अपने प्रिय विषयका ज्ञान प्राप्त करनेमें सफल होंगे। अतएव हम इसी कारणवश किसी विद्याको आज कलकी शुष्क और कृत्रिम पाठ्य प्रणालीके हेतु किसी गुरु द्वारा प्राप्त न कर सके। परन्तु इसके साथही उस समय स्वमेव हमारी प्राकृतिक शिक्षाका विकास हो चला था। इसके अतिरिक्त देश, देश भ्रमण करनेसे हम संसारके अन्य बालकोंके समान नहीं थे। हम बिना किसी संकोचके बड़े, बड़े [illegible]नोंको अपना पाठ सुना देते थे, अड़ करना तो हम कभी सीखेही नहीं थे [illegible]र दबे स्वरसे बोलनाभी हम नहीं जानते थे। इसीसे भारतके ब्रिटिश प्रधाधि-[illegible], राजा-महाराजाओं, और जनताकेभी अन्य प्रतिष्ठित मनुष्योंने हमको छः

वर्षकी आयुमें प्रसन्न होकर प्राय साढ़ेतीनसौ प्रमाण पत्र दिये थे, जिनमेंसे केवेल एक बाबू भैरव नारायणजी बी० ए०, आवकारी सुप्रेन्टेन्डेन्ट, अजमेरहीका हमारे निमित्त उपयोगी सिद्ध हुआ। उस प्रमाण पत्रने हमारे हृदयमें ऐसी लहर उत्पन्न करदी कि हमको प्रत्येक समय किसी नूतन पदार्थका आविष्कार करनेकी चिन्ता व्यापने लगी। कभी हम काल्पनिक रूपसे किसी अद्भुत यन्त्रका आविष्कार करनेमें लीन हो जाते थे, कभी अमृतका खोज करनेमें तनमय होजाते थे, कभी समस्त शास्त्रोंके पण्डित हमही बन जाते थे। सारांश यह है कि कोई ऐसा असम्भव पदार्थ नहीं था जिसका आविष्कार हमारा मस्तिष्क उल्टा-सीधा काल्पनिक रूपसे न कर लेता हो। अतः उस समय हम किसी प्रकार एक उन्मादीसे कम नहीं थे। परन्तु हमारी उस दशासे उस समय जो बड़ा लाभ हुआ वह यह था कि हम किसी विषयपर दत्त चित्तसे विचार करने योग्य हो गये, और क्रमशः यह अभ्यास इतना बढ़ गया कि यदि हम किसी विषयपर विचारते थे तो उसमें ऐसे घुस जाते कि फिर अन्य किसी बातका ध्यान नहीं रहता था। इस प्रकार यदि मार्ग चलते, चलते हम किसी विषयपर मनन करने लगते तो हम कहींके कहीं पहुंच जाते थे, यदि भोजन सेवन करते समय किसी विषयपर ध्यान चला जाता था तो भोजन करनाही भूल जाते थे और यदि शयन करते समय कोई समस्या उपस्थित होती तो समस्त रात्रि उसीकी पूर्तिमें निकल जाती थी; और निरन्तर कई वर्ष पर्यन्त हमारा यही क्रम रहा, प्रत्युत दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होता गया, जिससे हमारे बाल्य कालकी चपलता नष्ट होने लगी और नित्य प्रति उसका स्थान गम्भीरतासे तीव्र गतिके साथ लिये जानेपर हम अपने पिताकी दृष्टिमें पहिलेकी अपेक्षा च्युत होने लगे। इसके उपरान्त सन् १९०२ ई० में हमारे यकृत रोगसे पीड़ित होनेपर यथेष्ट पथ्यसे रहनेपरभी औषधियों द्वारा रोगसे मुक्त न होने एवं अट्ठाइसवीं आक्टोबर सन् १९०३ ई० को अपनी माताकी मृत्यु हो जानेसे एकैक हमारी विचार शक्तियां किसी अन्य पदार्थका आविष्कार करनेके स्थानमें औषधियोंकी त्रुटियां और प्राकृतिक चिकित्साके खोजमें लग गयीं। क्योंकि उनके रोगके आरम्भ कालसेही अनेक विद्वान एलोपैथिक डाक्टरों, देशी वैद्यों एवं यूनानी हकीमोंकी पूर्ण पथ्यके साथ चिकित्सा होनेपरभी उनकी असमय मृत्यु हो गयी थी, और अति प्रभावशाली औषधियांभी कुछ दिन अपने गुण दिखानेके उपरान्त निरर्थक सिद्ध होती थीं, प्रत्युत लाभके स्थानमें हानि पहुंचाती

थीं। इस लिए उसी दिनसे एकैक औषधि मात्रसे हमारी रही सही श्रद्धाभी जाती रही और हम औषधियोंको विष समझकर उनके कट्टर रिपु हो गये। किन्तु उस समय न तो हमको इतना ज्ञानही था कि हम औषधियोंके विषयमें स्वयं अधिक जान सकते न हम उस विषयपर शिक्षा प्राप्त करनेमेंही स्वतन्त्र थे। इस लिए कई वर्षतक तैलीके-बैलके समान व्यर्थकी शिक्षा प्राप्त करनेमें लगे रहे। परन्तु उसमें कभीभी हमारा मन नहीं लगता था। इसीसे हम अपने शिक्षाकालमें अनेक स्थानोंपर रहकर अपना समय नष्ट करते रहे। किन्तु जहां हमको बहु मूल्य समयके नष्ट होनेका दुःख है वहां इतनी प्रसन्नताभी है कि अनेक स्थानोंपर अनेक मनुष्योंके साथ रहनेसे यह अनुभव हो गया कि संसारमें एक मातृहीन बालकके साथ मनुष्य किस कुटिल नीतिको काममें लाते हैं, दूसरे नित्य आपत्तियोंका सामना करते, करते हम इतने बलवान होगये कि फिर किसी भारीसे भारी विपत्तिकोभी हम तुच्छही समझने लगे; और अपने समस्त सम्बन्धियोंके अन्यायपूर्ण कुटिल व्यापारसे दुःखी होकर शनैः, शनैः हमारा पग स्वतन्त्रताकी ओर अग्रसर हुआ और फिर हमपर जितना अधिक [illegible] आतङ्क दिखानेकी चेष्टा की गयी उतनेही वेगसे हम स्वाधीन होनेकी उतनी [illegible] चेष्टा करने लगे, जिस प्रकार एक रबरकी थैलीमें अधिक वायु भरनेपर वह उसको बलात् फाड़कर बाहर निकलनेका प्रयत्न करती है। अतः हम अपने उन सम्बन्धियों-के अमानुषिक आतङ्कवश, जिनके संरक्षणमें हम रक्खे जाते थे, अति शीघ्र स्वतन्त्र होगये, और धीरे, धीरे प्राय समस्त आत्मजोंसे असहयोग करके पूरे निरङ्कुश होगये। उस समय स्वतन्त्र होनेके उपरान्त हमारा जीवन बहुतही विचित्र था। हमारी शय्या, जो कि बहुत लम्बी-चौड़ी थी घरके दूसरे खण्डमें एक खुली खपरेलमें पड़ी रहती थी, और खाद्य एवं लिखने-पढ़ने आदिकी समस्त सामग्री हमारी उसी चार-पायीपर उपस्थित रहती थी। प्रत्युत यह कहा जाय तोभी अनुचित न होगा कि वही चारपायी हमारा घर बनी हुई थी। आरम्भकालमें हमने अपने भोजनार्थ अनेक जातियोंके धान्य छोटी, छोटी पोटलियोंमें बांधकर उसी चारपायीपर रख छोड़े थे, और क्षुधाका ज्ञान होनेपर समस्त पोटलियोंमेंसे थोड़े, थोड़े दाने निकाल-कर अरन्धित दशामेंही सेवन कर लेते थे। क्योंकि सन् १९०८ ई० में, हमारे ज्येष्ठ चचाके एक मात्र पुत्रकी मृत्यु उस कुत्तेसे काटे जानेके कारण होनेपर जिसने हमकोभी काटा था, हमको निरर्थक पथ्यसे रहनेपर बाध्य किया गया, और हमने उसी समयसे क्रोधार्थ अनेक पदार्थोंको जिनमें कुछ पदार्थ ऐसेभी थे, जिनके

सेवन करनेकी आज्ञा मिली हुई थी, त्याग दिया था, जिससे हमको प्रत्येक पदार्थ सेवन करने या न करनेका पूर्ण अभ्यास हो गया था। परन्तु इस प्रकार शुष्क धान्य सेवन करते, करते अनायास हमको यह अनुमान हुआ कि यद्यपि हमको उनके सेवन करनेका पूर्ण अभ्यास होगया है तथापि उनकी गणना इस लिए मनुष्यके प्राकृतिक आहारमें नहीं हो सकती कि प्रथम तो उनकी उत्पत्ति प्रकृतिने नहीं की है, द्वितीय उनकी गन्ध और स्वाद हमारी प्रकृतिके अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारा ध्यान अपने पिताके उन वाक्योंपर गया, जो उन्होंने खोवेकी मिठाथियां नीरस होनेके कारण शरीरके रसोंका शोषण और रक्तकी उत्पत्तिमें न्यूनता होनेके हेतु सेवन न करनेके सम्बन्धमें कहे थे। अतः हमको समस्त धान्योंमें यह दोष दृष्टिगोचर हुआ कि उनके इतने रसहीन और शुष्क होनेसे उनके द्वारा रक्तकी उत्पत्तिमें उसी प्रकार न्यूनता और विष्टेकी उत्पत्तिमें अधिकता होती है जिस प्रकार खोवेकी मिठायियां सेवन करनेसे होती है। अपरञ्च उनमें एक इस दोषकाभी अनुभव हुआ कि उनको सेवन करनेसे चैतन्यताके स्थानमें आलस्यकी उत्पत्ति और दिनोंदिन उसकी वृद्धि होती रहती है, इत्यादि, इत्यादि। अतएव हमने शुष्क धान्यों एवं अन्य शुष्क पदार्थोंको त्यागकर चैतन्य शाक और फल सेवन करने आरम्भ कर दिये। किन्तु अनेक फलों और समस्त शाकोंमें ऐसे अनेक दोषोंका अनुभव हुआ, जिससे हमको यह ज्ञात होगया कि वास्तव में मनुष्यका प्राकृतिक आहार क्या है। इसके उपरान्त हम को यह इच्छा वनी रही— मनुष्यके लिए किसी रोगका इति करनेके निमित्त वस्तुतः प्राकृतिक चिकित्सा क्या है? परन्तु उस समय हमारे लिए यह ज्ञान प्राप्त करना बहुतही कठिन था। क्योंकि सदासे औषधियों द्वारा चिकित्सा होते हुए देखकर हमारा प्राकृतिक ज्ञान लुप्त होगया था। अतः बहुत दिनतक हम पाश्चात्य अनेक चिकित्सा प्रणालियोंके झमेलेमें पड़े रहे, परन्तु हम किसी प्रकार उनसे सन्तुष्ट न हुए। क्योंकि यद्यपि उनमें औषधियोंका प्रयोग न था, तथापि उनमें वही हानिकारक दोष थे जो एक औषधि या अप्राकृतिक साधनमें होते हैं। क्योंकि जल चिकित्साओंमें तो हमको सबसे बड़ा यह दोष दृष्टिगोचर हुआ कि उनकी शीतल क्रियाएं हमारे शरीरके स्नायु जालको उत्तेजित करके औषधियोंके समानही उसकी शक्तियोंका हरण करती हैं; और रोगकी दशामें हमारे समस्त शरीर या उसके किसी भागमें दाह होनेके कारण शीतल जलका प्रयोग करना प्रकृतिसेही प्रतिकूल सिद्ध हुआ; और जल-

चिकित्साओंके अतिरिक्तभी अन्य कोई चिकित्सा प्रणाली हमको सन्तुष्ट करनेमें समर्थ न हुई। अतः हमने अपनी विचार शक्तियोंको प्राकृतिक चिकित्साका खोज करनेमें लगानेका प्रयत्न किया, किन्तु बहुत दिनतक इसमें कोई सफलता प्राप्त न हुई। अन्ततः हमको उस अज्ञान बालककी ओर दृष्टिपात् करनेसे, जो उंगलीमें चोट लग जानेसे बिना किसीके सिखाये प्रकृतिकी प्रेरणापर मुखकी उष्ण वाष्प द्वारा ताप पहुंचाकर उसको पीड़ासे मुक्त करनेका उपाय करता है, प्राकृतिक चिकित्साका खोज चल गया। परन्तु उस समय हमें यह विश्वास नहीं था कि केवल ताप पहुंचानेसे शरीरके समस्त रोग दूर हो सकते हैं। अतः हमने अनेक उन रोगियोंकी घटनाओंपर विचार किया, जिनको ताप पहुंचानेसे लाभ पहुंचा था। इन घटनाओंमें सबसे पहिली श्रोत्रिय दामोदर कृष्ण, बिजनौर वालोंके पुत्रकी है, जिसके गिर पड़नेसे वाम नेत्रमें चोट लग जानेपर दाह, शोथ और विकल करदेनेवाली पीड़ाके कारण सन् १९०९ ई० में उसकी माताने उसके नेत्रपर ताप पहुंचाकर एकही दिनमें पीड़ाका बहुत अंश दूर कर दिया था। इसके उपरान्त हमको उस घटनाका स्मरण हुआ जब कि सन् १९०७ ई० में हमारे पिताके दोनों हाथोंमें कोहनियोंके निकट बड़ी, बड़ी ग्रन्थियां हो गयीं थीं, जो रियासत कुरवाईमें तवी नदिमें, जिसका जल ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके तापसे बहुत उष्ण हो जाता था, सायंके समय कई, कई घन्टे बैठे रहनेसे लुप्त हो गयीं थीं। इसके पश्चात् हमको यह स्मरण हुआ कि हमारे बाल्य कालमें जब कि हमारी माताके शिरमें शीत-(जुकाम) के कारण पीड़ा हुआ करती थी तो वह भाड़के भुने हुए उष्ण चनोंसे अपने माथेको ताप पहुंचाकर पीड़ाको लाभ पहुंचाया करतीं थीं; और हमको खट्टे पदार्थोंसे दांत खट्टे हो जानेपर मोटी एवं उष्ण तापकी रोटी द्वारा ताप पहुंचाकर उन्हें ठीक करनेकी अनेक घटनाओंका ध्यान हुआ। इस प्रकार ज्यों, ज्यों हम विचार करते गये त्यों, त्यों इस प्रकारकी, जिनसे ताप द्वारा रोगोंका दूर होना सिद्ध हो, सहस्रों घटनाओंका स्मरण होता गया, और फिर जिस, जिस रोगके रोगीपर हमने प्राकृतिक उष्ण ताप चिकित्साका अनुभव किया उसीपर हमको सफलता प्राप्त होती गयी। परन्तु इसपरभी हमको उस समय यह पूर्ण विश्वास नहीं था कि समस्त रोगोंकी चिकित्सामें हमें उष्ण ताप चिकित्सा द्वाराही सफलता प्राप्त हो सकेगी। इसीसे बहुत कालतक हम उष्ण ताप चिकित्साका आविष्कार करनेके उपरान्तभी शीतल जल क्रियाओंकी निरर्थक सहायता लेकर

रोगियोंके शरीरपर अपकार करनेके दोपी होते रहे, और कई वर्ष निरन्तर हमारा यही क्रम रहा। किन्तु जबसे हमारे मास्तिष्कमें उष्ण ताप चिकित्साने स्थान पाया था, तभीसे हमको प्राकृतिक चिकित्सा विपयपर जनताके लाभार्थ कोई उपयोगी ग्रन्थ लिखनेकी सूझी थी। अतः दिनोंदिन यह विचार दृढ़ होता गया, और हम 'प्राकृतिक विज्ञान'के लिखनेको प्रस्तुत हुए। किन्तु साहित्यकी दृष्टिसे हमको संसारकी किसी भाषामें इतनी योग्यता न थी कि हम अपने विचारोंको भले प्रकार प्रगट कर सकते, और हम बाल्यकालसेही उर्दू भाषाका प्रयोग करनेके कारण हिन्दीमें ग्रन्थ रचना करनेके निमित्त किसी प्रकार समर्थ न थे। परन्तु इसपरभी हमको हिन्दीसे बहुत प्रेम था। अतः ग्यारहवीं सेप्टेम्बर सन् १९१५ ई० को हमने 'प्राकृतिक विज्ञान' नामक सोलह पृष्ठकी पुस्तक टूटी-फूटी हिन्दीमें लिखकर बिजनौरके एक प्रेसमें मुद्रण करा दी। परन्तु भाषाकी त्रुटिके कारण हमारे विचार प्रगट न होनेके हेतु हम उससे सन्तुष्ट न हुए। अतः पंद्रहवीं सेप्टेम्बर सन् १९१५ ई० को हमने मुज़फ्फ़र-नगर पहुंचकर उसे पुनः पैन्सिलसे लिखना आरम्भ किया; और इसके उपरान्त पहिली आक्टोबर सन् १९१५ ई० से हमने नियम पूर्वक फिर उसे लाहौरमें रहकर डेसम्बर मासतक एक सुन्दर जिल्द बंधी हुई पुस्तकके रूपमें लिखा; और इसके पश्चात् फ़ेब्रुएरी सन् १९१६ ई० तक भटिन्डेमें उसकी बहुत कुछ रचना की और बिजनौर पहुंचकर कुछ मासमें उसको समाप्त कर दिया; और फिर दूसरी बार लिखकर आक्टोबर

प्राकृतिक विज्ञानके मुद्रणमें कठिनायियां

सन् १९१६ ई० में बिजनौरके एक प्रेसको पुस्तकके मुद्रणार्थ कागज़के मूल्यका रुपया एडवान्समें दे दिया, और 'प्राकृतिक विज्ञान-' का मुद्रण आरम्भ हो गया, प्रत्युत डेसेम्बर मासके अन्ततक चौदह फ़ॉर्मका मुद्रणभी हो गया। किन्तु हमको डेसेम्बरके अन्तमें एक रोगिनीकी चिकित्सार्थ प्रयाग जाना पड़ा, और कई मास वहां लग गये। अतः पुस्तकका मुद्रण बन्द हो गया। क्योंकि पुस्तकका शेप मैटर हम प्रेसको न देकर बिजनौरमें अपने निवास स्थानपर छोड़ आये थे। इस प्रकार पुस्तकके मुद्रणमें विलम्ब होते देखकर हमने बिजनौरसे पुस्तकका शेप मैटर मंगा लिया, और ज्योंही हम प्रेसको मैटर भेजनेवाले थे कि एप्रिल सन् १९१७ ई० में प्रेसवालोंने कागज़के समाप्त हो जानेकी सूचना दी; और जबतक आगेको हम कागज़का प्रबन्ध न करदें पुस्तकका मुद्रण करनेमें असमर्थता दिखायी। ऐसा व्यापारिक नीतिके विपरीत व्यापार उस प्रेसवालोंने इसीसे किया कि योरोपीय महासमरके कारण

कागज़का भाव ।) प्रतिपौंडकी अपेक्षा ।=) प्रति पौंड हो जानेसे लोभवश उन्हें अपने अनुचित कृत्यका ध्यान न रहा। अतः उन्होंने हमारा समस्त कागज़ अपने काममें लाकर हमारे भोलेपनसे हमें इस प्रकार आंख दिखादी। अतएव दुःखी हो हमने वह मुद्रित चौदह फ़ॉर्मे रद्दी कर दिये, और इसके उपरान्त हमने आरम्भसे पुनः पुस्तकका लिखना प्रारम्भ किया, और फिर कई वार लिखनेके पश्चात् प्रयागसे मुरादाबाद पहुंचकर सेप्टेम्बर सन् १९१७ ई० में दो सौ रुपये एक प्रयागी पण्डितजीको काग़ज़के मूल्यके निमित्त एडवान्समें भेज दिये; और उन्होंने उन रुपयोंका कागज़ ले लिया। किन्तु हमको पहिले तो कुछ पञ्जावके रोगियोंके कारण प्रयाग जानेमें बाधा हुई, फिर अम्बालेके निकट बबियाल ग्राममें एक श्वासके रोगीके कारण व्यर्थ हमारा अमूल्य समय नष्ट हुआ, तत्पश्चात् दिल्लीमें एक इञ्जीनियर महाशयने योरोपीय महासमरके निमित्त हमें रिक्र्यूटिङ्गके झमेलमें डालकर हमारा वहुत कुछ अमूल्य समय नष्ट किया, और इसी बीचमें एक बार जब हम मिस्टर खान मोहम्मद खां, तहसीलदार, अजनालेके लिखनेपर बबियालसे कुसूर एक रोगीको देखने जा रहे थे भटिन्डे रेलवे स्टेशनपर तेइसवीं डेसेम्बर सन् १९१७ ई० को हमारा वह हेन्ड बेग चोरी जाता रहा, जिसमें प्राकृतिक विज्ञानका वहुत कुछ मैटर था, इसके उपरान्त पिताजीका स्वास्थ्य बिगड़ जानेसे हमें दिल्लीसे गुजरात, काठियावार और बम्बई जाना पड़ा, जहांसे बड़ी कठिनताके साथ मार्च सन् १९१८ ई० में हमारा छुटकारा हुआ। अतः हम मार्च मासमेंही श्राम दीधी, ज़िले बुलन्दशहरमें अपने श्वसुरालयके बाग़में रहकर शान्ति पूर्वक पुस्तक लिखनेके हेतु चले गये, और निरन्तर कई मास रहकर हमने उसे लिख डाला और फिर हम उसका मुद्रण करानेके निमित्त सपत्नीक जूलाईमें प्रयाग चले गये। किन्तु वहुत दिनतक तो प्रेसवाले महाशय यह बहाना करते रहे कि अभी ग्रीष्म ऋतुके कारण उत्तम मुद्रण न होगा; किन्तु अन्तमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वह कागज़ उनके काममें आगया है, इस लिए हम २००) रुपये उनको और देदें जिससे हमभी हल्के हो जावेंगे। किन्तु हमारी वुद्धिने २००) रुपये और फंसानेकी साक्षी न दी। अतएव उस समय हम यों़ही प्रयागसे लौट आये, और फिर आरम्भसे पुस्तकको कई वार लिखकर जेन्वेरी सन् १९१९ ई० में वहां पहुंचे। परन्तु उस समय उनके प्रेसको अवकाश नहीं था। अतः २००) रु० के कागज़के अतिरिक्त ८०) रुपये हम उस समय उन्हें और एडवान्स दे आये, और उस समय हमको निजी कार्यवश २००) रुपयेकी आवश्यकता होनेपर हमने उनसे सोमना,

ज़िला अलीगढ़ लौट जानेपर रुपया भेजदेनेकी प्रतिज्ञा करके केवल दो, चार दिनके निमित्त ऋण ले लिये थे। किन्तु इसपर उन्होंने २००) रुपये देकर बड़ी चतुरता यह की कि उन्होंने हमारे अलीगढ़ पहुंचकर इस लिखनेपर—अब बहुत बहाने न करके पुस्तकका शीघ्र मुद्रण कर दीजिये, अन्यथा जिस प्रकार अबतक हमको बहुत कुछ क्षति पहुंची है आगेको हानि न पहुंचे और यदि शीघ्र मुद्रण न करना हो तो स्पष्ट लिखिये जो दूसरे प्रेसमें मैटर देदिया जाये—हमारी पुस्तकका मुद्रण करना इस लिए अस्वीकार किया कि जिस समय हमारी पुस्तकके निमित्त वह कागज़ लिया गया था, जो कि उन्होंने अपने काममें ले लिया था, ।≈) प्रति पौंडकी दरका था और जिस समय हमको उन्होंने २००) रुपये दिये थे उसका मूल्य ॥≈) प्रति पौंड हो गया था, जिससे उन्हें हमारी पुस्तकका मुद्रण न करनेके कारण विना किसी परिश्रमके १००) रुपयेका लाभ था। परन्तु हमें खेद है कि उन्होंने हमारे सीधेपनसे इस प्रकार अनुचित लाभ उठाया और हमारी अनेक निःशुल्क सेवाओंका विस्मरण करके ऐसा कुटिल व्यापार किया। हमने उनकी क्या, क्या सेवाएं की हैं इस विषयमें हम अधिक लिखना उचिति न समझकर केवल उनके दो पत्रोंकी प्रतिलिपि निम्नमें देते हैं:—

गृ० ल० प्रयाग, २८-११-१७

माई डियर डॉक्टर,

आपके कई पत्र मिले परन्तु किसीमें आपने यह न फ़रमाया कि आपको जवाब कहांके पतेसे दिया जावे। बमुश्किल तमाम हालके ख़तमें आपने अम्बालेका पता लिखा। अब आप फ़रमाइये कि कबतक आनेका विचार है? दस पन्द्रह दिनमें गो० दे० वि० जावेंगी। आपका कागज़ लिया रक्खा है। जब आओगे किताब छापनेका प्रबन्ध हो जावेगा।...............बाक़ी ख़ैरियत है।

आपका

सु० आ०

गृ० ल० कार्यालय, प्रयाग २१-२-१९१९

श्रीयुत डॉक्टर००, आशीर्वाद।

आपके कार्ड मिले।......आपके पहले कार्डसे मुझे यह निश्चय हो गया था कि आप अभी पुस्तक न छपावेंगे। इसीसे मैंने कुछ बाहरी ज़रूरी काम लेलिये हैं, जिनके कारण सम्भव है कि आपकी पुस्तक छपनेमें देर हो। मैं यह नहीं चाहता

कि मेरी वजहसे आपको कुछ नुकसान पहुंचे । आप जैसा कि आपने पिछले कार्डमें लिखा है और जगह शौकसे पुस्तक छपा लीजिये । अभीतक जो आपकी पुस्तकमें देर हुई उसके लिए मैंही कारण नहीं हूं । क्योंकि आपकी पुस्तकही पूरी नहीं तयार थी । जिस दिन आप रवाना हुए उस दिनतकभी उसमें कुछ कसरही थी, जिसको पूरा करनेके लिए आपको पुस्तक साथ लेजानी पड़ी अस्तु ।

आपको जिस दिन आपके कागज़वाले दो सौ रुपये लौटाये गये थे यदि उसी दिन वह बात जो आपने अपने कार्डमें लिखी कह देते तो यह मामला तै होजाता और आपको लिखनेकी तकलीफ़ न उठानी पड़ती । आप इतमीनान रखिये मैं आपको किसी तरहसे नुकसान न होने दूंगा । आपके उन दो सौ रुपयोंका, जो आपको वापिस दिये गये हैं, ब्याज मैं आपको दूंगा । मार्चके आखिरतक मैं आपके वे अस्सी रुपये, जो आपने बादको जमा किये थे, आपके पास भेजे जावेंगे उसीके साथ वह ब्याजभी भेजदिया जावेगा । आपको मैं अगर नफ़ा नहीं पहुंचा सकता तो घाटाभी नहीं होने दूंगा ।

गो० दे० को आशीर्वाद ।

आपका,

S. A.,

G. L. Office

उन त्यागी पण्डितजीके उपरोक्त दोनों पत्रों और जो कुछ हमने उनसे 'प्राकृतिक विज्ञान–' का शीघ्र मुद्रण करनेके लिए प्रार्थना की थी, के पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेप्टेम्बर सन् १९१७ ई० में जो २००) रु० हमने उनकी सेवामें प्रेषित किये थे उनका कागज़ लेलिया गया और केवल हमारे मालपर नियत बिगड़नेके कारण उन्होंने किसी प्रकार उन्हें हमहींको दोष लगाकर अपना पीछा छुटाया । हमने जो जेन्वेरी सन् १९१९ ई० में उनसे दो सौ रुपये ऋण रूपमें लिये थे उन्हें वह ऋणके स्थानमें कागज़के दो सौ रुपये लौटाना कहते हैं और उधर वह यहभी उसी पत्रमें लिखते हैं–वे अस्सी रुपये जो आपने बादको जमा किये थे । परन्तु हम नहीं कह सकते कि जब कागज़ ले लिया गया तो रुपये कैसे लौटाये ! ऐसी दशामें केवल कागज़ही लौटाया जा सकता था । इस लिए आपने इस व्यापारसे अर्थात् हमारा कागज़

अपने काममें ले आनेके कारण वह उसी अभियोगके दोषी हैं जो किसीकी धरोहरको हड़प करनेसे होता है। इसके अतिरिक्त वह पुस्तकके अपूर्ण होनेका दोष-भी हमारेही माथे लगाकर आप निर्दोष होना चाहते हैं। यह दोष तो हमपर तभी लगाया जा सकता था जब कि वह मुद्रणका कार्य करना आरम्भ कर देते और हम उनको समयपर मैटर दे सकनेको असमर्थ होते। इसके उपरान्त उन्होंने अपने पत्रमें मार्च सन् १९१९ ई० के अन्ततक अस्सी रुपये एवं दो सौ रुपयोंका व्याज भेजनेका कथन किया है। परन्तु व्याज तो वह क्या भेजते, उन्होंने अस्सी रुपयेभी बड़ी कठिनतासे ग्यारहवीं मेय सन् १९२१ ई० में भेजे थे। किन्तु इस-परभी हम उनको इस लिए धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने जैसे तैसे हमको २८०) रु० तो चुका दिये, जब कि दिल्लीके सद्धर्म प्रचारक प्रेसवाले तो हमारा एडवान्समें दिया हुआ धन और 'प्राकृतिक विज्ञान-' के कई मुद्रित फ़ॉर्मेंभी हड़प करके मौन हो गये। न तो उन्होंने सन् १९२१ एवं २२ ई० में हमसे धन लेकर पूर्ण फ़ॉर्म्सकाही मुद्रण किया, न हमारा धनही लौटाया, और न इसलिए मुद्रित फ़ॉर्म्सही लौटाये कि हमारे द्वारा, जब कि हम 'वैभव' प्रेस, दिल्लीमें अवैतनिक मैनेजरका कार्य करते थे, अजमेरके वैद्य रामदयालुजीकी औषधियोंका सूची पत्र सद्धर्म प्रचारक प्रेसमें मुद्रणार्थ गया हुआ था और 'वैभव' प्रेसके मालिकोंकी कृपासे उसका मूल्य प्राप्त नहीं हुआ था। इसके उपरान्त जब उपरोक्त सूची-पत्रके मुद्रणका मूल्य सद्धर्म प्रचारक प्रेसको प्राप्त हो गया उसपरभी प्रेसवालोंने न हमारा कामही किया, न हमारी धरोहरही लौटायी, न हमारा रुपयाही भेजा और न हमारे रजिस्ट्री पत्रका उत्तरही दिया। इसपर हमारे कई मित्रोंने प्रेसवालो-पर अभियोग चलानेके लिए कहा। परन्तु यह अपराध हमाराही था कि हमने विपोंके सूची पत्रका मुद्रण अपने द्वारा होनेको दिया था। अतः उसी पाप कर्मके प्रायश्चितके हेतु हमको यह दण्ड मिला कि सद्धर्म प्रचारक प्रेसवालोंने सर्व प्रकार हमें दुःख दिया।

'प्राकृतिक विज्ञान-' की मुद्रण गाथा बहुतही लम्बी है, उसका लिखना कोई सरल नहीं है। क्योंकि उसके पीछे कई सहस्र रुपये तथा बहुत कुछ समय का नाश, शरीर एवं धनकी क्षति और अपार आपत्तियों का सामना करना पड़ा है। किन्तु इस सबसे लाभ यह हुआ है कि अबतक हमने 'प्राकृतिक विज्ञान-' को पचपन बार लिखा है, जिससे जितनी बार हमने उसको लिखा उतनीही उसमें उन्नति होती

गयी। क्योंकि नित्यके अनुभवोंकी कृपासे नित्य नयी बातें हृदयमें स्थान लेतीं हैं। अतः यदि अनेक प्रेसवालों तथा अन्य महाशयोंकी कुटिल नीतिसे 'प्राकृतिक विज्ञान-' के मुद्रणमें इतना विलम्ब न होता तो जिस रूपमें आज पाठकोंके हाथमें प्राकृतिक विज्ञान' है उस दशामें नयनगोचर न होता। अतः हम उन समस्त महाशयोंको हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने 'प्राकृतिक विज्ञान-' के प्रकाशनके मार्ग में कण्टकका काम किया है। क्योंकि यद्यपि उनकी कृपासे हम धनहीन अवश्य हो गये, किन्तु अधिक समयके व्यतीत होनेसे हमारे अनुभवमें दिनोंदिन वृद्धि होती चली गयी, जिससे प्राकृतिक विज्ञान अधिक उपयोगी हो गया। अतएव हम इसीसे सन्तुष्ट हैं। अब हम अधिक न लिखकर केवल इतनाही कथन करना यथेष्ट समझते हैं कि दिल्लीके वैभव आदि तथा अन्य स्थानोंके प्रेसोंकी इसी हेतु अवैतनिक सेवा करनेपर कि किसी प्रकार 'प्राकृतिक विज्ञान-' का सुन्दर मुद्रण हो जावे और कई मित्रों एवं सम्बन्धियों द्वारा रुपयेका नाश या समयपर प्राप्त न होने और अनेक सम्पत्ति शालियोंसे धन प्राप्त होनेके स्थानमें उनके हेतु समयका नाश होनेके अतिरिक्त गांठके धनसे भी हाथ धो बैठनेके कारण हम पूर्ण रूपेण दुखी हो गये थे, अनायास आक्टोबर सन् १९२३ ई० में अन्धेरीके स्थानपर एक रात्रिको जिस बङ्गलेमें हम ठहरे हुए थे, उसके मालीको निमोनिया हो गया, और सेठ करोड़ी मल, मालिक फर्म छोठे लाल, दुर्जनमल हमसे उसकी चिकित्सा करायी और हमारे द्वारा उसको लाभ होनेसे उन्होंने हमारे निमित्त 'प्राकृतिक विज्ञान-' के हीन्दी एवं इङ्गलिश संस्करणके मुद्रणादिका समस्त भार इस शर्तपर अपने ऊपर ले लिया, कि उसके स्थानमें हम उनके आत्मजोंकी चिकित्सा करके उन्हें लाभ पहुंचायें और यह बात निश्चय हो जानेपर दूसरेही दिन उन्होंने बाम्बे वैभव प्रेस, मुम्बईको दो सौ रुपयेका चेक, प्राकृतिक विज्ञानके हिन्दी संस्करणके मुद्रणार्थ एडवान्समें भेज दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सेठ करोड़ी मलजीने हमारे निमित्त प्राकृतिक विज्ञानका मुद्रण कराके हमपरही नहीं वरन् समस्त संसारपर उपकार किया है; और इसके लिए हम आजन्म उनके ऋणी रहेंगे। परन्तु यह खेदकी बात है कि वह स्वार्थ निकल जानेपर, अर्थात् उनके अनेक रोगियोंको हमारे द्वारा लाभ हो जाने और प्राकृतिक चिकित्सा विधि हाथ आजानेपर अब वहभी आंख दिखाते हुए दृष्टि गोचर होते हैं। अतः हमको यही कहना पड़ता है:—

अज़लसेही बुलबुलोंका बाग़में कोई नहीं,
था जो नर्गिस वहभी, कर्नल, आंख दिखलाने लगा!

किन्तु यह सब परिणाम हमारी मूर्खताका है, अन्यथा हम उन रोगियोंसे, जिनकी चिकित्सा हमने सेठ करोड़ीमलजीके आग्रहपर निःशुल्क की थीं, आनन्दसे कई सहस्र रुपया लेकर कई भाषाओंमें 'प्राकृतिक विज्ञान-'का मुद्रण करा सकते थे और फिर किसीका भारभी हमारे माथे न होता; या यहभी कहा जा सकता है कि यह सब हमारेही भाग्यका दोष है। इसीसेः—

रङ्ग लायी आख़रश, तक़दीर अपनी एक दिन,
फेरलीं 'कर्नल' निगाहें, जो उन्होंने एक दिन।

यह बात निर्विवाद है कि सेठ करोड़ीमलजी, जो कि हमारी मूर्खतासे किसी समय हमारी दृष्टिमें बहुत उच्च थे, अब अपना वास्तविक रूप दिखानेको उतारू हो गये हैं। क्योंकि उन्होंने हमको एक कार्ड लिखा है, जिसकी भाषा बहुत कुछ सभ्यतासे गिरी हुई है, और जिससे स्पष्ट है कि वह प्रेसवालोंको 'प्राकृतिक विज्ञान-' के मुद्रण एवं जिल्द आदि बंधायीका मूल्य दो सौ रुपयेके अतिरिक्त शेष धन देनेको प्रस्तुत नहीं हैं। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि सेठजी किस आधारपर प्रेसवालोंको शेष रुपया देनेको प्रस्तुत नहीं हैं, जब कि उन्होंने अपने ग्यारहवीं एप्रिल सन् १९२५ ई० के कार्डमें स्पष्ट रूपसे हमसे प्रश्न किया है कि प्रेसवालोंको कितना रुपया और देना है। हम यहांपर सेठजीके उस पत्रकी उन पंक्तियोंकी प्रतिलिपि निम्नमें देते हैंः—

खाराकुवा, मुंबई पोस्ट नं० २

डा० पी० आचार्य जी,

पत्र आपका मिला हाल जाना। छापेखानेवालेके यहां क्या देरी है। उसमें कितना रुपया लगेगा। पहिले २००) दीने हैं, अब कितने और चाहियें। सब हाल खुलासा देना चाहिये।

किरोड़ी मल

इसके अतिरिक्त सत्ताइसवीं फ़ेब्रुएरी सन् १९२४ ई० के आगरेके 'देश भक्त' अर्द्ध साप्ताहिक समाचार पत्रमें, जिसके ग्राहक उस समय सेठजीभी थे, पुस्तकके सम्बन्ध में 'सेठ करोड़ीमलजीकी उदारता' शीर्षक निम्न सूचना निकल चुकी है, और उसपर सेठजीने आजपर्यन्त कोई आपत्ति नहीं कीः—

" नाईकी मण्डी आगरा निवासी सेठ करोड़ीमलने, जो कि ' फर्म छोटेलाल,
' दुर्जनमल, खारा कुवा, बम्बईके साझीदार ' हैं, डाक्टर पी० आचार्य रचित ' प्राकृ-
' तिक विज्ञान–', जिसको ' उन्होंने १५ वर्षमें ५४ बार लिखा है, और जो कि उनकी
' आविष्कृत प्राकृतिक चिकित्साका एक अद्वितीय ग्रन्थ है, के हिन्दीमें छपानेका
' समस्त व्यय दिया है, और इङ्गलिश आवृतिका समस्त भारभी अपनेही ऊपर
' लिया है। अतः देशको उक्त सेठजीका बहुत कुछ ऋणी होना चाहिये। क्योंकि
' उन्होंने इस परोपकारमें सहायक होकर अपनी उदारताका परिचय दिया है।"
इसलिए वास्तवमें प्रेसवालोंका रुपया न चुकाना यह सेठजीकी भूल है, क्योंकि बाम्बे
वैभव प्रेस सर्वेन्ट्स आव इण्डिया सरीखी प्रतिष्ठित सोसाइटीका प्रेस है, वह सेठ करोड़ी
मलजीसे उपरोक्त प्रमाणोंके आधारपर किसी प्रकार अपना धन प्राप्त करही लेगा।
अतः अबभी उनको चाहिये कि वह प्रेसवालोंका शेष धन चुकादें। क्योंकि यदि वह
सरलतासे रुपया न चुकावेंगे तो सम्भव है कि प्रेस द्वारा उनपर न्यायालयमें अभि-
योग चलाये जानेपर अधिक समय व्यतीत होनेसे प्रेस हमको शीघ्र समस्त पुस्तकें
न देसके, जिससे प्रकाशनमें विलम्ब हो, और उनकोभी अधिक धनकी क्षति हो।

हमें खेद है कि जिस उत्साहके साथ उस समय सेठ करोड़ी मलजीने मुंबई-
वैभव प्रेसको प्राकृतिक विज्ञानके मुद्रणार्थ दो सौ रुपये एडवान्स दिये थे वैसे प्रेस-
वालोंने अपने वचनोंका पालन नहीं किया। क्योंकि उक्त प्रेसवालोंने दो मासके
भीतर समस्त पुस्तकका मुद्रण कर देनेकी बात कही थी किन्तु जब हम पहिली
जेन्वेरी सन् १९२४ ई० में बम्बईसे आगरे एक क्षयी पीड़ित रोगिनीकी चिकित्सार्थ
गये थे तो उस समयतक समस्त पुस्तकका मुद्रण करनेके स्थानमें केवल ८०
पृष्ठहीका मुद्रण किया था। इसके उपरान्त आगेरवाली रोगिनीके निमित्त इस लिए
व्यर्थ हमने पांच मास आगरेमें नष्ट किये कि वह रोगिनी सेठ करोड़ी मलजीके
साझीकी स्त्री थी। अतः यदि उसकी उपेक्षासे उसे लाभ न होता तो उक्त सेठजीके
अपयशका कारण था। क्योंकि उन्हींके आग्रहपर हम आगरे गये थे। तत्पश्चात्
हमारे इकतीसवीं मेयको बम्बई लौट आनेपरभी एक तो प्रेसवालोंने बहुत मन्द गतिसे
काम किया, द्वितीय सेठ करोड़ीमलजीके आग्रहके कारण प्रतिदिन हमको दो मास
पर्यन्त माटुंगे एक रोगिनीकी चिकित्सार्थ जाना पड़ता था, तृतीय जून मासमें आगरे-
वाली रोगिनीभी बम्बई पहुंच गयी थी, जिससे उसेभी कई मास पर्यन्त यदा कदा

देखने जानाही पड़ता था, जिसके कारण न्यूनातिन्यून नित्य तीन घन्टे लगते थे, चतुर्थ उसी रोगिनीके पुत्रके ज्वरसे पीड़ित होनेके कारण डेढ़ मास पर्यन्त कभी दिनमें दो वार और कभी एक वार नित्य प्रति महालक्ष्मी जानेको बाध्य होना पड़ा था। अतः ऐसेही झमेलोंके कारण सेप्टेम्बर मासभी समाप्त होगया और पुस्तकका मुद्रण समाप्त न हुआ। उस समयतक केवल ३५२ पृष्ठकाही मुद्रण होने पाया था कि तीसवीं सेप्टेंबर और पहिली आक्टूबरके मध्यवाली रात्रिको एक बजकर पैंतीस मिनिट्सपर हमारी छोटी बालिका मञ्जुलाने जन्म लिया, जिससे बहुत दिनतक हमारा समय नष्ट होनेसे पुस्तकका मुद्रण स्थगित रहा। इसके उपरान्त प्रेसवालोंने बहुत दिनतक इस लिए काम नहीं किया कि वह एक अन्य पुस्तकका मुद्रण करनेमें लगे हुए थे। तत्पश्चात् जिस आगरेवाली रोगिनीके साथ बम्बईमें रहनेका हम कुछ अधिक कालतकके लिए वचन दे चुके थे, और जिसके पतिने एक वर्षतक हमारे गृहस्थ्यका भार अपने ऊपर ले रक्खनेको कहा था, जिसके कारण हम अपनी भार्या और ज्येष्ठ बालिकाको आगरेसे जाते समय साथ ले गये थे, उसके असभ्य व्यापारके कारण उसको जून माससेही पृथक् रहना पड़ा और कुछ दिनके उपरान्त उसके पतिने हमें निर्वाहमात्रका व्यय देनाभी बन्द कर दिया। क्योंकि वह क्षयी पीड़ित रोगिनी उस समय प्राय उस दारुण रोगसे मुक्त हो गयी थी। अतः हमको फ़ेब्रुएरी सन् १९२५ ई० में बम्बईसे आगरेको प्रस्थान करना पड़ा। क्योंकि यदि हम बम्बईमें गृहस्थ्यके पोषणका भार अपने ऊपर लेते तो पुस्तकके मुद्रणार्थ मैटरकी रचना एवं प्रूफ़ संशोधनका कार्य कैसे होता। किन्तु जहांतक हमें विश्वास है यह अवश्य सम्भव था कि यदि हम अपनी इस कठिनाईको किसी स्वार्थी सेठ-साहूकारपर प्रगट करते तो निश्चय कुछ दिनके निमित्त हमें सुभीता हो जाता। किन्तु एक तो इस भयसे कि स्वार्थी मनुष्य एक पैसा देकर एक रुपया छीननेका विचार करते है, दूसरे याचना करना हमारे उद्देश्यके विपरीत होनेसे हम किसीसे सहायता लेनेका साहस न कर सके। क्योंकि हम चिरकालसे यही अनुभव प्राप्त करनेकी इच्छा करते थे कि देखें संसारमें कौन ऐसा नेत्रोंवाला मनुष्य है जो हमारी सेवाओंसे लाभ उठाकरही उनके स्थानमें हमारे दुःख दूर करनेकी चेष्टा करे। परन्तु खेद है, आज पर्यन्त कोई ऐसा नेत्रोंवाला, विशेषकर धनिक सम्प्रदायमें, नहीं मिला, जिसने हमारी आपत्तियोंको देखकरभी हमारी सेवाओंका प्रसाद विना याचना किये दिया हो। प्रत्युत हमें उस समयभी ऐसेही मित्रोंसे पाला पड़ा जिन्होंने

हमारी उस दीन-हीन दशामेंभी हमें उस सीमातक आर्थिक हानि पहुंचायी, जिसके सहन करनेको हम असमर्थ थे। अतः हमको बम्बई छोड़नी पड़ी और अनुभवसे यही सिद्ध हुआ कि अग्निके साथसे पदार्थोंमें उष्णता आजाती है, हिमके स्पर्शसे प्रत्येक वस्तु शीतल होजाती है, परन्तु धनिकोंके साथसे हम सरीखे सेवक धनाढ्य होनेके स्थानमें औरभी दरिद्र होजाते हैं।

हम बाइसवीं फ़ेब्रुएरीको आगरे पहुंच गये और बाबू पद्मचन्द जी मालिक जैन प्रेस, जौहरी बाज़ारकी कृपासे विना इनके किसी स्वार्थके हमको प्रेसवाले घरमेंही निवासार्थ स्थान मिल गया। किन्तु कुछ दिन रहनेके उपरान्त हमारे परम मित्र श्री० ठाकुर दया राम सिंहजी रईस सोमना ज़िला अलीगढ़के सुयोग्य पुत्र कुंवर रामसिंह जीको, जो उस समय आगरेमें रहते थे, हमारा ज्ञान हुआ और वह बलात् हमको वहांसे अपने स्थानपर ले गये। उनके इस व्यापारकी हम कहांतक प्रशंसा करें। बस संक्षेपमें इतनाही कहना यथेष्ट है:—

> ग़ैर पढ़कर चल दिये, लाशेपे 'कर्नल-' के नमाज़,
> थे मरे जिनके लिए, उनकी वज़ूअ बाक़ी रही।

क्योंकि उस समयतक हमसे कुंवर जीकी कोईभी सेवा नहीं हुई थी, इसपर-भी उन्होंने अपने पूज्य पिताका हमसे घनिष्ट सम्बन्ध होनेके कारण हमारे साथ ऐसा व्यवहार किया, और उन लोगोंने जिनकी हम अनेक निःशुल्क सेवाएं कर चुके थे कभी बातभी न पूछी।

आगरे पहुंचकर हमने यह विचार किया था कि शीघ्र किसी प्रकार चिन्ता रहित हो 'प्राकृतिक विज्ञान-' के शेष मैटरकी प्रतिलिपि करके प्रेसको भेजेंगे; क्यों-कि मौलिक लिपि हम इस लिए नहीं भेज सकते थे कि एक बार नोवेम्बर सन् १९२३ ई० में प्रेसके फ़ोरमेनने 'खान-पानके नियम' शीर्षक लेखके आदि निबन्धकी कुछ मौलिक पंक्तियां अपनी असावधानीसे नष्ट कर दी थीं, जिनके स्थानमें हमको दुबारा लिखकर सतत्तरवें पृष्ठकी ग्याहरवीं पंक्तियोंतकका मैटर देना पड़ा था। फ़ोरमेन द्वारा नष्ट हुई पंक्तियोंका मैटर हम 'प्राकृतिक विज्ञान-' के तरेपनवीं मौलिक प्रति लिपिसे, जो कि उस समय ग्राम दीघी ज़िले बुलन्दशहरम रक्खी थी और जन्वेरी सन् १९२४ ई० में हम ले आये थे, निम्न में देते हैं:—

"सबसे पूर्व यह बात जाननेकी आवश्यकता है–भोजन करनेका सर्वोत्तम समय कौनसा है ? इसका उत्तर केवल यही है, कि पहिला भोजन दिनके उस समय होना चाहिये, जब हम रात्रिके सुखमय विश्रामसे नवजीवित होकर चैतन्य तथा प्रसन्न वदन हो सूर्योदयके समय शय्यासे उठते हैं। कारण यह कि क्षुधाका नियत समय वही है। इसीसे उस समय रात्रिके विश्रामसे हमारे आमाशयमें कुछ ऐसी चैतन्यता आजाती है कि जितनी सरलतासे वह किसी पदार्थको उस समय पचा सकता है दिनके अन्य किसी भागमें नहीं पचा सकता। परन्तु यदि उसको उस समय भोजन नहीं मिले तो उसकी उस नियत समयकी शक्ति दिनके अन्य किसी समयके लिए वैसेही स्थिर नहीं रह सकती जैसे एक विद्यार्थी या यात्री जो प्रातको सूर्योदयके समय मन्द, मन्द सुहावनी समीरमें जितना पाठ या यात्रा एक घन्टेमें समाप्त कर सकता है, निश्चय दिनके अधिक चढ़नेपर उतना पाठ या यात्रा सवा या डेढ़ घन्टेमेंभी न कर सकेगा।"

किन्तु आगरेमें अन्य कठिनायियोंके अतिरिक्त सबसे बड़ी आपत्ति यह आयी कि बाबू —हिया लालजी तसव्वुर, बी०ए०, म्यानी जिला शाहपुरवाले हमारे दुर्भाग्य या सौभाग्यसे मिल गये, और उन्होंने हमको धोखेमें डालकर हमसे दो सौ रुपये गुलनार बाईको एक थियेटरके कार्यके सम्हालनके निमित्त अपनी साखपर एक सप्ताहके लिए दिलवा दिये, और वह रुपया ऐसा खटाईमें पड़ा कि आज पर्यन्त प्राप्त न हुआ। गुलनार बाईपर नालिश करनेमेंभी वकील महाशयकी कृपासे प्राय ९०) रुपये व्ययमें आचुके हैं, जिसका उन्होंने कोई व्योरा नहीं दिया है और अबभी और व्यय मांगही रहे हैं। इसके अतिरिक्त अदालती ००नेभी हमें बहुत कुछ तङ्ग करनेकी चेष्टा की है। हम तसव्वुर साहबके इस धोखेमें कभी नहीं आते, परन्तु उन्होंने गुलनार बाईके रुपया न देनेपर, अपने एक मात्र पुत्रकी शपथ लेकर स्वयं रुपया देनेका विश्वास दिलाया था। किन्तु खेद है उन्होंने अपने वचनोंका पालन न किया। इस लिए हम एक विकट चिन्तामें पड़ गये। क्योंकि वह रुपया हमारी स्त्रीका था। हां यदि हमारा होता तो कोई चिन्ताकी बात न थी। इसीसे 'प्राकृतिक विज्ञान-' की प्रतिलिपि करके प्रेसको भेजनेके लिए उस चिन्तासे छुटकारा न होता था। क्योंकि प्रत्येक समय हमारी भार्या रुपयों-का उल्हाना देती रहा करती थीं। किन्तु वास्तवमें गुलनार बाई या तसव्वुर साहबने रुपया न चुकाकर जहां हमें इतना कष्ट दिया और पुस्तकके मुद्रणके

विलम्बका कारण हुए वहां उनके द्वारा इतना उपकारभी हुआ कि रुपयेके झमेलेमें हम बहुत कुछ प्रयत्न करनेपरभी आगरा न छोड़ सके, और कुंवर राम सिंहजीकी कृपासे हम अजमेरके एक क्रिमिनल अभियोगसे जो कि 'प्राकृतिक विज्ञान-' के कारणही हमपर चला था निर्दोष प्रमाणित होनेपर मुक्त हो गये।

इस प्रकार अनेक कठिनाईयोंके होते हुएभी हमने जेन्वेरी सन् १९२६ ई० में फिर 'प्राकृतिक विज्ञान-' के मैटरकी प्रति लिपि करके प्रेसको भेजना आरम्भकी। निदान् शेष चार फॉर्म का मैटर डेसम्बर सन् १९२६ ई० के पहिले सप्ताह में मुद्रित होकर समाप्त हुआ।

यदि प्रेसमें 'खान-पान के नियम' शीर्षक वाले निबन्धके आरम्भके मैटरकी पंक्तियां फोरमेन द्वारा नष्ट न होतीं तो निस्सन्देह हम समस्त पुस्तकका मौलिक मैटर प्रेसको दे देते और सन् १९२४ ई० के अन्ततक समस्त पुस्तकका मुद्रण होकर प्रकाशन होजाता। परन्तु उस मैटरके नष्ट हो जानेसे हम इतने भयभीत हो गये थे कि प्रेसको समस्त पुस्तकका मौलिक मैटर देनेका साहस न हुआ, और हमें उपरोक्त चिन्ताओंसे मैटरकी प्रतिलिपि कर प्रेसको भेजनेका अवकाश न हुआ। अतः इस विलम्बका हेतु प्रेसही है।

इतनी आपत्तियोंके होते हुएभी आज 'प्राकृतिक विज्ञान' हिन्दी प्रेमियोंके हाथोंमें यह दिखानेके निमित्त आरहा है कि सत्य और असत्यमें क्या अन्तर है। अतः हमें इससे बढ़कर अन्य क्या प्रसन्नता हो सकती है कि गिरते-पड़ते अन्तमें किसी न किसी प्रकार हमारे धैर्यसे रहनेपर हमारा जीवनोद्देश्य उस अंशतक सफल हो गया कि अब हमारी मृत्युभी हो जाय तो यह कार्य न रुकेगा और हम मरते समय बहुत शान्तिसे इस जीवन यात्राको समाप्त करेंगे। अतएव इसके लिए हम पहिले उनको जिन्होंने हमारे मार्गमें कठिनाईयां उपस्थित की हैं और पीछे उनको जिन्होंने पुस्तकके मुद्रणमें सहायता दी है धन्यवाद देते हैं। क्योंकि यदि उन महाशयोंकी कृपासे कठिनाईयां उपस्थित न होतीं तो हममें इतनी दृढ़ता कदापि न आती। अतः इसके लिए हम कि[illegible]नौर, प्रयाग, दिल्ली और अजमेरवाले प्रेसों एवं अपने एक स्वार्थी मित्रके, जिसने इसी पुस्तकके सम्बन्धमें दो सौ रुपयेकी नालिश करके हमसे एक अन्यायी मुन्सिफ़ द्वारा, जिसकी अर्दलीमें उसका पिता चपरासी था, और जिसके पुत्रोंको वह पढ़ाता था, अन्यायसे पांच सौ रुपये प्राप्त किये, हृदयसे धन्यवाद है।

प्राकृतिक विज्ञा-नकी त्रुटियां

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक बातें पुस्तकमें अनेक स्थानोंपर कई, कई वार लिखी गयीं हैं, जिससे साहित्यकी दृष्टिसे पुनरोक्तिका दोष होता है। परन्तु इसके लिए हम इस लिए क्षम्य हैं कि पुस्तकका विषय जटिल होनेसे हमें जनताको समझानेके निमित्त ऐसा करनेको वाध्य होना पड़ा है।

हमारे अनुमानसे सबसे बड़ा दोष पुस्तकमें यह है कि रोगोंके नाम विदेशी भाषामें लिखे गये हैं। परन्तु हमें खेद है कि हमको उनके हिन्दी नाम ज्ञात नहीं थे और धनाभावसे कोई अच्छा कोष न ले सके। इसके उपरान्त यह दोषभी कुछ कम नहीं है कि पुस्तक में १८६ पृष्ठसे जो मैटर चला है उसके आदिमें हमने न तो रोगोंकी अधिक व्याख्या की है और न रोगियोंके विस्तृत और अधिक विवरणही दिये हैं, जिससे शिर सम्बन्धी पीड़ाओंका उचित कथन नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त पुस्तककी पृष्ठ संख्यामें अधिक वृद्धि न हो जाय इस भयसे हम अनेक रोगियोंका विवरण देनेको असमर्थ हुए हैं। अपरञ्च कुछ महत्वपूर्ण रोगियोंका, जिनमें हमारे मित्र श्री कर्ण कविभी हैं, जिनको सर्पने काटा था, और हमने उनकी चिकित्सा करके सफलता प्राप्त की थी विवरण देना इस लिए रह गया है कि अपनी नित्य नयी आपत्तियोंके झमेलेनें हम उसे लिखना भूल गये थे। परन्तु वास्तवमें हमारी चिकित्सा विधिके अनुसार चिकित्सा करनेके लिए यह कभी आवश्यक नहीं कि किसी रोगका निदान करनेके हेतु उसकी व्याख्या की जाय या अनेक रोगियोंके निरर्थक विवरण दिये जायं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य रोगियोंका विवरण देखनेसे चिकित्सा करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलती है; परन्तु वास्तवमें समझदार मनुष्यके लिए 'प्राकृतिक विज्ञान–'के आदिके केवल १८६ पृष्ठका पाठ करनाही यथेष्ठ है। उसीका पाठ करनेसे योग्य मनुष्य समस्त रोगोंकी चिकित्सा कर सकता है। इस लिए यदि यह कहा जाय कि उन्हीं १८६ पृष्ठमें सब कुछ है तो अनुचित न होगा।

कुछ महानुभावोंकी सम्मति है कि पुस्तककी भाषा कड़ी है। परन्तु हमारे अनुमानसे जो एक साधारण हिन्दी भाषा हो सकती है उसीमें पुस्तकका लेखन हुआ है। हां, इतना अवश्य है कि पुस्तक हिन्दीमें लिखी गयी है न कि हिन्दोस्थानीमें। किन्तु हमारा विचार है कि यथा सम्भव शीघ्र पुस्तकका हिन्दी लिपिमें हिन्दोस्थानी

संस्करणभी निकाला जाय । इसके अतिरिक्त हमने अपने संक्षिप्त भाषणमें बहुत कुछ हिन्दोस्थानी भाषामें लिखनेका प्रयत्न किया है जिससे समस्त जन संक्षेपमें हमारी चिकित्सा विधिको पूर्ण रूपेण समझ सकेंगे ।

हम हिन्दी भाषासे अपरिचित होनेके कारण अपने उन दोषोंके निमित्त क्षमा प्रार्थी हैं जो हमसे होना स्वाभाविक हैं । इसके अतिरिक्त हम पुस्तकमें उन अशुद्धियोंके निमित्तभी क्षम्य हैं जो प्रूफ़ संशोधनमें हमारे अनुपस्थित ध्यानके कारण रह गयी हैं । क्योंकि अनेक चिन्ताओंसे एवं प्रत्येक समय कुछ न कुछ खोज करते रहनेके स्वभाववश बहुधा प्रति क्षण हमारी मानसिक शक्तियां किसी दूसरेही कार्यमें जुटे रहनेसे प्रूफ़ संशोधनका कार्य कभी हमसे ठीक नहीं हो सकता और प्रेसमें हिन्दी भाषाका कोई प्रूफ रीडर न होनेसे प्रेसकी यह पूरी बेगार हमेंही भुगतनी पड़ी थी ।

पुस्तकमें अनेक स्थानोंपर टूटे अक्षरोंका मुद्रण हुआ है और कहीं, कहीं तो कोई, कोई अक्षर उभराही नहीं है, और किसी पृष्ठमें पंक्तियोंकी कुछ संख्या है और किसीमें कुछ । परन्तु इसके लिए हम दोषी नहीं हैं । क्योंकि यह प्रेसवालोंकी असावधानीका कारण है । उनसे मुंह मांगा मूल्य ठहरनेपरभी खेद है पुस्तकमें यह त्रुटियां शेष रहीं, और उनके असाधारण विलम्बके कारण हमको आर्थिक क्षति और अबतक प्रचार करनेमें रुकावट हुई है । इसके अतिरिक्त यदि पुस्तकका शीघ्र मुद्रण हो जाता तो सेठ करोड़ीमलजीभी प्रसन्नतापूर्वक प्रेसका बिल चुका देते । क्योंकि उनके ग्यारहवीं एप्रिल सन् १९२५ ई० के पत्रसे स्पष्ट है कि उस समय उनकी नियत ठीक होनेके कारण वह बिल चुकानेको प्रस्तुत थे । परन्तु इसपरभी हमको इस लिए इस प्रेससे विशेष सहानुभूति है कि यह एक ऐसी सोसाइटीका प्रेस है, जो देशकी भरसक सेवा कर रही है; और इसीसे हमने सेठ करोड़ी मलजीको इस प्रेसमें पुस्तकका मुद्रण करानेकी सम्मति दी थी।

हमें खेद है कि हम धनाभावसे प्राकृतिक विज्ञानमें अनेक आवश्यक चित्र नहीं देसके । क्योंकि इस विषयमें कई बार सेठ करोड़ीमलजीको लिखनेपरभी ब्लाक बनवानेके निमित्त उन्होंने एक पैसातक व्यय नहीं किया । इस लिए जो बहुतही आवश्यक चित्र थे वह हमने अशक्त हो स्वयं बनाये हैं, जो कि ब्लाक बनानेके यथोचित यन्त्र न होनेसे बहुत भद्दे हो गये हैं । केवल भूमिकाके चित्र अवश्य सेठजीके व्ययसे बने हैं । परन्तु पुस्तकके दूसरे संस्करणमें यह त्रुटि दूर करदी जावेगी,

और रोगियोंके विवरणके साथ जो महाशय (रोगी)अपने चिकित्सा-कालसे पूर्व एवं पश्चात्‌के चित्र भेजेंगे, उनकाभी मुद्रण किया जावेगा।

निस्सन्देह 'प्राकृतिक विज्ञान-' का मूल्य पांच रुपये आठ आने बहुत है। किन्तु वास्तवमें यह कुछभी नहीं है। क्योंकि एक वार 'प्राकृतिक विज्ञान-'को भले प्रकार समझ लेनेपर सदाको डाक्टरोंके भारी, भारी बिलोंसे पीछा छूट जाता है और उसके अनुसार रहन-सहन रक्खनेपर कभी शरीर रोगी या अकाल मृत्युका ग्रास नहीं होता। इतना अधिक मूल्य हमने केवल इस लिए रक्खा है कि 'प्राकृतिक विज्ञान-'को हमने पचपन वार लिखनेका परिश्रम किया है और उसके हेतु समस्त जीवन आपत्तियोंमें व्यतीत करदेनेके अतिरिक्त सहस्रो रूपयेकी क्षति उठायी है। परन्तु इसपरभी हम असमर्थ जनोंको साढ़े पांच रुपयेमें पुस्तक देनेके अतिरिक्त विना फ़ीस सम्मति देनेको प्रस्तुत हैं।

हमारा धन्यवाद

पुस्तकके मुद्रणमें इतना विलम्ब होते हुएभी हम प्रेसवालोंको इस लिए धन्यवाद देते हैं कि उनका व्यापार हमारे प्रति पूर्ण सभ्यताका रहा है; और उन्होंने अन्य प्रेसोंके समान यह नहीं किया कि किसी प्रकार धोखा देकर आंख दिखा दें। सन् १९२३ ई० वाले सेठ करोड़ीमलजीके अतिरिक्त यदि हम अपने जीवनमें किसीको धन्यवादका पात्र कह सकते हैं तो वह हमारी स्त्री या श्रोत्रिय कृष्ण स्वरूपजीही हैं। क्योंकि जब हमने सद्धर्म प्रचारक प्रेस दिल्लीमें 'प्राकृतिक विज्ञान' मुद्रणार्थ दियाथा उस समय समस्त मित्रों एवं सम्बन्धियोंकी परीक्षार्थ रुपयेकी अपील करनेपर केवल सवा सौ रुपयेकी सहायता हमारी स्त्रीने दी थी और विना व्याज पचास रुपयेका ऋण श्रोत्रियजीने दिया था, जोकि उस प्रेसवालोंकी कृपासे अभीतक हमारे ऊपर है। इसके अतिरिक्त श्रोत्रियजीने जिन, जिन ग्राहकोंको उनके द्वारा हिन्दीमें अनुवादित डाक्टर कोहनीकी पुस्तक गयी है, उसकी सूची देनेकाभी वचन दिया था; प्रत्युत पांचसौ ग्राहकोंकी सूची वह हमको प्रेषितभी कर चुके हैं और शेषके भेजनेके विषयमें विश्वास दिलाया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रोत्रियजी अक्षरशः कोहनी प्रणालीके अनुयायी हैं, परन्तु वह इतने उदार हैं कि उनसे सत्यका प्रचार करनेके निमित्त सभी लाभ उठा सकते हैं। अतः हम उक्त श्रोत्रियजीको हृदयसे धन्यवाद देते हैं। इसके उपरान्त हम अपने

मित्र पं० हरिवंश रायजी वेदी, इन्जीनियरको धन्यवाद देते है। क्योंकि उन्होंनेभी उस समय हमारी अपीलपर बीस रुपयेकी आर्थिक सहायता दी थी, और शेष उन महानुभावोंकोभी हम धन्यवादका पात्र समझते है जो हमारे मित्र, हितैपी और सम्बन्धी धनेनेकी लम्बी हांका करते थे। क्योंकि उन्होंने हमारे अपील करनेपर यह सिद्ध करके कि संसारमें लौकिक हितैपी... हैं हमें उनसे दूर रहनेकी चेतावनी दी।..

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जर्मनी एवं अमेरिकाके जल चिकित्सकोंसे हमारा बहुत मतभेद है। परन्तु वास्तवमें उन्होंने औषधियोंके विपरीत आन्दोलन उठाकर रोगी जनोंका बहुत उपकार किया है, और उनके इस आन्दोलनके कारण समस्त सभ्य संसारमें कुछ ऐसी जागृति हो गयी है कि 'प्राकृतिक विज्ञान'का प्रचार होनेमें उतनी कठिनता न होगी, जितनी किसी समय जल चिकित्साकी पुस्तकोंके प्रचारमें हुई थी। अतः हम उन जल चिकित्साकी वेदीपर बलि होनेवाले विद्वानोंको, जिन्होंने प्राकृतिक चिकित्साके निमित्त क्षेत्र बनाया है, हृदयसे धन्यवाद देते हैं।

हम अपने मित्र अधिकारी जगन्नाथदासजीको उनके द्वारा बहुत कुछ आर्थिक क्षति और समयका नाश होनेपरभी इस लिए हृदयसे धन्यवाद देते हैं कि वह वास्तवमें बहुत सज्जन हैं और उन्हींके साथ कुछ दिन बम्बई रहनेपर हमारा बाबू राधारमणजी भार्गवसे परिचय हुआ था और उनकी एवं उनकी स्त्रीकी चिकित्सा करनेपर सेठ करोड़ीमलजीको हमारी चिकित्सा विधिका महत्व प्रगट होने और अपने अनेक रोगियोंकी चिकित्सा करानेके हेतु उन्होंने पुरस्कार रूपसे हमारे लिए पुस्तकका मुद्रण करानेका भार अपने ऊपर लिया था।

जिस समय हमने सबसे पूर्व 'प्राकृतिक विज्ञान' लिखना आरम्भ किया था, उस समयभी हम धनके अभावसे उसका मुद्रण सुन्दर रूपमें नहीं करा सकते थे। इस लिए कभी, कभी हमारी लेखनी बहुत शिथिल हो जाती थी। परन्तु इसके लिए हम हृदयसे श्रोप्रिय जगदीश दत्त एवं पुरुषोत्तम दत्तके ऋणी हैं। क्योंकि यद्यपि उन्होंने पुस्तकका मुद्रण नहीं कराया, परन्तु उनके आश्वासन द्वारा हमारा उत्साह वृद्धिको प्राप्त होता गया और फिर ज्यों, ज्यों आपत्तियोंका सामना हुआ त्यों, त्यों उत्साह बढ़ता गया।

वास्तवमें 'प्राकृतिक विज्ञान-'की रचनाका मूल कारण हमारे पिताका यह कहना—पेड़े या खोवे-(मावे) का सेवन करना इस लिए उचित नहीं कि वह अग्नि-द्वारा रसोंके जल जानेपर नीरस हो जानेके कारण शरीरमें रक्त नहीं बनाता, प्रत्युत वह शरीरके रसोंकाभी शोषण करके उसे हानि पहुंचाता है, हमारी माताका औषधियों द्वारा मरण होना, औषधियों द्वारा हमारा यकृत रोग दूर न होना, कुत्तेसे काटे जानेपर चचाकी आज्ञापर हम उस पथ्यपर रहनेको बाध्य होनेपर, जिसमें हमें विश्वास नहीं था, हमारे अनेक पदार्थोंके त्यागन करने, और हमारी पहिली स्त्रीका अठारहवीं डेसेम्बर सन् १९१४ ई० में क्षयी रोगसे पीड़ित होकर मृत्युको प्राप्त होना है। क्योंकि पिताजीके उपरोक्त उपदेशके कारणाही किसी ऐसे रासायनिक पदार्थका खोज तो न चला जो पेड़ों या खोवेसे अधिक रक्तकी उत्पत्ति कर सके, परन्तु यह ज्ञान अवश्य हो गया कि रक्त एवं जीवनकी वृद्धि करनेवाले पदार्थोंमें मनुष्यका प्राकृतिक आहार रसीले फलोंकाही है; और माताकी मृत्यु एवं अपने यकृत रोगसे पीड़ित होनेके कारण हमें यह विश्वास हो गया कि औषधियों द्वारा चिकित्सा करना अद्योपान्त कृत्रिम है; और हमारे कुत्तेसे काटे जानेपर हमें समस्त पदार्थोंके त्यागनेका अभ्यास हो गया, जिससे आगे चलकर यह निर्णय करनेमें बड़ी सहायता मिली कि मनुष्यका वास्तविक आहार क्या है; और अपनी क्षयी पीड़ित स्त्रीके रोगग्रस्त एवं मृत्युको प्राप्त होनेसे जल चिकित्साओंकी रही सही त्रुटियांभी नयनगोचर हो गयीं। अतः इसके लिए हम अपने पिता, माता ज्येष्ठ चचा और अपनी पहिली स्त्रीके आभारी हैं।

हम उन रोगियोंकोभी अनेकानेक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने धैर्यके साथ हमको अपनी चिकित्साका अनुभव करके सफलता प्राप्त करनेका अवसर दिया है।

हम यहांपर अपने पिता के मित्र रायबहादुर बाबू श्याम सुन्दर लाल जी, सी. आई. ई. कोभी इस लिए धन्यवाद देते हैं कि सन् १९१४ ई में० हम अपनी पहिली स्त्रीकी मृत्युसे ऐसे शोकातुर हो गये थे कि हमको संसारके समस्त कार्यों-से वैराग्य हो गया था, और उन्होंने उस समय हमको अपने उपदेशों द्वारा उस शोक-सागरसे निकाल कर इस योग्य कर दिया कि हम पुनः प्राकृतिक चिकित्साकी उन्नतिमें लग गये, और सन् १९१५ ई० में 'प्राकृतिक विज्ञान-' का लिखना शान्तिपूर्वक आरम्भ कर दिया, अतः इसके लिए हम उनके सदा ऋणी रहेंगे।

हम अपने पिता के मित्र लार्ड जे. एस. मैस्टन कोभी इस हेतु हृदयसे धन्यवाद देते हैं कि हम समाचार पत्रों आदिमें लेख देकर एवं उनको असाधारण पत्र लिखके बहुत कुछ व्यर्थ समय नष्ट किया करते थे, जिससे 'प्राकृतिक विज्ञान—' की रचनाको बहुत कुछ क्षति पहुंचती थी, किन्तु उनके निम्न पत्रसे, जो कि उन्होंने हमारे पिताको हमारे विषयमें लिखा था, हमको ऐसी शिक्षा मिली कि हमारा वह व्यसन छूट गया और हम ' प्राकृतिक विज्ञान ' लिखनेको यथेष्ट समय बचा सके। अतः हम उनके इस उपकारको कभी नहीं भूल सकते हैं, और उनके उस पत्रकी प्रति लिपि निम्न में देते हैं:—

Lieutenant Governor's Camp,
UNITED PROVINCES.
Lucknow, the 24th March 1916.

Dear Pandit Sahib,

I am much obliged for the photographs of His Highness and family which you very kindly sent me. I am glad to hear of the excellent state of affairs in Ajaigarh State and I am sorry that I did not see His Highness at Benares. I hope that you are well yourself, and that your son is now devoting himself to some useful employment instead of wasting his labour upon newspapers and writing foolish letters.

Yours very truly,
Sd. J. S. MESTON.

Pandit Banwarilal Misra,
C/o His Highness the Maharaja,
Ajaigarh State,
BUNDELKHAND.

अब अन्तमें हम सबसे अधिक धन्यवाद कुंवर राम सिंहजी, को जो कि हमारे परम मित्र श्री ठाकुर दयाराम सिंहजी रईस सोमना, जिला अलीगढ़के पुत्र हैं, देते हैं, जिनकी कृपासे हम एक मिथ्या एवं दारुण अभियोगसे मुक्त हो कर पुनः प्राकृतिक विज्ञानका प्रचार करनेके निमित्त इस क्षेत्रमें आये हैं।

हमारी प्रार्थना

यद्यपि हमारी इच्छा थी कि हम अबतककी अपनी समस्त जीवनी एवं आपत्तियोंका कथन करें, परन्तु ऐसा करनेके निमित्त हम कई कारण वश अशक्त हैं; और सबसे बड़ा यह हेतु है कि पच्चीस मार्च सन् १९२६ ई० को रंगूनमें किसी दुष्टने हमारी जेबसे लेखनी (Water man's Self Filling Fountain-pen) निकालकर हमें अपाहज कर दिया है। अतः हम अपने पाठकोंसे इसके निमित्त क्षमा प्रार्थना करते हुए यही निवेदन करते हैं कि वह सत्य और असत्यका निर्णय करनेके हेतु बारम्बार प्राकृतिक विज्ञानका अध्ययन करें। क्योंकि जितनी बार उसका पाठ किया जायगा उतनीही बार मस्तिष्कमें प्रकृतिका नूतन चमत्कार अनुभव होगा। हम उसका अनेक बार पाठ करनेकी केवल इसी हेतु अपने पाठकोंसे प्रार्थना करते हैं, जिससे वह हमारे सच्चे अनुयायी बनकर मन, काया, वचन एवं अपनी सम्पत्तिसे प्राकृतिक चिकित्साका प्रचार करके समस्त संसारके रोगियोंको विना किसी पक्षपात एवं अनुचित स्वार्थके लाभ पहुंचावें, प्रत्युत हो सके तो शीघ्राति-शीघ्र प्राकृतिक चिकित्साके लाभ जनक सिद्ध होनेपर उसके चिकित्सालय एवं विद्यालय स्थापित करनेकी चेष्टा करें। क्योंकि प्राकृतिक चिकित्साके विद्यालय एवं चिकित्सालयके स्थापित करनेकी इस लिए बहुत आवश्यकता है कि संसारमें दिनोंदिन औषधियों-(विषों) का प्रचार बढ़ रहा है, जिससे मानव जातिको अपार क्षति पहुंच रही है। अतः इस वैज्ञानिक युगमें जब कि सत्यका निर्णय करनेके निमित्त अनेक प्रकारके आन्दोलन हो रहे हैं, क्या कारण जो प्राकृतिक चिकित्साका आन्दोलन होकर औषधियोंकी पोल खोल उनके दोषोंसे जनताको न बचाया जाय। किन्तु एक तो धनके अभाववश दूसरे मुरादाबाद, जो हमारा निवासका स्थान था, सदाको त्याग कर देनेके कारण हम गृह हीन होनेसे आज तेरह वर्षसे निरन्तर भ्रमणमें हैं, हमारे निमित्त अभीतक कोईभी ऐसा उत्तम-

स्थान नहीं मिला है, जहां बैठकर हम शान्तिपूर्वक चिकित्सालय एवं विद्यालय स्थापित कर सकें। अतएव इसके अतिरिक्त कि हम अपने प्रिय अनुयायियोंसे इसके लिए प्रार्थना करें अन्य कोई उपाय नहीं है। अब आशा है कि पाठकोंके हृदयमें दयाके भाव उत्पन्न होंगे और वह हमारी इस प्रार्थनापर अवश्य ध्यान देंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमभी जब और जिस विशाल नगरमें चाहें चिकित्सालय एवं विद्यालय स्थापित कर सकते हैं। परन्तु इससे इसके अतिरिक्त कि हम सम्पत्तिशालियोंसे मन माना धन लेकर सुखसे जीवन व्यतीत करें, दरिद्र रोगियोंको कोई लाभ न होगा; और वास्तवमें यह हमारे लिए सच्चा सुखभी न होगा। हमारे जीवनको सुखी बनानेकी सामग्री तो उन्हीं दीन रोगियोंकी सेवा करके उन्हें लाभ पहुंचाना है, जो धनाभावसे दारुण रोगोंसे पीड़ा पाकर अकाल मृत्युके ग्रास बनते हैं। परन्तु उनकी सेवा करनेके लिए सबसे पहिले यह आवश्यक है कि कोई महाशय चिकित्सालयके निमित्त इतनी पुष्कल, और ऐसे स्थानमें जहांका जल-वायु रोगियोंके अनुकूल हो, और जिसकी उपज अच्छी हो, भूमि प्रदान करें, जिसमें रोगियोंके आहारके निमित्त फलोंकी कृषि हो सके, और रोगियोंके निवास स्थानादि बनाये जा सकें। इसके पश्चात् पुष्कल धन एवं चिकित्सालयका प्रबन्ध करनेवालोंके अतिरिक्त हृदयसे रोगियोंकी सेवा करनेवाले धर्मात्माओंकीभी आवश्यकता है। अतः जो महाशय यश एवं पुण्यके भागी होना चाहते हैं वह शीघ्र कमर बांधकर इस समर क्षेत्रमें पदार्पण करें। परन्तु जो महाशय केवल ख्यातिके कारण या किसी स्वार्थवश इस आन्दोलनमें भाग लेना चाहते हैं उनसे प्रार्थना है कि वह कृपाकर दूरही रहें तो उचित है। हमें रोगियोंका दुःख दूर करनेके निमित्त केवल उन उदार वीरोंकी आवश्यकता है जो स्थायी रूपसे कार्य करना चाहते हैं, और जिनके हृदयमें दुःखी जनोंके प्रति सहानुभूति है।

अब हम अपने उन रोगियोंसे जो 'प्राकृतिक विज्ञान' के अनुसार अपनी चिकित्सा करें निवेदन करते हैं कि वह आरोग्य होनेके उपरान्त हमको कमसे कम अपना समस्त विवरण लिखने एवं अपने चिकित्सा कालके पूर्व और पश्चात्के चित्र भेजनेकी कृपा करें, जिससे आगामी संस्करणमें उनका प्रकाशन हो सके। इसके अतिरिक्त प्रत्येक रोगीको प्राकृतिक चिकित्सासे लाभ होनेके उपरान्त अन्य रोगियोंको उससे लाभ पहुंचाना अपना कर्त्तव्य समझना चाहिये।

जबतक प्राकृतिक चिकित्साका कोई विद्यालय स्थापित न हो तबतक जो महाशय प्राकृतिक चिकित्सा शास्त्रसे प्रेम रक्खते हों और वह क्रम पूर्वक उसका अध्ययन करना चाहें तो हम पत्र व्यवहार द्वारा उन्हें शिक्षा देकर परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर एन० डी० सी० (Doctor of Nature Cure) की पदवी प्रदान करेंगे। परन्तु इसके लिए समस्त नियम पत्र द्वारा ज्ञात होंगे।

हम समस्त जगत्की भाषाओंके विद्वानोंसे प्रार्थना करते हैं कि वह अपनी उदारताका परिचय देनेके लिए मनुष्य समाजके लाभार्थ 'प्राकृतिक विज्ञान–' का अन्य भाषाओंमें अनुवाद करनेके निमित्त हमें उसका प्रचार करनेके हेतु सहायता दें। इसके उपरान्त हम उन मिकेनिकल इञ्जीनियरोंसे प्रार्थना करते हैं, जिनके हृदय मन्दिरमें हमारी चिकित्सा विधिको स्थान मिले, कि वह हमारे
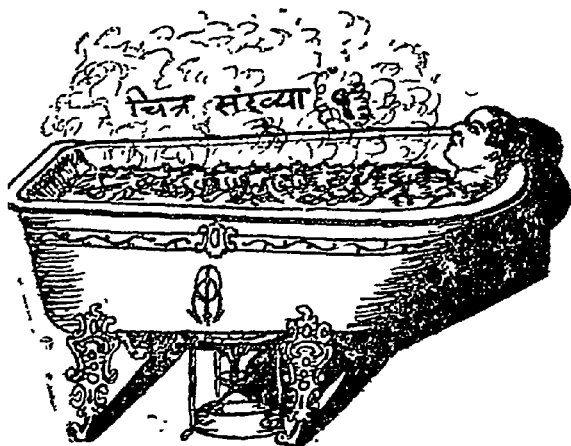
लिए निमाङ्कित चित्रोंपर ध्यान देकर अन्तिम चित्रकी आकृतिका यन्त्र बनानेकी कृपा करें, जिससे रोगी समाजका भला हो। इसके अतिरिक्त चित्र संख्या एककी आकृतिके

टब बनानेकाभी उद्योग करें, जिसके भीतर चारों ओर टबसे चिपटी हुई और तलीमें टबकी तलीसे ६" ऊपर काष्ठकी तह लगी हुई है और तलीवाले काष्ठमें एक एक इञ्चके व्यासके छिद्र है। किन्तु इस बातका ध्यान रहे कि इन यन्त्रोंको इस प्रकार बनाया जाय कि अधिक मूल्य न पड़े, जिससे दीन रोगीभी लेनेको समर्थ हों। हमारी सम्मतिमें चित्र संख्या एकवाला यन्त्र ऐसे आकारका बनाया जाय, जिसमें पूरा मनुष्य लेट शिरको छोड़ समस्त शरीरको जलमें डुबाकर ताप ले सके, और टबके पाय इतने ऊंचे हों कि उसके नीचे जलको तप्त करनेके लिए स्टोव रक्खा जा सके। इसके अतिरिक्त साधारण कठोर काष्ठके स्थान में यदि कार्ककी तह लगायी जाय तो अति उत्तम है और काष्ठकी तह ऐसी गोलायीके साथ लगायी जाय जिससे रोगीको लेटनेमें दुःख न हो।

चित्र संख्या २

अबतक हम बहुत दिनसे चित्र संख्या दोका यन्त्र, जो कि आलू कुचलनेके काममें आता है और चीनी एवं लोहेका बना हुआ है उष्ण जल द्वारा तप्त वस्त्रोंको निचोड़नेमें काम लाते रहे हैं, किन्तु उसमें एक दुःख यह है कि उससे वस्त्र निचोड़नेमें यह कठिनाई होती है कि उसको दबानेके लिए

वाम पग कुर्सी या स्टूलपर चित्र संख्या तीनमें वस्त्र निचोड़ने वाले मनुष्यके समान ऊपर रक्खना पड़ता है, जिससे ताप पहुंचानेवाले मनुष्यको बहुत कष्ट होता है। इसके अतिरिक्त प्रतिवार वस्त्र उष्णजलके पात्रमें भिगोकर उसमें निचोड़नेके निमित्त भरने पड़ते हैं, जिससे एकतो वस्त्रोंको पकड़नेके लिए चिमटेका प्रयोग करना पड़ता है, दूसरे कभी, कभी पात्रसे वस्त्र निकालते समय केवल तनिक असावधानीके कारण उसके इधर उधर जल गिर जानेसे स्टोवके बुझनेका भय रहता है। अतः हमने चित्र संख्या चारकी आकृतिके यन्त्रका एक डिज़ाइन किया
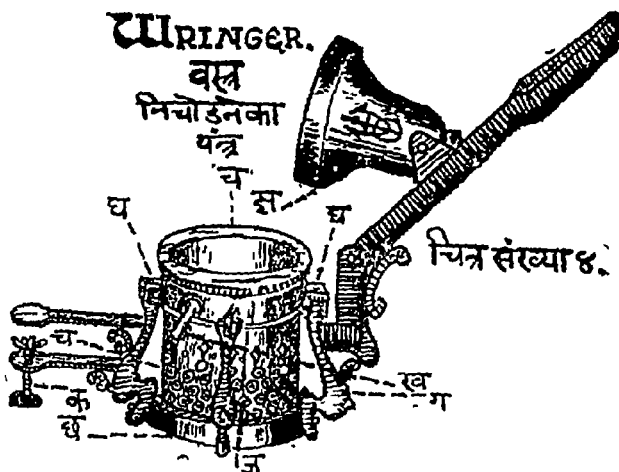
है, जिसमें एक स्थानपर क स्क्रयू लगा होनेसे वह स्टूल या कुर्सीमें कसा जा सकता है, और फिर उसके द्वारा वस्त्र निचोड़नेवालेको उसे अपने वाम पगसे न दबाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त उसमें ऊपरवाले ज कालरके स्थानपर एक ख हेन्डिल लगा हुआ है जिसको पकड़कर वस्त्र निचोड़नेवाला च पात्र (सिलेन्डर) वस्त्रसे भरकर नीचे जलवाले पात्रमें वस्त्र भिगोनेके निमित्त नीचेवाले छ कालरपर उतारा जा सकता है और फिर उठाकर ऊपरके कालरके घ हुक नीचेवाले छ कालरपर खड़ी हुई ग खूंटियोंपर रक्खके वस्त्र निचड़नेके निमित्त झ पिस्टन द्वारा सरलतासे निचोड़ा जा सकता है। परन्तु खेद है कि धनाभावसे अभीतक हम ऐसा कोई यन्त्र नहीं बनवा सके हैं, और किसी मिस्त्री या इन्जीनियरने हमारी यन्त्र बनानेकी प्रार्थनाभी स्वीकार नहीं की है। हां, केवल बाबू रघुनाथ प्रसादजी-, सेठ करोड़ी मलजीके भांजेने, जो कि सात, आठ वर्षसे गठियासे पीड़ित होनेपर हमारी चिकित्सासे रोगसे मुक्त हुए थे, प्राकृतिक विज्ञानके १७४ पृष्ठपर जिस यन्त्रका चित्र है वैसे कुछ यन्त्र काष्ठके बनवाये थे। किन्तु एकतो उन्होंने इस लिए उसका मूल्य अधिक रक्खा था, कि उनको

बढ़ियोंने बहुत दुःख दिया था, दूसरे थोड़े यन्त्र बनवानेमें मूल्यभी अधिक पड़ा था, तीसरे वहां काष्ठका भावभी अधिक था, और चौथे वहभी उससे अधिक लाभ चाहते थे। इसके अतिरिक्त वह यन्त्र बहुत भारी, भद्दा और शीघ्र बिगड़ जानेवाला था, इस लिए हम उससे सन्तुष्ट नहीं हुए। अतएव इञ्जीनियरोंसे प्रार्थना है कि वह हमारी इसमें सहायता करें।

हम गृहहीन होनेके कारण आज पर्यन्त किसी एक स्थानपर नहीं रहते हैं। अतः हमसे पत्र व्यवहार करनेका ठिकाना उस समयतक जबतक कि हमको स्थायी रूपसे निवास करनेको कोई एक स्थान न मिले निम्नमें है:—

द्वारा मैसर्स वल्लभ एण्ड सन्स,
कर्ण रोग विशेषज्ञ
पीलीभीत, यू० पी०,
इन्डिया

C/o Messrs. Vallabha & Sons,
Ear specialists,
Pilibhit, U. P. India.

अब केवल इतनाही लिखकर हम पुस्तककी भूमिकाको समाप्त करते हैं; और पाठकोंसे अपनी त्रुटियोंके लिए क्षमा प्रार्थी हैं।

बृहस्पतिवार,
तेरहवीं,
जेन्वेरी,
१९२७ ई०

पी० आचार्य.

अनूठा स्वप्न

नामक उपन्यास, जिसको डॉ० पी० आचार्यने एक
अनूठे ढङ्गसे लिखकर अपनी अनोखी
लेखनीका परिचय दिया है,

वास्तवमें

अपने रूपका एक अपूर्व और मौलिक ग्रन्थ है।

इसमें

लेखकने बताया है कि बालकोंको किस प्रकार शिक्षा देनी चाहिये, उनको
नीरोग रखनेके साधन क्या होने चाहियें, और उनके रोगोंकी चिकित्सा
कैसे की जाय। इसके अतिरिक्त बड़े, बड़े आश्चर्यजनक रहस्यों और
गुप्तचरोंके अलौकिक कृत्योंका कथन किया गया है, और शासन,
समाज, व्यापार, शिल्प, विज्ञान एवं स्वास्थ्यादिके सम्बन्धमें
बहुत कुछ प्रकाश डाला है और प्रत्येक पंक्तिको
इतना रोचक लिखा है कि कोई व्यक्ति बिना
पुस्तकको समाप्त किये नहीं रह सकता।

यह उपन्यास शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है।

मैनेजर प्राकृतिक विज्ञान कार्यालय।

संक्षिप्त भाषण

प्रिय पाठकगण,

हमारी कल्पना (थ्योरी) यह है कि जिस प्रकार एक घर लोहे, लकड़ी और पत्थर आदिसे मिलकर बना होता है उसी प्रकार हमारा शरीर रक्त, मांस, चर्बी, और हाड़ आदिसे मिलकर अनेक अवयवों द्वारा बनता है, और जैसे कोई पत्थर अनेक निर्जीव परमाणुओंके मिल-नेपर तैयार होता है वैसेही हमारे शरीरका कोईभी अवयव असंख्य जीवन-कोषों-(सजीव परमाणुओं) के मिलनेपर बनता है। केवल अन्तर इतनाही है कि पत्थरके परमाणु निर्जीव होते हैं और हमारे शरीरके जीवन-कण सजीव होते हैं। सारांश यह है कि हमारा शरीर उसी प्रकार असंख्य जीवाणुओंका समूह है जिस प्रकार एक पत्थर असंख्य परमाणुओंका समूह होता है।

अतः जैसे पत्थरका छोटेसे छोटा एक परमाणु उससे पृथक होनेपरभी वह कुछ न कुछ क्षीण हो जाता है वैसेही हमारे एक जीवन-कणका नाश होनेपरभी हमारे शरीरका कुछ न कुछ जीवन कम हो जाता है, अर्थात् उसके उतनेही भागकी मृत्यु हो जाती है: और जिस प्रकार परमाणुओंके एक, एक करके पृथक होनेपर एक दिन समस्त पत्थरका इति हो जाता है उसी प्रकार एक, एक करके जीवन-कोषोंका नाश होनेपर किसी न किसी दिन शरीर मृत्युको प्राप्त हो जाता है। अतएव हमारे एक जीवन-कणकी मृत्यु होनेसेभी हमारीही मृत्यु होती है।

हमारे शरीरके जीवन-कण किसी न किसी मात्रामें हमारी इच्छित और अनिच्छित क्रिया-ओंसे इस लिए प्रत्येक समय क्षीण होते रहते हैं कि इस प्रकार धीरे, धीरे जीवन-कोषोंका इति होनेपर एक न एक दिन हमारी मृत्यु होना निश्चय है। सारांश यह है कि जिस प्रकार दीप-

क्रमें, धीरे, धीरे तैल जलनेपर किसी न किसी समय समस्त तैल जलकर समाप्त हो जानेपर दीपकका इति हो जाता है उसी प्रकार धीरे, धीरे समस्त जीवन-कणोंका इति हो जानेपर हमारे शरीरकी विना किसी रोगसे पीड़ित हुए शान्तिसे मृत्यु हो जाती है। किन्तु प्रकृतिके विपरीत रहन-सहन रक्खनेसे आवश्यकतासे अधिक जीवन-कणोंका नाश होनेपर हम वैसेही रोगी या उसके द्वारा समयसे पूर्व कष्टके साथ मृत्युके ग्रास बन जाते हैं जैसे वह दीपक, जिसमें एक बत्तीके लिए रात्रिभर जलनेका तैल है चार बत्तियाँ डालकर जला देनेसे चौथाई रात्रि व्यतीत करनेपर बुझ जाता है।

हमारे शरीर, उसके प्रत्येक अवयव, और जीवन-कोषपर उसकी रक्षार्थ तथा एक अवयवको दूसरे अवयवसे और एक जीवन-कणसे दूसरे जीवन-कणको पृथक करनेके लिए वैसेही त्वचा होती है जैसे एक नारङ्गीकी रक्षार्थ एक

छिलका उसके ऊपर होता है, और उसको छील-नेपर एक, एक छिलका प्रत्येक फांकपर दीखता है, और फांकको छीलनेपर फांकके भीतरवाले प्रत्येक ज़ीरे-(वह पदार्थ जो फांकके भीतर रससे भरा होता है) के ऊपर एक, एक छिलका होता है, और ज़ीरेको तोड़नेपर उसके प्रत्येक जीवन-कोष-(जो इतने सूक्ष्म होते हैं कि नग्न नेत्रसे नहीं देखे जा सकते) पर छिलका होता है। हमारे शरीर, उसके किसी अवयव या जीवन-कोषकी त्वचा तभी नष्ट होती है जब कि उसका संसर्ग तीक्ष्ण पदार्थोंसे होता है। क्योंकि तीक्ष्ण पदार्थ उसे ऐसेही नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं जैसे खौलते हुए गर्म जलमें आलूकी त्वचा फट जाती है, या जैसे अग्नि द्वारा आलू भूननेपर उसकी त्वचा नष्ट हो जाती है; और तीक्ष्ण पदार्थों द्वारा जीवन-कणोंकी त्वचा नष्ट होनेपर वायुके विषैले गुणोंसे वह वैसेही विकृत पदार्थोंमें बदलने लगते हैं जैसे भुना हुआ या उबला हुआ आलू अपने समस्त जीवन-कोषोंकी

त्वचा नष्ट हो जानेके कारण शीघ्र सड़कर विकृत पदार्थोंमें बदल जाता है, या जैसे गेहुओंकी अपेक्षा आटेमें, जो उन्हींको पीसकर बनाया जाता है, त्वचाके नष्ट होनेसे शीघ्र विकृत जीवोंका जन्म और सड़न आरम्भ हो जाती है। सारांश यह है कि तीक्ष्ण पदार्थों या क्रियाओंसे हमारे जीवन-कणोंकी त्वचा नष्ट होनेपर वायुके दूषित प्रभावसे विषैले जीवों एवं दूषित पदार्थोंकी उत्पत्ति हो जाती है, और फिर एक तो स्वयं विषैले जीव अपनी जाति वृद्धि करते हैं दूसरे वह अपने दूषित और तीक्ष्ण प्रभावसे सन्सनाहट, खुजली, पीड़ा, ज्वर या सूजनका कारण होते हुए अपने आस-पासके दूसरे जीवन-कोषोंको छेदकर उनकी त्वचा नष्ट करके उनको उसी प्रकार अपने रूपमें बदल लेते हैं जिस प्रकार सड़े हुए दूधकी एक बूंद दूसरे स्वस्थ दूधमें डालनेसे उस सबको सड़ाकर अपने रूपका बना लेती है। इसके उपरान्त वह दूषित जीव या पदार्थ रक्त सञ्चार द्वारा शीघ्र हमारे

समस्त शरीरमें पहुंच जाते हैं, और जहां उनको स्थान मिलता है ठहरकर, जैसे और जिस मात्रामें वहां रासायनिक पदार्थ मिलते हैं उनके अनुसार वैसेही अनेक जातिके रोगोंके जीवाणुओंकी उत्पत्ति करते हैं, जैसे एक तोला लाल रङ्ग एक तोले पीले रङ्गमें मिलकर और रङ्ग बनाता है और दो तोले पीले रङ्गमें मिलकर कोई औरही रङ्ग बनाता है। सारांश यह है कि समस्त रोगोंकी उत्पत्ति और असमय मृत्युका कारण तीक्ष्ण पदार्थों या क्रियाओं द्वारा जीवन-कोपोंकी त्वचा नष्ट होनेपर वायु एवं अन्य पदार्थोंके दूपित गुणोंसे विकृत जीवोंकी उत्पत्ति होना है, प्रत्युत रोग और असमय मृत्युका मूल कारण प्रकृतिकी आज्ञाओंका पालन न करना है। क्योंकि सदा वही मनुष्य रोगी होकर असमय मृत्युको प्राप्त होते हैं, जिनका आहार-विहार प्रकृतिके विपरीत होता है। परन्तु यह मनुष्यकी बड़ी भारी भूल है कि जिन पदार्थों और क्रियाओंके करनेकी प्रकृति आज्ञा नहीं देती वह जान-बूझकर

मनुष्यत्वके गर्वमें उन्हेंही करता है। उसे चाहिये कि वह उन मूक बालकोंसे उपदेश ले जो प्रकृतिकी आज्ञाके विपरीत मिर्चकी तीक्ष्णताका अनुभव करके उसे सेवन करना नहीं चाहते, जो अधिक चलनेपर थकित होनेके कारण विश्राम करनेके स्थानमें प्रकृतिके प्रतिकूल एक पगभी आगे चलनेका साहस नहीं करते। उसे उचित है कि वह अबभी आंखे खोले और शरीरकी रक्षाके लिए तीक्ष्ण पदार्थों और क्रियाओंका, जो प्रकृतिकी ओरसे बर्जित हैं त्यागन करदे। क्योंकि उनसे बचनेके लिए प्रकृति मनुष्यको उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बार, बार चेतावनी देती है। इसीसे मिर्च सरीखे तीक्ष्ण, करेले जैसे कटु पदार्थोंसे बचनेके लिए हमारी जिह्वा द्वारा उनको न सेवन करने, दांतों द्वारा खट्टे, कठोर और किरकिरे पदार्थ न लेने, नासिका द्वारा ऐसे पदार्थ जिनकी गन्ध अपनी तीक्ष्णतासे दुःख पहुंचाती है ग्रहण न करनेकी प्रकृति चेतावनी देती रहती है। क्योंकि उनके तीक्ष्ण गुणोंसे

जीवन-कोषोंका चर्म नष्ट होकर उनका दूषित होना आरम्भ हो जाता है, जिससे समस्त रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

तीक्ष्ण पदार्थों या क्रियाओं द्वारा जीवन-कोषोंकी त्वचा नष्ट होनेपर वायु आदिके दूषित गुणोंसे शरीरमें जिन विकृत जीवों या पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है वह हमारे स्वस्थ जीवन-कणोंकी अपेक्षा वैसेही परिमाणतः हल्के होते हैं जैसे किसी फलका सड़ा हुआ भाग स्वस्थ भागकी अपेक्षा हल्का होता है; और हमारे शरीरमें जलका अंश अधिक होनेसे वह विकृत पदार्थ स्वयं दृश्य रूपमें या अति सूक्ष्म होनेसे, जिस प्रकार ख़र्बूज़ेकी गन्धके जीवाणु वाहर आते हैं अदृश्य रूपमें शरीरके ऊपर आकर वाहर हो जाते हैं। क्योंकि यह प्राकृतिक सिद्धान्त है कि जलमें डाले हुए हलके पदार्थ स्वयं ऊपर आजाते हैं। किन्तु यह रोगके जीवाणु या विकृत पदार्थ जिन, जिन मार्गों द्वारा शरीरके वाहर आते हैं

उनमें अपने वीर्य कणोंको छोड़ देते हैं, जिससे कुपथ्य द्वारा फिर उनको अपनी जातिकी वृद्धि करनेकी शक्ति प्राप्त होती रहती है; और इसीसे रोगोंका अन्त नहीं होता, अन्यथा पथ्यसे रहने-पर, उस समयतक जबतक कि किसी रोगने भयङ्कर रूप न धारण किया हो, समस्त रोग उसी प्रकार स्वमेव शान्त हो जाते हैं जिस प्रकार अग्निमें तप्त किया हुआ लोहा स्वयं शीतल हो जाता है। अतः यह सिद्ध हो गया कि रोगोंको स्वयं शान्त होनेके हेतु इस लिए किसी चिकि-त्साकी आवश्यकता नहीं है कि रोगके कीटाणु या विकृत पदार्थ स्वयं शरीरसे बाहर आते रहते हैं। किन्तु वह कीटाणु शरीरके भीतर अपने कुछ न कुछ वीर्य कण, जोकि अपने अनुकूल साधन प्राप्त होनेपर अपनी जाति वृद्धिका कार्य एवं हमारे जीवन-कणोंको छेदकर अपने रूपमें तब्दील करनेका काम करके रोगीको आरोग्य होनेका अवसर नहीं देते, छोड़ आते हैं। अत-एव हमको सबसे पहिले यह उपाय करना चाहिये

कि उनको अपनी जाति वृद्धि करनेके अनुकूल साधन प्राप्त न हों, इसके उपरान्त हमको ऐसा यत्न करना चाहिये कि उनकी वह तीक्ष्ण क्रिया बन्द हो जाय, जिससे वह हमारे जीवन-कोषोंको वेधकर अपने रूपमें तबदील करते हैं; और इसके लिए केवल यही उपाय है कि हम तीक्ष्ण पदार्थोंका सेवन करना और तीक्ष्ण क्रियाओंका व्यवहारमें लाना सर्वथा त्याग दें और अनुत्तेजक रसयुक्त पदार्थोंका सेवन करना और सुखप्रद क्रिया-ओंका व्यवहारमें लाना ग्रहण करें; और शरीरके प्रदाहित स्थानों-, या जिन स्थानोंसे दाह आरम्भ होता है, को उष्ण जल द्वारा ताप पहुंचावें। क्योंकि अनुत्तेजक रसीले प्राकृतिक आहार-(फल) और सुखप्रद क्रियाओंसे शरीरको विश्राम मिल-नेपर चैतन्यता और शक्ति प्राप्त होती है, और विषोंकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है, जिससे रोगके कीटाणुओंको अनुकूल साधन प्राप्त नहीं होते; और जलके ताप द्वारा रोगोंके कीटाणुओंकी वह क्रिया जिससे वह हमारे जीवन-कणोंको वेध

कर अपने रूपमें तबदील करते हैं, वैसेही बन्द हो जाती है जैसे वही दूध जो वायुके दूषित गुणोंसे कुछ घन्टोंमें सड़ जाता है यदि अग्निपर रक्खा दिया जाय और उसमें जल डालते रहें तो दस वर्षतकभी (अग्निपर रक्खा हुआ) न सड़ेगा; और जल द्वारा ताप पहुंचानेसे वह विकृत पदार्थ जो सूखकर शरीरके भीतर चिपक जाते हैं वैसेही फूलकर शरीरसे पृथक हो जाते हैं, जैसे शरीरकी त्वचाका मल उष्ण जलसे फूलकर शरीरसे छूट जाता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी अज्ञान बालककी ऊंगलीमें चोट लगती है या उसकी ऊंगली जलती है तो वह प्रकृतिकी आज्ञानुसार उसको मुंहसे फूंककर ताप द्वारा उसकी चिकित्सा करता है। अतः सिद्ध होता है कि प्रत्येक रोगसे मुक्त होनेकी केवल यही प्राकृतिक चिकित्सा है कि रोगीका आहार रसीले और अनुत्तेजक अर्थात् मनुष्यके सेवन करनेकी प्रकृतिके अनुकूल फल हों, और उसका विहार

आनन्द वर्धक हो, और शरीरको उष्ण जल द्वारा ताप पहुंचाया जाय।

सारांश यह है कि मनुष्यको स्वस्थ रहने और दीर्घ जीवी होनेके लिए आवश्यक है कि वह प्रकृतिके नियमोंका पूर्ण रूपेण पालन करे अर्थात् जिस समय निद्राका ज्ञान हो शयन करे, जब अंगड़ाई लेनेकी इच्छा हो अंगड़ाई ले, जब उठनेकी आवश्यकता हो उठे, जब और जितनी दूर टहलने या दौड़नेकी इच्छा हो उतना टहले या दौड़े, जब और जितना उछलने-कूदनेको मन हो उछले-कूदे, जब मल-मूत्रादिके त्यागनेकी आवश्यकता हो उन क्रियाओंको करे, जब और जितनी क्षुधाका ज्ञान हो तब उतना केवल उन प्राकृतिक फलोंका आहार करे जो रससे भरे होनेके कारण वीर्यकी अपेक्षा रक्तकी उत्पत्ति अधिक करते हों और जो दांतों, और जिह्वाको रुचें, ओठों और जिह्वाको चुपर, कड़वे, कसैले अस्वादिष्ट, स्वाद रहित दुःखप्रद

या सन्सनाहट या किसी प्रकार तीक्ष्णता अथवा उत्तेजनाका ज्ञान देनेवाले, कण्ठमें अटकनेवाले, नखों और दांतोंसे न कटनेवाले, नासिकाको तीव्र या अप्रिय गन्धका ज्ञान देनेवाले, मुखमें चुभने या अधिक लारका स्राव करनेवाले, दांतोंमें अटकनेवाले, नीरस, अप्रिय या किसी प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियोंको घृणित प्रतीत हों सेवन न करने चाहियें। क्योंकि जो पदार्थ हमारी ज्ञाने-न्द्रियोंको अपने किसी तीक्ष्ण या उत्तेजक गुणसे कष्ट देते हैं, या जो नीरस होते हैं या जिनका रस भारी अथवा गाढ़ा होता है, या जिनमें रसकी अपेक्षा गूदा और तन्तु अधिक होते हैं शरीरको लाभकी अपेक्षा हानि पहुंचाते हैं। इस लिए सदा अनुत्तेजक और रसीले फलोंका वह भाग सेवन करना चाहिये जो हमारी ज्ञानेन्द्रियोंको प्रिय हो, और यह बात सदा स्मरण रक्खनी चाहिये कि रक्त-, जिसपर हमारा जीवन निर्भर है, की उत्पत्ति सर्वदा रसोंसेही होती है। अतः

रसीले फलही मनुष्यके जीवनमें, रक्तकी अधिक उत्पत्ति करके उसकी वृद्धि कर सकते हैं, और उनके अभावसे रस हीन पदार्थोंपर जीवन निर्वाह करनेसे जीवनके कालमें कमी हो जाती है अर्थात यदि किसीको दीर्घ जीवी होना है तो वह रसीले और अनुकूल आहारसे शरीरके रसोंमें कमी न होने दे, और यथा शक्ति प्राकृतिक नियमोंके अनुसार तीक्ष्ण और उत्तेजक पदार्थों या क्रिया-ओंसे दूर रहकर जीवन निर्वाह करे। बस इसीमें मनुष्यका कल्याण है।

इरनकोला जहाज,
चौदहवीं
एप्रिल
१९२६ ई०

पी० आचार्य

डेढ़ बात ।

प्रिय पाठकगण,

हम पुस्तकमें बहुत कुछ कह चुके हैं फिरभी इतना और कहते हैं कि सृष्टिके अन्य समस्त जीवोंके अतिरिक्त एक मनुष्यही ऐसा है जो नेत्र होते हुएभी अन्धा हो रहा है। इसीसे वह खाद्य और अखाद्य समस्त पदार्थोंका सेवन करता है, करने और न करनेके सभी कार्योंमें भाग लेता है और मनुष्यसे लेकर पशु, पक्षी आदि समस्त जीवोंके दुखका हेतु होता है। वस्तुतः मनुष्यने समस्त संसारमें हलचल मचा कर अन्य जीवों और अपनी जातिकोही संकटमें नहीं डाला है, प्रत्युत उसने अपनेको समूल नष्ट करनेके साधन किये हैं। वह पल, पलकर प्रकृतिसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा दुष्कृत्योंसे बचनेकी चेतावनी मिलनेपरभी उस ओर कोई ध्यान नहीं देता। वह नासिका होते हुएभी दुर्गन्ध युक्त, दूषित, उत्तेजित और तीक्ष्ण गन्धवाले पदार्थ ग्रहण करनेमें तनिकभी संकोच नहीं करता, वह दांत होते हुएभी खट्टे पदार्थ सेवन करता है, वह जिह्वाकी उपस्थितिमेंभी कड़वे कसीले, सन्सने, चर्परे तीक्ष्ण, वमन लाने वाले, दूषित और घृणित पदार्थोंका आहार करता है, वह दन्त और नखोंसे कठोर पदार्थ न छिलने और टूटनेपरभी उनका सेवन करता है; वह त्वचासे जिन ऋतुओं और स्थानोंकी सर्दी-गर्मी सहन नहीं होती उन ऋतुओं और स्थानोंमें रहता और निवास करता है और बुद्धिके होते हुएभी

वह प्राकृतिक पदार्थ सेवन करने और नैसर्गिक जीवन निर्वाह करनेके स्थानमें कृत्रिम पदार्थ काममें लाता और अप्राकृतिक जीवन निर्वाह करता है। इसपरभी वह अपनी मनुष्य बुद्धिपर गर्व करता है। क्योंकि उसके अनुमानसे प्रकृति मूर्खा है और वह उसकी उस मूर्खताके दोषोंको दूर करनेके लिए अपनी बुद्धिसे प्राकृतिक पदार्थोंमें अनेक परिवर्तन करके उनको प्रयोगमें लानेकी चेष्टा करता है, जिसका परिणाम यह है कि मानव जाति सहस्रों रोगोंकी आखेट होकर दिनों-दिन अधोगतिको प्राप्त हो रही है और नियमित समयसे पूर्व मृत्युको प्राप्त होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्यने जितना उपाय, अपनेको कृत्रिम आहार-विहार अपनाकर, रोगी बनानेका किया है उतनीही चेष्टा रोगोंके दूर करनेकीभी की है। परन्तु असंख्य औषधियों और चिकित्साओंकी खोज करनेपरभी वह उसमें इस लिए सफल नहीं हुआ कि उसने प्रकृतिके विपरीत कृत्रिम चिकित्सा विधिका खोज करनेमें अपनी बुद्धिका दुरुपयोग किया है। उसे चाहिये था कि वह उन मूक बालकोंसे शिक्षा लेकर, जो माताके स्तनोंपर कटु पदार्थ लग जानेसे दुग्धपान नहीं करते, उन कृत्रिम पदार्थोंको जो अनुकूल प्रकृतिके नहीं हैं ग्रहण करनेकी चेष्टा न करता, और उन्हीं अज्ञान बालकोंके समान जो शरीरमें कहीं चोट लगनेपर उसे मुखसे फूंककर ताप द्वारा चिकित्सा करते हैं, रोगोंसे मुक्त होनेका प्राकृतिक उपाय करता। किन्तु वह अपनी बुद्धिके गर्वमें प्रकृतिके हितोपदेशको भूला हुआ है, प्रत्युत ठोकर खाकरभी वह आंखें बन्द करके चलनेका

नामही वृद्धि समझा हुआ है। इसीसे तम्बाकूसे वमन होती जाती हैं और वह सेवन करता जाता है, मिर्चोंसे जिव्हा जलती जाती है और वह बलात् उसे ग्रहण करता जाता है और मांस-मदिरामें दुर्गन्ध आती जाती है और वह उसे मुंह लगाता जाता है, इत्यादि, इत्यादि। अतः हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम प्रकृतिके उपदेशको जनतातक पहुंचायं, और उसके उपयोगी सिद्ध होने न होनेका फ़ैसला उसके हाथोंमें देनेका अवसर दें। यद्यपि अबतक हम कई सहस्र रोगियोंपर सफलताके साथ, अनेक कष्ट झेलते हुए, प्राकृतिक चिकित्साकी परीक्षा कर चुके हैं तथापि हमने इसका फ़ैसला [illegible] जनतापर छोड़ा है, कि उसके उपयोगी सिद्ध होनेपर मनुष्य समाजका अधिक लाभ हो। अब आशा है, हमारे पाठक प्राकृतिक विज्ञानसे लाभ उठाकर अपनी सम्मतिसे हमें अवश्य सूचित करेंगे, जिससे यदि हमारी कोई भूल हो तो सुधार कर दिया जाय।

कैलकटामेल,
सातवीं
जेन्वेरी
१९२७ ई०

पी० आचार्य.

'मैं क्षयी रोगसे कैसे मुक्त हुई ?'

नामक पुस्तक मैं आरोग्य होनेपर शीघ्र लिखकर उन क्षयी पीड़ित (Consumptives) रोगियोंके निमित्त प्रकाशित करने-वाली हूं, जो जीवनसे हताश हो गये हैं और वस्तुतः जिनके प्राण घोर संकटमें हैं। उपरोक्त पुस्तक क्षयी-(Consumption) के रोगियोंके निमित्त अमृतका काम देगी। क्योंकि उसमें उन्हीं उपायोंका कथन किया जायगा, जिनके द्वारा मेरी क्षयी सरीखे दुष्ट रोगसे मुक्ति होगी। मुझे बहुत कुछलाभ होना आरम्भ हो गया है, और मुझे आशा है कि शीघ्र मेरा इस दुष्ट रोगसे पीछा छूट जावेगा। परन्तु मैं उसका लिखना तभी आरम्भ करूंगी जब कि मैं पूर्ण रूपेण स्वस्थ हो जाऊंगी। क्योंकि मेरी इच्छा है कि मैं उसमें अपने रोगकी दशाका अद्योपान्त कथन करूं, जिससे प्रत्येक रोगी अपनी चिकित्सा करनेको समर्थ हो। वास्तवमें उपरोक्त पुस्तक उपरोक्त विषयपर एक अद्वितीय पुस्तक होगी। किन्तु पुस्तकके इस महत्वका श्रेय उन डाक्टर पी० आचार्यजीकोही होगा, जो मेरी चिंकित्सा करनेके कारण इतना कष्ट सहन कर रहे हैं।

सी० एस० वाला,

प्राकृतिक विज्ञान कार्यालय।

विषय सूची.

लेख शीर्षक	पृष्ठसे	पृष्ठतक
मैथुन	११३	— ११८
गर्भ स्थितिका समय	११८	— १२२
मैथुन योग्य दम्पतिके लक्षण	१२२	— १२५
गर्भ रक्षा और शिशु जन्म	१२५	— १२९
शिशु पोषण	१२९	— १३७
स्वच्छता	१३७	— १४४
आरोग्यताके मुख्य नियम	१४४	— १५१
औषधियोंका शरीरपर अपकार	१५१	— १६१
परिचर्या	१६२	— १६८
प्राकृतिक चिकित्सा	१६८	— १७१
हमारी चिकित्सा विधि	१७१	— १७९
जल ताप	१७३	— [illegible]
टब द्वारा	१७३	— [illegible]
भीगे वस्त्रों द्वारा	१७३	— १७५
मृत्तिका ताप	१७५	— १७६
पड़ु बन्धन	१७५	— १७५
उदर बन्धन	१७६	— १७६
अन्य बन्धन	१७६	— १७६
आवश्यक सूचनाएं	५७६	— १७९
रोगीका आहार	१७९	— १८१
चिकित्सा सम्बन्धी यन्त्र मिलनेका पता	१७९	— १७९
पीड़ा	१८१	— १८३
तीव्र रोग (Acute disease)	१८३	— १८५
मन्द रोग (Chronic disease)	१८५	— १८[illegible]
शिर सम्बन्धी रोग	१८६	— १९[illegible]
शिरपीड़ा Headache.	१८६	— १८[illegible]
मस्तिष्क सम्बन्धी रोग Brain diseases.	१८९	— १९[illegible]

स्मरण रहेः—

१ सूर्यका ताप अमृत है यदि सह्य हो,

२ स्वच्छ वायु जीवन है यदि असह्य न हो,

३ स्वस्थ मनुष्यके निमित्त सह्यतापके शीतल जलका और रोगीके निमित्त उष्ण तापके जलका स्नान नवजीवित करनेवाला है,

४ यदि इच्छा है कि शरीर नीरोग और शक्ति शाली रहे तो अनुत्तेजक, नव जीवित, स्वस्थ और रस युक्त फलोंका आहार करे,

५ यदि रोगियोंकी इच्छा है कि वह शीघ्र दारुण रोगोंसे मुक्त हो जाय तो उनको चाहिये कि रोगकी प्रकृतिके अनुसार शरीरको न्युनाधिक ताप पहुंचायं और सह्यतापके उष्ण जलका इस लिए पान करें कि वह अमृतसेभी अधिक लाभप्रद है,

६ प्राकृतिक व्यायाम, अर्थात् सामर्थ्यानुसार उछलना, कूदना, दौड़ना, वृक्षोंपर चढ़ना, अङ्गड़ाई लेना, टहलना, हंसना और गाना आदिभी स्वास्थ्यके निमत्त आवश्यक है,

७ शरीरके पीड़ित स्थानको दबाना, मलना, खुजाना, ताप पहुंचना, अङ्गड़ाना या अन्य किसी उस क्रियाका करना, जिसके लिए प्रकृति प्रेरणा करे, शरीरको रोगसे मुक्त करनेके निमित्त आवश्यक है,

८ और शरीरको नीरोग रखनेके लिए प्रत्येक उस नियमके पालन करनेकी आवश्यकता है, जिसकी प्रकृति आज्ञा देती है।

पी० आचार्य

क्षयीके रोगी

कभीभी हताश न हों

यदि

उनमें चलने-फिरनेकी शक्ति है।

हम

उनको विश्वास दिलाते है

कि

एक वार उनको मृत्युके मुखसेभी

निकाला जा सकता है।

परन्तु

उनको सपथ्य चिकित्सा करनेमें

एक पलकाभी विलम्ब न

करना चाहिये।

यदि

कोई रोगी असमर्थ है तो हम

विना फ़ीसके उसे प्रत्येक

समय सम्मति देनेको

प्रस्तुत हैं।

पी० आचार्य

नेत्रोंके रोगियोंको

चाहिये कि वह नेत्र सरीखे अमूल्य
रत्नोंकी रक्षार्थ शीघ्रातिशीघ्र
प्राकृतिक चिकित्साके
नियमोंका सपथ्य पालन करें
और देखें कि कितने अल्प
समयमें उनको लाभ
होता है।

यदि

आवश्यकता हो तो हमारी
सम्मति प्राप्त करके
लाभ उठावें।

पी० आचार्य

जिन

स्त्रियोंकी सन्तान अल्पायुमें नष्ट हो जाती

हो या जिनको तीन - चार

मासके उपरान्त गर्भपात

हो जाता हो

वह

अवश्य प्राकृतिक चिकित्सासे लाभ

उठावें और आवश्यक हो तो

हमारी सम्मति

प्राप्त करें।

फ़ीस हैसियतके अनुसार होगी।

पी० आचार्य

श्वांसके

निमित्त कहावत है—दमा दमके साथ जाता है—परन्तु
नहीं, यह बात निर्मूल है। क्योंकि प्राकृतिक
चिकित्सा श्वांसके रोगियोंको सदाको
श्वांस रोगसे मुक्त करा सकती है।

यदि

विश्वास न हो तो हमारी चिकित्साका
अनेक श्वांस-रोगियोंपर अनुभव करिये

और

आवश्यकता हो तो हमारी सम्मति लीजिये।

पी० आचार्य

प्राकृतिक विज्ञान

हमारी शरीर रचना

संसारमें जो सजीव या निर्जीव सृष्टि कहलाती है, वह निर्जीव या जड़ सृष्टिमें प्राकृतिक परिवर्त्तनों द्वारा जड़ पदार्थ अर्थात् तत्वों एवं उनसे उत्पादित जीवनके अन्य रासायनिक पदार्थोंके परस्पर संयुक्त होनेपर नाना प्रकारके जीवधारियोंकी उत्पत्तिका हेतु, और उनके पुनः विसंगठित होनेसे, उनके नाशका कारण होता है। सारांश यह है, जगतके सजीव पदार्थोंकी उत्पत्ति केवल निर्जीव पदार्थोंसे है। इसीसे जल, वायु और मृत्तिका, जो पृथक रूपसे निर्जीव हैं, को पृथक, पृथक बोतलोंमें यन्त्रों द्वारा इस प्रकार बन्द कर दें कि जल वाली बोतलमें ओषजन वायु (Oxygen Gas) का अंश न रहे, वायु वाली बोतलमें उद्‌जन वायु (Hydrogen Gas) का लेश न रहे, और मिट्टी वाली बोतलमें जलका नाम न रहे; अर्थात् उपरोक्त तत्वोंका सम्बन्ध अन्य तत्वोंसे पृथक कर दिया जाय तो बहु मूल्य सूक्ष्म-दर्शक (Highest microscope) यन्त्र द्वारा परीक्षा करनेसे सिद्ध होगा कि उन तीनों बोतलोंमेंसे अब किसीमेंभी चलते-फिरते (हर्कत करनेवाले) सजीव परमाणु नहीं हैं। कारण यह कि जीवनके रासायनिक पदार्थ विना अन्य तत्वोंकी सहायताके जीवोंकी उत्पत्तिका हेतु नहीं होते। परन्तु पुनः उन्हीं बोतलोंका मुख खोल देनेपर अनुभव होता है कि अन्य तत्वोंको बोतलोंमें प्रवेश करनेके निमित्त स्वतन्त्रता पूर्वक मार्ग मिल जानेसे उनके परस्पर संसर्ग द्वारा जीवनके रासायनिक पदार्थोंको सहायता मिलनेसे प्रत्येक बोतलमें उसी अणुवीक्षण यन्त्रसे देखनेपर असंख्य छोटे, छोटे परमाणु चलते-फिरते नयनगोचर होते हैं; जिसका मोटा उदाहरण यह है कि काईके जीवाणु प्रायः वहीं जन्म लेते जहां प्रत्यक्ष रूपसे जल, वायु और मिट्टी आदि तत्वों एवं उनसे मिश्रित जीवनके रासायनिक पदार्थोंका संसर्ग होता है। इसीसे यह नित्य देखनेमें आता है कि यदि जल,

वायु और मिट्टी आदिका परस्पर स्पर्श न हो, अर्थात् तत्वोंके परिवर्त्तनों द्वारा उत्पादित जीवनके रासायनिक पदार्थोंका मिश्रण न हो तो कदापि कोईके जीवाणु नहीं उपजते। अन्ततः सिद्ध होता है कि सजीव पदार्थोंकी उत्पत्ति प्रकृति द्वारा तत्वोंमें परिवर्तन होने अर्थात् एक; दूसरे तत्वके परस्पर सन्युक्त होनेपर, जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी सहायता पहुंचनेसे, होती है। फलतः हमारे शरीरकी रचनाका हेतुभी उन्हीं जीवोंके सदृश है, जो जल, वायु और अन्य तत्वोंकी सहायता और उनके सङ्गठनसे जीवनके रासायनिक पदार्थोंके उत्पन्न होनेपर उनके द्वारा उपरोक्त विधिसे जन्म लेते हैं। केवल उनके और हमारे शरीरमें तत्वोंके परिमाणमें रासायनिक भेद होता है, जिससे हमारे तथा अन्य जीवधारियोंके शरीरकी रचनामें अन्तर प्रतीत होता है। जैसे—एक तोले पीले रङ्गमें एक तोले लाल रङ्गका मिश्रण करनेसे कुछ और रङ्ग बनता है, और दो तोले पीले रङ्गमें एक तोला लाल रङ्ग मिलानेसे कोई अन्य रङ्ग होता है। परन्तु वास्तवमें यह दोनों कृत्रिम रङ्ग पीले और लाल रङ्गके मिश्रणसेही बनते हैं। यह दूसरी बात है कि इन दोनों नवीन और कृत्रिम *रङ्गोंकी रचना करनेमें पीले तथा लाल रङ्गके तत्वोंकी मात्रामें भेद रक्खा जाता है।* इसीसे प्रायः देखनेमें आता है कि किसी, किसी स्त्रीके गर्भसे बकरी, बन्दर तथा किसी अन्य पशु, पक्षी के बच्चोंकी आकृति वाले बालक उत्पन्न होते हैं। कारण यह कि उन स्त्री-पुरुषोंके डिम्ब एवं शुक्र कीट (Ovum and spermatoza) के तत्वोंमें रहन-सहन आदिके कारण कुछ ऐसे रासायनिक भेद हो जाते हैं कि उनसे उत्पन्न होने वाले बालकोंकी आकृति जिस जातिके जीवसे समानता रखनी है उसीके तत्वोंके, परिमाणानुसार होनेसे उसीके अनुकूल रची जाती है। अपरञ्च ऐसा भी अनुभवमें आया है कि कोई, कोई प्रसूता ऐसे बालक जनती हैं, जिनके शरीरका कोई अङ्ग किसी जीवके सदृश, और कोई किसीके समान होता है। अतः यहभी वही तत्वोंकी रासायनिक मात्रामें परिमाणतः भेद होनेका कारण जानना चाहिये। परन्तु इसपर यह भी प्रश्न होता है:—

"अब जीवोंमें ऐसी घटनाएं जिनसे उनका अन्य जातिके जीवोंकी आकृतिके बालक जनना सिद्ध हो, क्यों कम सुननेमें आती हैं? प्रत्युत सुनेमें तो नहीं आती?"

इसका उत्तर इतना ही है कि मनुष्यका प्रचलित आहार विहार नैसर्गिक न होनेसे उसके शरीरमें, अन्य जीवोंकी प्रकृतिके अनुकूल जीवन निर्वाह करनेसे,

रासायनिक पदार्थोंके परिमाणमें अन्तर होनेपर अनेक परिवर्त्तनों द्वारा डिम्भ एवं शुक्र कीटमें उन्हीं जीवोंके समान सङ्गठन होता रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी नित्य देखनेमें आता है, किसी गर्भिणीसे पुत्रका जन्म होता है और किसीसे पुत्रीका। निदान यह भी डिम्भ तथा शुक्र कीटकी आपसकी रासायनिक मात्राके परिमाणकी न्यूनाधिकतापरही अवलम्बित है। परन्तु कोई अधिक अङ्ग लिये हुए या किसी अङ्गसे क्षीण, जो वालक जन्म लेते हैं उनमें डिम्भ एवं शुक्र कीटकी मात्राके परिमाणमें इस प्रकारका कोई रासायनिक अन्तर नहीं होता; प्रत्युत गर्भाशयमें किसी प्रकार प्रसूताके प्रकृतिकी आज्ञाओंका उल्लङ्घन करनेसे अनुचित भार या पीड़ा आदिके कारण गर्भके सङ्गठनमें अन्तर हो जाता है।

जिस प्रकार एक गृह काष्ठ, पाषाण, लोह आदिसे वना होता है उसी प्रकार हमारा शरीर रक्तकणों, मांस पेशियों, मज्जा, उपास्थि और अस्थि आदिके जीवन-कणोंके समूहों द्वारा मस्तिष्क, फुफ्फुस, वक्ष, आमाशय, यकृत, प्लीहा, वृक्क और अन्त्रादि सरीखे वड़े और छोटे अवयवोंसे मिल कर वना है; और जिस प्रकार लोहे, पत्थर एवं लकड़ीका एक छोटासा टुकड़ा असंख्य अणुका समूह होता है उसी प्रकार हमारे शरीरका न्यूनाति न्यून अवयव भी अगणित नन्हे, नन्हे जीवन-कणों या परमाणुओंके समूहों द्वारा संगठित होता है; और जैसे लोह, काष्ठ और पाषाण आदिका अल्पात्यल्प अणुभी चूर्ण करनेपर अनेक अणुओंमें विभाजित हो सकता है, वैसेही हमारे शरीरके अनेक छोटे, छोटे जीवन-कण (Cells) भी अपनेसे अन्य लघु परमाणुओं द्वारा रचित होते हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि हमारे शरीरकी रचना इन्हीं नन्हे, नन्हे जीवन-कोषों (Cells) के संगठनसे हुई है।

यह छोटे, छोटे जीवन-कण (Cells) जिनसे हमारे शरीरकी रचना हुई है, सृष्टिके आदि समय तत्वोंके परिवर्तनों द्वारा जीवनके रासायनिक पदार्थोंके उत्पन्न होनेसे उत्पादित केवल एक-कणित जीवोंके आकारमें थे; तद्उपरान्त जैसे, जैसे इनको रासायनिक साधन प्राप्त होते गये उन्हींके अनुसार एक-कणित जीवोंके एकही कणसे अनेक कणोंके उत्पन्न होनेपर कई कण वाले जीवधारियोंकी रचना हुई; और इसी चक्रके चलनेसे असंख्य जातिके जीवधारियोंने जन्म धारण किया, जिसका अन्तिम फल हमारे शरीरकी रचना है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विज्ञान विहीन मनुष्य हमारे शरीरकी एक-कणित जीवोंसे, विना मैथुन केवल प्रकृति द्वारा तत्वोंमें रासायनिक परिवर्त्तन होनेसे जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी उत्पत्तिपर, रचनाका कारण स्वीकार करनेमें अवश्य संकोच करेंगे। परन्तु हमारे नित्यके अनुभवों द्वारा यह बात स्पष्ट है कि गोबरके सड़नेपर गुबरीलेकीट, तथा सीलन (तरी) के स्थानोंमें मच्छर, पिस्सू आदि ज्यों, ज्यों तत्वोंमें रासायनिक परिवर्त्तन होते हैं त्यों, त्यों जन्म धारण करते रहते हैं; और फिर यदि उनका दमन करके उनके मृत शरीरोंको बहु संख्यामें एकत्रित और चूर्णकर किसी तरीके स्थानमें रखदें तो वायु आदि द्वारा उनसे अन्य रासायनिक पदार्थोंका संसर्ग होनेपर उन्हीं पदार्थोंके अनुसार किसी अन्य जातिके जीवोंकी उत्पत्ति होती है; किन्तु इन सब जीवोंकी उपत्तिका मूल हेतु एक-कणित जीवधारी ही हैं। क्योंकि जिस प्रकार विना अणुओंके समूहके एक पत्थरका संगठन नहीं हो सकता, उसी प्रकार विना एक-कणित जीवधारीके जन्म लिये बहु-कणित जीवधारियोंकी रचनाभी नहीं हो सकती। फलतः जितनी जातिके जीव इस सृष्टिमें दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबका मूल कारण एक-कणित जीव ही हैं। अतः एव सिद्ध होता है, हमारे शरीरकी रचनाभी एक-कणित जीवोंके वीर्य कणोंसेही उन्नति करते, करते हुई है, जिसमें एक-कणित, द्वि-कणित और बहु-कणित जीवन-कण सम्मिलित हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि हमारा शरीर जो तत्वोंके हेरफेरसे जीवनके रासायनिक पदार्थों द्वारा एक-कणित जीवधारियोंके उत्पन्न होनेपर सहस्रों-कोटि वर्षमें उन्हींके निरन्तर विकाससे सहस्रों रूपके जीवधारियोंको जातिमें परिवर्तन करते, करते उन्नतिके अन्तिम शिखर मानव जातिको प्राप्त हुआ है, उसी एक-कणित जीवके आधारपर है, जो समस्त जीवोंकी रचनाका मूल हेतु है, और यह भी सत्य ही है कि हमारे शरीरकी रचना अवभी उन्हीं जीवन-कोषोंके समूहों द्वारा हो रही है, जिनके वीर्य-कण एक-कणित जीव हैं। यह दूसरी बात है कि मानव जाति या उन जीवधारियोंकी कि जिनके जननेन्द्रियां बन चुकी हैं, एक कणित जीवधारियोंके सदृश अनेक तत्वोंके संयुक्त होनेपर अमैथुनिक रीतिसे एक शरीर द्वारा अन्य शरीरोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु इसपरभी हमारे शरीरके भीतर प्रत्येक समय अमैथुनिक रीति द्वारा एक जीवन-कणसे अन्य रोगी या वृद्ध जीवन-कणोंके मृत्युको प्राप्त होनेपर उनकी क्षतिकी

पूर्तिके हेतु उसी जातिके दूसरे जीवन-कणोंकी उत्पत्ति होती रहती है। इसीसे हमारे शरीरमें नित्य सहस्रों जीवन-कणोंकी मृत्यु होनेपर उसी जातिके स्वस्थ कणोंसे अन्य कणोंकी उत्पत्ति होती रहती है। अब यह स्पष्ट है कि जीवन-कणोंकी उत्पत्ति स्वतः ही तत्वोंके परस्पर सन्युक्त होनेपर उनके रासायनिक परिवर्त्तनों द्वारा जीवनके रासायनिक पदार्थोंका जन्म होनेपर उनकी परस्पर मात्राकी न्यूनाधिकतानुसार होती है, और उन्हीं जीवन-कणो द्वारा सङ्गठित हो समस्त संसारके जीवों तथा हमारे शरीरकी रचना हुई है। अतएव हमारे शरीरकी रचनाके मूल जीवन-कणोंकी उत्पत्ति किसी समय स्वयंही प्रकृति द्वारा तत्वेंमें परिवर्त्तन होनेसे जीवनके रासायनिक पदार्थों के उत्पन्न होनेपर उनके और उनकी सहायतार्थ अन्य तत्वोंके किसी विशेष मात्रामें सन्युक्त होनेसे हुई है। तद्उपरान्त जैसी, जैसी मात्रामें अन्य रासायनिक पदार्थोंका उन जीवन-कणोंसे संसर्ग हुआ, वैसी-ही जातिके जीवन-कणों की उत्पत्ति हुई, परन्तु मनुष्यके जननेन्द्रियधारी होनेसे उन्हीं एक-कणित जीवोंके, जो तत्वों द्वारा उत्पादित जीवनके रासायनिक पदार्थोंका निर्जीव तत्वोंसे संसर्ग होनेपर उनकी सहायतासे स्वयं जन्म धारण करते हैं, डिम्भ एवं शुक्र कीटमें अनेक प्रकारके जीवन-कणोंके अदृश्य वीर्य-कण होनेसे मैथुनिक रासायनिक क्रिया द्वारा बहु जातिके जीवन-कोषों (Cells) की उत्पत्ति और उनका परस्पर सङ्गठन होनेपर हमारी उत्पत्ति माताके गर्भसे होती है। सारांश यह है, हमारे आदि पूर्वज एक-कणित जीव ही है; और हमारे शरीरकी रचना उन्हींके वीर्य अंशसे अनेक रासायनिक परिवर्त्तनों द्वारा अनेकानेक जातिके जीवन-कोषोंके जन्म लेने और उन्हींके समूहोंसे सङ्गठित होनेपर हुई है, अर्थात् हमारा शरीर केवल जीवन-कोषोका एक समूह है।

अभी तक हमने यही प्रमाणित किया है कि सृष्टिके प्रत्येक जीवकी रचना केवल निर्जीव या जड़ पदार्थोंके परस्पर सन्युक्त होनेके कारण उनसे उत्पादित जीवनके रासायनिक पदार्थोंके अन्य तत्वोंसे मिश्रित होनेपर उनकी उत्तेजनाकी प्रभावशाली सहायतासे एक-कणित जीवधारीके जन्म लेनेसे होती है। क्योंकि जीवनके रासायनिक पदार्थोंमें बिना निर्जीव तत्वोंकी उत्तेजनापूर्ण सहायताके परिवर्त्तन नहीं होते। किन्तु अब हम यह कथन करते हैं कि जीवनके रासायनिक पदार्थ क्या हैं? और उनसे तत्वोंको या तत्वोंसे उनको क्या सहायता पहुंचती है?

जीवनके रासायनिक पदार्थ ऐसे ही हैं जैसे मोम बत्ती, जिसके जलनेसे प्रकाश होता है, और तत्वों द्वारा जीवनके रासायनिक पदार्थोंको असंख्य जातिके जीवोंको उत्पन्न करनेमें उसी प्रकार सहायता मिलती है, जिस प्रकार मोम बत्तीको जलनेमें ओपजन वायुकी सहायता पहुंचती है; और जिस प्रकार विना ओपजन वायुकी सहायता के मोम बत्ती या कोई पदार्थ जलनेकी समस्त शक्ति होते हुए भी नहीं जलता, उसी प्रकार जीवनके रासायनिक पदार्थोंमेंभी अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न करने के निमित्त विना तत्वोंकी सहायता के उत्तेजना नहीं होती। इसीसे काष्ठ, पाषाण, मृत्तिका और जल सरीखे जीवनके रासायनिक पदार्थोंको अधिकतर जीवनका अंग होते हुए भी निर्जीव माना जाता है। वास्तवमें वह निर्जीव नहीं है। केवल उनका रूपान्तर होनेके निमित्त उत्तेजनाके हेतु तत्व वर्गकी आवश्यकता है। यह दूसरी बात है कि किसी पदार्थमें जीवनके रासायनिक पदार्थ परिमाणतः अधिक होते हैं और किसीमें न्यून। इसीसे काष्ठमें जीवनके रासायनिक पदार्थ मृत्तिकाकी अपेक्षा अधिक प्रतीत होते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी, किसी पदार्थमें अभी तक जीवनके रासायनिक पदार्थोंका लेश भी प्रतीत नहीं होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उनकी उत्तेजनासे जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर होनेमें उनको लाभ न पहुंचे। अतः सर्वांश निर्जीव पदार्थोंसेभी अनेक जीवोंकी रचना होनेके निमित्त जीवनके रासायनिक पदार्थोंको कुछ न कुछ सहायता पहुंचती ही है।

हमारे जीवन-कणोंको उत्पन्न करने वाले केवल वही जीवनके रासायनिक पदार्थ हैं, जो तत्वोंकी उत्तेजनासे सड़-गलकर किसी जातिके जीव वैसेही उत्पन्न करते हैं, जैसे मोम बत्तीका जलना प्रकाशकी उत्पत्ति करता है; और तत्वों द्वारा हमारे जीवन-कोषोंका विकास होनेमें उसी प्रकार सहायता पहुंचती है, जिस प्रकार ज्यों, ज्यों ओपजन प्राप्त होती है त्यों, त्यों मोम बत्ती प्रचण्ड होती है, किन्तु जीवनके रासायनिक पदार्थोंके न होनेपर तत्वों द्वारा वैसेही जीवोंकी उत्पत्ति और उनका विकास नहीं हो सकता, जैसे विना मोम बत्ती या अन्य जलने वाले पदार्थके केवल ओपजन प्रकाश नहीं हो सकता। अतएव हमारे शरीरकी रचना उन्हीं जीवनके रासायनिक पदार्थों, जो तत्वों द्वारा उत्पादित हैं, का तत्वोंकी सहायतासे वनस्पति एवं जन्तु वर्गमें रूपान्तर होनेका परिणाम है। इसीसे किसी जीव या वनस्पति वर्गका मृत

शरीर, जिसको हम निर्जीव कहते है, वस्तुतः सजीव है । क्योंकि किसी शरीरके मृत होनेपर, यदि उसका तत्वोंसे सम्बन्ध न तोड़ा जाय तो सड़ने, गलने या जलने आदिसे उसका रूपान्तर होकर अन्य जीवोंकी उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है । फलतः यह नित्य देखनेमें आता है कि गेहूं, चने आदिका तत्वोंकी सहायतासे रूपान्तर होकर घुन तथा अन्य अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं; और मनुष्य या किसी जीवके मृत शरीर अथवा वृक्षसे टूटे हुए फलोंका तत्वोंसे संसर्ग होनेपर उनकी तीक्ष्णता द्वारा उनके सड़नेसे पदार्थोंका रूपान्तर होनेके कारण अनेक जातिके जीव उत्पन्न हो जाते हैं । सारांश यह है कि हमारा शरीर जिन जीवन-कोषोंका समूह है उनके आदि पूर्वज एक-कणित जीवकी उत्पत्तिका मूल हेतु वही जीवनके रासायनिक पदार्थ हैं, जो कभी नष्ट नहीं होते; प्रत्युत तत्वोंके प्राकृतिक परिवर्तनोंकी उत्तेजनासे जिनका सड़ने, गलने या जलनेपर रूपान्तर होता रहता है; और जिनकी उत्पत्ति तत्वोंसेही हुई है ।

रोग और मृत्युकी व्याख्या

'हमारी शरीर रचना' शीर्षक निबन्धसे यह सिद्ध हो चुका है कि हमारा गात्र नन्हे, नन्हे जीवन-कणोंके समूहोंसे सङ्गठित होकर बना है । अतः जिन जीवन-कोषोंके परस्पर सङ्गठनका परिणाम हमारे शरीरकी रचना है उन्हींका तीक्ष्ण या उत्तेजक पदार्थों द्वारा विसङ्गठन होकर दाहसे नाश होना रोग कहलाता है; और जब उन जीवन-कणोंके वह बड़े, बड़े, समूह जिनसे मस्तिष्क, वक्ष, फुफ्फुस, आमाशय, अन्त्र, यकृत, प्लीहा, और वृक्कादि सरीखे शरीरके मुख्य अवयव बने हैं, नष्ट हो जाते हैं तो शरीरके पोषक अवयवोंका पारस्परिक सम्बन्ध टूट जानेसे जीवन-कोषोंका पोषण न हो सकने और प्रत्येक पदार्थका अन्य पदार्थोंमें रूपान्तर होनेके कारण शरीर मृत्युको प्राप्त होता है ।

यद्यपि हमारे शरीरके छोटे, छोटे जीवन-कोष (Cells) हमारे नित्यके काम-काज, और ऋतुओं आदिके परिवर्तनोंसे तत्वोंकी उत्तेजना द्वारा कुछ न कुछ

प्रत्येक समय मृत्युको प्राप्त होकर क्षीण होते रहते हैं। क्योंकि वह इतने कोमल हैं कि केवल हमारे विचार करने, श्वांस लेने और निकालने, भोज्य पदार्थोंके चावने तथा उदरस्थ करने, और मल-मूत्र त्यागनेकी अनिवार्य क्रिया करनेसेही नहीं प्रत्युत नेत्रोंके पलक लगनेके साधारण परिश्रमसेभी क्षीण होते रहते हैं। कारण यह कि जिस प्रकार जलने वाले पदार्थोंका व्यय हुए विना अग्निकी सूक्ष्माति सूक्ष्म चिंगारीभी उत्पन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार विना जीवन-कणोंका व्यय हुए आंखका पलकभी नहीं लग सकता। अतः साधारणसे साधारण क्रियाओंके करनेमेंभी हमारे रक्त-कणों (Blood Cells) तथा अन्य जातिके अनेक जीवन-कोषोंका व्यय होता है। तथापि यदि हम अपने शरीरके किसी जातिके जीवन-कणोंके वीर्य-कणोंको समूल नष्ट न करदे तो प्रकृतिके अनुसार रहन-सहन रखने-की चेष्टा करनेसे, जीवनके रासायनिक, रसीले और पोषक पदार्थों द्वारा, प्रत्येक जातिके जीवन-कोषोंकी जाति वृद्धि होनेसे क्षीण हो जानेवाले जीवन-कणोंकी, बहुत अंशमें, उसी प्रकार पूर्ति होती रहती है, जिस प्रकार शिरके केशोंका मुंडन होनेपर उनके स्थानमें नवीन लोम उपजते रहते हैं; या जैसे वसन्त ऋतुमें वृक्षोंसे पतझड़ होनेपर नव पल्लव निकलते हैं। परन्तु हमारे किसी अवयवकी किसी जातिके जीवन-कोषोंके वीर्य-कणोंके समूल नष्ट होनेके उपरान्त उनके स्थानकी वैसे ही पूर्ति नहीं होती, जैसे शिरमें गहरे फोड़ोंके निकलने या घाव हो जानेसे बालोंकी जड़ोंके वीर्य-कण नष्ट होनेसे लोम नहीं उपजते; या जैसे अंगलीका पहिला पोरुआ कटजानेसे, नखके वीर्य-कणोंका नाश हो जानेके हेतु कटे हुए पोरुएमें नखकी उत्पत्ति नहीं होती।

हमारे जीवन-कोष आवश्यकतासे अधिक तभी नष्ट और क्षीण होते हैं, जब कि उनकी प्रकृतिके प्रतिकूल आहार-विहार द्वारा या किसी अन्य साधनोंके कारण उनका तीक्ष्ण पदार्थोंसे संसर्ग होता है। कारण यह कि तीक्ष्ण पदार्थ उनके कोमल शरीरका, इस प्रकार विसंगठन कर देते हैं, जिस प्रकार उबाल खाते हुए ऊष्ण जलमें आलूकी त्वचा फटकर उसके परमाणु छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और जैसे वह उबला हुआ आलू उस जल या रसकी सहायतासे, जो उसके प्रत्येक परमाणुमें उपस्थित होता है, ओषजन वायु (Oxygen Gas) के स्पर्शसे सड़ने लगता है, अर्थात्—उसका विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर होना आरम्भ

हो जाता है. वैसेही स्वस्थ जीवन-कोपभी तीक्षण पदार्थोंकी दाहके संसर्गसे रक्षा करने वाले चर्म, जो प्रत्येक जीवन-कणके ऊपर होता है, के फट या कट जाने पर वायु आदि उत्तेजक पदार्थोंको उनके भीतर प्रवेश होनेका मार्ग मिलनेसे उनकी तीक्षणता द्वारा सड़, सड़कर क्षीण होने लगते हैं।

कोई जीवन-कोप तबतक नष्ट नहीं होता, जबतक उसका चर्म फटकर उसके भीतर वायु या अन्य तत्वोंका प्रवेश न हो और वायुभी विना जलकी सहायताके किसी पदार्थ को सड़ाकर नष्ट (रूपान्तर) नहीं कर सकती। इसीसे अनप्रवेशनीय त्वचा वाले अथवा जिन फलों या वनस्पतिमें रसकी मात्रा न्यून हो वृक्षसे पृथक होनेपर भी चिरकालतक स्वस्थ रहसकते हैं। परन्तु वही फल त्वचा फटनेपर शीघ्र सड़ जाते हैं। जैसे—पक्का गोल कद्दू (जिसको कोढ़ा या काशीफल भी कहते हैं) त्वचाके ठीक दशामें रहनेपर एक, एक वर्ष पर्यन्त नहीं सड़ता; किन्तु यदि उसे त्वचा विहीन कर दिया जावे तो अति शीघ्र सड़ना आरम्भ हो जाता है; और यदि फिर उसे तरीके स्थानमें रक्खदें तो जलकी सहायता से वायु उसको और भी शीघ्र सड़ा देगी। सारांश यह है कि हमारे शरीरके जीवन-कोषोंका चर्म तोड़ना; तीक्षण पदार्थों या तीक्षण और कृत्रिम क्रियाओंका काम है, और फिर उनके तत्वों तथा जीवनके रासायनिक पदार्थोंका विच्छेद करके नष्ट करने अर्थात् रूपान्तर करनेका काम वायु तथा जलादिका कृत्रिम अर्थात् नियम विरुद्ध रीतिसे संसर्ग होना है। इसीसे शरीरके बाहरी खुले घाव, जिनका सीधा वायु या अन्य तत्वोंसे संसर्ग होता है, अधिक सड़ने लगते हैं। कारण यह कि नियम विरुद्ध रीतिसे विना श्वास लेने वाले अवयवों द्वारा लिये हुए शरीरके आन्तरिक पदार्थोंको सीधी पहुंचने वाली वायु अपने तीक्षण गुणोंसे घावोंको सड़ाकर अर्थात् रूपान्तर करके हमारे शरीरको उसी प्रकार क्षीण करती है, जिस प्रकार विना चिमनीके लेम्पकी मोम बत्ती वायुकी सहायतासे शीघ्र जल जाती है। और इसीसे नासिकाकी अपेक्षा मुखसे श्वास लेने वाले वायुकी शीतलता तथा उष्णताकी तीक्षणतासे, वायु नाली और फुफ्फुस में दाह होनेके कारण, फुफ्फुस (Lungs) आदि रोगोंकी आखेट हो जाते हैं। किन्तु इसपर भी उस चोट या घावके नीचे जो शरीरमें इतना कम लगा है कि शरीरसे रस अथवा रक्तका अधिक स्राव नहीं हुआ है, और जो चोट लगते या घाव होते समय हुआ भी है वह बाहरकी शुष्क वायुसे

सूख गया है और जिससे स्वस्थ जीवन-कणोंके रसोंसे बाहरकी वायु एवं उत्तेजक पदार्थोंका सम्बन्ध, घाव पर रस या रक्तकी सूखकर पपड़ी आजानेसे, इस प्रकार टूट जाता है, कि कोमल जीवन-कोषोंतक तीक्षण पदार्थोंका प्रभाव न पहुंचनेसे, सड़ना या उसमें दाह होनी अर्थात् उनका रूपान्तर होना बन्द हो जाता है। परन्तु वही छोटासा घाव वर्षा ऋतुमें जलयुक्त वायु उद्जन (Hydrogen) की सहायतासे, सूखने नहीं पाता और उत्तेजक वायुकी सहायतासे, अति तीव्र गतिसे दाहके कारण सड़ने लगता है। निदान सिद्ध होता है कि वायुभी जबतक जलकी सहायता न मिले किसी जीवनके रासायनिक पदार्थको सड़ाकर उसका रूपान्तर नहीं कर सकती। इसीसे शुष्क अर्थात् रसहीन पदार्थ टूटने तथा चर्म फटनेपर भी वर्षों पर्यंत नहीं सड़ा करते। किन्तु यदि उन पदार्थोंमें कुछ भी जल होता है तो वह शीघ्र थोड़े-बहुत दिनोंमें सड़ जाते हैं या किसी अन्य रीतिसे उनका रूपान्तर हो जाता है।

तीक्षण पदार्थों द्वारा जब हमारे शरीरके किसी जीवन-कणका चर्म फटनेपर (वायु एवं जल द्वारा, रूपान्तर होकर अपने स्वरूपसे नष्ट होना आरम्भ होता है तो उसी स्वस्थ जीवन-कोषकी मृत्युके उपरान्त विषैले जीवधारीकी उत्पत्ति होती है। जैसे— दूध सड़नेपर उसके स्वस्थ जीवधारियोंके नष्ट होनेपर उनके स्थानमें विकृत जीवाणु जन्म लेलेते हैं, या जिस प्रकार चनोंका रूपान्तर होकर घुन उत्पन्न हो जाते हैं; और जैसे उस सड़े हुए दूधका एक बिन्दु किसी अन्य स्वस्थ दूधमें डालनेसे या चनोंका रूपान्तर होनेपर जो घुन उत्पन्न हुए हैं उनमेंसे एक दम्पति किसी अन्य चनोंके ढेरमें डालनेसे सब दूधको विषैले जीवोंकी वृद्धिकर और सब चनोंमें घुनोंकी जाति वृद्धिकरके उनका अपनेही रूपमें रूपान्तर करलेते हैं, वैसेही हमारे शरीरमें स्वस्थ जीवन-कोषोंके स्थानमें विषैले जीवन-कणोंके जन्म लेनेपर, उनके संसर्गसे अन्य स्वस्थ जीवन-कोषोंकाभी, दाहके कारण पीड़ाके साथ, विकृत जीवोंमें रूपान्तर होना आरम्भ हो जाता है। इसके अतिरिक्त विकृत जीवन-कणोंसे भी विषैले जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है।

यह विकृत जीवन-कण खान-पान, रहन-सहन और ऋतुओं आदिके अनुसार, शीतलता तथा उष्णता के कारण प्रकृतिके विपरीत चलनेपर रक्त सञ्चारसे हमारी शिराओं, धमनियों और स्नायु द्वारा शरीरके एक भागसे दूसरे भागमें जाते रहते

हैं; क्योंकि शीतलतासे प्रत्येक पदार्थ सिकुड़ता और ऊष्णतासे फैलता है। इसीसे शीतलता तथा ऊष्णता द्वारा यह विकृत जीवन-कण अपने, अपने जन्म स्थानसे सुगमता पूर्वक किसी अन्य स्थानमें पहुंच जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन विषैले-जीवन-कणोंके सजीव होनेसे यह स्वयंभी उछलने-कूदनेके कारण एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुंच जाते हैं; और फिर जिस स्थानमें पहुंचते हैं, अपनी जाति वृद्धि तथा तीक्षणतासे उस स्थानके स्वस्थ जीवन-कोषोंकोभी नष्ट करके विकृत कणों और नन्हे, नन्हे विषैले जीवोंमें परिवर्त्तित करना आरम्भ कर देते हैं।

अपरञ्च यह विकृत जीवन-कण सदा हमारे जीवन-कोषोंकी अपेक्षा ऐसे ही हलके होते हैं जैसे किसी फलका सड़ा हुआ भाग स्वस्थ भागसे हलका होता है। क्योंकि किसी पदार्थका सड़ते समय जब उसका रूपान्तर होता है तो उसमेंसे शनैः, शनैः अनेक पदार्थ पृथक होकर वायु मण्डलमें लय हो जाते हैं; और उन पदार्थोंके पृथक होनेसे सड़ा हुआ पदार्थ स्वस्थ पदार्थकी अपेक्षा हलका हो जाता है। इसीसे हमारे शरीरसे स्नायुजाल द्वारा हलके विकृत पदार्थ बाहर आते रहते हैं। क्योंकि यह प्रकृतिका धर्म है कि हलके द्रवरूपी पदार्थ या तरल पदार्थोंमें मिले हुए कैसेही हलके पदार्थ वैसे ही स्वयं ऊपर आजाते हैं जैसे जलमें नीचे दबाया हुआ काष्ठका टुकड़ा छोड़नेपर ऊपर तैरने लगता है और उसके स्थानकी पूर्तिके निमित्त जल जो परिमाणमें उससे भारी है नीचे चला जाता है। अतः प्रकृतिके इसी धर्मानुकूल विकृत जीव स्वस्थ जीवन-कणोंकी अपेक्षा हलके होनेसे फोड़े-फुन्सी, उपदंश और मूत्र कृच्छके घावों, मल-मूत्र, थूक, कर्ण का मल, नासिका और नेत्रोंके विकृत पदार्थों (रेंट, कीचड़) तथा श्वेदादि या अन्य किसी रोग द्वारा दृश्य रूपसे या जो अति सूक्ष्म होते हैं अदृश्य रूपसे स्वतः ही शरीरके ऊपर उसमें तरल पदार्थोंकी अधिकताके कारण आते रहते हैं। परन्तु शरीरमें तरल पदार्थोंकी अधिकता होते हुए भी कोई विकृत-जीव शरीरके ऊपर ऐसी सुगमतासे नहीं आसकता जैसे जलकी तलीमें दबे हुए काष्ठका टुकड़ा छूटनेपर एकैक जलके ऊपर तैरने लगता है। कारण यह कि जलकी तलीसे ऊपर आनेके निमित्त जलमें किसी प्रकारकी रुकावट न होनेके कारण काष्ठके टुकड़ेको कोई कठिनायी नहीं होती; परन्तु हमारे शरीरकी रचना ऐसी जटिल है कि विना जीवन-कणोंकी त्वचाके फटे हुए एक सुईकी नोकको प्रवेश करनेका भी स्थान नहीं है। अतः विकृत-

जीवोंको दृश्य रूपमें शरीरके ऊपर आनेके निमित्त शरीरकी अनेक नाल्यिों और मांस पेशियोंको चीरने, सहस्रों जीवन-कणोंसे रगड़ खाने और घोर संग्राम करने एवं उनके चर्मको वेधनेका कठिन कार्य करना पड़ता है। किन्तु जो विकृत-जीव ऐसे सूक्ष्म हैं, जिनका केवल उसी प्रकार नासिकासे अनुभव होता है जिस प्रकार खरबूजेसे बाहर निकलते हुए परमाणुओंका गन्ध द्वारा अनुभव होता है, या जो उनसे भी सूक्ष्म हैं, जिनका हम किसी प्रकार अनुभव नहीं कर सकते, वे शरीरसे बाहर आनेमें कोई उपद्रव प्रतीत नहीं होते; क्योंकि उनके सूक्ष्म रूपके कारण वह शरीरकी नाल्यिों और मांस पेशियों आदिके सूक्ष्म छिद्रोंसे ऐसी ही सरलतासे निकल आते हैं जैसे जल किसी वस्त्रमें सुगमता-पूर्वक छनजाता है या जिस प्रकार विना किसी कष्टके हमारी त्वचासे स्वेद प्रवाहित होता है। फलतः प्रकृतिके अनुकूल चलने वालोंके शरीरमें जो विकृत-जीव उत्पन्न होते रहते हैं वह सूक्ष्म होनेसे इतने निबल होते हैं कि हमारे जीवन-कण उनको संग्राममें हनन या प्रहारित करके शरीरसे सूक्ष्म छिद्रों द्वारा विना किसी कठिनायी और कष्टके बाहर निकाल देते हैं; किन्तु प्रकृतिके प्रतिकूल चलने वाले मनुष्योंके शरीरमें जो विकृत जीव जन्म लेते हैं वह सूक्ष्म न होनेसे सबल होनेके कारण प्रायः इस घोर संग्राममें हमारे जीवन-कोषोंको प्रहारित और दूषित करके उनके चर्मको वेधकर उनपर विजय प्राप्त करलेते हैं; या केवल उनको वेधते हुए जिससे हमको प्रदाह (जलन या ज्वर), पीड़ा या सूजनका ज्ञान होता है, ऊपर आजाते हैं; और परिणाम यह होता है कि यदि विकृत-जीव हमारे शरीरके यथेष्ट जीवन-कणोंपर विजय प्राप्त कर लेते हैं तो यह शरीर उन्हींका हो जाता है और हमारे जीवन-कणोंकी मृत्यु होकर उनका रूपान्तर हो जाता है, या हम अनेक रोगोंमें ग्रसित हो जाते हैं।

विकृत जीवोंमें और हमारे जीवन-कोषोंमें जो घोर युद्ध होता है उसका कारण केवल यही है कि जीव मात्रका यह प्राकृतिक धर्म है कि वह अन्य जातिके जीवोंसे छीनकर अपने निवासार्थ स्थानों और भोजनार्थ पदार्थोंपर स्वत्व करने तथा जो अपनेसे इन खाद्यादि पदार्थोंको छीने उसका हनन और नाश करनेके निमित्त भूर्ध्वत संग्राम करे। अतः इसी सिद्धान्तानुसार प्रकृतिके आधीन हो यह युद्ध हमारे शरीरकी रणभूमिमें होता है। क्योंकि विकृत-जीव अपने रहने और भोजनके हेतु शरीरके पदार्थोंपर अधिकार करनेकी चेष्टासे इस युद्धको आरम्भ करते हैं और हमारे जीवन-कण अपने पदार्थोंपर एक अन्य जातिके (विकृत जीव) जीवोंका स्वत्व करनेका

प्रयत्न देखकर सहन न कर सकनेके कारण इस संग्रामका प्रारम्भ करते हैं। परिणाम यह होता है कि जिस समय तक हमारे जीवन-कोष, भले प्रकार चैतन्य, बलवान और भारी होते हैं, तब तक वह विकृत या विषैले कणोंके उत्पन्न होनेपर उनके निबल और हलका होनेके कारण वैसे ही पैर नहीं जमने देते जैसे काष्ठके टुकड़ेको जल अपनी तलीमें नहीं ठहरने देता। अतः तीव्र गतिसे हमारे जीवन-कण उन विजातीय, दूषित और हलके कणोंको शरीरसे बाहर फेंकने, और जैसे जल काष्ठको अपने ऊपर फेंककर उसका स्थान लेलेता है, उनका स्थान लेनेमें सफल होते हैं। परन्तु चिरकालसे मंद रोगोंमें ग्रसित रहनेके कारण शरीरके लगभग सभी जीवन-कोष विकृत-कणोंके निरन्तर संसर्गसे इतने निबल, अचैतन्य और हलके हो जाते हैं कि उनमें और हलके विकृत कणोंके बोझमें परिमाणतः बहुत कम अन्तर रहता है। इसीसे वह चैतन्यताके साथ विकृत जीवन-कणोंसे युद्ध करनेमें असफल होते हैं, और बोझमें लगभग दूषित-कणोंके समान होनेके कारण (क्योंकि चिरकालसे शरीर रोगी रहनेके हेतु हमारे सभी जीवन-कण कुछ न कुछ दूषित हो जाते हैं) उनको शरीरसे बाहर फेंक कर उनका स्थान लेनेमें वैसेही सफल नहीं होते जैसे कीच अपनेमें पड़े हुए काष्ठके टुकड़ेको जलके सदृश ऊपर फेंककर उसका स्थान लेनेकी शक्ति नहीं रखती। इसके अतिरिक्त मन्द रोगोंमें विकृत जीवन-कणों और शरीरके जीवन-कोषोंकी लगभग समान अवस्था हो जानेसे वह शरीरके अन्य जीवन-कणोंकी अपेक्षा इतने हलके नहीं रहते जो जलकी तलीमें डाले हुए काष्ठके टुकड़ेकी नाई शीघ्रतासे ऊपर आसकें। क्योंकि यह प्राकृतिक सिद्धान्त है—दो भारी और हलके द्रव पदार्थोंको मिलानेसे हलके पदार्थ जलकी तलीमें डाले हुए काष्ठके सदृश ऊपर आजाते हैं। परन्तु एक ही परिमाणके बोझ वाले पदार्थ परस्पर एक दूसरेमें डालनेसे कोई ऊपर नीचे नहीं जाता। अतः इसी सिद्धान्तानुसार जब विकृत जीवन-कण और शरीरके जीवन-कोष (चिरकालसे रोगोंके कारण [illegible] हलके होजानेसे जैसे अधिक पका फल कच्चे फलकी अपेक्षा हलका होता है) परस्पर बोझके परिमाणमें लगभग समानावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं, तो विकृत कणोंके ऊपर आनेकी गति बहुतही मन्द हो जाती है और कभी, कभी तो सर्वथाही शिथिल ज्ञात होती है; और इसका परिणाम यह होता है कि उनके यथेष्ट रूपसे शरीरके

ऊपर न आनेके कारण वह शरीरके मध्य भागमेंही धीरे, धीरे स्वयं अपनी जाति वृद्धि तथा हमारे जीवन-कणोंका रूपान्तर करकेभी अपनी ही वृद्धि करते हैं और ठीक वैसे ही हमारे शरीरको क्षीण करते रहते हैं जैसे घुन चनोंकी खत्तीका नाश करते हैं। अपरञ्च जिनको तीव्र रोग होते हैं, उनके जीवन-कोष इतने जीवनयुक्त होते हैं, कि तत्काल उनमें उसी प्रकार तीक्ष्ण दाह होने लगती है, जिस प्रकार कोमल हस्त तलमें सुई चुभानेसे कष्ट होता है; और मन्द रोगोंमें जीवन-कोषोंके जीवन हीन होनेके कारण, वैसे ही पीड़ा नहीं होती, जैसे सुई चुभानेसे कठोर और ठेकमय निर्जीव हाथकी गद्दियोंमें। प्रत्युत अधिक जीवनमय पदार्थ रखने वाले शरीरमें साधारण तीक्ष्ण पदार्थोंके संसर्गसे, जिस प्रकार ईख (गन्ना) के तुरन्तके निकाले हुए रसमें वायुके स्पर्शसे तीव्र सड़नमय उफान आकर उसका रूपान्तर होना आरम्भ हो जाता है, उसी प्रकार बड़ी भयङ्करताके साथ तीव्र-रोगोंकी उत्पत्ति होती है; किन्तु मन्द-रोगोंमें जीवनके अनेक रासायनिक पदार्थोंके दूषित तथा नष्ट होने अर्थात् उनका विकृत और तीक्ष्ण पदार्थोंमें परिवर्त्तन हो जाने या वायु मण्डलमें लय होकर रूपान्तर हो जानेसे, जैसे ईखके आसवमय तीक्ष्ण सिर्केमें जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी न्यूनतासे और विषैले पदार्थोंकी तीक्ष्णतासे उफान आने या उसका विना जलकी उत्तेजनाके रूपान्तर होना वन्द हो जाता है, वैसे ही शरीरमें तीव्र परिवर्तनों और दाहका होना कम हो जाता है। कारण यह कि परिवर्त्तन या रूपान्तर केवल जीवनके उन्हीं रासायनिक पदार्थोंका होता है जो जीवनयुक्त और स्वच्छ होते हैं। इसीसे तीव्र-रोग (Acute Disease) महामरी (Plague), क्लोमपाक (Pneumonia), विशूचिका (Cholera) आदि बहुधः युवक, स्वस्थ और जिनके शरीरमें जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी अधिकता हो ऐसे ही मनुष्योंको हुआ करते हैं; और चिरकालसे पीड़ित रोगियोंमें जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी न्यूनतासेही ऐसे मन्द-रोग पाये जाते हैं कि वह मृत्युके निकटतक रूपान्तर होने वाली शक्तिके शिथिल हो जानेसे बोलते रहते हैं।

सारांश यह है, हमारे शरीरके जीवन-कणोंके जीवनके रासायनिक पदार्थोंसे परिपूर्ण होनेसे स्वस्थ और चैतन्य होनेपर साधारण विषों अर्थात् किसी प्रकारके तीक्ष्ण पदार्थोंसे वैसी ही शीघ्रतासे उनका रूपान्तर होना आरम्भ हो जाता है जैसे अग्निको प्रज्वलित करने वाले रासायनिक पदार्थोंसे परिपूर्ण काष्ठ के चूरेका अग्नि

द्वारा रूपान्तर होने लगता है, और वह तीव्र-रोगोंका हेतु होता है। परन्तु चिरकालसे रोग ग्रसित शरीरोंके प्रायः सभी जीवन-कोष जीवनके रासायनिक पदार्थोंके दिनोदिन न्यून होते रहनेसे इतने निर्जीव और विषैले (खमीरी) हो जाते कि उनमें रूपान्तर शक्ति वैसे ही शिथिल हो जाति है जैसे अग्निको प्रचण्ड करने वाले रासायनिक पदार्थोंसे शून्य काष्ठके जले हुए चूरेकी अर्ध जली भस्ममें जलनेकी शक्तियोंके न्यून होनेसे उसके रूपान्तर होनेकी गति शिथिल हो जाती है; और इसीसे मन्द-रोग भयङ्करतासे नहीं होते, और न शरीर जीवन-कोषोंके निर्बल एवं हलके होनेसे विकृत जीवन-कणही शीघ्रतासे शरीरके बाहर आसकते हैं। कारण यह कि जिस प्रकार ऊष्ण (हलकी) वायुके चारों ओरकी वायु यदि अति शीतल (बहुत भारी) न हो, अर्थात् कुछ ऊष्ण (हलकी) होगयी हो तो पवन (आंधी) तीव्र गतिसे न चलेगी, उसी प्रकार मन्द रोगोंमें शरीरके लगभग सभी जीवन-कणोंमें जीवनकी न्यूनतासे निर्बल (हलका) होनेके कारण, विकृत जीवन-कण, जो नैसर्गिक रूपसे ही हमारे स्वस्थ जीवन-कोषोंकी अपेक्षा वैसे ही हलके होते हैं, जैसे फलका सड़ा हुआ (विकृत) भाग स्वस्थ भागसे हलका होता है, प्रायःबोझ और बलमें कुछ, कुछ समान हो जानेके कारण शीघ्रतासे शरीरसे बाहर नहीं आते, जिससे रोगका रूप भयङ्कर (तीव्र) ज्ञात हो।

जब यह विकृत जीवन-कण चिरकालके रोगोंमें हमारे जीवन-कोषोंके निबल और हलका होनेके कारण शरीरको स्वच्छ करनेके निमित्त पूर्णतः उसके बाहर नहीं फेंके जासकते, और शरीरके मध्य भागमें ही किसी स्थानपर ठहर जाते हैं, या तीव्र-रोगोंमें रक्त सञ्चार द्वारा, या स्वयं अपनी जीवन शक्तिसे जहां, जहां चले जाते हैं वहीं अपने चारों ओरके हमारे स्वस्थ जीवन-कोषोंसे, जिन, जिनसे इनका संसर्ग होता है, संग्राम करके अपने तीक्ष्ण, विषैले गुणोंसे बेधते, जिसका परिणाम पीड़ा होता है, और हनन करते हैं और फिर उनका रूपान्तर करके अपने सदृश बनाकर अपनी जाति वृद्धि करते हैं। और यही सब रोगोंका एक मात्र मूल कारण है। अर्थात् शरीरके जिस अवयव-(जीवन-कोषोंके समूह) से इन दूषित-कणोंका समागम होता है उसीको रोगी बना देते हैं; और शरीरके जिस स्थानपर जिस मात्रामें जैसे, जैसे रासायनिक पदार्थोंकी इनको सहायता मिलती है (क्योंकि शरीरके प्रत्येक अवयव और प्रत्येक जीवन-कण अनेक रासायनिक

पदार्थोंकी भिन्न, भिन्न मात्राओंसे संगठित होते हैं । इसीसे किसी जातिके जीवन-कोपोंमें कोई रासायनिक पदार्थ अधिक होते हैं और किसीमें कोई), उसीके अनुकूल इनके द्वारा, भिन्न, भिन्न जातिके रोगोंके कीटाणुओंकी उत्पत्ति होती है। जैसे—दधि, मधु और गन्नेका रस इन तीनों पदार्थोंको तीन भागोंमें रखते हुए एकही पशुके स्वच्छ दूधमें तीन चार इस प्रकार सम्मिलित करनेसे कि एक वार सेर दूधमें एक छटांक दधि, दो छटांक मधु और एक छटांक रस, और दूसरी बार सेर दूधमें एक छटांक दधि, दो छटांक मधु और तीन छटांक रस, और तीसरी वार सेर दूधमें दो छटांक दधि, एक छटांक मधु और चार छटांक रस किसी एकही स्थानपर एकहीसे पात्रोंमें सड़ाकर दो, चार दिन उपरान्त अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करनेसे ज्ञात होगा कि उपरोक्त पदार्थोंको कथित रीतिसे उनकी भिन्न, भिन्न मात्राएं दूधमें मिलानेसे उनमें रासायनिक पदार्थोंकी मात्राओंमें भेदके कारण पृथक, पृथक जातिके जीव जन्म लेते हैं ।

यह विकृत-जीवाणु, शरीरसे बाहर आनेपर, तीव्र-रोगोंमें यदि पथ्यसे रहा जाय और यह शरीरके स्वस्थ जीवन-कोपोंकी अपेक्षा अधिक निवल हों, तो किसी किसी समय जब स्वस्थ जीवन-कण इनको युद्धमें परास्त करके इनके बीज-कणोंको नष्ट कर देते हैं, या शरीरमें इनके अनुकूल कोई साधन नहीं मिलता, या किसी, प्रकार इनका पोपण बन्द हो जाता है, हमारे शरीरको स्वतः ही रोगसे मुक्त कर देते हैं । किन्तु यदि पथ्यसे न रहा जाय, या स्वस्थ जीवन कोप विकृत जीवाणुओंको संग्राममें विजय करके इनके वीर्य कणोंका नाश करनेमें असमर्थ हों तो तीव्र-रोगोंका मन्द रोगोंमें परिवर्त्तन हो जाता है । कारण यह कि शरीरके वाहरी या मध्य भागमे, जिस स्थानपर विकृत-जीवोंके वीर्य-कण पहुंचते रहते हैं सरलतासे नष्ट नहीं होते, क्यों कि प्रथम तो कुपथ्यसे ही हमारे शरीरके अनेक जीवन-कोपोंके निवल और प्रदाहित होनेसे उनका विकृत-जीवोंमें रूपान्तर होता रहता है, द्वितीय पहिले उत्पन्न हुए विकृत जीवोंका निरन्तर पोपण होता रहता है । इसके अतिरिक्त विकृत-जीवाणुओंके वीर्य कणोंसे भी विकृत-जीवोंकी वृद्धि होती रहती है । अतः रोगकी जड़ दिनोदिन बढ़ती ही रहती है ।

अतएव सिद्ध होता है कि रोग-मात्रका मूल कारण किसी तीक्ष्ण पदार्थके संसर्ग-या किसी तीक्ष्ण क्रिया द्वारा स्वस्थ जीविन-कोपोंका दाहके साथ विसङ्गठन होकर

विकृत या विषैले जीवोंमें परिवर्तित हो जाना है। अतः रोग केवल एकही है; और उसकी उत्पत्तिका कारणभी एकही है। परन्तु भेद केवल इतना है कि तीक्ष्ण पदार्थोंके संसर्ग अथवा तीक्ष्ण क्रियाओं द्वारा उत्पादित विषैले या दूषित जीव शरीरके जिस भागमें उत्पन्न हों या जिस स्थानपर पहुंच वहांके जीवन-कोषोंको वेध ओषजन वायुकी सहायतासे उनका नाश करके अपने रूपमें रूपान्तर कर शरीरके उस भागके उस स्थानके अवयवको जैसे वहां रासायनिक पदार्थ प्राप्त हों उन्हींके अनुसार रोगका हेतु होते हैं, और वह रोग शरीरके उसी अवयव, या उसके रासायनिक पदार्थों द्वारा उत्पादित रोगके कीटाणुओंकी जातिके नामसे पुकारे जाते हैं। जैसे—वह दूषित जीव, जो प्रकृतिके प्रतिकूल चलनेसे तीक्ष्ण पदार्थोंकी तीक्ष्णतासे हमारे जीवन-कणोंका चर्म फटनेपर ओषजन वायुकी सहायतासे उनका रूपान्तर होनेपर हमारे शरीरके किसी स्थानमें जन्म लेचुके हैं, मारे आहार-विहार आदिके कारण, या रक्त संचार द्वारा, या स्वतः ही उछलते-कूदते किसी प्रकार नेत्रों तक पहुंच जाते हैं तो जिस रसायनकी जैसी, जैसी मात्राके जीवन-कणोंकी जातिसे उनका संसर्ग होता है, उसीके रासायनिक भेदोंके अनुकूल उनके चर्मको वेधकर ओषजन वायुकी सहायतासे उनका विकृत जीवों-(रोगके कीटाणुओं) के रूपमें रूपान्तर करके विषैले जीवोंकी जाति वृद्धि करना आरम्भ कर देते हैं, जिससे वह रोग नेत्रोंमें उत्पन्न हुए, हुए उन्हीं विषैले कीटाणुओंके नामसे सम्बोधित होता है, और यदि वही विकृत-जीव कर्णमें पहुंच जाते हैं तो उनके द्वारा वहांपर जिस, जिस जातिके कीटाणु उत्पन्न होते हैं, उन्हींके नामसे उस कर्ण-रोगको बोलते हैं। इसी प्रकार वह शरीरके जिस, जिस अङ्गमें चले जाते हैं उसी अवयवमें रोगकी जिस जातिके कीटाणु जन्म लें उन्हींके नामसे उस रोगको उच्चारण किया जाता है। परन्तु वास्तवमें प्रत्येक रोग उन्हीं विकृत या दूषित और विषैले जीवों, जो तीक्ष्ण पदार्थोंके संसर्ग या तीक्ष्ण क्रियाओंकी तीक्ष्णता द्वारा हमारे जीवन-कोषोंकी रक्षा करनेवाले चर्मके फटनेपर ओषजन वायुकी सहायतासे उनके जीवनके रासायनिक पदार्थोंका विसङ्गठन होनेपर उनका रूपान्तर होकर उत्पन्न हुए हैं, के शरीरमें उपस्थित रहनेका कारण है।

यथार्थ तो यह है कि संसारमें मनुष्यको जितनेभी रोग हैं, तीक्ष्ण दृश्य या अदृश्य पदार्थोंके संसर्ग होने या तीक्ष्ण क्रियाओ द्वारा [जैसे—तीक्ष्ण गन्धके पदार्थोंके सूंघने, चखने, खाने पीने, शरीरसे मर्दन करने, और स्नान करने या स्पर्श

करने, तीक्ष्ण या उत्तेजक स्वाद वाले पदार्थोंके चखने और सेवन करने, तीक्ष्ण स्वरसे प्रति ध्वनित घोर भयङ्कर गर्जनाओंके, और उत्तेजक स्वरसे निकले हुए उत्तेजना पूर्ण गानको श्रवण करने, भयङ्कर तीक्ष्ण घटनाओंसे भयभीत होने, प्रकृतिके प्रतिकूल किसी प्रकारका थकाने वाला तीक्ष्ण परिश्रम करने, तीक्ष्ण शस्त्रादिसे प्रहार होने, शीतल या उष्ण पवनकी तीक्ष्णताको सहन करने, हिमके तीक्ष्ण शीत और सूर्यके तीक्ष्ण तापमें रहने, तीक्ष्ण सीलन (तरी) के अपवित्र और दुर्गन्धित स्थानोंमें निवास करने, और विषैले तीक्ष्ण जीव-जन्तुओं द्वारा काटे जाने इत्यादि, इत्यादि] उनकी तीक्ष्णतासे दाहकी उत्तेजनाओं द्वारा स्वस्थ जीवन-कोषोंके चर्मके फट जानेपर वायु, जल एवं अन्य तत्वोंके नियम विरुद्ध संसर्गकी तीक्ष्णतासे जीवनके रासायनिक पदार्थोंका उन (जीवन-कणों) की मृत्युके उपरान्त दूषित या विकृत जीवोंमें रूपान्तर होनेपर होते हैं; और सर्व प्रकारकी मृत्युएंभी उसी समय होती हैं जब कि उपरोक्त हेतुओंमेंसे किसी प्रकार तीक्ष्ण पदार्थ या क्रियाएं हमारे जीवन-कोषोंके बड़े, बड़े समूहोंके जीवनके रासायनिक पदार्थोंको अधिकांश विकृत जीवोंमें और बहुत कुछ वायु मण्डलमें लय करके उनका रूपान्तर कर देती हैं, या उनमें [illegible] पदार्थोंको लार, स्वेद या अन्य किसी रीतिसे निकालकर शुष्क या दाहसे भस्म कर देती हैं, या मदिरा (spirit) में पड़े हुए फलके सदृश उनसे उनका वास्तविक जीवन हर लेती हैं, या अधिक परिश्रम द्वारा उनकी शक्तियां व्यय कर देती हैं, जिससे शरीरके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर हो जानेसे हमारी शक्तियोंका क्षति हो जाता है। अर्थात् हमारे तत्वों और जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर होकर विसङ्गठन होनेपर जीवन-कणोंकी रासायनिक मात्रामें न्यूनाधिकता होनेसे हमारे जीवनको स्थिर रखनेकी शक्तियोंका अन्त हो जानेपर शरीर सड़े हुए फलके सदृश पहिलेकी अपेक्षा हलका हो जाता है। इसीसे कई दिनका मृत शरीर जलके ऊपर तैरने लगता है।

हमारा शरीर तब तक मृत नहीं कहा जा सकता जब तक उसके जीवन-कोषोंमें जीवनको स्थिर रखने वाले रासायनिक पदार्थोंका अन्त नहीं हुआ है, या वह अन्य पदार्थोंसे जीवनके स्थिर रखने वाले रासायनिक पदार्थोंको प्राप्त करके अपनी क्षतिकी पूर्ति कर सकता है, और जिसको मस्तिष्क रोग न होनेपर पीड़ाओंका ज्ञान होता है। क्योंकि पीड़ाही जीवनकी वास्तविक पहिचान है। किन्तु जब जिस

शरीर या शरीरके अवयव या जीवन-कणसे पीड़ाका ज्ञान जाता रहता है, अर्थात् स्वस्थ जीवन-कोषोंका विकृत-जीवेंमें रूपान्तर हो जाता है, या उनसे तरल पदार्थ निकलकर वायु मण्डलमें लय होनेपर उनके शुष्क होनेसे हमारे जीवनकी स्थिति रखने वाले रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर हो जाने और जीवनको विकास देने वाले तत्वोंकी मात्रामें परिवर्त्तन होनेसे जीवन शक्ति विदा हो लेती है, या आवश्यकतासे अधिक परिश्रमके कारण रक्तके व्ययके साथ शक्तियोंका अन्त हो जाता है और हमको पीड़ाका ज्ञान करनेकी शक्ति नहीं रहती तो हमारा शरीर मृत समझना चाहिये ।

वास्तवमें हमारी मृत्यु उसी दिनसे आरम्भ हो जाती है जबसे हम इस संसारमें जन्म लेते हैं । क्योंकि प्रकृतिका नियम है कि विकासके साथ, साथही पतनभी आरम्भ हो जाता है । इसीसे तत्कालके उत्पन्न हुए बालककी जैसी कोमल और जीवन मय त्वचा होती है वैसी ज्यों, ज्यो वह बड़ा होता जाता है नहीं रहती । कारण यह कि हमारी और प्रकृतिकी अनेक क्रियाओं द्वारा नित्य हमारा जीवन-कणोंका हनन होता रहता है; और जीवन-कोषोंकी मृत्युसे हमारा जीवन कुण्ड वैसेही शुष्क होता रहता है जैसे किसी बड़े सरोवरसे एक, एक बिन्दु जल निकालनेपर वह एक न एक दिन सूख जाता है । यद्यपि हमारे खान-पान आदिसे हमारे जीवन-कोषोंकी बहुत कुछ क्षतिकी पूर्त्ति होती रहती है; परन्तु अन्ततः जिस प्रकार वृक्षपर लगा हुआ फल यदि न तोड़ा जाय तो पकनेपर एक दिन अवश्य गिर जाता है, उसी प्रकार हमारा शरीरभी अपनी अवस्थाको पहुंचकर जीर्ण होनेपर निस्सन्देह मृत्युको प्राप्त होता है । हां केवल इतना अवश्य सम्भव है कि यदि प्रकृतिके अनुकूल चला जाय तो पक्वावस्थाको पहुंचकर वैसेही बिना कष्टके, जैसे पका फल बिना परिश्रम और बिना तोड़े वृक्षसे गिर पड़ता है, शरीरका अन्त हो जाता है ।

प्रकृतिका उपदेश

संसारमें रोगोंकी उत्पत्ति तथा शरीरकी मृत्युका हेतु केवल, उन, तीक्षण पदार्थोंका हमारे जीवन-कोषोंसे संसर्ग और तीक्षण क्रियाओं द्वारा उन (जीवन-कणों) का नाश होना है, जो अपनी तीक्षणतासे उनके जीवनके रासायनिक पदा-

थोंका ओषजनकी सहायतासे रूपान्तर करके विकृत जीवोंमें परिवर्त्तन करते हैं; और जिनके ऐसे दूषित एवं तीक्षण गुणोंसे बचनेके निमित्त उनकी तीक्ष्णता द्वारा, हमारे शुभ सूचक यन्त्रों (ज्ञानेन्द्रियों) की प्रकृति, उनके अवगुणोंका अनुभव करके, नितान्त हमको उपदेश करती रहती है। जैसे—नासिका द्वारा हमको अपवित्र, विषैले, तीक्षण गन्धवाले इत्र, तैल आदि (जिनको हमारी सभ्य समाज सुगन्धके नामसे सम्बोधन करती है), दुर्गन्धित एवं हीक मय भोजन, वस्त्र, स्थान या अन्य किसी प्रकार घृणित और कष्टप्रद गन्ध देनेवाले पदार्थोंको ग्रहण न करने, जिह्वा द्वारा कड़वे, खट्टे, कसीले, चर्परे सनसने, उत्तेजक, खारी, मुंह बांध देने वाले, अति मीठे, लारका स्राव करके शक्तियोंका व्यय करनेवाले, या अन्य किसी रीतिसे जिह्वाको कष्ट देनेवाले पदार्थोंके सेवन न करने, ओष्ठों द्वारा लेसदार, लोम वाले, चिपकने वाले या दुःख प्रद तीक्षण पदार्थोंके उदरस्थ न करने, तालु द्वारा उन कठोर पदार्थोंसे बचने जो तालुकी त्वचाको छीलते हों, कण्ठ द्वारा निगलते समय जो शुष्कता या अन्य तीक्षण गुणोंसे लार आदि निकाल कर जीवन-कोषोंके खुर्चे जानेसे मुख और कण्ठमें खुर्दरापन होनेके कारण अटकने या अन्य किसी प्रकार सूक्ष्माति सूक्ष्म दाह करनेवाले अभक्ष्य पदार्थोंसे चेतावनी देकर दूर रहने, दन्तों द्वारा खट्टे, रेतीले, किर्किरे, कठोर और चिपकने वाले पदार्थोंको खाद्य पदार्थोंमें सम्मिलित न करने, नेत्रों द्वारा प्रत्येक अयोग्य पदार्थकी दृष्टि मात्रसे बुराई दिखाकर ग्लानि करने, कर्णों द्वारा घोर गर्जनाओं और भयङ्कर उत्पातोंसे सावधान रहने, हस्तों द्वारा अनेक घृणित तथा अस्वस्थ पदार्थोंको स्वीकार न करने, नखों द्वारा कठोर त्वचावाले पदार्थोंको न लेने, पगों द्वारा कुमार्गपर न चलने, त्वचा द्वारा असह्य गर्मी, सर्दी और तरी-(सीलन) के स्थानोंसे पृथक रह शरीरकी रक्षा करने, तथा बुरे देशों या ऋतुओंमें न रहनेकी प्रकृति मातासे सूचनाएं मिलती रहती हैं।

वस्तुतः यह अमूल्य यन्त्र (ज्ञानेन्द्रियां) हमको हमारी प्रकृतिके अनुसार आहार-विहार करना बताते हैं, और जहां तनिकभी भूल होती है, उसी समय हमको, उन दोषोंका ज्ञान देते हैं, जिनसे बचनेमेंही हमारी कुशल है। परन्तु यह सद ज्ञान सूचक यन्त्र प्रकृतिके विपरीत प्रयोग किये जानेसे जीवन-कोषोंमें विस्तृत ज्ञान तन्तुओंके शिथिल या निर्जीव होनेपर अपना सूचना देनेका कर्तव्य पालन करनेमें ऐसे निरर्थक हो जाते हैं कि आगेको यह अपना काम ठीक नहीं कर सकते, अर्थात् ज्ञान

शक्तिसे वञ्चित हो जाते हैं। इसीसे यदि कोई दुर्गन्धमें निवास करने लगे तो कुछ दिन पश्चात् नासिका ऐसी कर्त्तव्य हीन हो जाती है कि वह उस दुर्गन्धका ज्ञान करनेमें, जब तक पुनः प्रकृति माताकी शरण न ले, समर्थ नहीं होती; और जिह्वाभी शीघ्र अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल पदार्थोंकी अभ्यस्त होकर वास्तविक स्वादका ज्ञान करनेमें असफल होती है। अतः यही कारण है कि एक मनुष्य, जो मिर्चके नामसे भी घबराता है, कुछदिन पीछे अभ्यास डालनेपर, उसी कोमल जिह्वासे, जिसे मिर्चका एक कणभी सह्य न था, तीक्ष्णसे तीक्ष्ण मिर्चों और चर्परे पदार्थोंहीपर क्या अवलम्बित है? प्रत्युत तम्बाकू सरीखे मिर्चोंसेभी अधिक दुःख मय और ग्लानि युक्त पदार्थ सेवन करके इतनी कर्त्तव्य च्युत और शिथिल की जा सकती है कि वह चर्परे पदार्थोंकी चर्पराहट या सन्सनाहट तो एक ओर रही, तीव्र विषोंका ज्ञान करनेमेंभी असमर्थ होती है, और इसी प्रकार अन्य सब ज्ञानेन्द्रियां अपनी प्रकृतिके विपरीत पदार्थोंकी अभ्यस्त होनेके उपरान्त ज्ञान शक्तियोंसे वञ्चित हो, अपना कर्त्तव्य पालन करना त्याग देती हैं, जिससे उन्हें किसी पदार्थकी भलाई, बुराईका ज्ञान [नहीं] रहता।

उपरोक्त ज्ञानेन्द्रियोंकी जो कुछ हमने गुण प्रशं[सा] की है, वह वास्तवमें किसीसे छिपी नहीं है। परन्तु, मनुष्य, अपने कुकर्मों द्वारा, ऐसे अन्ध कूपमे जा गिरा है, कि नितान्त बालपनसेही इन यन्त्रों (ज्ञानेन्द्रियों) का कुप्रयोग करते, करते, इतना कर्त्तव्य हीन करचुका है, कि वह प्रत्येक पदार्थके गुणोंकी यथोचित सूचना नहीं दे सकते। अतएव शरीर रक्षार्थ प्रकृतिके गूढ़ रहस्य जाननेके हेतु, फिर नये सिरेसे, उसका, अनुमान करना चाहिये, जिसके कर्त्तव्य हीन होनेके कारण हमारे अमूल्य और भले-बुरेका ज्ञान देने वाले यन्त्र व्यर्थ समझे जाते हैं।

देखो **प्रकृति माता,** हमको, दुखों और पीड़ाओंसे बचनेके हेतु, पग, पगपर रोकती है, परन्तु ठोकर खाकरभी यदि हम नेत्र मूंदकर चलें, तो यह हमाराही दोष है। कारण यह कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमारी दयालु प्रकृति दर्पणके सदृश भलाई और बुराई दिखा देती है। किन्तु मनुष्यको अपनी बुद्धिपर इतना गर्व है, कि वह प्रत्येक पदार्थकी प्राकृतिक दशा और गुणोंका नाश कर उसका रूपान्तर करनेकी चेष्टा करके अपनी शुभ चिन्तक ज्ञानेन्द्रियोंको धोखा देनेका प्रयत्न करता है। परन्त अनेकानेक उपाय करते हुए, और रसायन विद्याके शिखरपर पहुंचकरभी,

वह किसी पदार्थकी वास्तविक प्रकृतिका किसी प्रकार रूपान्तर नहीं कर सकता, वरन् अपनेही शरीरपर अपकार करता है। इसीसे कोटि उपाय करनेपरभी वह मूत्रको स्वच्छ जलमें परिणत नहीं कर सकता; प्रत्युत वाष्प यन्त्रादि द्वारा रस खींचनेसे जो अर्क बनता है या रसोंके वाष्प द्वारा उड़ जानेसे जो तलछट शेष रहती है उसे दुर्गन्धसे मुक्त नहीं कर सकता। क्योंकि यदि रस खींचनेसे पदार्थोंकी दुर्गन्ध जाती रहा करती तो सोंफ़ (शत् पुष्पा) और केतकी (केवड़ा) आदिके अर्क और रसोंके उड़नेपर बचे हुए फोकमें भिन्न, भिन्न भांतिकी गन्ध प्रतीत न होती। परन्तु इतना सम्भव है कि इत्र, फ़िनाइल (एक एलोपैथिक औषधिका नाम है), लेवन्डर (एक इङ्गलिश सुगन्ध) आदि सरीखे तीक्ष्ण गन्ध वाले पदार्थोंके सम्मिलित करनेसे कुछ कालके लिए, जबतक उन पदार्थोंका प्रभाव रहे, मूत्रकी गन्धको छिपा दिया जाय; किन्तु फिरभी वह मूत्रका मूत्रही रहेगा। यह दूसरी बात है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियां उसका यथार्थ ज्ञान करनेमें धोखा खायें।

इस बातपर बार, बार ध्यान देना चाहिये, **प्रकृति बनायेसे नहीं बनती;** *किन्तु जिसको बनी हुई प्रकृति कहते हैं, उसे स्वभाव कहना चाहिये। स्वभाव और* प्रकृतिमे बड़ा भारी अन्तर है। प्रकृति प्रत्येक जीवके साथ उस समयसेभी, जबसे वह शुक्र-कीटकी अवस्थामें गर्भमें प्रवेश करता है, पूर्व होती है। किन्तु स्वभाव केवल उसी समयसे जन्म लेता है, जबसे सांसारिक पदार्थोंका ज्ञान होता है। इसीसे यदि हम मनुष्यके अज्ञान बालकको मिर्चका सेवन कराते हैं तो वह निस्सन्देह जिह्वापर पहुंचतेही, उसकी तीक्ष्णतासे कष्ट पाकर, रुदन करने लगता है; किन्तु वही तीक्ष्ण मिर्च शुक शिशु (तोतेका बच्चा) का बड़ाही प्रिय भोजन है। कारण यह कि मानव जातिकी प्रकृति मिर्च सेवन करनेके प्रतिकूल और शुककी अनुकूल है। क्योंकि जो मिर्च तोतेके बच्चेको प्रिय होती है वही हमारे शिशुको अप्रिय प्रतीत होती है। परन्तु यदि हम अभ्यास करें तो शीघ्र खारी, खट्टे, कड़वे, कसीले और चर्परे एवं तीक्ष्णसे तीक्ष्ण अप्रिय, ग्लानि युक्त या अन्य किसी त्रुटिके कारण प्रकृतिके विपरीत पदार्थोंको सेवन करनेमेंभी, ज्ञानेन्द्रियोंके शिथिल होजानेके हेतु, हमको किसी दुःख या घृणाका ज्ञान नहीं होता। परन्तु इसका यह अर्थ समझना भूल है कि हमारी प्रकृति मिर्च-मसाले या अन्य तीक्ष्ण अप्राकृतिक पदार्थोंके सेवन या कृत्रिम क्रियाओंके करनेकी हो गयी है; और अब इन पदार्थोंसे कोई हानि न पहुं-

चेगी। नहीं, कदापि नहीं, हमारी प्रकृति मिर्च या अन्य अप्राकृतिक तीक्ष्ण पदार्थोंके सेवन करनेकी कभीभी नहीं हो सकती! वरन् कुछ सीमातक स्वभाव हो सकता है। किन्तु जवतक हमारे शरीरके ज्ञान तन्तुओंमे कुछभी जीवन शक्ति है, पूर्णतः स्वभाव डालनेमेंभी सफलता नहीं हो सकती। इसीसे यदि कोई मनुष्य अपने कोमल हाथको प्रकृतिके विपरीत अग्नि स्पर्श करनेका अभ्यस्त करता है, तो प्रथम तो हस्त तलके जीवन-कणोंके नष्ट होनेसे बड़ा कष्ट प्रतीत होता है, परन्तु कुछ कालमें अग्निसे हाथकी गाद्दियोंकी त्वचाके नष्ट हुए हुए जीवन-कोषोंके शुष्क हो जानेसे ऊपरकी त्वचा निर्जीव होकर ऐसी दुर्तापवाहक हो जाती है, कि यद्यपि उसके स्वस्थ जीवन-कणोंको थोड़ी अग्निके स्पर्शसे कुछ न कुछ, इस प्रकार, हानि पहुंचतीही रहती है, जिस प्रकार जलसे भीगे हुए वस्त्रके ऊपर यदि कोई दुर्ताप-वाहक ऊनी कम्बल रखकर तीक्ष्ण धूपमें रख दिया जाय तो उसतक कुछ काल पर्यन्त सूर्य भगवानकी किरणोंका प्रभाव न होगा, परन्तु अन्ततः शनैः, शनैः वही ताप कम्बलको पारकरके भीगे वस्त्रतक अपनी गर्मी पहुंचाना आरम्भ करेगा, और अवश्य कभी न कभी उस वस्त्रको शुष्क करके रहेगा। किन्तु जिस प्रकार साधारण धूपसे कम्बल द्वारा ढका हुआ भीगा वस्त्र पूर्णतः सूखनेकी अपेक्षा कुछ जलहीन हो जाता है, उसी प्रकार अग्निके अभ्याससे हस्त तलकी निर्जीव की हुई दुर्तापवाहक त्वचाके नीचेके जीवनमय स्वस्थ जीवन-कोषोंको साधारण अग्निसे, कुछ साधारण सह्य ऊष्णताके अतिरिक्त, कष्ट प्रद ताप-(जलन) का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि भले और बुरेका ज्ञान तभीतक होता है जबतक हमारे जीवन-कणोंके ज्ञान तन्तु जीवित और रस युक्त होनेसे सुतापवाहक हैं। इसीसे उनके निर्जीव, शिथिल और कठोर होनेपर हम किसी पदार्थकी तीक्ष्णताका तबतक ज्ञान नहीं कर सकते जबतक उन पदार्थोंका तीक्ष्ण प्रभाव हमारे निर्जीव जीवन-कोषोंको पार करके सजीव जीवन-कणोंतक न पहुंचे। क्योंकि अग्नि या तीक्ष्ण पदार्थोंके प्रभावसे हमारी त्वचा निर्जीव होनेपर हमारे जीवित जीवन-कोषोंके ऊपर उसका एक दुर्तापवाहक पत्र चढ़ जाता है, जिससे वह बाहरके तापको भीतर जानेसे रोकता है। तथापि यदि अधिक अग्निका स्पर्श हो तो हमारी हस्त तलके ऊपरकी निर्जीव की हुई दुर्तापवाहक त्वचाही नहीं, वरन् भीतरके जीवन-कोषोंमेंभी दाह होने लगेगी। अतएव सिद्ध होता है कि अग्नि या अन्य हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल पदार्थोंके सेवनका अभ्यास,

चाहे किसी रूपमें किया जाय, केवल कुछही श्रेणीतक हो सकता है; क्योंकि यदि अभ्यास प्राकृतिक होसके तो कितनीही अग्नि तथा तीक्षण पदार्थ, जिनका अभ्यास किया जाय, किसी मात्रामेंभी हानि न पहुंचायं। निदान् किसीभी प्रकारके तीक्षण पदार्थ अर्थात् जो हमारी प्रकृतिके विपरीत होनेसे, हमारे निमित्त अप्राकृतिक हैं, चाहे खान-पानमें हों, या रहन-सहनमें, या काम-काजमें, अभ्यस्त होनेके उपरान्त भी, यह सम्भव नहीं कि उनसे हमारे, उन, जीवन-कोषोंको, जिनसे हमारे शरीरकी रचना हुई है, हानि न पहुंचे। अतः हमारी ज्ञानेन्द्रियोंमेंसे किसीको दुःख या घृणा होने वाली वस्तुएं, किसी प्रकारभी, प्रकृति सेवन करनेका उपदेश नहीं देती।

मनुष्यका प्रचलित आहार

संसारमें रोगोंके हेतु यों तो मनुष्यकी सभ्यताके अर्थसे प्रकृतिके विमुख चलकर अन्य अनेक कारण हैं हीं, किन्तु एक बहुत बड़ा हेतु मनुष्यकी प्रचलित, ऐसी भोजन व्यवस्था है, जिसका कोईभी नियम नहीं। मनुष्यने इस भूमण्डलपर भला और बुरा, खाद्य और अखाद्य कोईभी पदार्थ नहीं त्यागा! खनिज-वर्गमें लोहा, चांदी, सोना, पत्थर आदि, वनस्पति-वर्गमें कड़वे, खट्टे, मीठे, खारी, चर्परे, कसीले, विषैले फल, शाक, धान्य, (अन्न), पुष्प, पत्ते, कांटे, शाखाएं, घास और मूल आदि, और जन्तु-वर्गमें बड़ेसे बड़े और छोटेसे छोटे जीव, यहां तक कि मनुष्यका मांसभी नहीं छोड़ा। इसीसे एक पर्शियन कहावत है:—'The proper devil of man-kind is man.' अर्थात् मनुष्यही मनुष्यका भक्षक है। इसके अतिरिक्त लगभग बहुतसे जीवोंका दूध, चर्वी, अण्डे, बच्चे, मधु तथा मल-मूत्रतकको भी किसी न किसी रूपसे भोजनम स्थान दिया है।

मनुष्य देवताने नितान्त यह चेष्टा की है कि अयोग्य पदार्थोंके दूषित गुणोंको छिपाकर उत्तेजक पदार्थों द्वारा सुस्वादिष्ट बनादे। अतः इसने अनेक प्रकारके मसालों, दूध, घी, नमक, शकर तथा अन्य बहुतसे तीक्षण पदार्थों एवं रन्धन क्रियाको काममें लिया है। परन्तु इतना भरसक उपाय करनेपरभी कोई अप्राकृतिक पदार्थ दोष रहित होकर हमारे निमित्त प्राकृतिक नहीं बनाया जा सकता। इसीसे मनुष्यकी प्रचलित प्रथाके खाद्य पदार्थ उदरस्थ करते समयही आलस्य आने

लगता है, और उत्तेजक, जिनको सुस्वादिष्ट कहनेकी मिथ्या प्रथा है, नम्कीन तथा मीठे एवं रन्धन किये हुए कृत्रिम भोजनोंसे क्षुधा निवारण होनेसे, उनके भारी होनेके कारण उनके पाचनार्थ हमारी शक्तियोंका आवश्यकतासे अधिक व्यय होनेके अर्थसे और जीवन-कणोंके घर्षण या उनकी तीक्ष्णता द्वारा, खुर्चे जाने, या उन (भोजनों) में रसोंकी हीनतासे उनके रसोंकी कमीको पूरा करनेके निमित्त मुख और आमाशयसे स्राव होनेपर, प्रायः पूर्वही मुखका स्वाद बिगड़ने लगता है। अतएव मनुष्यके प्रचलित कृत्रिम भोजनोंके पश्चात् तुरन्तही पान, सिग्रेट, इलायची, हुक़ा, तम्बाकू, सोंफ़, धन्या, पाचक चूर्ण, वर्फ़, ऐरियेटेड वाटर्स (सोडा, लेम्नेड आदिका जल), और बियर (यवकी मदिरा) आदि सरीखे उत्तेजक पदार्थ या अन्य उत्तेजक क्रियाएं या विश्राम मुखका स्वाद ठीक और शरीरके रसोंकी कमीको पूरा करने या भोजन पचानेके हेतु अथवा शरीरकी शिथिलता दूर करनेके निमित्त काममें लेनेको वाध्य होना पड़ता है, और इसपरभी सन्तोष नहीं होता! वरन् जितनी अधिक क्रियाओं या उत्तेजक पदार्थोंके अभ्यस्त हो जाते हैं, उतनाही मुखका स्वाद बिगड़ा हुआ और शरीर आलस्य पूर्ण रहने लगता है, इसीसे जिनके मुंह मदिरा, तम्बाकू या अन्य उत्तेजक पदार्थ लगजाते हैं, दिनो दिन उन पदार्थोंके सेवन करनेकी मात्रा बढ़ती रहती है। और ऐसेही वर्फ़ पीनेवालोंकी कभी तृप्ति नहीं होती। फिर भला न जाने मानव जातिकी सभ्यता किस प्रकार अस्वादिष्ट पदार्थोंको सुस्वादिष्ट भोजनके नामसे सम्बोधन करती है? सुस्वादिष्ट और प्रिय भोजन केवल वही रसीले फल हैं, जिनके खानेके उपरान्त हमारे मुखका स्वाद बिगड़ने और मुख एवं आमाशयमें रूखा और भारीपन होनेकी अपेक्षा प्रिय, हलका और साधारण चिकनापन ज्ञात हो, आलस्यके स्थानमें, जैसा कि भोजनका धर्म है, चैतन्यता लाने वाला हो, और जिससे आमाशयको भार न प्रतीत हो।

मनुष्यका यह कह कर, '**संसारके सर्व पदार्थोंका भोगनेवाला मनुष्यही है।**' या महा कवि तुलसी दासके कहे हुए वचन 'सकल पदारथ हैं जगमांहीं, करम हीन नर पावत नाहीं।' पढ़कर निकृष्ट और अखाद्य पदार्थोंका सेवन करना सर्वथा भूल है। कारण यह कि यदि मनुष्य अपनी बुद्धि तथा सभ्यतापर तनिकभी गर्व करता है तो उत्तमोत्तम पदार्थोंमेंभी यदि कोई त्रुटि

हो, कदापि सेवन न करने चाहियें; न कि बुरे पदार्थोंके दोषभी, उत्तेजक मसालों, लवण, शर्करा, घृत और रन्धन क्रिया आदि द्वारा छिपाकर, सेवन करनेकी चेष्टा करे। क्योंकि यदि हमही सर्व पदार्थोंके भोगने वाले होते, तो हमें सुअरके सदृश विष्टेमें अप्रिय गन्ध न प्रतीत होती, नीमके पत्तोंके समान कड़वे और धतूरके कांटोंके सदृश तीक्ष्ण पदार्थोंको ऊंटकी नाईही सरलतासे प्रिय भोजन समझकर सेवन किया करते, घासको बिना दांतों और कण्ठमें अटके पशुओंकी भांतिही अपना आहार समझते। किन्तु नहीं, ऐसा नहीं है! जो पदार्थ हमारी ज्ञानेन्द्रियोंको अप्रिय हैं, उनका सेवन करना भूल और मानवीय बुद्धिपर कलङ्क लगाना है। क्योंकि ऐसी दशामें हमारी बुद्धि उस पशु बुद्धिसेभी गयी बीती है जो अपनी प्रकृतिके विपरीत किसी पशुको, जबतक वह मनुष्यके कुकर्मों द्वारा अभ्यस्त न कराया जाय, कोई पदार्थ सेवन करनेकी आज्ञा नहीं देती। इसीसे यदि किसी जीवका तम्बाकू प्राकृतिक आहार नहीं है, तो, बिना धोखेसे (किसी पदार्थमें सूक्ष्म मात्रामें मिलाकर और शनैः, शनैः उसकी मात्रा वृद्धि करके) अभ्यास कराये, कोटि उपाय करनेपर, वह तम्बाकू सेवन न करेगा। किन्तु हम संसारके सर्व पदार्थोंके भोगने वाले और भाग्यशाली एवं सर्वोच्च बुद्धि वाले हैं। इसीसे सारी बुराइयां भी हमहीमें दीखती हैं। हम केशर, कस्तूरी और इलायची खाते हुएभी अपने मुखमें अप्राकृतिक पदार्थोंसे दुर्गन्ध उत्पन्न करलेते हैं, हम नित्य मञ्जन करते हुएभी अपने दांतोंको स्वच्छ नहीं पाते। किन्तु कोई वनस्पतिका आहार करने वाला वन, जीव, जिसको संसारके सर्व पदार्थोंके भोगनेका गर्व नहीं है, मैले दांतोंका न दीखेगा।

वस्तुतः अपनी ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रकृतिके विपरीत पदार्थोंका सेवन करनाही अस्वच्छता है। क्योंकि प्रकृतिके प्रतिकूल केवल, वही पदार्थ हैं, जो कड़वे, खट्टे, कसीले, खारी, असह्य मीठे, अस्वादिष्ट, दुर्गन्धित और विषैले आदि हैं, और जिनसे हमारी ज्ञानेन्द्रियां घबराती हैं। अर्थात् जिनके प्रति हमको घृणा होती है। और घृणा केवल उन्हीं पदार्थोंसे होती है, जो अस्वच्छ होते हैं। निदान् मानव जातिपर यह बड़ी भारी कलङ्क है कि वह अप्राकृतिक, अस्वच्छ तथा दूषित पदार्थोंका केवल अपने को 'सर्व पदार्थोंका भोगनेवाली' कहकर सेवन करती है। इसके अतिरिक्त विज्ञानकी दृष्टिसेभी हमारी बुद्धिपर पत्थरही पड़गये हैं। इसीसे हमारे नयी सृष्टि

रखनेका गर्व करने वाले, पश्चिमी विज्ञान वेत्ताओंने हमारे शरीरके रासायनिक पदार्थोंका विश्लेपण कर मनुष्यका खाद्य, किसी एक विशेष जातिके पदार्थोंका निश्चित न करके मिश्रित जातिका ठहराया है । क्योंकि उनको परीक्षाएं और खोज करने पर हमारे शरीरमें प्रोटीन (चर्वीले पदार्थ), हाइड्रो-कारवोरेट (धान्यादि) व्हाइटामीन (हरे फल और शाकादि) आदि पदार्थोंका ज्ञान हुआ है । अतः इनका कथन है कि मनुष्यको प्रोटीन प्राप्त करनेके हेतु अण्डे, चर्वी, घृत एवं मांस या अन्य चर्वीले पदार्थादि, हाइड्रो-कारवेरेट लब्ध करनेके निमित्त अन्नादि और व्हाइटामीन ग्रहण करनेके अर्थसे फलों तथा शाकादिका सेवन करना परमावश्यक है । परन्तु हमारा कहना है, प्रोटीन प्राप्त करनेके लिए चर्वी या अण्डे आदि, और हाइड्रो-कारवोरेटके निमित्त धान्यादिका सेवन करना विज्ञान विपरीत है । क्योंकि वह सब पदार्थ, जिनकी हमारे शरीरको आवश्यकता है, हमको हमारे प्राकृतिक आहार अर्थात् केवल फलोंसेही प्राप्त हो सकते हैं । उदाहरणार्थ सुअर और दुम्बा प्रस्तुत है, जो कभीभी चर्वी मांस या अण्डे आदि सेवन नहीं करता, और इसपर भी चर्वीसे भरा होता है । किन्तु मनुष्य मांस चर्वी घृत और अण्डे आदि वहुतायतसे सेवन करता हुआभी अपने शरीरमें सुअर या दुम्बेकी चर्वीमें समानता करनेके अर्थसे उतनी चर्वी उत्पन्न नहीं कर सकता । कारण यह कि दुम्बेके आमाशयमें हमारी अपेक्षा रासायनिक पदार्थोंकी एक ऐसी विशेष शक्ति होती है जिससे वह केवल उसी वनस्पति (घास आदि) से जिसमें दृश्य रूपसे चर्वीले अर्थात् प्रोटीनके पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, अधिकाधिक चर्वी प्राप्त कर सकता है । परन्तु हमारे आमाशयमें ऐसे रासायनिक पदार्थ और शक्तियां प्रकृतिने हमारे शरीरको अनावश्यक होनेके कारण नहीं दी हैं, जो अपने शरीरमें दुम्बेके सदृश चर्वी उत्पन्न कर सकें । किन्तु इतना अवश्य है कि हमारे शरीरको जिन पदार्थोंकी जितनी मात्राकी आवश्यकता है, हमारा आमाशय केवल उन्हीं पदार्थोंसे, जो हमारी नैसर्गिक खाद्य वस्तुएं हैं, उन सबको उसी मात्रामें हमारे शरीरमें उत्पन्न कर सकता है । क्योंकि जिन पदार्थोंकी हमारे शरीरको आवश्यकता है, प्रकृतिने जन्म कालसेही हमारे प्राकृतिक आहारमें नैसर्गिक रूपसे उत्पन्न किये हैं । इसीसे वह सब पदार्थ, जिनकी हमारे शरीरको आवश्यकता है, बाल्यावस्थामें हमें अपनी माताके स्तनोंसे दूध द्वारा प्राप्त

होते हैं, तत्पश्चात मृत्युकालतक वह रसीले और जो हमारी प्रकृतिके अनुकूल हैं उन फलों द्वारा प्राप्त होते रहते हैं।

हम ऐसे रसायन शास्त्रकारोंकी नहीं मान सकते, जो शरीरमें चर्बीले पदार्थ सेवन करके प्रोटीन प्राप्त होने आदिकी बातें इस लिए कहते हैं, कि मनुष्यके शरीरमें अन्य पदार्थोंके अतिरिक्त उन्हें प्रोटीनकाभी ज्ञान हुआ है। परन्तु क्या संसारके छोटेसे बड़ेतक सभी जीव-जन्तु, जो वानस्पतिक आहारपर निर्वाह करनेवाले और चर्बीसे भरे हुए हैं, रसायन शास्त्रपर चलकर चर्बीले पदार्थही, अपने शरीरमें चर्बी उत्पन्न करनेके निमित्त, खाया करते हैं? और क्या उन्होंने कभी संसारमें अपना आहार चुननेके लिए, प्रकृति माताके उपदेशपर लात मार रसायन शालाओंमें अपने शरीरके रासायनिक पदार्थोंका विश्लेषणकर, मनुष्यके सदृश यह निश्चय किया है—अमुक, अमुक जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी अमुक, अमुक मात्रासे संगठित होकर उनका शरीर बना है? नहीं, कदापि नहीं! संसारमें मनुष्यको छोड़ कोई वन-जीव ऐसा नहीं है, जिसने रसायन शास्त्रका अध्यन करके या अपने शरीरके रासायनिक पदार्थोंका विश्लेषणकर अपने खाद्य पदार्थोंको चुना हो। उन्होंने तो केवल अपनी, भले-बुरेका ज्ञान देनेवाली, ज्ञानेन्द्रियोंसे काम लेकर प्रकृतिके अनुकूल पदार्थोंको ग्रहण किया है और प्रतिकूल पदार्थोंको अस्वीकार किया है। इसीसे वन-जीवोंमें लगभग सभी मृत्यु कालतक स्वस्थ, बलवान, सुन्दर और चैतन्य प्रतीत होते हैं। किन्तु मनुष्य देवता रसायन विद्याके अपार ज्ञानसे खाद्य पदार्थोंके चुननेपरभी रोगी, निर्बल और अचैतन्य दीखते हैं। अतः दुम्बेका उदाहरण लेनेसे इन रसायनके पंडितोंकी यह एक मिथ्या धारणा सिद्ध होती है, कि प्रोटीन चर्बीले पदार्थोंके सेवन करनेसेही प्राप्त होता है। क्योंकि यदि चर्बी खानेसेही प्रोटीन प्राप्त हुआ करता तो घास चरने वाले दुम्बेके शरीरमे चर्बीका कोष न मिला करता।

जिन रसायन शास्त्रकारोंने चर्बीले पदार्थ सेवन करनेकी बात इस लिए कही है कि मनुष्यके शरीरका प्रोटीनभी एक पदार्थ है, केवल रसायन शास्त्रके पंडित इसीसे कहे जा सकते हैं, कि उन्होंने हमारे गात्रके रासायनिक पदार्थोंका विश्लेषण करनेके निमित्त, बहुत कुछ माथा पच्ची किया है, अन्यथा वह शरीर विज्ञानसे ऐसेही परिचित हैं जैसे

गीताकी गाथा पढ़करभी कृष्ण और अर्जुनसे अपरिचित रहने वाले। क्योंकि वह यहभी नहीं जानते—हमारा शरीर फलोंसे किस प्रकार, आमाशयिक रासायनिक क्रियाओं द्वारा रस बनाकर प्रोटीन एवं अन्य आवश्यक पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है? उनको यहभी ज्ञान नहीं—मांस, चर्बी, घृत और अण्डे या धान्यादि किस प्रकार प्रकृतिके प्रतिकूल और हानि प्रद हैं? और उनसे हमारे शरीरमें उत्पन्न होकर क्या, क्या विजातीय पदार्थ हमको दुःख देते हैं? उन विज्ञान वेत्ताओंको तो केवल एक यही पाठ आता है—घृत, चर्बी, मांस या अण्डे आदिसे प्रोटीन, धान्यादिसे हाइड्रो-कारबोरेट, और फलोंसे व्हाइटामीन प्राप्त होता है। इस लिए उनके मतसे मनुष्यके खाद्य पदार्थ मांस, धान्य और फल तीनोंही हैं। अतएव उनके कथनानुसार मनुष्यको अपने शरीरकी स्थिति रक्खनेके निमित्त, शरीरका विश्लेषण करके जाने हुए उक्त तीनों पदार्थोंके प्राप्त करनेके लिए उपरोक्त तीनों जातिके पदार्थ सेवन करने चाहियें। परन्तु इसका क्या उत्तर है—दुम्बा घास खाकर कैसे प्रोटीन प्राप्त करता है? यदि दुम्बा घास द्वारा प्रोटीन तथा अन्य पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है, तो हमकोही वृथा इन रसायन शास्त्रकारोंके झमेलेमें पड़कर अपने शरीरपर अपकार करनेसे क्या प्रयोजन? इसके अतिरिक्त यह रसायनके पण्डित, मनुष्यके जीवनकी स्थिति रक्खने वाले रासायनिक पदार्थों और जीवनका विकास और पतन करने वाले तत्वोंका अभीतक पूर्णतः ज्ञानभी नहीं कर सके हैं, और न कभी करही सकेंगे। क्योंकि अभी तक संसारके साधारणसे साधारण पदार्थोंकी खोजभी अपूर्ण है। कारण यह कि प्रकृतिके रहस्य प्रकृतिही जानती है। अतएव यह विज्ञान वेत्ता, जो रासायनिक पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके, हमारे शरीरका खाद्य निश्चय करना चाहते हैं—विना संसारके सब पदार्थों और तत्वोंका ज्ञान प्राप्त किये कैसे हमारा आहार निश्चय करनेमें सफल हो सकते हैं?

हमारा या किसी जीवका आहार रसायन विद्याके सीखनेसे नहीं जाना जा सकता। इसीसे इसके लिए प्रकृतिने हमें, भले और बुरे पदार्थों एवं क्रियाओंका ज्ञान देनेवाली वह ज्ञानेन्द्रियां प्रदान की हैं, जिनका कथन 'प्रकृतिका उपदेश' शीर्षक निवन्धमें हो चुका है।

यह रसायन शास्त्रके वेत्ता, यदि प्रकृतिके विपरीत कतर-बोंत करके, सीधा उन पदार्थोंको, जिनसे हमारे शरीरकी रचना हुई है, सेवन कराकर, हमारे शरीरके

जीवनके रासायनिक पदार्थोंको पूरा कर सकते हैं, तो निस्सन्देह उन पदार्थोंका सङ्गठन करके, हमारे शरीरकी रचनाभी कर सकते हैं। परन्तु नहीं, कदापि नहीं! यहांपर उनका विज्ञान और रसायन शास्त्र निरर्थकही सिद्ध होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं—उनका विज्ञान हमारे शरीरके अनेक पदार्थोंका ज्ञान दे सकता है। परन्तु उन पदार्थोंकी ठीक, ठीक मात्रा और उनके पूर्ण स्वरूपको प्रगट नहीं कर सकता। इसीसे विना आमाशयकी सहायताकेभी यद्यपि रक्त आदि अनेक पदार्थ दूसरे जीवोंसे लेकर हमारे शरीरमें प्रवेश किये जा सकते हैं तथापि रक्त, प्रोटीन, हाईड्रो-कारबोरेट आदि शरीरमें प्रवेश करके लाभ नहीं उठा सकते। क्योंकि यदि कोई ऐसा रोगी जिसका आमाशय, यकृत और फुप्फुसादि सर्वथा उत्तरदे चुके हैं तो किसी अन्य मनुष्यका रक्त उसके शरीरमें जीवनको स्थिर रखनेके निमित्त प्रवेश किया जानेपर बहुत शीघ्र उस रोगीके रोगके विषोंसे विषैला होकर वह निरर्थकही जाता है। अन्यथा यह रसायनके पण्डित प्रोटीन आदिके पदार्थ सेवन कराकर आमाशयको कष्ट न देते और सीधे प्रोटीन तथा अन्य पदार्थोंके इन्जेकशन (टीका) द्वारा बड़े, बड़े निर्बल रोगियोंको बलवान बना दिया करते। किन्तु नहीं, ऐसा नहीं है। यह कोई ऐसा कृत्रिम पदार्थ, जिसका आमाशय द्वारा रसोंमें रूपान्तर करनेकी आवश्यकता है, हमारे शरीरमें कृत्रिम रीतिसे पहुंचाकर, हमारे शरीरको उससे अधिक पदार्थ नहीं दे सकते, जो हमको प्राकृतिक आहारसे मिल सकते हैं। निस्सन्देह इस युगको वैज्ञानिक युग कहना चाहिये; क्योंकि हमारे वैज्ञानिकों ने वृद्धोंको युवा और युवाओंको वृद्ध तथा स्त्रियोंको पुरुष और पुरुषोंको स्त्री बनाकर विज्ञानका चमत्कार दिखा दिया है। परन्तु हमारे शरीरकी शक्तियों और जीवनका अन्त हो जानेपर फिर यही कहना पड़ता है कि वह शरीरके किसी पदार्थका इञ्जेकशन करके हमको लाभ नहीं पहुंचा सकते। इसके अतिरिक्त नैसर्गिक रसयुक्त फलों या अन्य तर पदार्थोंको छोड़ चर्बी, घृत मांस और धान्यादि रसोंसे हीन या रसोंकी न्यूनताके कारण आमाशयको, अपने पाचनार्थ और अपने रसोंकी पूर्ति करनेके निमित्त, रसोंका स्राव करनेको बाध्य करते हैं। क्योंकि यदि आमाशय अपने रसोंका स्राव न करे, तो इन रसहीन पदार्थोंसे रक्त नहीं बन सकता। फलतः रसहीन पदार्थोंके रसकी न्यूनताको पूरा करनेके हेतु आमाशयसे रसोंका अनुचित स्राव और उनके पाचनार्थ तरल पदार्थों एवं आमाशयिक शक्तियोंका व्यय होनेके कारण, आमाशय तथा अन्नादिमें शुष्कता प्रतीत

होने लगती है। इसीसे अधिक घृत सेवन करने वालोंका, जिनको वह पाचनमें आजाता हो, मल अन्त्रादिकी शुष्कताके हेतु सरलतासे गुदाके बाहर नहीं आता, और ऐसे मनुष्य कोष्ट-बद्धसे पीड़ित रहने लगते हैं। इसपरभी अन्त्र और आमाशय चर्बीले पदार्थोंसे सीधी चर्बी बनाकर शरीरमें नहीं भर देते। प्रत्युत चर्बीले पदार्थोंसे भी आमाशय और अन्त्र उनके रस हीन होनेसे उनमें अपने तरल पदार्थोंको सम्मिलितकर उनका रसोंमें रूपान्तर करके, उसी प्रकार रक्त और चर्बी उत्पन्न करते हैं, जिस प्रकार फलोंसे बनाते हैं। निदान हमारा दीन आमाशय और अन्त्रादि इन उपरोक्त रासायनिक पदार्थोंके सेवनसे उनके रस हीन होनेके कारण अपनेही रसोंका रक्त या चर्बी बनाते हैं, अर्थात् अपनाही रक्त पान करके उसपर निर्वाह करते हैं। अतः हमको इधर उधरकी रासायनिक उधेड़-बुनमें न पड़कर प्रकृतिके बनाये हुए अपने प्राकृतिक खाद्य पदार्थों अर्थात् रसीले फलोंपरही सन्तोप करना चाहिये; उन्हींसे हमको सब पदार्थ प्राप्त होंगे, और आमाशय तथा अन्त्रादिके रसों एवं शक्तियोंकाभी व्यय न होगा।

ऐसे विज्ञान वेत्ताओंको, जो अन्य जीवोंके सदृश प्रकृतिकी सहायतासे अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपने खाद्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं कर सकते, चाहिये जैसे वह चर्बी उत्पन्न करनेके हेतु चर्बीले पदार्थोंके सेवन करनेकी सम्मति देते हैं, अन्धोंकी चिकित्सा किसी अन्य व्यक्तिके नयन आहार करा और उन्मादकी मस्तिष्क सेवन कराकर किया करें तो अति उत्तम है। क्योंकि जिस प्रकार चर्बीले पदार्थों के भक्षणसे हमारे शरीरमें, उनके मतानुसार, प्रोटीन उत्पन्न होता है, नेत्रोंके खानेसे नयन हीनोंके आखें उत्पन्न हो जावेंगी।

खेद है हम अपनी बुद्धिके सामने **प्रकृतिकोभी** मूर्खा समझे हुए हैं। हम प्रकृतिके अनुकूल चलकर आहार करने वाले छोटेसे बड़े जीवतकको स्वस्थ देखते हुएभी, अपने अकृत्रिम आहारको अपना खाद्य नहीं समझते? हम यहभी विचारनेका कष्ट नहीं उठाते—यदि हमारे खाद्य पदार्थ रोटी-दाल, पूरी-पकवान, जर्दा-पुलाव, गोश्त-कबाब और अचार-मुरब्बेही हैं, तो प्रकृतिने हमारे लिए इन पदार्थोंको वृक्षोंपरही क्यों नहीं लगाया? जो अन्य जीवोंके सदृश हमको अपने आहारके निमित्त कृत्रिम रीतीसे इन पदार्थोंके बनानेका दुःख न भोगना पड़ता।

और हमको ऐसी ज्ञानेन्द्रियां क्यों नहीं दीं, जिनके द्वारा उपरोक्त पदार्थ या अन्य विषैले शाक, धान्य और फलादि हमको सुख प्रद प्रतीत होते ?

हास्यका स्थान है—मनुष्यका प्रचलित आहार, बड़े, बड़े रसायन शास्त्र-वेत्ताओंकी बुद्धि द्वारा, ऐसी, मूर्खताकी नीवके सिद्धान्तोंपर रक्खे हुए विज्ञानका परिणाम है, जो पशु बुद्धिके सदृश अपने खाद्य पदार्थोंके चुननेमें असमर्थ होते हुएभी निरर्थक वाद-विवाद करता रहता है, और हमारी मतिमान् सर्व श्रेष्ठ जातिपर यह कलङ्क आरोपित करता है—हम संसारके सब जीवोंमें श्रेष्ठ होते हुए और विज्ञानकी शिखरपर पहुंचते हुएभी अपना खाद्य पदार्थ नहीं चुन सकते, यद्यपि जगतके सभी जीव अपने खाद्य पदार्थोंसे परिचित हैं।

हम उन दुग्ध-पान करने वाले वालकोंसेभी गये वीते हैं; जो कोई कटु या विपला और उनकी प्रकृतिके प्रतिकूल पदार्थ माताके स्तनोंपर लग जानेसे उसके दोपोंका ज्ञान करके, तत्क्षण माताके स्तनोंसे मुख मोड़कर रुदन करने लगते हैं। इसके अतिरिक्त प्रायः यहभी देखनेमें आया है, कि कोई, कोई शिशु जन्म कालसेही, स्वस्थ होते हुएभी, माताके स्तनोंसे दुग्ध-पान नहीं करते, जिसका केवल एक यही अर्थ है—माताके किसी रोगसे पीड़ित होनेपर वह दूध, इतना अस्वादिष्ट और अप्रिय हो जाता है कि वालकको उससे ग्लानि होती है। परन्तु लज्जाका स्थान है, कि हम मतिमान् मनुष्य-देव, इतनेपरभी अपने अज्ञान वालकोंसे शिक्षा लेकर, किसी अयोग्य पदार्थसे घृणा नहीं करते; क्योंकि हमारा नाम नयन सुख होते हुएभी हम आखों वाले अन्धे हैं, या यों कहना अनुचित न होगा—जितना वुद्धिका प्रभाव बढ़ता गया, उतनेही हम अस्वच्छता तथा अधोगतिको प्राप्त होते गये। क्योंकि हमको यह गर्व हो गया—हम विपको अमृत बना सकते हैं; और अस्वच्छसे अस्वच्छ पदार्थको स्वच्छमें परिणत कर सकते हैं। परन्तु यह सब अभिमान मात्रही है—न विप अमृत हो सकता है, न दुर्गन्धित पवित्र हो सकता है, और न कड़वा मीठा बन सकता है। हां इतना अवश्य है—जिस प्रकार हलका रङ्ग भारी रङ्गमें छिप जाता है, किसी पदार्थकी अपवित्र गन्ध अन्य किसी तीक्ष्ण गन्धसे छिपायी जा सकती है, या उसके अन्य दोप किसी अन्य उत्तेजक पदार्थकी तीक्ष्णतासे दवाये जा सकते हैं। किन्तु वास्तवमें ऐसे दोप युक्त पदार्थ हमारे लिए प्रकृतिसेही अखाद्य होनेके कारण अप्राकृतिक हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मानव जातिने, अपनी कुशलतासे, जो गौरव प्राप्त किया है, यदि हमारे स्वास्थ्यका नाश करने वाला और हमारी स्वार्थ पूर्ण तृष्णा पर अवलम्बित न होता तो अवश्य सराहने योग्य था। परन्तु इसकी, ऐसी, गिरी हुई दशा देखकर, जिससे हमारी जाति दिनो दिन निर्बलता तथा अधोगतिको प्राप्त हो रही है विना नेत्रोंसे अश्रु पात किये नहीं रहा जाता। इसने अपनी बुद्धिसे आकाशमें बातें करने वाले पर्वतोंको पातालमें मिला दिया, जल, वायु, आकाश और पृथ्वी सभीपर अपना स्वत्व जमाया है, और सृष्टिके अन्य जीवही नहीं, वरन् अपनी जातिपरभी अनुचित अधिकार और शासन सरीखे घृणित कर्म करनेतककी चेष्टा नहीं त्यागी। इसपरभी इसकी बुद्धि अनावश्यक तृष्णाके कारण खाद्य और अखाद्य पदार्थोंके जाननेमें असफल रही। इसीसे इसने जड़ और चैतन्य सभी पदार्थोंको अपना भोजन बनाया है। यह समस्त सृष्टिके पदार्थोंका धींगा-धींगी, भोगनेवाला होकर अन्य जातिके जीवोंसे सहानुभूति करके, न्यायशील प्रकृतिके निमित्त उनके लिए कोई पदार्थ छोड़ता! नहीं, यहतो उनकोभी मारकर अपने भाड़ सरीखे उदरमें झोंकना चाहता है! हा! सहस्र बार धिक्कार है इस मानवीय बुद्धिपर, जो अपने **प्रचलित आहार** के कारण पशु बुद्धिसेभी गयी बीति है!

प्राकृतिक और अप्राकृतिक भोजनोंमें अन्तर

प्राकृतिक और अप्राकृतिक भोजनोंका अन्तर जानना वहुतही जटिल समस्याहै। क्योंकि मनुष्य-देवताको अपनी चतुरतापर इतना अभिमान है, कि वह प्रत्येक अप्राकृतिक पदार्थको उसके दोषोंको छिपा देने, या अपनी ज्ञानेन्द्रियोंको धोखा देनेकी योग्यता होनेके कारण, प्राकृतिकही कहते हैं। परन्तु यह बात विज्ञान विपरीत है। प्राकृतिक पदार्थ केवल वही हैं, जिनको हम प्राकृतिक रूपमें प्राप्तकर सकते हैं, और जिनका हम प्राकृतिक रीतिसेही सेवन कर सकते हैं (जिनकी प्राकृतिक दशामें कोई अप्राकृतिक परिवर्तन नहीं करना पड़ता), जिनकी गन्ध हमारी नासिकाको उत्तेजनाका ज्ञान नहीं देती, जिनका स्वाद तीक्ष्ण एवं उत्तेजक प्रतीत नहीं होता, जिनके सेवनसे ओष्ठोंमें चिनकन या दाह नहीं होती, जो दांतोंको खट्टे, कठोर और किर्किरे होनेसे कष्ट नहीं देते, जिनको दन्त

और नख विना शस्त्रकी सहायताके चीर-फाड़ सकते हैं, जो कण्ठमें प्रवेश करते समय अटकते नहीं, जिनकी शुष्कताके कारण, उनके रसोंकी पूर्ति करनेके निमित्त आमाशय और मुखसे अधिक स्राव नहीं होता या जिनके-घर्षण द्वारा अधिक लार उत्पन्न नहीं होती, जो नेत्रोंको देखनेमें अप्रिय प्रतीत नहीं होते, जो हस्तोंको स्पर्श करनेमें घृणित नहीं लगते, और जिनके जीवन-कोष हमारे आमाशयिक और मौखिक जीवन-कणोंकी अपेक्षा कोमल और अत्यधिक रस युक्त होनेसे विना परिश्रमके पाचनमें आसकते हैं। किन्तु वह पदार्थ हमारे भोजनार्थ प्राकृतिक नहीं हैं, जिनको हम अपने सेवनार्थ वृक्षों द्वारा प्राप्त करनेकी अपेक्षा रोटी-दाल, पूरी-पकवान, अचार-मुरब्बे, ज़र्दा-पुलाव, गोश्त-कबाब एवं मिठाइयोंके सदृश कृत्रिम रीतिसे वनाते हैं और जिनकी अन्नादिके समान कचायन्ध, हरे शाकादिके सदृश हीक और मांसादिकी भांति अपवित्र गन्ध कम करने या उड़ाने के लिए रन्धन करने, या जिनकी मांसादिके समान गन्धको छिपानेके लिए लहसन, प्याज़ आदि सरीखे उत्तेजक मसालोंके मिलाने, या जिनकी तीक्ष्णता या अन्य दोषोंको जिह्वाके कष्टके भयसे लुप्त करके स्वाद परिवर्त्तन करनेके निमित्त ज़िमींकन्द, घुइया (अरुई) और कांदूके सदृश अग्नि द्वारा भूनने या उबालने, या जिनकी खटाईसे दांतोंके दुःखके अनुमानसे इमली, या नीबूकी नाईं खटाईको न्यून करनेके अर्थसे उनमें शकर मिलाने, या जिनके कड़वेपनसे जिह्वाको उसका ज्ञान न होने के लिए करेले सरीखे कटु पदार्थोंमें सौंफ़ और खटाई आदि सम्मिलित करने, या कठल, नारियल, सुपारी या चकोरेकी भांति कठोर त्वचा या शरीर वाले पदार्थ, जिनके चीरने-फाड़ने या तोड़नेमें नख और दन्त असमर्थ हों, को काटनेके हेतु अस्त्र काममें लाने, या जिनकी शुष्कताके कारण शुष्क धान्यों, उनके आटे, जामन और फूट आदि सरीखे कण्ठमें अटकनेवाले पदार्थोंके निगलनेके अर्थसे घृत, तैल, रसीले शाकोंकी भाजी, नमक और शकर आदि प्रयोग करने, या जिनकी रूखी प्रकृतिसे आलू, शकरकन्द आदिकी नाईं उनको रसीला करनेके निमित्त जलका मिश्रण करने, या जिनकी अचैतन्यताके हेतु खटी सरीखे पदार्थोंको चैतन्य करनेके अर्थसे हिम (बर्फ़) द्वारा चैतन्य करने, या जिनकी कठोरताके निमित्त शुष्क धान्यादि सरीखे कठोर पदार्थोंको कोमल या फोके वनानेके अर्थसे जल, घृत, या वालू आदि द्वारा रन्धन करने, या जिनकी तीक्ष्णताको न्यून करनेके

लिए अमल (तेज़ाब), कास्टिक, पोटाश या सोडेके समान तीक्ष्ण पदार्थोंमें जल मिलाने सरीखे अप्राकृतिक साधन प्रयोग करने पड़ते हैं, या जिनसे बालू, और पाषाणके सदृश दांतोंको सेवन करते समय दुःख होता, या जिनसे मांस और सड़े हुए पदार्थोंके सदृश हस्तों और नेत्रोंको स्पर्श करने एवं देखनेमें घृणा प्रतीत होती है। सारांश यह है कि हमारे लिए वही खाद्य पदार्थ प्राकृतिक हो सकते हैं, जिनके सेवनार्थ किसी कृत्रिम क्रियासे अप्राकृतिक (प्रकृति द्वारा रचित परन्तु हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल या मनुष्यकी क्रियाओं द्वारा बनाये हुए) पदार्थोंके वास्तविक अप्रिय स्वाद या रूपको छिपानेके हेतु किसी प्रकारके मसालों, या उत्तेजक पदार्थोंके मिश्रणकी आवश्यकता नहीं होती, या जिनका अग्नि द्वारा रन्धन करके स्वाद परिवर्तन करने और हीक, दुर्गन्ध तथा तीक्ष्णतासे वञ्चित करनेको बाध्य नहीं होना पड़ता, या जिनको रसहीन होनेके कारण जलसे शून्य या चैतन्यतासे रहित होनेपर हिमसे चैतन्य करनेके सदृश अन्य अप्राकृतिक साधन नहीं करने पड़ते। निदान संसारमें कोईसी पदार्थ जो भलेही कृत्रिम नहीं है, अर्थात् प्राकृतिक रूपमें वृक्षों द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु मनुष्यकी ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रकृतिके विपरीत है, कदापि हमारे सेवनार्थ प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता। परन्तु वही पदार्थ सृष्टिके अन्य जीवोंमेंसे किसी जीवके हेतु, यदि उसकी प्रकृतिके अनुकूल है, प्राकृतिक कहा जा सकता है। जैसे—घास पशुओंके लिए, आकके पत्ते बकरियोंके निमित्त, बबूलके बड़े बड़े कांटे और नीमके कटु पत्ते ऊंटके हेतु, मिर्च (लाल), सुपारी आदि तोते सरीखे जीवोंके अर्थसे और मांस सिंहादिके सेवनार्थ प्राकृतिक हो सकता है। कारण यह कि हमारे दांत पशुओंके सदृश घास नहीं चबा सकते, न हम बिना पीड़ा और दाहका ज्ञान किये बकरियोंकी नाईं आककी पत्तियांही सेवन कर सकते हैं, न ऊंटके समान बबूल (कीकड़) के बड़े, बड़े घाव करने वाले शूल ही चबा सकते हैं और न नीमके कड़वे पत्तेही सेवन कर सकते हैं, और न तोतेकी प्रकृतिके अनुसार बिना अभ्यास किये मिर्चही भक्षणकर सकते हैं और न सुपारी सरीखे कठोर पदार्थोंकोही उसकी चोंचके अनुकूल अपने दांतों द्वारा सुगमता पूर्वक कुतर सकते हैं। निदान् सिद्ध होता है, कि हमारे लिए प्राकृतिक पदार्थ केवल वही हैं जिनके सेवन करनेसे हमारे खाने-पीनेके पदार्थोंकी भलाई-बुराईका ज्ञान देनेवाले, यन्त्रों (ज्ञानेन्द्रियों) को दुःख या घृणा नहीं होती है।

क्योंकि यदि वास्तवमें, जैसा मनुष्यका अनुमान है, **समस्त पदार्थ मनुष्यके भोगनेके लिए या मनुष्यकाही भोजन होते,** तो हमारी नासिकाको सुअरके समानही विष्टेमें अप्रिय गन्ध न प्रतीत होती, हमारी जिह्वाको तोतेकी नाईंही मिर्चेकी तीक्ष्णताका ज्ञान न होता, ऊंटके अनुसारही बबूलके कांटोंसे हमारे मुखको पीड़ा न पहुंचती और नीमके पत्तोंमें जिह्वाको कड़वाहट न भासती, पशुओंके अनुकूलही हम सुगमता पूर्वक अपने दांतोंसे घास चबा सकते, और मकड़ीके सदृशही हम बिना मितली और मन दुःखी हुएही मक्खीको चूस सकते थे। किन्तु नहीं! संसारके सर्व पदार्थोंपर हमाराही स्वत्व नहीं है। अतः **सब पदार्थ हमारे सेवनार्थ नहीं हो सकते** । हमारे लिए केवल वही पदार्थ हो सकते हैं, जो हमारी **प्रकृतिके अनुकूल हैं** ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि धींगा-धींगी हम संसारके सब पदार्थोंके भोगने वाले बन बैठे हैं। और इसीसे निकृष्टसे निकृष्ट, घृणित एवं दुःख प्रद और हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल कृत्रिम पदार्थभी हमारे प्रिय और सुस्वादिष्ट भोजनोंका स्थान पा रहे हैं। परन्तु इसका केवल एक यही कारण है, कि जैसे एक व्यायाम करने वाला यद्यपि आरम्भ कालमें जो उसके द्वारा दुःख होता है, उसका ज्ञान करता है, तथापि उसका अभ्यस्त होने पीछे, अर्थात् ज्ञान तन्तुओंके जीवन-कणोंके निर्जीव होकर शिथिल और कठोर होनेपर कष्टका अनुभव करनेकी अपेक्षा उसे नित्य व्यायाम करनेको बाध्य होना पड़ता है, अन्यथा वह, जबतक अभ्यास न छूटे बिना व्यायाम किये विकल रहता है; या जिस प्रकार पिटनेके अभ्यस्त बालकोंको बिना पिटे कलही नहीं पड़ती, उसी प्रकार अप्राकृतिक पदार्थोंका अभ्यस्त होनेपर, बिना उनकी दिनो दिन अधिक मात्राकी उत्तेजना द्वारा जिह्वाको स्वादही नहीं आता। परन्तु ऐसे बुरे पदार्थों और क्रियाओंका अभ्यस्त होकर उनका स्वभाव पड़जानेसे उनको **प्राकृतिक** कहना भूल है।

वह सब अप्राकृतिक पदार्थ, जो मनुष्यकी प्रकृतिके प्रतिकूल हैं, मुखमें पहुंचते ही हमारे शरीरपर अपकार करना आरम्भ कर देते हैं; वरन् यहांतक कि जिस समयसे उनके अदृश्य तीक्ष्ण परमाणु गन्ध द्वारा नासिकामें पहुंचते हैं, शरीरके अनेक कोमल जीवन-कोषोंको अपनी तीक्ष्णताके बलसे तोड़ या खुरचकर वेदना द्वारा नष्ट तथा क्षीण कर हमारे जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर करके हमारे

जीवन-दीपके बुझानेका प्रयत्न करना आरम्भ कर देते हैं। इसीसे नित्य अप्राकृतिक भोजन बनानेके मसाले (सौंफ़, ज़ीरा, धन्या, लौंग, मिर्च, इलायची, सोंठ, पीपल, अदरक, अजवायन, मेथी, तेज़पात, प्याज़, लहसन, जावित्री इत्यादि) कूटने छानने एवं उनके बघार (छौंक) मात्रकी गन्धसेही बड़ी दुःखप्रद खांसी तथा छींकें आती हैं, और नासिकाके जीवन-कणोंके टूटनेसे नासिका द्वारा जल प्रवाहित हो जाता है; और हमारे जीवनका सरोवर इसी प्रकार एक, एक जीवन कोषकी कुसमय और अनुचित मृत्युसे समयसे पूर्वही शुष्क हो जाता है। फिर भला ऐसे तीक्षण पदार्थ, जिनकी गन्ध मात्रसेही शरीरको इतना कष्ट और क्षति होती है, शरीरके भीतर पहुंचकर अति कोमल जीवन-कणों और अवयवोंसे संसर्ग होनेपर, क्या न करते होंगे? अपरञ्च वह कड़वे, खट्टे, कसीले, खारी और धसकीले पदार्थ, जिनके दोषोंका प्रायः दूरसेही नासिका सूंघकर और जिह्वा चखकर अनुभव कर लेती है, या जिनकी कोठरता और खटाईसे उनके दूषित गुणोंको हमारे दांत बता सकते हैं, या जिनको कण्ठमें जानेके निमित्त अटकनेसे कण्ठको उनके अवगुणोंका ज्ञान होता है, या जिनकी कठोर त्वचादि होनेसे दन्त और नख छीलनेमें असफल होनेके कारण उनके विकारोंकी सूचना देते हैं, या जिनके देखने अथवा स्पर्श करनेसे ग्लानि द्वारा उनसे बचनेकी प्रकृतिसे चेतावनी मिलती है—किस प्रकार बिना अपकार किये रहते होंगे? इसके अतिरिक्त भकायन्ध देने वाले शुष्क धान्य (नाज) या अन्य पदार्थ, जिनकी शुष्कता या कठोरताके कारण, उदरस्थ करते समय, उनके घर्षण द्वारा तथा उनके रसोंकी कमी पूरी करनेके हेतु, हमारे मुख आमाशय यकृत और अन्त्रादिके, कोमल जीवन-कणोंका अधिकतासे स्राव होनेपर, जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर होनेसे दिनो दिन उनकी जीवन शक्तियां कम होनेके कारण हमारे जीवनकाभी अन्त होता जाता है, या कष्टप्रद झलें देने वाले तैल आदि, जिनके रन्धन करते समयकी गन्ध और गैस (वायु) मात्रसे हमारे मस्तिष्कके जीवन-कोषोंके तरल पदार्थोंका स्राव होनेपर चक्कर आने लगते हैं, या प्याज़ लहसन मिर्च और हींग आदिके छौंकके गैसकी तीक्षण गन्ध, जिससे नासिका विकल हो जाती है, या तम्बाकू और मिर्च सरीखे विषैले पदार्थ जिनके बाज़ारोंमें जानेसे उनकी धसका देनेवाली गन्ध मात्रसे नासिका महान दुःख पाती है, या धुएं एवं हुक़्के विषैले गैसोंसे जिनके पान करनेसे तीव्र खांसी उठती, और नेत्रों तथा नासिकामें पहुंचनेसे

कोमल जीवन-कणोंके प्रहारित होनेसे उनमें घाव हो तरल पदार्थ प्रवाहित होनेके कारण जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर होकर उनकी जीवन शक्तियां व्यय होती हैं, तथा उनसे बने हुए उस कार्बन गैससे जिससे शरीरको हानि पहुंचना सभी वैज्ञानिकोंने सिद्ध किया है—किस प्रकार हमारे फूल सरीखे कोमल शरीरपर उपकार हो सकते हैं ? नहीं ! कदापि नहीं ! ! यह निरन्तर अपने प्राकृतिक विषैले दोषोंसे हमारे शरीरपर, जीवन-कोषोंको नष्ट तथा क्षीण करके, उनके जीवनकी स्थिति रखनेवाले रासायनिक पदार्थोंका विकृत जीवन-कणोंमें रूपान्तर करके, नाना प्रकारके दुःखों तथा रोगों द्वारा शरीरपर अपकार करते और हमारी मृत्युका समय क्षण, क्षणपर निकट लाते रहते हैं; क्योंकि अनुचित रीतिसे एक जीवन-कणकी मृत्यु भी प्रकृति द्वारा हमारे जीवनकी नियतकी हुई अवधिको न्यून करनेके निमित्त वैसाही हानि प्रद साधन है जैसे किसी सरोवरका सूर्यके तापके अतिरिक्त एक विन्दु-जल लेनेसेभी वह अपनी प्राकृतिक अवस्थाके समयसे पूर्व उस विन्दुके परिमाणानुकूल कुछ क्षण पहिले शुष्क हो जाता है । इसके अतिरिक्त उपरोक्त अप्राकृतिक पदार्थोंकी, प्रकृति हमारे प्राकृतिक आहारके प्रतिकूल होनेके कारण, सदा तृष्णा बनी रहती है और हम कभी सन्तुष्ट नहीं होते । इसीसे वर्फ़ पीने वालोंकी प्यास दमन नहीं हुआ करती; और जिनके मुंह मदिरा लग जाती है वहभी लाओ, लाओ ही किया करते हैं । कारण यह कि इन अप्राकृतिक पदार्थोंकी उत्तेजनासे शरीरकी शक्तियों और रसोंका व्यय होनेके हेतु मुख और आमाशयके जीवन-कोषोंके शुष्क और प्रदाहित होनेसे हमारे ज्ञान तन्तुओंके शिथिल होनेपर हमको पहिलेकी अपेक्षा अधिक उत्तेजक पदार्थोंकी मांग वनी रहती है । अतः ऐसी दशामें मनुष्यको, अपनी ज्ञानेन्द्रियां शिथिल हो जानेसे, भले और बुरे तथा प्राकृतिक और अप्राकृतिक या खाद्य और अखाद्य पदार्थोंमे अन्तर प्रतीत न होनेके कारण, जिसप्रकार भंगीको विष्टेकी गन्धही प्राकृतिक ज्ञात होती है, उसी प्रकार वह प्रकृतिके विपरीत पदार्थोंका आधीन होकर प्रकृतिके प्रतिकूल जानेकी चेष्टा करके उक्त कृत्रिम भोजनोंकोही प्राकृतिक आहार समझता है; और अपने शरीरके जीवनके रासायनिक पदार्थोंको विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर करके अनेक व्याधियां उत्पन्न करता हुआ स्वयं अपनी मृत्युको निकट लाता है ।

कुछ कृत्रिम भोजनोंसे अपकार

शाक

शाकादिमेंसे कोईभी ऐसी भाजी नहीं हैं, जो प्राकृतिक कही जा सकें। क्योंकि कोई शाक प्राकृतिक रूपमें हीक और कचायन्ध सरीखी गन्ध प्रकट करनेके कारण और प्रायः फलोंकी अपेक्षा अप्रिय स्वाद रखनेके हेतु हमारी ज्ञानेन्द्रियोंको अपने नैसर्गिक रूपमें प्रिय नहीं होता। इसीसे हम उनके दोषोंको दमन करने या छिपानेके निमित्त रन्धन क्रिया तथा उत्तेजक और तीक्षण मसालोंकी सहायता लेकर, कृत्रिम साधनोंका प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त यद्यपि अधिकांश शाक रसीले हैं, तथापि उनकी उत्तेजक गन्ध और तीक्षण स्वादसे हमारे मौखिक और आमाशयिक जीवन-कणेंके टूटनेपर उनके तरल पदार्थोंका स्राव होकर एवं कुहकी उत्तेजना होनेके उपरान्त शरीरके तन्तुओंमें प्रतिक्रिया होनेसे अनुत्तेजक फलोंकी अपेक्षा हमारी शक्तियां अधिक व्यय होती हैं। अपरप्व शाकोंके पत्ते या डंठल सेवन करनेसे औरभी हानि होती है। क्योंकि उनमें तन्तुओंका आधिकांश होनेसे वह खाते समय दांतोंमें घासके सदृश अटक जाते हैं, और तन्तुओंका पाचन न होनेके कारण रक्तकी अपेक्षा मलही अधिक उत्पन्न करते हैं।

गाजर, मूली सरीखे शाकोंको प्रायः मनुष्य प्राकृतिक रूपमें अपनी ज्ञानेन्द्रियोंपर बलात् अधिकार करके सेवन करते हैं। परन्तु इनके अकृत्रिम रूपमें खानेपरभी यह शाक प्राकृतिक नहीं हो सकते। क्योंकि मूली इतनी चर्परी और तीक्षण गन्ध वाली है, जिससे मुख और आमाशयही प्रदाहित होकर अपने जीवन मय द्रव पदार्थोंका स्राव नहीं करते, प्रत्युत किसी, किसी समय जिह्वा झलझला उठती है और नासिका तथा नेत्रोंसे जलका स्राव होकर हमारे जीवनका मृत्युमें रूपान्तर होने लगता है। इसकी अपेक्षा गाजरभी कुछ उत्तेजना पूर्ण हीक देती है और मुखमें संसनाहट उत्पन्न करती है, वरन् किसी, किसी देश और जातिकी मुखमें छाले डालती और प्रायः उसके बीजोंसे प्रसूताओंको गर्भ पात हो जाता है। अतः शाक श्रेणीके प्रायः सभी पदार्थ रसीले होनेपरभी अपनी उत्तेजना द्वारा हमारे स्नायु आदिके तन्तुओंको उत्तेजित कर प्रति-क्रिया उत्पन्न करनेपर, और अपनी तीक्षणतासे हमारे

जीवन-कोषोंपर प्रहार कर वायुकी सहायतासे उनके जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर करके हमारे रसोंका स्राव करनेसे हमारी जीवन शक्तियोंको लाभकी अपेक्षा अधिक क्षीण करते हैं। इस लिए यह सभी वर्जित हैं। परंतु फिरभी दुःखी होकर कुछ विचारना पड़ता है। क्योंकि स्वार्थ पूर्ण अन्यायी और विदेशी, प्रभुता दिखलाने वाले, शासकोंकी असीम कृपाके कारण हमारे कङ्काल होनेसे हमारी आर्थिक दशा इतनी अधोगतिको पहुंच गयी है कि अधिकांश भारत माताके दीन पुत्रोंको निकृष्टसे निकृष्ट अन्नभी दिनमें केवल एकही समय बड़ी कठिनतासे इतनी मात्रामें प्राप्त होता है कि उस समयभी वह क्षुधा निवारणार्थ यथेष्ट नहीं होता, फिर भला प्रत्येक व्यक्ति कैसे उत्तमोत्तम रसीले फलोंको प्राप्त करके अपने जीवनकी वृद्धि करनेके निमित्त उनपर निर्वाह कर सकता है। अतः शाकोंके उत्तेजक और हानिमय होनेपर भी ऐसे दीन रोगियोंके निमित्त जो अपनी आर्थिक दशाके बिगड़नेसे फल नहीं सेवन कर सकते हैं, निम्नाङ्कित जातिके सदृश गुणवाले शाकोंके सेवनकी सम्मति दीजासकती है :—

मीठे टोमेटो (जिनमें अधिक खटाई नहो), कद्दू (घिया, आल या राम तुरई) चचेंडे, तोरी, परवल, टिन्डे या शलजम और पतली एवं कोमल गाजर आदि या इन्हींके सदृश अन्य शाकादि ।

उपरोक्त शाकादि हल्के और रस युक्त होनेसे आमाशय और अन्त्रादिपर अधिक बोझ न डालने और सुपाच्य होनेके कारण बिना मसाले आदिकी सहायताके वाष्प द्वारा उबले हुए सेवन करनेसे अधिक हानि नहीं देते और इनसे रसों द्वारा शीघ्र रक्तकी वृद्धि होती है। परन्तु फिरभी रोगीकी दशाके अनुकूल विचारनेकी आवश्यकता है।

हमारा दृढ़ अनुमान है कि जैसे भारतीय जनताने खद्दरको अपनाकर विदेशियोंके दांत खट्टे किये हैं वैसेही यदि भारत माताके लाल अन्नादिकी अपेक्षा शाकादिकी कृषि करके उनपरही अपने जीवनका निर्वाह करने लगें तो निम्न लिखित पांच अपार लाभ होंगे:—

प्रथमः—सब जनताको, जो कङ्कालसेभी परे है, उदर पूर्तिके निमित्त दिनमें कई वार यथेष्ट भोजन मिलेगा, प्रत्युत इतनी उपज होगी कि खानेपर भी न खाया जायगा।

द्वितीयः—हमारे भोज्य पदार्थ, जिनपर हमारा प्राकृतिक अधिकार (पैदायशी हक़) है इङ्गलेण्ड, फ्रांस और जर्मनी आदि निवासियों, जो हमारे हाथकी रोटी छीनकर हमारे जीवनका अन्त करना चाहते हैं, के भाड़ सरीखे उदरमें झोंकनेके निमित्त न जा सकेंगे; और जिस प्रकार धान्यादिके विदेश जानेसे दिनो दिन हमारी भूमिकी उपज घटती जाती है (क्योंकि उनके विदेश जानेके कारण कृषिके निमित्त खाद्य बननेके लिए हमारे देशमें उनका रूपान्तर न होनेसे भूमिकी शक्तियां निर्बल होती हैं) आगे को न होगी । इसके अतिरिक्त धान्यादि पदार्थोंके विदेश जानेसे, जो अन्य देशोंकी भूमिकी उपज शक्ति वृद्धि कर रही है वह रुक जावेगी ।

तृतीयः—हम रोगोंसे मुक्त रहेंगे, बल प्राप्त करेंगे और दीर्घायु होंगे ।

चतुर्थः—अन्नादि द्वारा बने हुए भोजनोंके लिए जो झमेले करने पड़ते हैं उनसे अधिकांश मुक्त हो जावेंगे; और जिस प्रकार खद्दर पहननेसे धनकी बचत होती है, इनसेभी हम एक बड़े भारी व्ययसे छूट जावेंगे ।

पञ्चमः—सबसे बड़ी बात यह है कि हमको निर्दयी शासकोंके पञ्जोंमें न रहकर स्वतन्त्रता देवीके दर्शन होंगे । अतः इनकी कृषि हमारे लिए अपने स्वत्वोंको सुरक्षित करने और स्वाधीनता प्राप्त करनेके हेतु शांति भङ्ग न होने देनेवाला अस्त्र है ।

हरे धान्य

हरे धान्योंमेंसेभी ऐसे बहुत कम हैं, जो कुछ सीमातकभी प्राकृतिक कहे जा सकें । कारण यह, प्रथम तो वह उन्नति करते, करते घासोंसे धान्य रूपमें विकास करके मनुष्यकी अलौकिक बुद्धि द्वारा, ऐसेही, उत्पन्न किये गये हैं, जैसे शल्य (कलम) क्रियाओं द्वारा अनेक प्राकारके आम, नीबू, नारंगी, संगतरे और लोकाट आदि फलोंकी जातियां किसी जातिके फलके वृक्षको विकास देकर उत्पन्न की गयी हैं । इसी से धान्यकी बहुत कम जातियां ऐसी हैं, जिनके बीज वर्षा, वायु एवं ऋतुओं आदिसे सुरक्षित रखनेको बाध्य न होना पड़े । अन्यथ यदि सब धान्य प्राकृतिक होते तो अन्य घासोंके सदृश उनका बीज क्षेत्रमें पड़ा हुआ बिगड़ा न करता, और प्रति वर्ष घासकी नाईं, बिना कृषि किये हुए स्वतःही

उगता और फलता; द्वितीय ऐसे धान्योंकी बहुत कम जातियां है, जिनमें बिना रन्धन सरीखे कृत्रिम साधनोंकी सहायता लिए अधिक हीक देने वाली ऐसी गन्ध प्रतीत न हो जिसके कारण वह अपनी उत्तेजना द्वारा हमारी जीवन शक्तियोंका किसी न किसी अंशमें व्यय न करें; तृतीय ऐसे धान्योकी जातियांभी कमही प्रतीत होती हैं, जिनकी गन्धमें हीककी न्यूनता हो, और जिन्हें हमारे दांत, या नख बिना ग्लानि और कष्टके क्षुधा निवारणार्थ छील सकें; चतुर्थ वह पाचनमेंभी बहुत काम एवं बड़ी कठिनतासे आती हैं और तन्तुमय होंनसे रक्तकी अपेक्षा विष्ठा अधिक उत्पन्न करती हैं। इसीसे गेहूंका बीज बिना रक्षा किये और बोये क्षेत्रमें पड़ा, पड़ा स्वयं प्रकृतिकी सहायतासे उपजकर फल नहीं देता; उर्द, मूंग आदिकी हीक और कचेपनकी गन्ध बिना रन्धन किया और मसालोंके प्रयोग किये कम और उसका दमन नहीं होता; गेंहू या यवकी वाल छीलते समय नख और दन्त को कष्ट और चनोंका छिल्का पृथक करते समय छिल्केके ऊपर चिपकने वाली खटाईके होनेसे ऊंगलीके पोरुओं एवं दन्त और नखोंको उसकी चिपकाहट और खटाईसे ग्लानि और कठोरतासे दुःख होता है; और उर्द सेवन करनेसे उसकी अजीर्ण करनेवाली प्रकृतिके हेतु आमाशय एवं अन्त्रमें विषैले गेसों (वायु) के उत्पन्न होनेपर गुदा द्वारा दुर्गन्धित वायुका प्रवाह होता और दुर्गन्ध मय विष्ठा आता है; और रसीले फलों या रसयुक्त शाकादिकी अपेक्षा परिमाणतः बहुतही अधिक मात्रामें विष्ठा उत्पन्न होता है। परन्तु हरे नवजीवित धान्य रसों और जीवनके रासायनिक पदार्थोंसे जीवन युक्त होने और वर्षों पर्यन्त खत्तियोंमें पड़े हुए, अपने जीवनके रासायनिक पदार्थोंका विषैले पदार्थोंमें रूपान्तर या वायुमण्डलमें लय हो जानेके कारण, जीवनसे शून्य शुष्क धान्योंकी अपेक्षा कहीं उत्तम हैं। इसीसे तीव्र-रोगोंमें लंघनके उपरान्त हरे और कोमल नाजोंका पथ्य देनेसे शुष्क धान्योंके सदृश जोखिममय आपत्तियां कम होती हैं। तथापि हमने रोगियोंको इनका पथ्य वर्जितही रक्खा है। क्योंकि इनके पाचनार्थ आमाशयको रसीले फलोंकी अपेक्षा इनकी अत्यन्त कठोरता और शुष्कताके कारण अधिक परिश्रम और रसोंका स्राव करना पड़ता है, जब कि ऐसे समयमें हमें शरीरको इसके प्रतिकूल विश्राम और रसोंके देनेकी आवश्यकता होती है।

शुष्क धान्य

शुष्क धान्योंमेंसे तो कोईभी ऐसा नहीं, जो प्राकृतिक भोजनोंकी श्रेणीमें किसी सीमातक स्थान पासके। क्योंकि प्रत्येक नाजमें उत्तेजना द्वारा हमारी शक्तियां व्यय करने वाली हींक मय और कच्चेपनकी ऐसी गन्ध आती है जो विना रन्धन क्रिया या मसालोंके न्यून और दमनही नहीं की जा सकती। अपरञ्च शुष्कताके कारण यद्यपि रसोंके निकल जानेसे वह बोझमें हलके होजाते हैं, परन्तु तन्तुओं और त्वचादिके कठोर और उनके जीवनके रासायनिक पदार्थोंमें न्यूनता तथा रसोंका परिमाण कम होनेपर निर्जीव पदार्थोंकी, घटनेकी अपेक्षा, वृद्धि हो जानेके निमित्त वह आमाशयको भारी प्रतीत होते हैं; क्योंकि उनके पाचनार्थ उनमें रसोंकी न्यूनता और कठोरपनसे मुख, आमाशय और अन्त्रादिके नाना प्रकारके कोमल जीवन-कोषोंसे उनके चावने, उदरस्थकरने, पाचनमें लाने, अपने भीतर अधिक काल तक रहनेका बोझ सहन करने और उनके द्वारा बने हुए विष्टेको त्यागनेसे वलात् इतनी अधिकताके साथ रसोंका स्राव कराया जाता है, अर्थात् शरीरके जीवन भण्डारसे इतनी जीवन शक्तियां व्यय करायी जाती हैं, कि भोजन करते समयही शरीरके अवयवोंकी शक्तिसे अधिक भार पड़नेके हेतु शरीरके थक जानेपर, हमें आलस्य आने लगता है। क्योंकि जब रस हीन पदार्थ आमाशयमें पहुंचते हैं तो उनके रसोंकी कमीकी पुर्ति करके आमाशयिक तरल पदार्थोंसे समानता करनेके हेतु, आमाशयिक जीवन-कणोंसे उतनीही मात्रामें जितनी उन शुष्क पदार्थोंको रसीले करनेकी आवश्यकता होती है, रसोंका स्राव होकर शुष्क पदार्थोंकी ओर उनको तरल बनानेके लिए वैसेही तीव्र गतिसे उनमें सम्मिलित होनेको हमारे आमाशयिक रस दौड़ते हैं, जैसे लोहेका अति शीतल और ऊष्ण किया हुआ चूरा एक पात्रमें भली भांति परस्पर मिला देनेपर एक दूसरेकी शीतलता और ऊष्णता एक दूसरेकी ओर दोनोंको समानावस्थामें करनेके निमित्त भागकर उक्त दोनों प्रकारके लोहेके चूरेकी ऊष्णता और शीतलताको समानरूप देती है; और फिर शीतल एवं ऊष्ण चूरेमें दोनोंका पूर्व ताप नहीं रहता। इसी प्रकार हमारे आमाशयमें शुष्क पदार्थ पहुंचनेसे न शुष्क पदार्थ शुष्क रहते हैं और न हमारा आमाशय रस युक्त रहकर जीवनमय रहता है। और इसीसे जितने अधिक शुष्क पदार्थ मुंहमें चवाये जाते हैं, उतनीही अधिक उनके घर्षण

द्वारा तथा उनके रसोंकी कमीको पुरा करनेके हेतु मुंहमें लार उत्पन्न होती है। अर्थात हमारे जीवन-कोषोंकी उतनीही शक्तियों और जीवनका व्यय होता है। किन्तु तरल और हमारी प्रकृतिके अनुकूल पदार्थ अर्थात् अनुत्तेजक रस युक्त फलोंका सेवन करनेसे आमाशयको उसी प्रकार अपने रसोंका स्राव करनेको बाध्य नहीं होना पड़ता, जिस प्रकार जलसे भीगा हुआ मिट्टीका पात्र, जबतक जल शुष्क न हो, दूधको नहीं सोकता। निदान रसीले फलों, शाकों और हरे धान्योंकी अपेक्षा शुष्क धान्यसे हमारे मुख, भोजन नाली, आमाशय और अन्त्रादिके तरल पदार्थों अर्थात् शक्तियों और जीवनकी अत्यधिक हानि होती है। इसके अतिरिक्त शुष्क अन्नादि रसोंसे हीन होनेके कारण सुगमतासे कण्ठ द्वारा उदरस्थ नहीं किये जासकते। इसीसे घृत, दधि, दूध, छाच या किसी प्रकार अन्य रसों (जैसे रसीले रन्धित शाकादि) की सहायता लेनी पड़ती है या लवण और शर्करा एवं खटाई मुखके जीवन-कोषोंके रसोंसे लार उत्पन्न करके उसके द्वारा कण्ठमें प्रवेश किये जाते हैं। इससे भी अनुभवों द्वारा यह सिद्ध होता है कि वनस्पति वर्गमें विशेषतः अन्नही ऐसा प्रचलित आहार है, जिससे प्रायः चिकित्सकोंकी मूर्खताके कारण, तीव्र-रोगोंमें उपवासके पीछे सेवन करनेपर अनेक रोगियोंको सदाके लिए अपने जीवनसे हाथ धोनेको बाध्य होना पड़ता है। क्योंकि हरे धान्योंके शुष्क होनेमें उनके जीवनके अनेक रासायनिक पदार्थ वायुमण्डलमें लय हो जाते हैं और उनमेंसे अनेकका विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर होकर शरीरपर विषैला प्रभाव पड़ता है, और उनके छिलके और तन्तुओंके काष्ठवत् हो जानेसे शरीरको विश्राम और शक्तियोंकी अपेक्षा परिश्रम और आलस्य प्राप्त होता है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जीवन केवल उन्हीं पदार्थोंसे प्राप्त होता है, जो जीवन-युक्त हैं; और जिनका सुगमतासे रूपान्तर होकर हमारे शरीरमें लय होनेपर रक्त बन सकता है। अतःशुष्क अन्न हरे धान्यकी अपेक्षा जीवनमें कम होनेसे सर्वथा वर्जित है। इसके उपरान्त यहभी यथार्थही है कि हम बहुत कम नाजोंको विना शस्त्र द्वारा, अर्थात् विना कृत्रिम साधनोंके उनके छिल्के या भूसी उतारकर सेवन योग्य बना सकते हैं; और प्रायः सभी नाजोंको उनकी कठोरताके कारण दांतोंसे न चबा सकनेके हेतु जलमें फुलाने तथा अग्नि द्वारा रन्धन करनेकी आवश्यकता होती है।

मसाले, शकर और लवणादि

मसाले, और लवणादि तो किसी प्रकारभी हमारी किसी भोजन श्रेणीमें रक्ख--कर प्राकृतिक नहीं कहे जा सकते। कारण यह कि वह इतने तीक्षण और उत्तेजक हैं कि उनकी तीक्ष्णतासे जीवन-कोपोंके कष्टप्रद वेदनाके साथ खुर्चे जाने या कटनेपर जीवनके रासायनिक पदार्थोंका विसङ्गठन होकर उनसे अधिकताके साथ तरल पदार्थोंका स्राव होने लगता है, और इनकी उत्तेजनासे शरीरके तन्तुओंके उत्तेजित होनेपर रक्त संचारकी गति तीव्र होनेसे आमाशयही नहीं वरन् सर्व शरीरमें तापकी वृद्धि हो जाती है, और मुखमें मसालोंसे बना हुआ भोजन या मसाले सेवन करनेके उपरान्त शरीरके रसोंका स्राव होनेपर ऐसी शुष्कता आजाती है कि उसके कारण भारीपन और कभी, कभी बबूलकी छालके चबानेके सदृश खुर्दरापन प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त शरीरके तरल पदार्थोंका अनुचित स्राव होने, अर्थात् जीवन-शक्तियोंके व्यय होनेसे, यह परिणाम होता है कि मुख, भोजन-तथा श्वांस नाली, आमाशय, यकृत और अन्त्रादिमें दृश्य या अदृश्य घाव होकर दाह होने लगती है, जिससे मुखका स्वाद कसीला हो जाता है, और शरीरमें रसोंके न्यून हो जानेसे अत्यधिक जलकी प्यास प्रतीत होती है। अपरञ्च आमाशयमें चारों ओरके जीवन-कणोंके समूहों द्वारा रसोंके स्रावित तरल पदार्थ एकत्रित होनेसे आरम्भ कालमें एकैक सड़न और विपैली वायु (गैस) उपन्न होती है; और शनैः, शनैः इस सड़नके लुप्त होनेपर उन्हीं विकृत तरल पदार्थोंका मदिरा, आसव या अमल सरीखे तीक्षण पदार्थोंमें रूपान्तर हो, ऐसे तीक्षण विषोंकी उत्पत्तिका हेतु होते हैं, जिनसे केवल गरिष्ठ भोजनोंके पाचनार्थही सहायता नहीं मिलती प्रत्युत यकृत और आमाशय द्वारा रक्तमें सम्मिलित हो शरीरके एक, एक परमाणुमें उनके दूपित बीज-कण पहुंचकर हमारे जीवन-कोपोंको दूपित करके प्रत्येक अवयवको गलाते और क्षीण करते रहते हैं। इसीसे प्रायः मनुष्य ऐसे मिलेंगे जिनको आदिमें साधारण पदार्थभी भूखसे अधिक सेवन करनेपर अजीर्णका हेतु होते थे, किन्तु वह मसा--लेकी तृष्णासे, पाचन शक्तिके निबल होनेका ध्यान न करके निरन्तर अपने भोजनकी मात्रा बढ़ातेही रहे। अन्ततः उनकी पाचन शक्ति न्यून होनेकी अपेक्षा इतनी अधिक होगयी कि पहिलसे चार गुणा भोजन पचाने लगे; और घृत या चर्बीले पदार्थोंकी भी बड़ी, बड़ी मात्राएं उनके आमाशयमें सुगमतासे पचने लगीं। कारण यह कि

प्रायः अजीर्णके उपरान्त अजीर्णको कुपथ्यसे सहायता मिलनेके कारण अमल, मदिरा या तीक्ष्ण विषोंके आमाशयमें उत्पन्न होनेपर उनकी सहायतेसे जो कुछ आमाशयमें पहुंचता है वही पाचनमें आजाता है। परन्तु एक न एक दिन आमाशयमें उत्पन्न हुए हुए उन तीव्र विषोंकी कृपासे, हमारी सब शक्तियां व्यय हो जानेपर सर्व शरीरके निर्बलावस्थाको प्राप्त हो जानेसे आमाशयके जीवन-कण कठोर कार्य करने वाले मनुष्यके हस्त तलकी त्वचामें निर्जीव पड़ी हुई ठेकोंके सदृश कठोर होकर अपने रसोंका स्राव करनेकी शक्तिसे वञ्चित हो जाता है; और तीव्र अमलके जीवोंका पोषण बन्द हो जानेसे उनके निबल और क्षीण होनेपर फिर अजीर्ण बड़े भयङ्कर रूपसे प्रगट होता है।

हम मसालोंमेंसे किसी पदार्थकोभी, अन्य दूषित पदार्थोंके स्वादमें परिवर्तन करनेके अतिरिक्त, केवल उदर पूर्तिके अर्थसे, शरीरके पोषणार्थ सेवन नहीं कर सकते। अतः केवल लवणकी एक छोटीसी डली खानाभी कठिन प्रतीत होता है, वरन् किसी, किसी समय यदि, अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल बलात् सेवनभी किया जाय, तो तुरन्त मुखादिसे अधिक रसोंका स्राव होने और तन्तुओंकी उत्तेजनासे वमन हो जाती है, और ऐसेही केवल शकर खानेसे उसकी तीक्ष्णता द्वारा कण्ठमें दाह होने लगती है, जिससे हम किसीभी ऐसे उत्तेजक पदार्थसे उदरपूर्ति नहीं कर सकते। इसीसे आज पर्यन्त कोई ऐसा मनुष्य नहीं हुआ, जिसने अपने जीवनका निर्वाह केवल लवण, मिर्च, हींग या इलायची पर किया हो। अतः सिद्ध होता है कि कोई भी पदार्थ मसालोंकी जातिसे हमारी उदर पूर्ति न कर सकनेके कारण हमारा आहार नहीं हो सकता। मसालोंको हम केवल स्वाद परिवर्तक (Luxuries) कह सकते हैं। निदान् हमने प्रकृतिकी आज्ञानुसार मसालोंका सेवन मनुष्यके लिए वर्जित रक्खा है।

आयुर्वेदिक वैद्यों और यूनानी हकीमों तथा एलोपैथिक डाक्टरोंने मसालों द्वारा भोजनोंको पचानेकी अनुमति दी है। परन्तु खेदका स्थान है कि उन्होंने हमारे दीन और सुकुमार जीवन-कणोंपर कुछभी दयासे काम न लिया! या यह न विचारा कि इन शूल सरीखे तीक्ष्ण मसालों द्वारा हमारे शरीरके जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रसोंके स्राव होने और इनकी उत्तेजना द्वारा हमारे तन्तुओंके सामर्थ्यसे अधिक परिश्रम करनेपर किस प्रकार हमारी मृत्यु निकट लानेके लिए, हमारा

शरीर अपनी प्राकृतिक चैतन्यता और शक्तियां खो बैठता है ? अन्यथा वह इनके सेवन करनेकी कभी अनुमति न देते !

दूध, दधि, और छाच आदि

दूध, दही और छाच यद्यपि बहुत कुछ रसीले और जीवन युक्त पदार्थ हैं, परन्तु फिरभी हमारे लिए अप्राकृतिक हैं। क्योंकि दूध मनुष्यका आहार केवल उसी समयतक है, जबतक हमको प्रकृति माता दंत प्रदान नहीं करती है, और हम उसे अपनी माताके स्तनों द्वारा प्राप्त करते हैं। तद्उपरान्त अन्याय पूर्वक उन मूक पशुओंसे दूध प्राप्त करना, जो अपने दुःखकी गाथा सुनानेकी शक्ति नहीं रक्खते हैं, जो हमारी जाति और प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न हैं, जो न जाने किस, किस रोगसे पीड़ित हैं, जिनका दूध हमारी माताके दूधकी अपेक्षा बोझमें भारी, गरिष्ठ, और कुस्वादु है, और जिनका दूध थनोंसे निकालते समयसेही वायु आदिके संसर्ग द्वारा उसके जीवनके रासायनिक पदार्थोंका विसङ्गठन होकर वायु मण्डलमें लुप्त होना और उनका विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर होकर विषैला होना आरम्भ हो जाता है, जिसके कारण वह कुपाच्य और रेचक बन जाता है, सर्वथा बुद्धिपर पानी फेर देता है। इसके अतिरिक्त भारत वर्षमें पहिले पशुओंके बच्चोंको थन चोंखाकर थनोंसे दूध निकालनेके हेतु वह औरभी अपवित्र और दोष युक्त हो जाता है। अपरञ्च प्रायः दूध, दही आदिको मिट्टीके पात्रोंमें रक्खनेसे उसके दोषोंमें वृद्धिही होती है। अतः दूधका पीना प्रकृति द्वारा निषेध है। परन्तु क्या किया जाय हमारी मानव जाति जिसके लगभग सभी धर्म स्वार्थपर निरधारित हैं वैसेही दूध वाले जीवोंपरसे अपने अनाधिकारको नहीं हटाना चाहती जैसे प्रभुता दिखलाने वाले शासक प्रकृतिकी सृष्टिका दासत्वसे मुक्त होना नहीं चाहते। अतः यथा शक्ति रोग रहित पशुओंका धारोष्ण दूध पान करना चाहिये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि धान्योंकी अपेक्षा स्वस्थ गौऊका धारोष्ण दूध मनुष्यको जीवन दान करनेके निमित्त कहीं अधिक उत्तम है। क्योंकि वह रसों और जीवनसे परिपूर्ण है। परन्तु खेद है कि हमारे मांसाहारी महात्माओंके पशुओंको इस पृथ्वीसे मिटानेको कटि बद्ध होनेके कारण दूधके दर्शनभी कठिन प्रतीत होते हैं। इसीसे हमारी आयु दिनो दिन घटती चली जा रही है। क्योंकि हमारे शरीरमें जीवनकी

स्थिति रखने वाला रक्त केवल रसीले पदार्थोंसेही अधिक उत्पन्न होता है न कि सूखी रोटियोंसे। और रसीले पदार्थोंमें न फलादि पर्याप्त हैं, न शाकादि मिलते हैं और न वृक्षहीके दर्शन होते हैं। अतः यदि भारतीय जनताको अपना जीवन रखना है तो फल, या शाकादिकी कृषि या दूध पर्याप्त होनेके साधनोंका यथेष्ट प्रयत्न करना चाहिये, अन्यथा भारत भूमिके इन पदार्थोंसे शून्य होनेपर एक दिन जो पारणाम होगा वह बड़ाही भयङ्कर है।

दधि दूधसेभी कहीं अधिक हानि प्रद है। क्योंकि कृत्रिम साधनों द्वारा बनाये हुए और दांतोंको खट्टे प्रतीत होने वाले पदार्थ प्रकृतिसेही हमारे सेवनार्थ नैसर्गिक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त जामनके विषैले बीज कणोंसे जबतक दूधके जीवनके रासायनिक कणोंका हनन न हो अर्थात् विना उसका प्राकृतिक जीवन नष्ट हुए, उससे दही नहीं बनता। अपरञ्च दधिमें दूधकी अपेक्षा जीवन और रसोंके, वायुमण्डलमें लय हो जानेसे, न्यून रह जानेके निमित्त उसमें चिकने पदार्थोंका परिमाण पहिलेकी अपेक्षा अधिक हो जाता है। अतः आमाशयको उसकी चिकनायीके भारीपन और खटाईके तीक्ष्ण गुणोंसे अपने जीवन-कणों द्वारा उसके पाचनार्थ अपने [illegible] पदार्थोंका स्राव करनेका परिश्रम करनेको बाध्य होना पड़ता है, जिससे हमारी अनेक शक्तियां व्यय होतीं और नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। अतः दधिका सेवन वर्जित है। परंतु इतना अवश्य है कि शुष्क पदार्थोंकी अपेक्षा दहीमें हमें जीवन प्रदान करनेकी शक्ति अधिक है।

छाच यद्यपि दहीसेही बनी है, तथापि दहीके सदृश अपने पाचनके हेतु आमाशयिक जीवनकोषोंके रसोंका अधिक स्राव नहीं चाहती। कारण यह कि उसमेंसे घृत निकाल लेनेपर उसकी चिकनायीका भार जाता रहता है और चिकने पदार्थोंकी अपेक्षा जलका अंश अधिक रहता है। परन्तु इसपरभी छाच अपने प्राकृतिक अमल-मय दूषित और तीक्ष्ण गुणोंसे शून्य न होनेके हेतु आमाशयिक जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर करती, और हमारी शक्तियां व्यय करनेके निमित्त दहीके सदृशही हमारे जीवनकणोंको खुरचकर प्रवाहित करके विषैला बनाती है। अतः इसका सेवन यथाशक्ति उचित नहीं।

अनेक चिकित्सकोंका मत है—' छाच आमाशयके दूषित विकारोंको, विषैले जीवोंका नाश करके, निकालती है। ' परन्तु उन महाशयोंने यह विचारनेका कष्ट न

उठाया—जो इतना तीव्र पदार्थ है, जिससे विषैले जीव नष्ट हो जाते हैं, क्या आमाशयिक कोमल जीवन-कोषोंको कुछभी हानि न पहुंचेगी?' हां इतना अवश्य है—जिनको दूध, शाक या फल पर्याप्त नहीं है उनके जीवनका सहारा छाच हो सकती है; क्योंकि छाचके रसीला होनेसे शुष्क पदार्थोंकी अपेक्षा रक्त अधिक बनता है।

घृत, चर्बी, तैल और अण्डे आदि

घृत, चर्बी, तैल और अण्डे आदिमेंसे कोई पदार्थभी हमारी प्रकृतिके अनुकूल नहीं। हम कभीभी अण्डोंके अतिरिक्त उक्त तीनों पदार्थ रस अर्थात् चैतन्यतासे रहित और चिकनायीके कारण भारी (कुपाच्य) होनेसे केवल घृत, चर्बी या तैल सेवन करके विना अन्य पोषक पदार्थोंके जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। अतः उक्त तीनों पदार्थ एक प्रकारके मसालेही हैं। इसीसे इन पदार्थोंको भोजनकी सूचीमें रखना भूल है। घृत, चर्बी, तैल और अण्डे आदि सभी लगभग ऐसे अप्रिय गन्ध वाले होते हैं, कि जवतक इनके सेवन करनेका अभ्यास न किया जाय, या इनमें मसाले तथा अन्नादि सरीखे पदार्थ न मिलाये जायं तो सह्य नहीं होते। इसीसे इनकी गन्धके तीक्ष्ण परमाणु इनके रन्धन करते समय हमारे मस्तिष्कको दुःखी और घृणासे उत्तेजित कर हमारी शक्तियां व्यय करते हैं। अपरञ्च इनके चिकने और रसोंसे शून्य होनेके कारण इनके पाचनार्थ अन्नादि सरीखे शुष्क और मांसादि सरीखे गरिष्ठ पदार्थोंकी अपेक्षाभी आमाशय और अन्त्रादिसे अधिक परिश्रम लेकर उनके जीवन-कोषोंके रासायनिक पदार्थों द्वारा तरल पदार्थोंका स्राव होकर हमारे शरीरके जीवनकी अवधिमें न्यूनता और अनेक व्याधियां उत्पन्न होती हैं, और जितने चिकनायीके पदार्थ सेवन किये जाते हैं, उतनाही शरीर अधिक आलस्यपूर्ण और शिथिल होता जाता है। निदान् ऐसे पदार्थ कभीभी उपयोगी नहीं हो सकते।

प्रायःचिकित्सकोंका मत है—'विना घृतादि सेवन किये मस्तिष्कमें शुष्कता आ जाती है,' इसीसे वह शिर पीड़ाओं आदिमें चिकने पदार्थोंके सेवन या प्रयोगकी अनुमति देते हैं। परन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। क्योंकि शरीरमें शुष्कता होना अप्राकृतिक भोजनों या अन्य साधनों द्वारा उत्पन्न हुए हुए तापसे शरीरके रासायनिक पदार्थोंके जलने या किसी प्रकार व्यय होने अथवा शरीरके पोषणार्थ रसीले पदार्थ न मिलनेसे, रक्त उत्पन्न होनेमें कमी होनेका परिणाम है। अतएव घृत, चर्बी या तैल सरीखे किसी चिकने पदार्थसे जिसका पाचन सुगम न हो और जिससे हमारे

रसोंकी मात्रामें नाम मात्रकी वृद्धि होती हो—किस प्रकार हमारी शुष्कताको लाभ पहुंच सकता है ? हां, इतना अवश्य है कि घृतादिके दुर्तापवाहक गुणसे, जिस प्रकार हस्त तलसे तैल मर्दन करनेपर तीक्ष्ण ज़िमीक़न्द (सोरन) की तीक्ष्णताका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार घृतके प्रयोगसे कुछ कालतक शरीरमें तीक्ष्ण और विषैले पदार्थों या अजीर्ण द्वारा रसोंको शुष्क करनेवाली दाहके उत्पन्न होनेपर उस (घृत) के दुर्तापवाहक गुणसे हमें शुष्कताका ज्ञान कम प्रतीत हो। परन्तु इस प्रकार दोष युक्त दुर्तापवाहक पदार्थों द्वारा शरीरकी शुष्कताके भयसे दाहके दोषोंको रोकने या दमन करनेकी चेष्टा करना और तापके मूल कारणको न खोनाही एक ऐसा हेतु है कि कभी शिरके रोगोंसे पीडित रोगी, निरन्तर घृत सेवन और मर्दन करते हुएभी, शुष्कताके क्लेशसे मुक्त नहीं होता। प्रत्युत हमारा कहना है कि रसहीन चिकने पदार्थोंके सेवन करनेसे, उनमें दुर्तापवाहक गुण होते हुएभी, शरीरमें एक विशेष शुष्कता आजाती है। कारण यह कि चिकने और रसहीन पदार्थोंके पाचनार्थ और उनको अपने समान रसीला करनेके लिए आमाशय और अन्त्रादिको, अपने तरल पदार्थोंका इतना व्यय और परिश्रम करना पड़ता है, कि हमारे आमाशय और अन्त्रादि अति शुष्क होजाते हैं। इसीसे अन्नादि शुष्क पदार्थोंकी अपेक्षा चिकने पदार्थ सेवन करनेसे अन्त्रादिके शुष्क हो जानेपर गुदा द्वारा विष्ठेका त्यागन बड़ी कठिनतासे होता है; और सदा घृत और चर्बी आदि सेवन करने वाले कोष्ठ-बद्धसे पीड़ित रहते हैं। अपरञ्च ऐसे गरिष्ठ पदार्थ सेवन करनेवालोंकी त्वचा रसोंका व्यय हो जानेसे मोटी और कठोर हो जाती है, और स्थान, स्थानके जीवन-कणोंका हनन हो जानेसे, उसमें नारंगीके छिलकेके सदृश छोटे, छोटे गढ़े हो जाते हैं।

शुष्कता केवल उन्हीं रसीले फलोंसे जा सकती है, जिनका रस शरीरके शुष्क हो जानेवाले रसोंकी पूर्ति कर सकता है, न कि घृतादि सरीखे चिकने पदार्थोंसे जो सर्वथा रससे शून्य हैं।

हमारे चिकित्सकोंकी एक और मिथ्या धारणा यह है—'घृत विष-नाशक है।' इसीसे वह धतूरे सरीखे विष सेवन करनेके उपरान्त रोगीको घृतही घृत पान कराते हैं। परन्तु वास्तवमें घृत विष-नाशक नहीं है। प्रत्युत उसकी अधिक मात्रा पान करानेसे पाचनमें न आनेके कारण वमन, विरेचन आरम्भ हो जाते हैं,

जिससे धतूरेके विषका जो अंश आमाशय और अन्त्रादिमें होता है निकल जाता है, और जो अन्य शरीरमें पहुंच जाता है घृतके दुर्तोपवाहक गुणोंसे शरीरपर प्रभाव डालनेको समर्थ नहीं होता (इसीसे जिमीकन्दकी तीक्ष्णतासे हाथोंके प्रभावित न होनेके अर्थसे उसके छीलते समय घृत मर्दन करते हैं)। तदुपरान्त धीरे, धीरे उसके (धतूरे) परमाणु अन्य मादक पदार्थोंके सदृश स्वतःही उड़ जाते हैं। परन्तु चिकने पदार्थोंके प्रयोगसे हमारे जीवन-कोषोंके पोषणार्थ उनतक रासायनिक पदार्थोंके पहुंचनेमें वैसेही कठिनता होती है जैसे तैल लगे हुए वस्त्र द्वारा जल सुगमता पूर्वक नहीं छाना जा सकता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि घृत और चर्बीमें पोषक पदार्थ अधिक हैं। इसीसे धान्यकी अपेक्षा यदि वह पाचनमें आजावें तो, उनसे विष्टेकी मात्रा लगभग शून्यके बनती है। परन्तु उनके पचानेमेंही सारी शक्तियां व्यय हो जाती हैं। अतः ऐसे पदार्थोंका सेवन बुद्धिमत्ता नहीं।

अण्डा यद्यपि हमारा प्राकृतिक आहार नहीं। क्योंकि उसकी गन्ध और विपकहीसे हमको घृणा प्रतीत होती है, और चिकनेपनसे दूधकी अपेक्षा कहीं अधिक कुपाच्य है। परन्तु उसमें पोषक पदार्थ लगभग दूधके समानही हैं। किन्तु उसकी विजातीयताके कारण प्रतिकूल प्रकृति और तीक्ष्णताके दोषभी दूधसे कहीं अधिक हैं। इसके अतिरिक्त उसका भक्षण करना पशुओंसे दूध छीन लेनेसेभी अधिक पाप कर्म है।

मांस

मांसका सेवन प्रथम तो हमारे दन्त और नखही नहीं बताते। क्योंकि हम किसी कुत्ते, बिल्ली या सिंहादिके सदृश अन्य जीवोंको अपने दन्त और नखोंसे चीर-फाड़कर मांस प्राप्त नहीं कर सकते, द्वितीय मांसाहारी जीवोंकी नाईं, किसी जीवको देखकर हमारी लालसा उसको खानेकी नहीं होती। इसीसे हम एक बकरीका बच्चा और एक फल मनुष्यके तीन वर्षके बालकके सन्मुख रक्खदें और इसी प्रकार एक बकरीका मेमना और एक फल सिंहके शिशुके सामने रक्खदें, तो हमारा बालक तो बकरीके मेमनेके साथ क्रीड़ा करने लगेगा और फल खानेके अर्थसे उठालेगा; परन्तु इसके विपरीत सिंहका बच्चा फलकी ओर देखेगाभी नहीं और सीधा बकरीके बच्चेपर चोट करेगा। कारण यह कि हम फलाहारी होनेसे

हीन जीवोंके साथ करुणामय प्रकृति रखते हैं, और इसीका नाम मनुष्यत्व है। परन्तु सिंह मांसाहारी प्रकृति रखता है। अपरंच यदि हम अपनी बुद्धिके विरागसे प्रेम और दयाका हनन करके बुरे स्वभावोंके कारण स्वार्थवश इन सब बातोंकीभी चिन्ता न करें तो मांसमें ऐसी अप्रिय गन्ध होती है, जो तीक्षणसे तीक्षण मसालों द्वाराभी दमन नहीं की जा सकती; और जिससे उत्तेजित होकर तन्तुओंकी सहायतासे हमारी शक्तियां समयसे पूर्व व्यय होती हैं। इसके अतिरिक्त वह इतना कुपाच्य, गरिष्ठ, रस और जीवन हीन तथा वायुके संसर्गसे विषैला होता है, कि उसके भार तथा रसोंकी कमीको पुरा करनेके अर्थसे हमारे आमाशयिक जीवन-कोषोंके रसोंका बहुतायतसे स्राव होनेपरभी भले प्रकार पाचनमें नहीं आता, और अनेक रोगोंका कारण होता है। इसके उपरान्त हमको यह ज्ञान होनाभी बहुत कठिन है कि जिन जीवोंका मांस हम भक्षण करते हैं—वह किसी रोगसे तो पीड़ित नहीं हैं, जिससे उनके रोगोंकी हमारे शरीरमें आनेकी सम्भावना हो। अतः मांस किसी प्रकारभी हमारा आहार नहीं।

निस्सन्देह यदि मांस रसीला, सुपाच्य, जीवनयुक्त और विषहीन एवं प्रिय गन्ध वाला होता तो शुष्क धान्योंकी अपेक्षा कहीं उत्तम होता। क्योंकि मांस का शुष्क धान्योंकी अपेक्षा विशेष कम उत्पन्न होनेसे उनमें पोषक रासायनिक पदार्थोंका अधिक होना सिद्ध होता है।

मादक पदार्थ

मादक पदार्थ तो केवल शोक निवारणार्थही मनुष्यने अपनी गर्वमय बुद्धिके प्रभावसे अपने सेवनार्थ चुनलिये हैं; अन्यथा इसके अतिरिक्त कि उनकी उत्तेजना द्वारा हमारे ज्ञान तन्तुओं तथा स्नायु और रक्तवाहिनी आदि नाड़ियोंसे उनकी शक्तिसे अधिक काम लिया जानेपर, शरीरकी शक्तियां और जीवनका अन्त करनेके साधन किये जायं, अन्य कुछभी लाभ नहीं है। कारण यह, न उनमें प्रिय गन्धही है, न स्वादही है, और न उनसे उदर पूर्ति होकर शरीरका पोषणही होता है। यद्यपि मादक पदार्थोंकी कृत्रिम उत्तेजनासे, जबतक उनका विषैला प्रभाव प्रत्यक्ष रहता है, शरीरमें पहिलेकी अपेक्षा अधिक चैतन्यता प्रतीत होती है; तथापि उनका प्रभाव जानेके उपरान्त, उनकी उत्तेजनाओं द्वारा शक्तियां व्यय होजानेसे, शरीर सर्वथा अचैतन्य और शिथिल प्रतीत होता है; और दिनो

दिन शिथिलता और उनके विषोंके विकारों द्वारा हमारी मृत्युका समय निकट आता रहता है।

इस स्थानपर मनुष्यकी बुद्धिको धिक्कार देते हुए लिखना पड़ता है कि मनुष्य मादक पदार्थों द्वारा अपनेही शरीरपर अपकार नहीं करता, वरन् प्रायः बन्दरों और घोड़ों आदिकोभी मादक पदार्थोंका अभ्यस्त करानेकी चेष्टा करता है। इसके अतिरिक्त हमारी स्त्रियां अपने फूल सरीखे बालकोंका रुदन दमन करनेके हेतु उनको अफ्यून सरीखे मादक पदार्थोंपर डाल देती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि किसी न किसी समय वह अर्श (ववासीर), कोष्ट-बद्ध या अन्य अनेक रोगोंसे पीड़ित और निर्बल हो जाते हैं।

खनिज पदार्थ

खनिज पदार्थोंके सेवन करनेकी प्रथा डालकरभी मनुष्यने अपने शरीरका अपकारही किया है। उनके भारी और कठोरपनसे जो कुछ हमारे जीवन-कोषोंपर बीतती है उसका वही ज्ञान करसकते हैं। इसपरभी आनन्द यह है कि वनस्पति या जन्तु वर्गसे, जो भलेही अति तीक्षण होनेसे विषैले या मादक पदार्थ हैं, हमारा शरीर कुछ न कुछ, चाहे विषैलेही हों, अपने पोषणार्थ उनके रसोंको लेही लेता है। परन्तु इनसे वहभी नहीं। क्योंकि जीवन केवल उन्हीं जीवनके रासायनिक पदार्थोंसे प्राप्त हो सकता है जो शरीरमें लय होसकते हैं; और यह जीवनसे सर्वथा वञ्चित हैं। किन्तु यदि वैज्ञानिकोंकी, मानव जातिका, नाश करने वाली बुद्धि रसायन विद्याके अनुचित उपयोगसे इनको हमारे शरीरमें लय करनेका प्रयत्नभी करे तो इनके भारीपनसे हमारे शरीरका उसी प्रकार नाश होता है जैसे लोहेका पहिया काष्ठके धुरेमें लगानेसे। क्योंकि कोई रसायन शास्त्रका पण्डित इनके प्राकृतिक बोझके परिमाणको हलका नहीं कर सकता।

खनिज पदार्थोंका हमारे कोमल शरीरपर यही प्रभाव होता है कि इनके भारीपनकी उत्तेजनासे उसमें कृत्रिम चैतन्यता तथा प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। परन्तु इस प्रकार शरीरकी शक्तियां और रसोंके व्यय होनेसे शरीरकी इन्द्रियोंको समयसे पूर्व शिथिल कर बैठना मतिमान मनुष्योंका काम नहीं। अतः खनिज पदार्थोंमेंसे कोईभी सेवनार्थ नहीं।

रन्धन

रन्धन क्रियाका आविष्कार करनेकी मनुष्यको तभीसे आवश्यकता हुई जबसे उसने अप्राकृतिक अर्थात् मानवीय प्रकृतिके विपरीत पदार्थोंका सेवन करना आरम्भ किया और उसकी वृद्धिके प्रभावने सभ्यताकी ओर प्रवाह किया। कारण यह कि रन्धनसे प्रत्येक वनस्पति या जन्तु वर्गके पदार्थोंके जीवनके रासायनिक परमाणुओंकी, त्वचा फट जाने और उनके जीवनके रासायनिक पदार्थों तथा तत्वोंका विसङ्गठन होनेपर अनेक अंश वायु मण्डलमें लय हो जानेसे उन (जीवनके रासायनिक पदार्थ और तत्व) की मात्रामें अन्तर आजानेसे उन (रासायनिक परमाणु) की जीवन शक्तियोंमें न्यूनता हो जाती है, जिससे उनकी अप्रिय और तीक्षण गन्ध एवं स्वाद न्यून या प्रायः लुप्त हो जाता है; किन्तु इस प्रकार रन्धन द्वारा उनके अनेक सूक्ष्म अंश वायु मण्डलमें लय हो जानेसे काष्ठवत् तन्तुओं तथा खनिज पदार्थोंकी मात्राका परिमाण अधिक हो जाता है। अतएव रन्धित पदार्थ रस, स्वाद एवं गन्ध आदिके परमाणुओंकी क्षतिसे पहिलेकी अपेक्षा योगमें हलके प्रतीत होते हैं, परन्तु खनिज पदार्थोंकी मात्राका परिमाण अधिक हो जानेसे गरिष्ठ हो जाते हैं। इसीसे उर्द, मूंग आदिकी हींकमय गन्धमें न्यूनता और जिमीकन्द (सूरन), अर्वी (घुईया) की तीक्षणतामें ऐसी कमी हो जाती है कि उसका ज्ञान करना बहुधा दुर्लभ हो जाता है; परन्तु इसपरभी वह दूषित पदार्थ अपने दोषोंसे सर्वथा वञ्चित न होनेके कारण विना अपकार किये नहीं रह सकते। क्योंकि यदि रन्धन द्वारा पदार्थोंके दोष निर्वीर्य हो जाया करते तो रेचक पदार्थोंको भूनने या उबालनेसे उनमें कुछभी तीक्षणताका प्रभाव न रहता; इसके अतिरिक्त यदि रन्धन क्रिया द्वारा पदार्थोंकी वास्तविक प्रकृतिमें परिवर्तन हो जानेसे उनके गुण लुप्त हो जाया करते तो प्रत्येक पदार्थ रन्धनके उपरान्त समान गुणका हो जाया करता। परन्तु ऐसा नहीं है, वरन् प्रत्येक पदार्थ (औषधि) का काढ़ा और फोक रन्धनसे पीछेभी अपना गुण भिन्नही रखता है। अतः सिद्ध होता है कि रन्धन क्रियाको काममें लानेपर भी पदार्थोंके प्राकृतिक दोष कुछ न्यून होनेके अतिरिक्त सर्वथा नहीं मिट सकते; प्रत्युत रन्धन द्वारा वह जीवन हीन और गरिष्ठ हो जाते हैं। इसीसे विष्ठा अग्नि द्वारा रन्धन करनेसे पवित्र नहीं हो सकता; वरन् औरभी दूषित हो जाता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि रन्धन द्वारा प्रत्येक पदार्थकी प्राकृतिक गन्ध यदि स्वाद आदि कुछ न कुछ कम हो जाते हैं। परन्तु इसपरभी हम यह न किये प्रस्तुत हैं, कि रन्धनसे कभी, कभी उसका स्वाद और गन्ध पहिलेके उनमेंसे अधिक दोषयुक्त हो जाता है। कारण यह कि प्रत्येक पदार्थका जितना केये हुए संसर्ग कराया जाता है, उतनाही अग्नि द्वारा उत्पादित कार्बन (विपैला गैस) क. कीटभी होकर उसके कटु स्वादसे पदार्थोंके स्वादमें एक विचित्र अन्तर होनेके कारण उसकी कटुता उनके वास्तविक स्वादका अनुभव करनेमें हमारी ज्ञानेन्द्रियोंको उसी प्रकार धोखा देती है, जिस प्रकार कड़वे, मीठे, चर्परे और नमकीन मसाले दूसरे दूषित पदार्थोंके दोषोंका दमन करके हमको उसका ज्ञान करनेमें असमर्थ कर देते हैं। परन्तु यह धोखाभी उसीकी ज्ञानेन्द्रियोंको होता है, जिसने उन्हें बलात् रन्धित कृत्रिम पदार्थोंका अभ्यस्त कराया है। इसीसे भुने हुए नाज चबाने वालोंको उसी प्रकार उनकी भक देनेवाली गन्धसे अप्रियता प्रतीत नहीं होती, जिस प्रकार सिग्रेट पीनेवालेको उसके विपैले धुएंकी कटुतासे घृणा नहीं होती।

अपरञ्च संसारमें यहभी मिथ्या धारणाही है—रन्धित किये हुए पदार्थोंको सुपाच्य कहा जाता है। रन्धन द्वारा प्रत्येक पदार्थ अग्निके झुलसानेवाले प्रभावसे रसों और अनेक पदार्थोंके जलनेपर उनका वायुमण्डलमें लय हो जानेके लिए रूपान्तर हो जानेके कारण उनसे रसोंके च्युत होने और खनिज पदार्थोंके परिमाणकी मात्रामें पहिलेकी अपेक्षा वृद्धि हो जानेपर उनके (रन्धित पदार्थ) स्थूल हो जानेसे पहिलेसे अधिक स्थायी (कुपाच्य) हो जाते हैं। क्योंकि जितने खनिज और स्थूल पदार्थ हैं वह पाचनमें नहीं आया करते। पाचनमें केवल वही पदार्थ आया करते हैं जिनका आमाशय द्वारा रक्तमें रूपान्तर हो सकता है। परन्तु वह पदार्थ जिनका हमारे रसोंमें परिवर्त्तन नहीं हो सकता कदापि पाचन योग्य नहीं हैं। इसीसे अग्निके संसर्ग द्वारा प्रत्येक पदार्थ जितना जलकर भस्म रूप हो जाता है उतनी है उससे परिवर्त्तन शक्ति विदा हो लेती है, और उस भस्मको सेवन करके हम उसी प्रकार उसको पाचनमें लाकर उससे रक्त या जीवनके रासायनिक पदार्थ प्राप्त नहीं कर सकते जिस प्रकार पत्थर खानेसे हमारे शरीरको कुछ लब्ध नहीं होता। अतः अग्नि द्वारा रन्धन करनेसे जिस पदार्थमें उसके रूपान्तर होनेकी शक्ति जिस परिमाणसे न्यून हो जाय उतनाही उसे

मिला चाहिये। इसके अतिरिक्त रन्धनसे प्रत्येक पदार्थ यदि कार्बनका जाय तो विषैला हो जाता है; और रसोंके शुष्क होनेपर उसके स्थूल होनेसे काष्ठवत् कठोर हो जानेके कारण उसके घर्षण द्वारा गुर्दे आते और के हुए हुए रसोंकी पूर्ति करनेके निमित्त हमारे जीवन-कोषोंके रसोंका करना ? त्राव और उनके जीवनका नाश होकर विकृत अंशोंमें रूपान्तर होनेपर व्याधियोंकी उत्पत्तिका हेतु होता है। इसीसे भुने हुए पदार्थों द्वारा, उन मनुष्योंके भी, जो उनके अभ्यस्त हो चुके हैं, और जिनके आमाशय एवं अन्त्रादि जीवन-कोषोंकी निर्जीवितासे कठोर हो गयी हैं, (आमाशय और अन्त्रादि में) घाव हो जाते हैं। इसके उपरान्त, जो पदार्थ जितने कम सुपाच्य और जितने अधिक कठोर हो जाते हैं उनसे शरीरका उतनाही कम पोषण होता है। कारण यह कि सुपाच्य पदार्थ जितने शीघ्र पाचनमें आते हैं उनका उतनेही अल्प समयमें रक्तमें रूपान्तर होकर शरीरके पोषणार्थ उसी प्रकार व्यय रसोंकी पूर्ति होती रहती है जिस प्रकार जितनी अधिक रसवाली ईख होती है उसको पेलनेसे उतनेही शीघ्र रसका पात्र भर जाता है; और जैसे उस भरे हुए पात्रके स्थानमें तुरन्तही अन्य पात्र रक्खे देते हैं, वैसेही तत्काल भूखका ज्ञान होने लगता है: और फिर वही क्रम निरन्तर रहता है। किन्तु जितने अधिक कुपाच्य पदार्थ होते हैं, उनसे उतनेही अधिक समयमें रक्त बननेके कारण हमारे शरीरके रसोंकी पूर्ति उसी प्रकार विलम्बसे होती है जिस प्रकार जितनी रस हीन ईख होती है उसको पेलनेसे उतनेही अधिक कालमें रसका पात्र भरता है; और जैसे उसके स्थानमें दूसरा पात्र रखनेके निमित्त अधिक रस-वाली ईखकी अपेक्षा विलम्ब होता है, वैसेही गरिष्ठ पदार्थोंके सेवनसे सुपाच्य पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक समयमें भूखका ज्ञान होता है। अतः गरिष्ठ पदार्थोंके सेवनसे हमारे शरीरके पोषणको बड़ी क्षति पहुंचती है। निदान् जिस रन्धन क्रिया द्वारा हमारे भोज्य पदार्थ जीवनसे च्युत और गरिष्ठ हो जाते हैं काममें लाना भूल है।

रन्धन द्वारा केवल उन्हीं पदार्थोंमें शीघ्र परिवर्तन हो सकते हैं, जो या तो स्वयं रसीले हैं, या जिनका रन्धन जलकी सहायतासे किया गया है। कारण यह कि रन्धनके उपरान्त अग्निके तीक्ष्ण प्रभावसे पदार्थोंके परमाणुओंकी त्वचा फटनेपर उनमें जलकी उपस्थिति और वायुके संसर्ग द्वारा उनका रूपान्तर होकर

लमें लय होना आरम्भ हो जाता है । इसीसे रन्धित पदार्थ यदि
तो शीघ्र सड़ते हैं । किन्तु यदि रन्धित और विना रन्धन किये
कार शुष्क कर लिया जाय कि वह सड़ने न पायं, तो उनमेंसे
हो जानेके कारण जीवन-शक्तिकी न्यूनतासे विना रन्धन किये हुए
धिक स्थायी होते हैं, और उनमें घुन या गिंडार आदि कीटभी
विलम्बसे जन्म लेते हैं; जिसका एक मात्र कारण जीवनका
इसके अतिरिक्त धान्यादिके रन्धित वीर्यसे, जीवनके रासायनिक
कर रूपान्तर होनेके कारण, कभीभी अङ्कुर नहीं फूटते ।
वाले आलू या शकर-कन्दके सदृश पदार्थ विना जलकी सहायताके
भूने जाते हैं वह तोरी या कद्दू (घिया) सरीखे उन रसयुक्त पदार्थोंकी अपेक्षा, जो विना जलके उन्हींके अनुसार भूने गये हों, रसोंकी न्यूनताके कारण, अधिक स्थायी होते हैं । इसीसे भुने चने, या घृत द्वारा रन्धित पकवान महीनोंतक घुनना और सड़ना नहीं जानते । किन्तु आलू सरीखे पदार्थ रसोंकी न्यूनता होनेपरभी जलसे रहित शुष्क चनोंकी अपेक्षा विना जलकी सहायताके भूननेपरभी शीघ्र सड़ जाते हैं । निदान् शुष्क या कम रस वाले पदार्थ विना जल द्वारा रन्धित, जल द्वारा रन्धित पदार्थोंकी अपेक्षा कहीं अधिक गरिष्ठ होते हैं । अतएव उनका सेवन करना सर्वथा वर्जित है ।

हमारे रसायन शास्त्रके पण्डितोंकाभी कथन है—पदार्थोंको अधिक अग्नि द्वारा ताप पहुंचनेसे उनसे साल्युबिल नम्बर बी० निकल जाता है, जिससे शरीरके पोषण करनेवाले पदार्थोंकी क्षति हो जाती है । इसीसे डिब्बोंमें आये हुए विदेशी दूध (Condensed milk) सेवन करनेसे बालकोंकी अस्थियां निर्बलताके कारण टेढ़ी हो जाती हैं; क्योंकि उस दूधको बनानेमें अग्निका बहुत प्रभाव पड़नेसे उसके जीवनके रासायनिक पदार्थोंका रूपान्तर होनेपर, वह वायु मण्डलमें लय हो जाते हैं ।

सारांश यह है—भोज्य पदार्थोंपर जितना अग्निका प्रभाव पड़ता है, उतनेही वह जीवन-शक्तियोंसे रहित, स्थायी और गरिष्ट हो जाते हैं; और कार्बन मिश्रण होनेपर विषैले और कटु हो जाते हैं । इसीसे वाष्प (भापका चूल्हा अर्थात् कुकर) द्वारा रन्धित पदार्थ अग्निसे उबले या सिके और भुने हुए पदार्थोंकी अपेक्षा सुपाच्य होते हैं । परन्तु इसपरभी वह विना रन्धित पदार्थोंकी अपेक्षा जीवन हीन होते हैं ।

आमाशय किन पदार्थोंसे शीघ्र एवं अधिक पोषण करता है ?

जो पदार्थ हम सेवन करते हैं, उनका रसोंमें परिवर्तनकर यकृत आदिकी सहायतासे रक्त तथा आवश्यक पदार्थोंमें रूपान्तर करके शरीरमें लय करनेपर वीत शक्तियोंको पूरा करनाही आमाशय और अन्त्रादिका धर्म है । अर्थात् आमाशय और अन्त्रादिका कर्त्तव्य हमारे प्रत्येक भोज्य पदार्थको रसरूप करके शरीरमें भेजनेका है । क्योंकि जबतक किसी पदार्थका रसोंमें परिवर्त्तन न हो और वह रस आमाशय और अन्त्रादिकी भीतोंके अदृश्य छिद्रों द्वारा रिसकर (छनकर) यकृत और नाड़ियों से चूसा जाकर रक्तादिके रूपमें शरीरमें न लय हो तब तक हमारा पोषण नहीं कर सकता । इसीसे वह पदार्थ जिनका आमाशय और अन्त्रादि रसोंमें परिवर्त्तन न कर सकें तो, शरीरमें उसके पोषणार्थ लय नहीं होते । जैसे—बिना क्षार, अमल (तेज़ाब) या तीक्ष्ण पदार्थों द्वारा द्रव रूपमें परिवर्त्तित किये हुए यदि हम एक चांदीका टुकड़ा निगललें, तो उसमें जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी शून्यतासे जीवनके रासायनिक पदार्थोंके सदृश उसमें हमारे रसोंमें घुलने वाली शक्ति न होनेके कारण वह शक्कर या गेहूंके आटेके समान, जो कि सर्वथा या अंशतः घुलनेवाले पदार्थ हैं, हमारे आमाशयके पाचन-रसोंको सोककर उन्हें खींचने और अपनेमें सम्मिलित करनेकी प्रकृति न होनेके हेतु, पाचनमें नहीं आता ।

पाचनमें केवल वही पदार्थ आ सकते हैं जो शक्करके सदृश हमारे रसोंमें घुलकर द्रव रूप हो उन्हींके समान हो जाते हैं, और जो आमाशयमें घुल नहीं सकते या मिट्टीकी नाईं घुलना जानते हैं (अर्थात् जो जलमें डालनेसे हिलानेपर घुल जाते हैं और रख देनेपर फिर नीचे बैठकर पृथक हो जाते हैं), पाचनमें नहीं आसकते । फलतः जितने अधिक घुलनेवाले पदार्थ होंगे उनके पाचनमें आनेसे उतनाही अधिक रक्त और रस बनेगा और उसी परिमाणसे उतनाही कम विष्ठा उत्पन्न होगा; जबकि जितने कम घुलनेवाले पदार्थ होंगे उनसे उतनीही कम रक्त और रसोंकी उत्पत्ति होगी, और उसी परिमाणसे उतनाही अधिक विष्ठा बनेगा । इसीसे मिट्टी या पत्थर आदि सेवन करनेसे रसों या रक्तके बननेकी अपेक्षा सब मिट्टी या पत्थर शरीरसे प्राय ज्योंके त्यों निकल जाते हैं; क्योंकि उक्त पदार्थ जीवनके रासायनिक पदार्थों

और घुलनेवाले गुणोंसे अधिकांश शून्य हैं; और अनार खानेसे रक्त और रसोंके उत्पन्न होनेकी मात्राका परिमाण विष्ठेकी अपेक्षा अधिक होता है। निदान् आमाशयका आहार केवल उन्हीं जीवनमय रासायनिक पदार्थोंका होना चाहिये जिनका हमारे रसोंके साथ घुलकर सुगमतासे हमारे रसोंमें परिवर्त्तन हो सकता है। प्रत्युत अच्छा तो यह है कि उसको रसीले पदार्थोंका आहारही देना चाहिये। क्योंकि जितने रसीले पदार्थ होते हैं, उनके पाचनार्थ आमाशयको उतनाही कम परिश्रम करना पड़ता है, और जितने शुष्क तथा रसहीन एवं काष्ठवत् तन्तुओंसे सङ्गठित पदार्थ होते हैं, उनके पाचनार्थ, उनको तरल रूप देनेके लिए, आमाशयादिको अपने जीवन-कोषोंसे उतनाही रसोंका स्राव करनेका कष्ट भोगनेको बाध्य होना पड़ता है; और इसपरभी उनके स्थूल (खनिज पदार्थ) तथा तन्तुओं (रेशों) द्वारा सङ्गठित पदार्थोंके कारण रसोंकी अपेक्षा विष्ठेकी अधिक उत्पत्ति होती है। कारण यह कि रसहीन पदार्थोंको घोलकर रसयुक्त अर्थात द्रवरूप देनेके निमित्त, जैसे शकरको रसीला करनेके लिए जल मिश्रणकी आवश्यकता होती है, वैसेही आमाशय और मुखको उसी समयसे, जब कि हम शुष्क पदार्थोंका ग्रास मुंहमें देते हैं, अपने जीवन-कणोंसे रसोंका स्राव इस लिए करना पड़ता है, कि आमाशयमें शुष्क पदार्थ पहुंचकर अपनेको रसीला करनेके हेतु, बलात् इस प्रकार उसके तरल जीवन-कोषोंकी लार द्वारा उससे रसोंको छीन कर अपनेमें सम्मिलित कर लेते हैं, जिस प्रकार जलके भरे हुए पात्रमें शकरको डली डालनेसे वह जलको सोककर अपनेमें मिला लेती है। फलतः जितने अधिक रसहीन पदार्थ होते हैं वह घुलकर रसोंमें परिवर्त्तित किये जानेके लिए उतनाही अधिक आमाशय एवं मुखादिके कोमल तरल जीवन-कोषों द्वारा स्रावित द्रव पदार्थोंको सोकनेकी चेष्टा करते हैं, अर्थात् स्राव किये हुए तरल पदार्थ जो आमाशयकी शक्तियां हैं उनको व्यय करते और आमाशयके दुःख और परिश्रमका कारण होते हैं; और जितने रसीले एवं स्थूलता और तन्तुओंसे हीन पदार्थ होते हैं, स्वतः ही रसयुक्त होनेसे, उनका शारीरिक रसोंमें रूपान्तर करनेके निमित्त, उतनेही परिमाणसे कम कष्ट होनेके कारण, उतनाही कम आमाशयसे उसके तरल, पदार्थोंका स्राव होता है, अर्थात् उन (रसीले पदार्थ) को आमाशयसे केवल उतनीही मात्रामें आवश्यक पाचन द्रव पदार्थोंकी आवश्यकता होती है, जितनी उनके पाचनार्थ आवश्यक है; और उनके लिए उन अनावश्यक तरल-

पदार्थोंके स्रावकी आवश्यकता नहीं होती, जितनी शुष्क पदार्थोंको जलकी हीनताके कारण जो अपने द्रवोंकी कमीको तरल और कोमल जीवन-कणोके रसों द्वार पूरा करनेके हेतु आमाशयकी शक्तियोंका व्यय करके होती है। निदान् रसीले पदार्थोंके सेवनसे शुष्क पदार्थोंकी अपेक्षा आमाशयकी शक्तियोंका बहुतही कम व्यय होता है; और इसीसे उन (रसीले पदार्थ) के पाचनार्थ उसे परिश्रमभी बहुतही कम करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रसीले पदार्थ इस लिए शीघ्र पाचनमें आते हैं कि वह आमाशयमें प्रवेश किये जानेसे पूर्वही रसरूप होते हैं; और शुष्क पदार्थोंका आमाशयके भीतर पहुंचकर आमाशयिक और मौखिक रसोंकी सहायतासे रसोंमें रूपान्तर होना आरम्भ होता है, जिसके लिए रसीले पदार्थोंकी अपेक्षा अवश्य कुछ न कुछ अधिक समय लगता है। अतएव रसयुक्त पदार्थोंकी अपेक्षा रसहीन पदार्थोंसे रक्तादि बननेमें विलम्ब होता है और भूखभी बहुत विलम्बसे प्रतीत होती है। निदान् शुष्क या रस हीन पदार्थोंकी अपेक्षा रसीले पदार्थ शीघ्र पाचनमें आजानेसे शीघ्र रक्त बननेके कारण, उसी प्रकार जैसे अधिक रसीली ईखमें कम रसवाली ईखकी अपेक्षा एक दिनमें बहुत रस निकलता, अधिक रक्तकी उत्पत्ति और हमारा पोषण होता है। अपरञ्च जितने रसीले पदार्थ (अंगूर, अनार आदि) होते हैं उनमे स्थूल पदार्थों और तन्तुओं (रेशों) का अश उसी परिमाणसे कम होता है और जितने रस हीन या शुष्क पदार्थ (केला, अमरूद या शुष्क गेंहू, चना, मक्का, आदि) होते हैं उनमें स्थूल पदार्थों और तन्तुओकी मात्राका परिमाण उतनाही अधिक होता है। इसीसे रसीले पदार्थोंका रक्त अधिक बनता है और रस हीन पदार्थोंसे विष्टेकी अधिक उत्पत्ति होती है; क्योंकि रसों द्वारा उनका हमारे रसोंमें रूपान्तर होनेपर रक्तादि बनते हैं, और स्थूल पदार्थों तथा तन्तुओंका हमारे आमाशय द्वारा हमारे रसोंमें रूपान्तर न होनेसे केवल विष्टाही उत्पन्न होता है। अतः हमारे शरीरका रसों द्वारा अधिक पोषण करनेवाले केवल जीवनके रासायनिक पदार्थोंसे सङ्गठित रसीले फलही हैं; और विष्टेकी अधिक मात्रा उत्पन्न करनेवाले स्थूल एवं तन्तुमय पदार्थही हैं।

हमारे रसायन शास्त्रकारोंने अपनी अलौकिक बुद्धि और निरन्तर परिश्रमसे यद्यपि उन पदार्थोंकोभी रस रूप देनेके निमित्त तीक्ष्ण पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो साधारण जल या हमारी आमाशयिक रासायनिक क्रियाओं द्वारा हमारे रसोंके साथ घुलने वाले नहीं हैं, तथापि ऐसे न घुलने वाले पदार्थोंसे तीक्ष्ण

रासायानिक क्रियाओं द्वारा द्रव रूप दिये जानेपरभी उनके स्थूल और अप्राकृतिक होनेसे, हितकी आशा करना अद्योपान्त मूर्खता है। क्योंकि जिन तीक्ष्ण रासायनिक पदार्थोंसे चांदी, सोना या पत्थर आदि द्रवरूप बनाये जा सकते हैं, उनसे हमारे फूल सरीखे आमाशय और शरीरपर जो अपकार हो सकता है, उसको मतिमान् स्वयं विचार सकते हैं। इसके अतिरिक्त द्रव रूप देनेपरभी चांदी, सोने आदिका भारीपन कम नहीं होता; जिससे अपने असह्य भारी बोझके कारण हमारे ज्ञान तन्तुओं और नाड़ियोंके बलात् उत्तेजित होनेपर अनावश्यक प्रतिक्रियाके हेतु, वह हमारी शक्तियां व्यय करके समयसे पूर्व हमको शिथिल और हमारे जीवन-भण्डारका अन्त करना चाहते हैं। इसीसे उनके सेवम करनेका परिणाम ठीक वैसाही है, जैसे मदिरा पान करनेसे उसके मदमें आवश्यकतासे अधिक उत्तेजना प्रतीत होती है, परन्तु मदका प्रभाव जानेके उपरान्त शरीर सर्वथा शिथिल प्रतीत होता है। इससे आगे उक्त पदार्थोंको चाहे कितनाही सूक्ष्म द्रवरूप दे दिया जाय परन्तु हमारे जीवन-कणोंको बिना दुःख दिये नहीं रहते; और वैसेही हमारे शरीरको हानि पहुंचाते हैं जैसे काष्ठके धुरेको लोहेका पहिया शीघ्र अपने बोझसे काट देता है। इसीसे धातुओंकी अधिक मात्रा सेवन कर जानेपर वह भयङ्कर रूपसे शरीरमें फूट निकलती हैं। निदान् जहां हम इन रसायन शास्त्र वेताओंके अद्भुत उद्योग और माथा पचीकी प्रशन्सा करते हैं—अप्राकृतिक पदार्थोंको धींगा-धींगी वृथा प्राकृतिक बनानेकी चेष्टाकरके—मनुष्यके शरीपर अपकार करनेका कलङ्कभी इन्हींके माथे लगाना पड़ता है।

हमको, यदि कुछभी बुद्धि है, यद्यपि पशु बुद्धिसेभी गयी बीती है, तो, **प्रकृति मातासे** पाठ लेकर उन रसायन शास्त्रकारोंकी आकाश-पातालकी मिलाने वाली बातोंमें न आना चाहिये, जो अंशतः या सर्वथा उन कठोर पदार्थोंको, जिनको साधारण जल या आमाशयिक रासायनिक क्रिया द्वारा हमारा शरीर नहीं घोल सकता है, अपनी कुशलतासे रासायानिक पदार्थों द्वारा द्रव रूप देकर हमारे शरीरमें लय करके उसे लोह समान पुष्ट करनेके प्रलोभन देते और वृथा लाभकी डींग मारते हैं। ऐसे खनिज या स्थूल पदार्थोंसे शरीर और आमाशयको हानिकी अपेक्षा लाभकी कोई आशा न रखनी चाहिये। निदान् यदि हम आमाशय और अन्त्रा-

दिकी सहायतासे अपने शरीरका पोषण करना चाहते हैं, तो केवल उन्हीं पदार्थोंको सेवन करना चाहिये, जिनका विना किसी कृत्रिम रासायनिक क्रियाके केवल आमाशयिक रसायनसे घुलकर रक्त और शरीरके रसोंमें रूपान्तर हो सकता है। प्रत्युत उचित तो यह है—हमारे भोजनमें ऐसे रस युक्त पदार्थ हों जो रसीले होनेसे आमाशयको अपने (पदार्थ) घोले जाने और रसोंमें रूपान्तर किये जानेका कष्ट न देकर उसकी शक्तियोंका वृथा व्यय न करें। क्योंकि लाभकी आशा केवल उन्हीं पदार्थोंसे हो सकती है, जिनसे हमारे आमाशय और जीवन-कणोंको सुख प्राप्त हो। अतः हमारा धर्म है—आमाशय और अन्त्रादि, जिनपर हमारा जीवन निर्भर है, को रसायनके अपूर्व पण्डितोंके विज्ञान विपरीत प्रलोभनोंमें आकार, कष्ट देनेवाले पदार्थोंकी आखेट न करके उनकी रक्षार्थ उनसे पृथक रहें; अन्यथा स्मरण रहे एक दिन पश्चातापके अतिरिक्त कुछ हाथ न लगेगा।

हमारे चिकित्सक प्रायः धातुओं आदिकी भस्मकी सहायतासे अधिकाधिक घृत, चर्बी या मांसादिका पाचन कराते हैं, जिससे हम अत्यल्प समयमें हृष्ट, पुष्ट दीखने लगते हैं। क्योंकि खनिज पदार्थोंके बोझका परिमाण, हमारे शरीरकी अपेक्षा अधिक होनेसे उनकेही तीक्ष्ण गुणों द्वारा हमारे अमाशयिक तरल जीवन-कणोंके रसीले पदार्थोंका इतनी अधिकतासे स्राव होता है कि आमाशय और अन्त्रादिमें बहुतही शीघ्र शुष्कता आजानेसे उनमे चिकने या रसीले पदार्थोंकी अधिक मात्रा पहुंचनेपरभी वह तुरन्त उनको ऐसेही सोक लेती हैं जैसे शुष्क काष्ठ या चाम तैलको पी लेते हैं, या शरीरमें रक्त सञ्चारकी गतिमें वृद्धि हो जानेसे ताप बढ़ जानेके कारण वह शरीरमें पहुंचतेही भस्म होने लगते हैं। किन्तु जीवन-कणोंसे इसपर रसोंका अधिक स्राव होनेपर आमाशयकी भींत ऐसेही निर्जीव हो जाती है जैसे हाथसे कठोर कार्य करनेसे छालों द्वारा जीवनके रसोंका स्राव होकर हमारे हस्त तलकी त्वचा जीवन हीन हो जाती है; और फिर आमाशयसे रसोंका स्राव करनेके निमित्त धातुओंका प्रयोगभी वैसेही असफल होता है जैसे हाथकी गद्दियोंकी निर्जीव त्वचामें सुई चुभानेसे रक्त प्रवाहित नहीं होता। अतः ऐसी दशामें आमाशयसे भोजनोंके पाचनार्थ रसोंका स्राव करनेके निमित्त वैसेही अधिक तीक्ष्ण पदार्थोंके प्रयोग करनेको बाध्य होना पड़ता है, जैसे निर्जीव त्वचाकी हस्त तलसे रक्त निकालनेको सुईकी अपेक्षा तीव्र शस्त्रकी आवश्यकता होती है। अपरञ्च आमाशयमें

उसके रसोंके अधिक स्रावोंसे वायुके संसर्ग द्वारा विषैले अमल उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी सहायतासे चिकने पदार्थों द्वारा शरीर उसी खर्बूजेके सदृश फूलने लगता है, जो प्रकृतिके विपरीत तीक्ष्ण खाद्योंकी कृत्रिम सहायतासे वोया जानेके कारण परिमाणसे अधिक बड़ा होनेपर जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी न्यूनतासे स्वादमें मीठेसे वञ्चित होता है। सारांश यह है कि धातुओं सरीखे तीक्ष्ण पदार्थों द्वारा शरीरमें चिकने पदार्थ पहुंचानेसे हमारे शरीरके फूलनेपरभी वह जीवनके रासायनिक पदार्थोंसे हीन रहनेके हेतु वास्तविक जीवनसे रहित रहता है। इसीसे कुछ काल तक ही हम उनके प्रयोगसे भारी शरीरवाले बनते दीखते हैं, परन्तु अन्ततः हमको सारी जीवन-शक्तियोंके व्यय और अमाशयके कर्त्तव्य हीन होनेपर सदाको जीवनसे दुःखी होना पड़ता है; क्योंकि फिर हमारे विद्वान् चिकित्सक हमारे शरीरको कर्तव्य-हीन अमाशयके स्थानमें स्वस्थ अमाशय नही दे सकते। इसके अतिरिक्त लगभग सभी धातुएं अपने बोझके परिमाणके अनुसार इतनी तीक्ष्ण प्रत्युत अग्निरूप सिद्ध होती हैं कि उनके प्रयोगके उपरान्त चर्बी या घृत सरीखे दुर्तापवाहक पदार्थ सेवन करनेपरभी बहुधा उनका प्रभाव नहीं रुकता, और वह बड़ी तीव्र गतिसे हमारे जीवन-कणोंको नष्ट-भ्रष्ट करके उनको दग्ध और प्रदाहित करनेसे शरीरका विच्छेद करके फूट निकलती हैं। अतः उनके प्रलोभनमें न आकर आमाशयको केवल उन्ही रसीले और अनुत्तेजक फलोंका आहार देना चाहिये, जो हमारे निमित्त प्राकृतिक हैं, और जिनमें विष्टादि उत्पन्न करनेवाले स्थूल और काष्ठवत् तन्तुओंके पदार्थोंकी न्यूनता है, एवं जिनमें रसोंकी अधिकता होनेसे, बिना हमारे शरीरकी अनुचित शक्तियोंका व्यय हुए शीघ्र और अधिक रक्तादिकी उत्पत्ति होकर हमारे शरीरका पोषण होता है।

मनुष्यका भोजन क्या है ?

इससे पूर्व हम रोगोंकी उत्पत्तिके हेतुओं तथा प्रत्येक जातिके पदार्थोंकी अपनी प्रकृतिसे अनुकूलता और प्रतिकूलताका ज्ञान करनेके निमित्त, ज्ञानेन्द्रियोंकी व्याख्या करते हुए उनके और प्रकृतिके गूढ़ सम्बन्धका विस्तृत कथनसे भी अधिक कर चुके हैं। प्रत्युत एक, एक बातको कई, कई स्थानपर लिखा है।

इसके अतिरिक्त आमाशयके विषयमेंभी आवश्यकतासे अधिक लिख चुके हैं। अतः यह समझना—**मनुष्यका भोजन क्या है?**—कुछ कठिन समस्या नहीं।

भोजनकी शरीरको तभी आवश्यकता होती है, जबकि हमारे शरीरकी इच्छित और अनिच्छित क्रियाओं द्वारा उसके उन जीवनके रासायनिक पदार्थोंका व्यय होने-पर, जिनके द्वारा उसके जीवनका अस्तित्व होता है, क्षीण हो जाते हैं। अतः सदा वह भोजन होना चाहिये, जो हमारे शरीरको सुख तथा शान्ति प्रदान करने और चैतन्यता लानेवाला एवं बीत जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी पूर्ति करने वाला हो, और जो अनिवार्य उत्तेजनाके अतिरिक्त अनावश्यक उत्तेजना द्वारा रसोंका व्यय या अपने पाच-नार्थ आमाशयके अनावश्यक तरल पदार्थोंका स्राव न करे। वह फल जो शुष्क या कम रस वाले हैं, या मुर्झा और कुम्हलाकर अचैतन्य हो गये हैं स्थूल और तन्तुओंके पदर्थोंकी मात्राका परिमाण अधिक हो जानेसे कदापि हमारे शरीरपर विना अपकार किये नहीं रह सकते। क्योंकि यह प्रत्यक्ष है—स्थूल और तन्तुमय पदार्थोंसे रसोंकी अपेक्षा विष्ठा अधिक उत्पन्न होता है, और जितने रसहीन, शुष्क, कठोर या कुम्हलाये हुए फल होते हैं, उतनेही वह जीवन शक्ति या जीवनके रासायनिक पदार्थोंसे वञ्चित होते हैं। इसीसे सदा जितने रससे परिपूर्ण और चैतन्य फल होते हैं उतनीही अधिक उनमें जीवन शक्ति या वह जीवनके रासायनिक पदार्थ होते हैं, जिनके पदार्थोंका अधिकांश हमारे रसोंमें रूपान्तर हो हमारे शरीरके पोपणार्थ उसमें लय हो जाता है। इसके अतिरिक्त रसहीन, अचैतन्य और कठोर पदार्थोंकी स्थूलता और तन्तुओंकी अधिकताके कारण उनकी घर्षणताके तीक्षण प्रभावसे, मौखिक तथा आमाशयिक जीवन-कोषोंसे अनुचित और सामर्थसे अधिक हमारे रसोंके स्राव करनेका परिश्रम लिया जानेके कारण नाड़ियों और तन्तुओंमें अनावश्यक उत्तेजना होनेसे सर्व शरीरकी, उसके प्रदाहित होनेपर शक्तियां व्यय होती हैं; और हमारे सर्व शरी-रमें विशेषतः मुख, कण्ठ, और अन्त्रादिमें दृश्य या अदृश्य घाव हो जाते हैं। इसीसे हमारे जीवन-कणों द्वारा रसोंका अनुचित स्राव होता है। यह बात भले प्रकार स्मरण रखनी चाहिये—यदि किसी पदार्थके प्रयोगसे दुःखी होकर नेत्रों द्वारा जल प्रवा-हित होता है तो अवश्य नेत्रोंमें दृश्य या अदृश्य घाव हो जाते हैं, और यदि किसी तीक्षण पदार्थके मसूड़ोंपर लगानेसे लारका स्राव होता है तो निस्सन्देह मसूड़ोंमें दृश्य या अदृश्य घाव हो जाते हैं। अपरञ्च उपरोक्त पदार्थोंसे आमाशय द्वारा जो रस

हमारा शरीर ग्रहण करता है, वह उन पदार्थोंकी स्थूलताके कारण, रसयुक्त चैतन्य और कोमल तन्तुओंवाले फलोंकी अपेक्षा अधिक स्थूल या भारी होनेसे, शरीरके जिस, जिस अङ्गमें प्रवाह करता है उसीके जीवन-कणोंको अपने घर्षण द्वारा दुःखका हेतु होता है। निदान् यदि हम अपनी प्रत्येक समयकी इच्छित और अनिच्छित क्रियाओं द्वारा क्षीण हुए हुए जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी भोजनों द्वारा पूर्ति करना चाहते हैं, तो केवल वही रस भरे अपनी ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रकृतिके अनुकूल फल सेवन करने चाहियें, जिनके कोमल होनेसे उनमें अधिक विष्टा उत्पन्न करनेवाले स्थूल और तन्तुओंके पदार्थोंकी मात्रा कम है, और जिनकी कोमलतासे मुख, आमाशय और अन्त्रादिमें ऐसा घर्षण न हो, जो हमारे जीवन-कोषोंसे उनकी शक्तिके बाहर रसोंका स्राव हो, और जिनके स्थूल और तन्तुमय होनेसे रसोंकी अपेक्षा विष्टेकी उत्पत्ति अधिक हो। अर्थात् जिनके रस युक्त और जीवनके सूक्ष्म रासायनिक पदार्थोंसे सङ्गठित होनेपर हमारे आमाशयिक जीवन-कणोंको उनके पाचनार्थ अपने अनावश्यक रसोंका स्राव करनेका दुःख नहीं भोगना पड़ता, और जिनसे विष्टेकी अपेक्षा अधिकाधिक रसोंकी उत्पत्ति होती है। अतः सिद्ध होता है कि भोजन मात्रका केवल एक यही अर्थ है—वह हमारे क्षति पूर्ण एवं अचैतन्य जीवन कोषोंको, अपने रासायनिक पदार्थोंका हमारे रसोंमें रूपान्तर होनेपर चैतन्यता तथा नवजीवन प्रदान करता रहे, न कि हमारे जीवन-कणोंके नष्ट-भ्रष्ट और उनकी शक्तियोंको क्षीण करके दुःख, आलस्य, शिथिलता, एवं अचैतन्यता या मूर्छाका हेतु हो। किन्तु प्रकृतिके राज्यमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो सर्वथा दोषोंसे शून्य हो। सूक्ष्माति सूक्ष्म कोमल जीवन-कणोंसे सङ्गठित फलभी हमारी ज्ञानेन्द्रियोंके प्रतिकूल कुछ न कुछ तीक्ष्ण एवं उत्तेजक होनेसे दोष युक्त प्रतीत होते हैं; और न बिना उनके कुछ न कुछ अनिवार्य तीक्ष्ण और उत्तेजक गुण होते हुए हमारा शरीर ही उनसे अपने जीवनके रासायनिक पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है, क्योंकि जबतक किसी पदार्थ द्वारा उत्तेजना नहीं होती आमाशय अनुत्तेजित रहनेसे उसी प्रकार अपना कर्तव्य पालन नहीं करता जिस प्रकार मूत्राशयमें यथेष्ट मूत्र एकत्र न होनेके कारण मूत्रके भारीपनकी उत्तेजनाका ज्ञान न होनेसे मूत्र नाली उसको त्यागनेके अर्थसे अपना द्वार खोलनेका काम नहीं करती। किन्तु प्रत्येक पदार्थकी उस अनिवार्य तीक्ष्णता या उत्तेजनासेभी हमारे जीवनका बहुतही सूक्ष्म रूपसे अन्त होता रहता

है; और अन्तमें एक दिन हम मृत्युका ग्रास बन जाते हैं। यह दुसरी बात है कि जिन पदार्थोंकी उत्तेजना सूक्ष्म है उनके सेवनसे अधिक उत्तेजक पदार्थोंकी अपेक्षा हमारा शरीर दीर्घायु होकर विना कष्टके प्राकृतिक मृत्युको प्राप्त होता है। क्योंकि प्रकृतिका नियम है कि प्रत्येक पदार्थका विकास होना और फिर पतन होकर, उन्हीं पतन हुए हुए पदार्थोंका दुसरे पदार्थोंमें रूपान्तर होकर अन्य पदार्थोंका विकास होना। अतः इसी प्रकार विकास और पतनका क्रम निरन्तर जारी रहता है। या यों कहना चाहिये कि प्रकृति जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी एक नियत मात्रासे उसी प्रकार क्रीड़ा करके कभी वनस्पति वर्गकी किसी जातिकी अधिक उत्पत्ति और कभी किसीका नाश करती है, या वैसेही कभी जिन्तु वर्गमें किसी जातिकी वृद्धि और कभी किसीका हनन करती है। जैसे एक सुवर्णकार सुवर्णकी एक नियत मात्रासे कभी कड़ा बनाता है और कभी उसको तोड़कर फिर उसी सुवर्णसे किसी अन्य आभूषणकी रचना करता है, निदान् ज्ञानेन्द्रियोंके ज्ञान द्वारा हमारी रक्षा करते हुए भी प्रकृतिने हमारे उत्तमोत्तम आहारमेंभी अनिवार्य उत्तेजना करके ऐसा साधन रक्खा है कि प्रत्येक समय हमारे शरीरके जीवनके अंशोंमें कुछ न कुछ न्यूनता होती रहती है। क्योंकि यदि हमारे भोज्य पदार्थोंको अनिवार्य सूक्ष्म उत्तेजनासेभी वञ्चित रक्खा जाता तो कभी युगान्तर नहीं होता और यह नश्वर संसार अमर हो जाता। परन्तु ऐसी दशामें प्रकृतिकी परिमित मात्राके रासायनिक पदार्थोंका जगतकी रचनामें व्यय हो जानेसे आगेको उसी प्रकार सृष्टिकी रचना बन्द हो जाती जिस प्रकार सुवर्णकी एक नियत मात्रा रखनेवाले सुवर्णकार द्वारा उस सारे सुवर्णके कड़े बनानेपर जबतक उनको न तोड़ा जावे तबतक अन्य आभूषणका बनना बन्द हो जाता है। अपरञ्च संसारके नश्वर न रहनेपर सृष्टिके नित्यके साथ पदार्थोंका व्यय होते, होतेभी एक दिन अवश्य उनका अन्त हो जाय, और उनके अन्त होनेपर पोषक पदार्थोंके न मिलनेसे जगतका अमर होते हुए भी प्राणान्त हो जावे; और उसके साथही साथ प्रकृतिकी सारी क्रीड़ाओंकाभी इति हो जावे। अतएव प्रकृतिने अपनी क्रीड़ाओंका अन्त न होनेके निमित्त ऐसे पदार्थोंकी रचना की है जिनके द्वारा विकास और पतनका क्रम निरन्तर जारी रहता है। इसीसे जो पदार्थ हमारे शरीरका विकास करनेके निमित्त उसका पोषण करते हैं उन्हींके द्वारा उनके कुछ न कुछ दोष युक्त और अनिवार्य उत्तेजक होनेसे वैसेही

हमको धीरे धीरे सूक्ष्म और अनुभवसे परे हानि पहुंचती रहती है, जैसे वर्षा, सूर्य और वायु द्वारा वृक्षोंका विकास होता है, किन्तु उससे कुछ न कुछ उनकी छाल तथा शरीर गलकर या रसोंके शुष्क होनेके कारण उसके पदार्थोंका रूपान्तर हो निर्जीव होती रहती है; और अन्ततः उसका पतन या नाश होनेपर वृक्षका अन्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा उदाहरण यह है—कोई दुर्गन्धित वस्त्र यदि सूर्यके तापमें दुर्गन्ध रहित होनेके लाभके अर्थसे रक्ख दिया जाय तो निस्सन्देह दुर्गन्धसे वञ्चित हो जाता है; परन्तु साथही साथ कुछ जीर्णभी हो जाता है। इसीसे निरन्तर सूर्यके तापमें रक्खा हुआ वस्त्र समयसे पूर्व जीर्ण हो जाता है, या जो मनुष्य सूर्यके तापमें अधिक समयतक कार्य करते हैं उनके वदन और हस्तोंके नग्न रहनेसे ऋतुप्रभाव (Weather beaten) द्वारा उनके वर्णमें अन्तर आजाता है। और ऐसेही जो भोजन हम करते हैं उससे हमारे शरीरके पोषणार्थ रसोंकी उत्पत्ति होनेके अतिरिक्त हमारे मुख और आमाशयके तरल पदार्थोंका स्राव होने और उनके पाचनार्थ एवं उनका बोझ सहन करनेके परिश्रमसे, प्रतिक्रियाकी उत्पत्ति द्वारा कुछ न कुछ शक्तियोंका व्यय अर्थात् हमारा पतन होताही है। फलतः इस जगतमें, उसके नश्वर अर्थात् परिवर्त्तनशील होनेसे, एक ओरसे सभी पदार्थ दूषित हैं। किन्तु कुछ पदार्थ ऐसे अवश्य हैं जो अनिवार्य सूक्ष्म दोष युक्त होनेसे अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा हमारे शरीरको दीर्घायु करते हैं। ऐसे दीर्घायु करनेवाले पदार्थोंमें जो सर्वोत्तम हैं हमारे अनुभवमें अवतक केवल वेदाना या मस्कती अनारही आया है। क्योंकि रससे परिपूर्ण मस्कती अनारके जीवन-कण सूक्ष्म पदार्थों और कोमल तन्तुओं द्वारा सङ्गठित होनेके कारण अन्य फलोंके जीवन-कोषोंकी अपेक्षा सुपाच्य, वहुत कम उत्तेजक, रसोंकी वृद्धि और विष्ठा कम उत्पन्न करनेवाला है। इसीसे हमारे मुख द्वारा सेवन किये हुए अनारका रस आमाशयमें पहुंचनेपर विना उससे रसोंका अनावश्यक स्राव करने एवं अपने हलके बोझके कारण विना उसके अनावश्यक भारके उठानेका परिश्रम तथा अनावश्यक प्रतिक्रिया द्वारा उसकी शक्तियोंके व्यय होनेका कष्ट दिये अन्य फलोंकी अपेक्षा शीघ्र पाचनमें आकर हमारे शरीरके पोषणार्थ अधिकाधिक रसोंकी उत्पत्ति करता है; जब कि स्थूल फलोंको उनके पाचनार्थ उनके तरल रूप देनेके निमित्त—उनमें रसोंकी न्यूनतासे—आमाशयको अपने अनावश्यक रसोंका स्राव करनेके लिए अनुचित परिश्रम करके अपनी शक्तियोंका कुव्यय करनेको वाध्य होना पड़ता है, और फिर

भी उनसे अनारके सदृश हमारे रसोंकी बहुत कम उत्पत्ति होती है। कारण यह कि हमारे शरीरका पोषण करनेवाले रसीले जीवनमय पदार्थोंको आमाशय केवल उन्हीं पदार्थोंसे अधिक प्राप्त कर सकता है, जिनके जीवनके रासायनिक पदार्थोंमें तन्तुओं और स्थूल पदार्थोंकी अपेक्षा रसीले और सूक्ष्म पदार्थ अधिकांश हैं। क्योंकि आमाशयकी भीतके अदृश्य छिद्रों द्वारा यकृतसे केवल सूक्ष्म और रसीले पदार्थही चूंसे जाकर शरीरके पोषणार्थ उसमें लय किये जासकते हैं। इसीसे स्थूल पदार्थ अपनी स्थूलता अर्थात् मोटेपन और जलकी न्यूनताके हेतु, आमाशयसे यकृत द्वारा चूंसे जाकर वैसेही शीघ्र और सुगमता पूर्वक हमारे रसोंमें परिवर्तित होकर शरीरमें लय नहीं होते, जैसे थोड़ी शकर घुले हुए जल-(शर्बत) की अपेक्षा मधु किसी खद्दरके वस्त्रमें सरलतासे नहीं छाना जा सकता। अतएव हमारे आमाशय द्वारा प्रत्येक समय प्रत्येक पदार्थका यथाशक्ति सूक्ष्म रसोंमें रूपान्तर करनेकी चेष्टा करके यकृतसे चुंसवाकर शरीरके पोषणार्थ उसके प्रत्येक भागमें भेजनेके हेतु, सर्वोत्तम वह रसीले, सूक्ष्म और कोमल तन्तुओंवाले फल हैं, जिनका रसोंमें रूपान्तर करनेके निमित्त आमाशयको अनावश्यक प्रयत्न नहीं करने पड़ते।

अनार सरीखे सूक्ष्म रस और कोमल तन्तुओंवाले पदार्थ शीघ्रतासे यकृत द्वारा चूंसे जानेपर उनका हमारे रक्तादि रसोंमें रूपान्तर हो शरीरके पोषणार्थ सब स्थानोंमें पहुंचकर उसी प्रकार लय हो जाते हैं, जिस प्रकार डाक्टर हेनेमनकी आविष्कृत होम्यो-पैथिक विज्ञानकी सूक्ष्म औषधियां आमाशय द्वारा तीव्र गतिसे शरीरमें लय हो जाती हैं। किन्तु स्थूल (मोटे कणोंसे सङ्गठित) या भारी (गाढ़े) रस वाले पदार्थ, वैसेही शरीरमें विलम्बसे, और अपनी स्थूलताके हेतु हानि पहुंचाते हुए, लय होते हैं, जैसे ऐलो-पैथिक चिकित्सा शास्त्रकी स्थूल और भारी औषधियां आमाशयादिमें दाह और घाव करती हुई बहुत काल पीछे गात्रमें लय होती हैं। कारण यह कि स्थूल औषधियोंको शरीरमें लय करनेके हेतु आमाशयको उनका तरल पदार्थोंमें रूपान्तर करनेमें विलम्ब होता है, और स्थूल पदार्थोंसे आमाशयमें दाह और घाव इसलिए होते हैं कि स्थूल रूपमें प्रत्येक पदार्थकी तीक्ष्ण शक्ति, उसीके सूक्ष्म किये जानेकी अपेक्षा अधिक रहती है। इसीसे यदि हम एक तोला लवण उसके वास्तविक रूपमें सेवन करें तो उस दो तोले नमककी अपेक्षा, जो एक सेर जलमें मिश्रण करके सूक्ष्म कर लिया गया है, अधिक कष्टप्रद प्रतीत

होगा। अतः हम डाक्टर हेनेमनकी इस बातसे बहुतही सहमत हैं—जितने सूक्ष्म पदार्थ होंगे उतनेही शीघ्र वह शरीरमें लय होंगे, और उनसे उतनीही कम हानि होगी। फलतः इसीसे हम अनारको अति सूक्ष्म होनेके कारण बड़ी तीव्र गतिसे रक्तादिमे परिवर्तित होकर शरीरमें लय होके, उसका अधिक पोषण करनेवाला कहते हैं। प्रत्युत यह कहना भी अनुचित न होगा, कि अनारही एक ऐसा सुपाच्य पदार्थ है जो इधर खाते जायिये और उधर शरीरमें लय होता चला जाय; और जिससे अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा शीघ्र भूखका ज्ञान हो। जैसा हम ऊपर कथन कर चुके हैं, इस भूमण्डलपर सब पदार्थ दोष युक्त हैं—अनारभी सूक्ष्म अनिवार्य दोषोंसे शून्य नहीं है, परन्तु वास्तवमें अनार—अनारही है। उसकी प्रशंसामें किसीने क्याही अच्छा कहा है—एक अनार और सौ बीमार। निदान् हमारे आहारमें केवल अनारही एक ऐसा पदार्थ हो सकता है, जो अन्य फलोंकी अपेक्षा अति सूक्ष्म रस (जिस रसमें स्थूल पदार्थोंकी अपेक्षा जलकी मात्रा अधिक हो) वाला होनेसे, हमारे इच्छित और अनिच्छित काम-काज या रहन-सहनादि द्वारा क्षति पाये हुए जीवन-कोषोंको अपने अमृतमय रसोंसे उनके रसोंमें रूपान्तर होकर शीघ्र और अधिक चैतन्यता एवं नवजीवन प्रदान करता है। क्योंकि यह अनेक बार कथन किया जा चुका है—प्रकृतिके उत्पन्न किये हुए और हमारी प्रकृतिके अनुकूल उन्हीं फलोंसे हमारे शरीरके रसोंकी उतनीही उत्पत्ति होती है, जितने वह सूक्ष्म और रसीले (पतले) पदार्थों द्वारा सङ्गठित होनेसे जितना कम विष्टा त्यागनेको बाध्य करते हैं। अतः हमारे अनुभवसे ऐसे फलोंमें अनारही सब पदार्थोंसे कम हानि पहुंचानेवाला और सबसे अधिक रसोंकी वृद्धि करनेवाला और सूक्ष्म रासायनिक पदार्थोंसे सङ्गठित है। कारण यह कि इसके कोमल और सूक्ष्म तन्तुओंके कारण दांतोंसे दबातेही रस हो जाता है, और बीज तथा दोनोंके छिल्केका फोक थूक देनेपर आमाशयमें पहुंचकर अङ्गूरके सदृश स्थूल (गाढ़ा) रसवाले पदार्थोंकी अपेक्षा हमारे रसोंमें अपनी सूक्ष्मतासे यकृत द्वारा सरलतापूर्वक चूंसे जानेपर उसका शीघ्र रूपान्तर हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसके सूक्ष्म बोझसे गाढ़े या स्थूल रसवाले पदार्थोंकी अपेक्षा आमाशयको बहुतही अल्प मात्रामें ऐसा सूक्ष्म ज्ञान होता है जो प्राय प्रतीतही नहीं होता। अपरञ्च अनारकी सूक्ष्म प्रकृतिसेही स्थूल पदार्थोंकी न्यूनताके कारण उसके मिठासकी उत्तेजना अङ्गूर, शहतूत या गन्नेके रसकी अपेक्षा अति सूक्ष्म प्रतीत होनेसे अन्य फलोंके

समान हानिकी संभावना नहीं होती । इससे आगे यदि हम अनेक फलोंका रस लेकर एकही मात्रामें किसी पात्रमें भरकर जलावे तो सबमे कम अनारके सूक्ष्म होनेसे उसके रसकी भस्म होगी । निदान् हमको शरीरके क्षति पूर्ण तथा अचैतन्य जीवन-कोषोंमें चैतन्यता और नवजीवन लाने एवं गयी हुई शक्तियोंको यथा. शक्ति पूरा करनेके निमित्त अनार या उसके सरीखे जीवनके रासायनिक सूक्ष्म. पदार्थोंसे सङ्गठित रसीले, चैतन्य और अनुत्तेजक फलोंकोही शीघ्र पाचनार्थ. अपना आहार बनाना चाहिये । किन्तु केवल अनारपरही मनुष्यका निर्वाह नहीं हो सकता । क्योंकि प्रथम तो इस युगमें स्वतःही मनुष्य द्वारा नाश होनेसे उसकी कृषिमें न्यूनता है, दूसरे भारतमें सैकड़ों वर्षसे विदेशियोंके अन्याय पूर्ण और स्वार्थमय शासनने हमारी अस्थियोंसे तैल निकालनेमेंभी कोई बात उठा नहीं रक्खी है, जिससे हमारी आर्थिक दशा अनार सेवन करने योग्य नहीं रही, तीसरे बारह-महीने अनारपर निर्वाह करना प्रकृतिकेभी विपरीत है, क्योंकि प्रत्येक ऋतुमें उसके अनुसार अनेक प्रकारके फलोंको मन किया करता है, जिससे मन द्वारा प्रकृतिकी आज्ञापरभी उन फलोंको सेवन न किया जाय तो हमारा शरीर अनेक प्रकारके रासायनिक सूक्ष्म और स्थूल पदार्थोंसे वञ्चित रहता है। अतः यदि हम रोगी नहीं हैं तो—अनार, अङ्गूर, शहतूत, काशमीरी नाशपाती, माल्टा, संगतरा, नारंगी, लोकाट, गन्ना, लखनवी खर्बूजा, लीची, मीठानीबू, शरीफा, चीकू, स्ट्रॉबेरी इत्यादि, इत्यादि सरीखे इन्हींके सदृश अपनी रुचिके अनुसार कोमल फलोंका आहार करके जीवन निर्वाह कर सकते हैं । किन्तु इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि उपरोक्त या अन्य जातिके फलोंमेंसे जिस फलकी जाति हमारी ज्ञानेन्द्रियोंको जितनी उत्तेजक, तीक्ष्ण, कष्टप्रद, अचैतन्यता लानेवाली, और ग्लानि युक्त या अन्य किसी प्रकार असह्य और दूषित प्रतीत हो अर्थात् जिससे जितनी अरुचि प्रगट हो, उसे यथा शक्ति उतनाही कम सेवन करना चाहिये । क्योंकि हम पहिलेही कथन कर चुके हैं—खट्टे या कठोर जिनसे दांतोंको कष्ट हो, या मसूढ़े या मुखमें छिलकर दृश्य या अदृश्य घाव हो, या जो अधिक मीठी जातिके होनेके कारण कण्ठादिमें दाह (जलन) करें, या अधिक फीके अर्थात् स्वाद रहित होनेसे, रासायनिक पदार्थोंसे शून्यताके कारण, जिनका शरीरमें रूपान्तर न होसके, या सूर्य एवं उष्ण वायुके तापसे चैतन्यता रहित हो गये हों, या बासी होनेसे दुर्गन्ध युक्त.

और विषैले तथा जीवनसे हीन हो गये हों, या अन्य किसी दोषसे घृणित प्रतीत होते हों तो उनका सेवन करना प्रकृतिसेही वर्जित है।

उपरोक्त या अन्य फलोंमेंसे अनारको छोड़कर सभी फल ऐसे हैं जो आरोग्य मनुष्योंके अतिरिक्त प्रत्येक रोगीको नहीं दिये जा सकते। अतः प्रत्येक रोगीको चाहिये—इस पुस्तकमें जिस स्थानपर रोगोंकी चिकित्सा और उनसे पीड़ित रोगियोंके आहारका कथन किया गया है उसके या अपने उस चिकित्सक द्वारा, जो हमारी चिकित्सा प्रणालीमे दक्ष हो, अपने खाद्य पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करे, अन्यथा वह रोगपर विजयी न होगा।

पशु आदिभी चैतन्य तथा नवजीवित पदार्थोंके मिलते हुए शुष्क और चैतन्यता रहित पदार्थोंका स्पर्श नहीं करते। इसीसे एक बैल जिसको नित्य सूखा चारा दिया जाता है, यदि वर्षा ऋतुमें कुछ दिनभी हरी, कोमल, नवजीवित दूब (घास) या अन्य कोई धान्यकी जातिकी रस युक्त घास भोजनार्थ प्राप्त होती है, तो वह सूखे चारेको सूंघनेकीभी इच्छा नहीं करता। इसके अतिरिक्त यहभी प्रत्यक्षही है कि नवजीवित, हरे एवं रसमय चारेमे जितना वह वलवान, चैतन्य और सुन्दर हो जाता है, उतना शुष्क पदार्थोंसे नहीं होता; प्रत्युत इसके प्रतिकूल जितना सूखा चारा सेवन करता है, उतनाही निर्बल होने लगता है; और जितनी हरी घास सेवन करनेसे एक गाय दूध देती है उतना सूखी घासका आहार करनेसे कभी नहीं दे सकती। फिर न जाने क्यों मनुष्य-देवता, जो अपनेको संसारभरका स्वामी समझते हैं, सूखे रसहीन, कठोर तथा वर्षों पर्यन्त खत्तियोंमें गड़े हुए विषैले और आलस्य देनेवाले धान्य, मेवा, शाक और मांसादिकोही अपना प्रिय भोजन बनाये हुए हैं ?

वह पदार्थ जो चैतन्यताके स्थानमें आलस्यका हेतु होता है, या हमारे शरीरको नवजीवन प्रदान करनेकी अपेक्षा क्षीण करता है, या सुखको छोड़ दुःखका कारण होता है, या तरुणताको त्याग वृद्धावस्थाका हेतु होता है, अर्थात् जिससे दुःखी होकर हमारी ज्ञानेन्द्रियां उसमें दोष पाती हैं, और जिससे हमको अरुचि होती है, उसे भोजनके नामसे पुकारना—केवल एक मिथ्या धारणा है! ऐसे पदार्थोंको तो विष या हमारे जीवन-कणों, प्रत्युत हमारी जातिके हन्ताके नामसे सम्बोधन करनाही उचित होगा।

प्रकृति माताने हमें ज्ञानेन्द्रियां या शुभ सूचक यन्त्र इसी हेतु दिये हैं—जैसे हम

अपने जीवन सम्बन्धी अन्य कार्योंके विषयमें जान सकते हैं, उसी प्रकार अपने सेवनार्थ खाद्य और अखाद्य पदार्थोंका ज्ञान कर सकें । परन्तु इसपरभी यह समस्या कुछ कठिन प्रतीत हो तो पूर्व कथित और निम्न लिखित बातोंपर ध्यान देना चाहियेः—

मनुष्यका प्राकृतिक आहार केवल वह चैतन्य, नवजीवित, तत्क्षण वृक्षसे प्राप्त किये हुए रस युक्त और सूक्ष्म (पतले रस और कोमल, अदृश्य तन्तुओंवाले) फल हैं जो नासिका, जिह्वा, ओष्ठ, दन्त, नख, कण्ठ, नेत्र और हस्तादिको घृणित, कष्ट प्रद और मुख, भोजन नाली, आमाशय, यकृत और अन्त्रादिके रसोंका स्राव या उनके द्वारा वमन, विरेचन करनेको बाध्य नहीं करते, और जिनको बिना अग्नि, मसाले एवं घृतादिकी कृत्रिम सहायता लिये उदर-पूर्तिके हेतु सेवन कर सकते हैं । कोईभी वह फल जिसके सेवनसे चैतन्यता और नवजीवन प्राप्त नहीं होता, वरन् किसी प्रकार आलस्य, तीक्ष्णता, अनावश्यक उत्तेजना और भारीपन ज्ञात होता है, या जिसके सूंघनेमें अपवित्र, तीक्ष्ण, उत्तेजक या हीकमय गन्ध आती है, या जिसके खाते समय अथवा उसके उपरान्त जिह्वाका स्वाद बिगड़ता, उसपर छाले या घाव प्रतीत होते या वह खुर्दरी हो जाती, या सन्सनाहट, अथवा किसी प्रकारकी तीक्षणता प्रतीत होती, या मुखका स्वाद खारी, कड़वा, कसीला या भारी हो जाता या जीवन-कोषोंके रसोंका अनावश्यक स्राव होकर मुखमें लार एकत्रित हो जाती, या जिसका दूध ओष्टोंपर चिपकता, या उनपर छाले उत्पन्न कर देता, या जो दांतोंमें अटकता, या चबानेमें कष्टप्रद, कठोर और किंकिरा प्रतीत होता, जिससे कभी, कभी फुरेरीका ज्ञान होता, या जिसकी खटाईके कारण दांतोंको दुःख होता, या जो कण्ठमें अटकनेसे धसका और फन्दा लगाता, या चर्परा या अति मीठा होनेसे दाह (ख़राश) करता, या जो नेत्रोंको देखनेमें अप्रिय, या जो स्पर्श करनेमें घृणित हो, या जिसको हमारे नख और दन्त मिलकरभी बिना किसी अन्य शस्त्रकी सहायताके न चीर सकते हों, कदापि हमारे सेवनार्थ नहीं हैं ।

इस चक्राकारपर मानव जाति सर्व जातियोंमें उच्चतम गिनी जाति है । इसीसे हमारा भोजनभी सर्वोत्तम होना चाहिये । सर्वोत्तम भोजन फलोंको छोड़ संसारमें कोईभी अन्य पदार्थ नहीं है । कारण यह नाज, शाक और मांसादि बिना कृत्रिम रीतिसे बनाये हुए, अर्थात् बिना भूने, उबाले और घृत, तैल या अन्य उत्तेजक

पदार्थों-(मसालें) को सम्मिलित किये, हमको प्रिय, सुस्वादिष्ट तथा चैतन्यता लाने वाले प्रतीत नहीं होते। इसीसे अन्न एवं शाकादिको अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल होते हुएभी बलात् सेवन करनेके हेतु, रन्धन क्रियाका आविष्कार किया गया है। परन्तु जिस प्रकार कुरूपा स्त्री बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंकोभी लजाती है, उसी प्रकार इन अप्राकृतिक पदार्थोंका ढङ्ग है; जबकि अनुकूल प्रकृतिवाले फलोंको बिना किसी कृत्रिम साधनके, उनके वास्तविक रूपमें जैसे वृक्षसे प्राप्त हों, और जैसे प्रकृति आज्ञा दे, सेवन कर सकते हैं। क्योंकिः—

हुस्न जिनकी सूरतोंसे, है बरसता खुदबखुद,
ज़ेवरोंकी, ज़ीनतें सब, उनको 'कर्नल' हेच हैं।

अपरञ्च यदि हम अपनेको म[illegible] जातिके मान-गर्वित नामसे पुकारनेका साहस रक्खते हैं, तो फलोंमेंभी, अपनी ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे, अनिवार्य विकारोंके अतिरिक्त अनुचित दोषोंको खोजकर उनके परित्यागकी आवश्यकता है। क्योंकि कोई वनवासी पशु, पक्षी आदि अपनी प्रकृतिके विपरीत कोई पदार्थ सेवन नहीं करता। इसीसे नित्य अनुभवमें आता है कि वृक्षोंपर बैठे हुए पक्षी किसीभी फलको जिसमें तनिकभी दोष होता है, केवल एक, दो बार कुतरकरही त्याग देते हैं; और तुरन्त अन्य किसी दोषरहित फलकी खोजमें लग जाते हैं। परन्तु मनुष्य देवता अपनी बुद्धिपर गर्व करते हुएभी सड़े-गले, अस्वादिष्ट, अपवित्र, तीक्षण या हींकमय गन्धयुक्त, किसी प्रकार उत्तेजक या तीक्षण, कठोर, भारी और सर्वथा अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल गुण रक्खनेवाले फलोंको तो क्या छोड़ेंगे ? इन्होंने तो संसारमें खाद्याखाद्य किसी वर्गका पदार्थ त्यागाही नहीं! कड़वे, कसीले, खारी, खट्टे, कठोर, विषैले, शुष्क, ग्लानियुक्त (जगत भरके अपवित्र) हमारी प्रकृतिके विपरीत अभक्ष पदार्थोंको, केवल अपनी बुद्धिकी चंचलतापर गर्व करनेके हेतु, भक्ष बनानेका प्रयत्न किया है। परन्तु देखा जाय तो यह सब निर्मूल है, और केवल अपने शरीरपर अपकार करना और मानव जातिकी बुद्धिपर कालिमा लगाना है। अतएव फलोंमेंभी इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे देखना चाहियेः—

जैसे—केला यद्यपि अति मीठा फल है, तथापि मनुष्यकी प्रकृतिके विपरीत है। कारण यह कि वह रस और चैतन्यताकी कमी तथा तन्तुओं एवं स्थूल और तीक्षण पदार्थों द्वारा सङ्गठित होनेसे छुवारे या बबूलकी छालके सदृश कुछ न कुछ कसीला

तीक्ष्ण स्वाद प्रकट करता है, जिससे मुख रूखा प्रतीत होता, आमाशयको उसका बोझ दुःखप्रद जान पड़ता, और आमाशयिक जीवन-कोषोंसे उसके रसोंकी कमीकी पूर्तिके हेतु तथा पाचनार्थ अपने तरल पदार्थोंका अनावश्यक स्राव करना पड़ता है; और इसपरभी उससे रसोंकी अपेक्षा विष्टा अधिक उत्पन्न होता है; और हमारे आमाशय और अन्त्रादिके तरल पदार्थोंका व्यय हो जानेसे उनमें शुष्कता आजाने या उसके तीक्ष्ण गुणोंसे प्रदाहित हो जानेके कारण हम कोष्टबद्ध या अजीर्णकी आखेट हो जाते हैं। जामन, मौरश्री या खिली हुई फूटादि दोषयुक्त होनेसे सेवन करते समय कण्ठमें अटकती हैं, जिससे सहस्रों आमाशयिक और मौखिक जीवन-कणोंका प्राणान्त हो जाता है। अतः इस प्रकारके फल हमारी प्रकृतिके विपरीत सिद्ध होते हैं। आम सरीखे रेशेवाले या अत्यधिक मीठे फल, रसीले होते हुएभी अपनी चेप या मिठासकी तीक्ष्णता और रसके गाढ़े होनेके कारण उसके भारी पनसे, जीवन-कोषोंके चामको काटकर प्रथम कण्ठमें दाह करते और फिर शरीरमें फूट निकलते, तथा शरीरमें विलम्बसे लय होते और पाचनमें आनेसे पूर्व गुदा द्वारा प्रवाहित हो जाते हैं, जिससे हमें प्रकृति उनका सेवन नहीं बताती। अंजीर सरीखे फल मुख और जिह्वाके अनेक भागोंमें, अपने अग्निरूप बीजोंकी तीक्ष्णताके प्रभावसे छाले डालते और उनमें दाह उत्पन्न करते हुए दृश्य या अदृश्य घावोंकी उत्पत्ति करते हैं। इसीसे अंजीर, आमाशय और अन्त्रादिमें पहुंचकर खल-बली मचा देता है, जिससे उसकी तीक्ष्णता द्वारा उनके रसोंका अनावश्यक स्राव होनेसे सड़न और ऊष्णताके होनेपर वह स्वयं तथा अन्य पदार्थों सहित पतला हो जानेसे आमाशयादिमें न ठहर सकनेके कारण विरेचनका हेतु होता है। अतएव प्रकृति ऐसे पदार्थोंके सेवनसे सहमत नहीं। कठल आदि कठोर त्वचा वाले फल विना शस्त्रादिकी सहायताके दन्त और नखों आदिसे नहीं छीले जा सकते, इसके अतिरिक्त उनके भीतरका गूदाभी हमारे जीवन-कणोंसे तुलना करनेपर परिमाणतः भारी सिद्ध होता है, जिससे उनके खानेकी प्रकृति आज्ञा नहीं देती। मिर्चे, लवङ्ग, पीपल आदि अति चर्परी होनेसे जिह्वा नाम लेतेही घबराती है, और उसके द्वारा प्रकृति ऐसे अति तीक्ष्ण पदार्थोंसे पृथक् रहनेकी चेतावनी देती है। पोपीता (आरण्ड खर्बूजा) आदि अपवित्र या हीकमय गन्ध वाले पदार्थ मुखमें छाले डालते और उनका दूध हाथोंसे चिपकनेके हेतु स्पर्श करनेसे ग्लानि प्रतीत होती

है। धतूरे सरीखे फलोंके कटु स्वाद और गन्धसे उनके सेवनार्थ महान कष्ट प्रतीत होता है। निदान् उपरोक्त फलोंके सदृश यदि अन्य फलोंमें दोषोंका अनुभव हो तो उनका सेवन निषेध है।

मनुष्य यदि अपनेको मनुष्य समझता है तो ध्यान पूर्वक स्मरण रक्खना चाहिये, जो फल हमारे शरीरके जीवनके रासायनिक पदार्थोंके अनुकूल नहीं हैं, अर्थात् जो कठोर, स्थूल और तन्तुमय जीवन-कोषोंसे सङ्गठित होनेके कारण शुष्क, भारी (गाढ़े) रस वाले हैं और उपरोक्त उदाहरणके अनुसार उनकी अनुचित उत्तेजना या तीक्ष्णता हमारी ज्ञानेन्द्रियोंके प्रतिकूल है या यों कहना चाहिये 'जिनमें अनारके सदृश सूक्ष्म अनिवार्य उत्तेजना और दोषोंकी अपेक्षा अनावश्यक उत्तेजनादि है,' उनसे हानिके अतिरिक्त हमारे मनुष्य नामपरभी दोषारोपण होता है। क्योंकि जिस प्रकार काष्ठके यन्त्रमें लोहेके भाग लगानेसे उसके परिमाणमें भारी होनेसे वह अपना कर्त्तव्य पालन करनेके स्थानमें उलटा काष्ठके यन्त्रकोभी विगाड़ देते हैं, उसी प्रकार जिन फलोंके परमाणुओंमें हमारे जीवन-कणोंकी अपेक्षा अधिक कठोरता, शुष्कता, भारीपन या अन्य किसी रासायनिक सङ्गठनके भेदमें प्रतिकूलता है, जिसका ज्ञान विना रासायनिक शास्त्रके महत्व पूर्ण पण्डितोंकी सहायताके, प्रकृतिके उपदेशानुसार हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हो सकता है, कभी हमारी प्रकृति उनके सेवन करनेकी आज्ञा नहीं देती। अतः यदि हमको मनुष्यताका गर्व है तो केवल वही फल सेवन करने चाहियें, जो अनार या उसके सदृश प्रकृतिके अनुकूल होनेसे वहुतही सूक्ष्म और अनिवार्य दोष वाले हैं। परन्तु हमारे अनुमानसे कोई विरलाही मनुष्य होगा जो अपनेको मनुष्य कहनेके निमित्त अपने प्राकृतिक आहारके हेतु सर्वोत्तम फलोंको चुने। इसलिए हमारी सम्मति है— प्रत्येक मनुष्यको यदि वह स्वस्थ और दीर्घायु होनेकी लालसा रक्खता है तो अपने भोजनार्थ, यदि रोगी नहीं है, यथा शक्ति रसीले, सूक्ष्म, कम उत्तेजक, चैतन्य और नवजीवित फल, शाक, मेवा और धान्यादिको विना तीक्ष्ण मसालों और अग्निकी सहायताके सेवन करे।

इसमें कोई सन्देह नहीं—सब मनुष्योंका आहार एक समानही नहीं हो सकता। क्योंकि जो जातियां जैसे देश और स्थानोंमें जन्म लेती हैं, उसीके अनुसार उनके शरीरके जीवनके रासायनिक पदार्थों द्वारा उनकी रचना होती है। इसीसे किसी

देशके मनुष्योकी त्वचा कठोर और किसीकी कोमल होती है, तथा एक देशकी जातिकी मुखाकृतिमें दूसरे देशकी जातिसे वैसेही अन्तर होता है, जैसे देशी और विदेशी कुत्तोंमें भेद होता है। अतः कठोर त्वचा और भद्दी आकृतिके मनुष्य, कोमल त्वचा और सुन्दर आकृतिके मनुष्योंकी जातिकी अपेक्षा अधिक रसहीन, स्थूल और उत्तेजक फलोंका सेवन कर सकते हैं। किन्तु संसारमें मनुष्यकी ऐसी कोई जाति नहीं है, जिसकी त्वचा या जीवन-कोष, भैंस, बकरी, ऊंट या अन्य ऐसेही जीवोंके सदृश जीवनके स्थूल रासायनिक पदार्थों द्वारा सङ्गठित हो। अतएव हम रसीले और अनुत्तेजक फलोको छोड अन्य कठोर पदार्थोंको अपना भोजन नहीं कह सकते। अपरञ्च पिछत्तर प्रतिशत हमारे शरीरमे जलका अंश है, निदान् हमारी प्रकृतिके अनुसार केवल वही अनुत्तेजक फल हो सकते हैं जिनमें हमारे शरीरके रसोंमें परिवर्तित होनेके निमित्त तीन चौथाईसेभी अधिक जलका भाग हो, अन्यथा उन फलोंका हमारे शरीरपर वही अपकार होता है जो एक लोहेका धुरा काष्ठके पहियेके छिद्रमें घूसकर कर सकता है।

खान-पानके नियम.

खान-पानके अन्य नियमोंके अतिरिक्त सबसे पूर्व यह जाननेकी आवश्यकता है कि मनुष्को आहार लेनेके निमित्त सर्वोत्तम समय कौनसा है? इसका उत्तर बहुतही सरल है, क्योंकि यद्यपि हम अपने नियम विरुध व्यवहारसे अपनी प्रकृतिको बुरे स्वभावोंमें परिणत करनेके कारण अपने आमाशयादिको क्षुधाके नियमित समयका ज्ञान देनेमें कर्त्तव्यहीन कर चुके हैं, तथापि यदि हम कुछभी बुद्धि रखते हैं तो यह भले प्रकार जान सकते हैं कि रात्रिके विश्रामसे जिस प्रकार हमारे शरीरके अन्य समस्त, गत् दिवसके परिश्रमसे थकित, अवयव पुनः नवजीवित हो जाते हैं उसी प्रकार हमारा आमाशयभी पुनः चैतन्य होकर अपना कार्य करनेको प्रस्तुत हो जाता है। अतः यह बात निर्विवाद है कि रात्रिके विश्रामसे हमारा समस्त शरीर नवजीवन प्राप्त कर लेता है। इसीसे एक विद्यार्थी या यात्री जो प्रातके समय एक घन्टेमें जितना पाठ या यात्रा करता है निश्चय दिनके चढ़नेपर उतना पाठ या यात्रा सवा या डेढ़ घन्टेमेंभी उतनी सरलता पूर्वक न

कर सकेगा । अतएव सिद्ध होता है कि जितनी सुगमतासे हम प्रातके समय भोजनका पाचन कर सकते हैं दिनके अन्य किसी भागमें, ज्यों, ज्यों, सूर्य चढ़ता जाता है और हमारा शरीर अपनी नियमित क्रियाओंके करनेसे थकित होता जाता है त्यों, त्यों आमाशयकी शक्ति क्रम पूर्वक कम हो जानेसे, नहीं कर सकते । निदान् सबसे पहिला भोजन सूर्योदयके समयही होना चाहिये । अन्यथा हम किसी प्रकारभी प्रातःकालकी अपेक्षा अन्य किसी समय अपने आहारका पाचन करके भली भांति शरीरका पोषण नहीं कर सकते । इसके अतिरिक्त प्रातके समय, जब कि आमाशय रात्रिके विश्रामसे नवजीवन प्राप्त करके, अपना कार्य करनेको प्रस्तुत होता है और हम उसे भोजन न देकर उसके कर्त्तव्य-पालनमें बाधक होते हैं, तो वह कुछ दिनमे वैसेही कर्त्तव्यहीन हो जाता है, जैसे पिञ्जरेमें बन्द करके रक्खे हुए पक्षीके पंख उड़नेका कार्य करनेसे वञ्चित रहनेके कारण निस्सन्देह शीघ्र कर्त्तव्यच्युत हो जाते हैं । अपरञ्च यदि हम उस समयका भोजन न करें, तो दिनमें एक कालका भोजनभी हमारे भोजनोंकी प्राकृतिक गिनतीसे कम हो जाता है क्योंकि यदि हम दो, चार दिनका उपवास करके भोजन करें, तो अपने आहारकी इतनी मात्रा कभीभी उदरस्थ नहीं कर सकते जो गत् उपवास किये हुए दिनोंके भोजनोंकी क्षतिको पूर्ण कर सके । इसके अतिरिक्त प्रायः सृष्टिके जीवोंकी सभी जातियां, जिनकी प्रकृति दिनमें काम करनेकी है, भोर होतेही धीमी, धीमी सुहावनी पवनमें प्रकृतिकी प्रशंसामें मधुर गान करते हुए कोई वृक्षोंकी टोहमें चैचहाते, कोई सुन्दर, सुन्दर फूलोंसे रस लेनेको गुञ्जारते, कोई क्षेत्रोंमें हरियालीकी खोजमें विचरते, और कोई, कोई घने वनोंमेंही अपने आहारको ढूंढते फिरते हैं । परन्तु मनुष्य-देवताका तो कोई नियमही नहीं; और यदि किसी महाशयने अपने दीन आमाशयपर बड़ी दयाभी की, तो कुछ थोड़ासा कलेवा देकर बहका दिया, जिससे क्लेशित हो आमाशयकी वास्तविक क्षुधाका ज्ञान करनेके समयकी अवधि औरभी परे हो जाती है । क्योंकि जिस प्रकार सेरभर चावल उबलनेवाली हांडीमें चाहे दो तोले चावलका रन्धन किया जावे चाहे सेरभरका, परन्तु उनके उबलनेके अर्ध कालमें, जबतक उन चावलोंका रन्धन न हो जावे, सेरभरकी न्यूनताकी पूर्ति करनेके निमित्त शेष चावल रन्धनके अर्थसे उसमें नहीं डाले जा सकते, उसी प्रकार आमाशय द्वारा जबतक उस कलेवेकी अल्प मात्राका पाचन होकर शरीरके रसोंमें रूपान्तर न कर दिया जावे, तब

तक सची क्षुधा प्रतीतही न होगी। निदान् इस प्रकार अपने उस आमाशयका, जिसपर हमारे जीवनका आधार है, गला घोंटना किसी प्रकारभी उचित नहीं। अर्थात् प्रातःकालमेंही भोजन करना सर्वोत्तम है। इसके पश्चात् सूर्यास्त होनेके समयतक जब, जब क्षुधाका ज्ञान हो भोजन करना चाहिये। परन्तु किसी समय जबतक वास्तविक और विकल करनेवाली क्षुधा प्रतीत न हो, भोजन न करना चाहिये। यदि किसी व्यक्तिको बुरे स्वभावोंके कारण प्रातके समय भूख कम लगे तो सबसे अच्छा यही उपाय है—दो, चार दिन सायंकालका भोजन न करे तो आगामी प्रातःकालको, यदि हमारे कुकर्मों द्वारा आमाशय अधिक दूषित नहीं है, अवश्य क्षुधाका ज्ञान होगा।

इसके उपरान्त अबतक जलादि द्वारा चिकित्सा करने और उसे प्राकृतिक चिकित्साके मिथ्या नामसे सम्बोधन करनेवाले पूर्वज चिकित्सक या उनके आविष्कर्ताओंने जो त्रुटियां की हैं उनमेंसे एक त्रुटि यहभी है—वह यह सिद्ध करनेमें समर्थ न हुए, रोगीको किस मात्रामें भोजन देना चाहिये? इसीसे उनके कथन इस प्रकार हैं:—

मिस्टर प्रीसानिट्ज़ प्राकृतिक जल चिकित्साके प्रसिद्ध डाक्टरके विषयमें डाक्टर मण्डका कथन है:—" The worst of it all was, that the disease did not give way, that fresh attacks of gout would occur, etc.; but was at least discovered that the evil it was caused by too much food." अर्थात् प्रीसनिट्ज़की चिकित्सामें रोगोंका दूर न होना, और गठिया सरीखे रोगोंके नवीन आक्रमण होना इत्यादि, बड़ी भारी त्रुटि थी; किन्तु अन्तमें यह सब स्पष्ट होगया कि यह समस्त दोष आवश्यकतासे अधिक भोजन करनेका परिणाम था। इससे आगे फिर डाक्टर मण्ड कहते हैं:—" Pressnitz urges that he who can not eat every thing must be ill." अर्थात् डाक्टर प्रीसनिट्ज़ इस बातपर बल देते हैं कि वह मनुष्य जो प्रत्येक पदार्थ सेवन नहीं कर सकता अवश्य रोगी रहना चाहिये।

डाक्टर एडवर्ड हूकर डेवी, उपवास चिकित्साके पक्षपाती, कुछ अन्यही राग अलापते हैं। जहां प्रीसनिट्ज़ ठूंस, ठूंसकर खानेको कहते हैं, वह प्रत्येक स्थानपर भूखों मरनेकीही सम्मति देते हैं; और इसपरभी अपनी चिकित्साको प्राकृतिक

कहनेमें तनिकभी लज्जा नहीं करते । प्रकृति द्वारा तो केवल उन्हीं तीव्र रोगोंमें उपवास करनेकी आज्ञा है, जिनसे पीड़ित होनेपर क्षुधाका ज्ञान लुप्त हो जाता है।

डाक्टर लुई कोहनी, जो प्राकृतिक जल चिकित्साके अद्वितीय विद्वान माने जाते हैं, यहभी न निश्चय करसके—कौनसे रोगीको उसके आहारकी कितनी मात्रा देनी चाहिये ? इसीसे वह लिखते हैं:—"यह वताना वहुत कठिन है कि आहारका वह परिमाण कितना है, जो रोगी पचा सकता है ? "

अतः हम प्राकृतिक चिकित्साको इस त्रुटिसे वञ्चित करनेके निमित्त, उस नियमका कथन करते हैं जो वहुतही साधारण और प्राकृतिक है:—

भोजनकी इच्छाके लिए दो शब्द हैं एक **क्षुधा** और दूसरा **तृष्णा** । क्षुधा वह वास्तविक भूख है, जो आमाशयको यथेष्ट मात्रामें पूर्ण प्राकृतिक भोज्य पदार्थ प्राप्त होनेपर **शान्त** हो जाती है, और तृष्णा वुरे स्वभावोंके कारण केवल तीक्षण पदार्थोंकी उत्तेजनाके निमित्त उनकी लालसा प्रगट करती है, और सदा **अशान्त** रहती है, *क्योंकि रोगादिसे पीड़ित होनेपर मुखका स्वाद अच्छा नहीं रहता* । इसीसे तृष्णासे पीड़ित मनुष्य द्वारा कोई तीक्षण पदार्थ चखने मात्रकी अपेक्षा शरीरके पोषणार्थ भर-पेट नहीं खाया जाता, यद्यपि प्रत्येक समय यही लालसा रहती है—यह खाऊं, वह खाऊं । अतएव वह प्राकृतिक पदार्थ जो हमारी प्रकृतिके अनुकूल क्षुधा निवारणार्थ हैं , वड़ी सावधानीके साथ दांतों द्वारा सूक्ष्म करके चवाये और चूंसे जानेपर उदरस्थ करनेसे हमारी जिह्वा और कण्ठ केवल आहारकी उतनीही मात्रा आमाशयमें प्रवेश करनेको समर्थ होंगे, जितनी जिस रोगी अथवा आरोग्य मनुष्यके पक्वाशयके पाचनार्थ यथेष्ट और उचित है; क्योंकि यदि मनुष्य वलात् उस मात्रासे अधिक, जो उसकी क्षुधा निवारणार्थ यथेष्ट हो, सेवन करनेका प्रयत्न करेगा तो स्वतःही मुख द्वारा अरुचि प्रगट होगी । प्रत्युत यथाशक्ति जिह्वा भोजनकी उस अनावश्यक मात्राको उदरस्थ करनेकी अपेक्षा उगलनेका प्रयत्न करेगी । परन्तु अप्राकृतिक या अर्धरूपसे चवाये हुए और उत्तेजक पदार्थ सदा उदरमें आवश्यकतासे अधिक प्रविष्ट किये जाते हैं । [illegible] कि वड़ी जनसंख्याके मल (विष्टे) का प्रवाह द्रव या शुष्क रूपसे विना किसी [illegible] होता है, जिसका केवल एक यही अर्थ है—भोजनकी अनावश्यक मात्रा सेवन कर[illegible] वह पाचनमें नहीं आता । इसके अतिरिक्त अधिक भोजन करनेसे आमाशयके भीतर पहिले सड़न उत्पन्न होती

कोई मनुष्य शरीरमें एक आमाशयके स्थानमें दो आमाशय नहीं लगा सकता, जिससे कि संसार भरके प्राकृतिक और अप्राकृतिक पदार्थोंका पाचन कर सके । तनिकभी भोजनकी मात्रा अधिक या गरिष्ठ होनेसे वह पाचक पदार्थोंहीकी खोज करता फिरता है; और शक्तियोंके अति क्षीण हो जानेपर अद्योपान्त सभी औषधियां निरर्थक सिद्ध होती हैं । कारण यह कि औषधियां तभीतक अपना तीक्षण प्रभाव दिखा सकती हैं, जबतक आमाशय या यकृतादिमें विषोंसे घावोंकी उत्पत्तिके उपरान्त आमाशयकी भींत या यकृतके जीवन-कण निर्जीव नहीं हुए हैं और उसमें जीवन-शक्तियां उपस्थित हैं । क्योंकि आमाशय या यकृतादिके जीवन हीन और कठोर हो जानेपर कोई औषधि भोजनके पाचनार्थ उनसे रसोंका स्राव नहीं करा सकती; और ऐसी असमर्थ दशामें मनुष्यकी वह गर्वमय बातें, जिनसे वह प्रकृतिको हांकना चाहता है रक्खीही रह जाती हैं ।

मानव जातिपर यह बड़ा भारी कलङ्क है—वह अपनी अलौकिक बुद्धिके कारण जिह्वाके चटोरपनसे कुत्ते और बन्दर सरीखे जीवोंसेभी गया बीता है । क्योंकि कोई कुत्ता या बन्दर, यदि मनुष्यकी असीम कृपा द्वारा धोखेसे किसी पदार्थका अभ्यस्त नहीं कराया गया है, विषों या भोजनकी अनावश्यक और अधिक मात्राओंको सेवन न करेगा । इसीसे एक समयकी घटना है—सन् १९०१ ई० में लार्ड कर्जनके ट्रावनकोर जानेपर वहांके महाराना ने उन्हें एक ऐसा सर्प दिखाया, जो प्रति आठ दिवसके उपरान्त किसी छोटे नागका आहार करनेकी प्रकृति रखता था । उस सर्पके सन्मुख एक छोटा सांप डाला गया, परन्तु वह एक दिन पहिले अपना आहार कर चुका था और बिना आठ दिन समाप्त हुए उस सांपको नहीं खा सकता था । अतः कई बार उनके कहनेपरभी उसने उस सांपको न खाया । इसपर उनके एंडीकाङ्गने कहाः—" यह वह लार्ड कर्जन हैं जिनके संकेत मात्रसे भारतके बड़े, बड़े महाराजा दिनमें छः, छः बार खानेको प्रस्तुत हैं; परन्तु इनके इतने आग्रहपरभी एक बड़ा सर्प छोटे सांपको नहीं खाता ! " हा ! धिक्कार है मनुष्यको जो उस सर्पसेभी गया बीता है !

हा, कितने शोकका स्थान है—माताएं स्वयं अपनी सन्तानकी हिंसक बनती हैं ! वह बालकोंको, उनके दांत निकलनेसेभी पूर्व अनेक प्रकारके अप्राकृतिक भोजनोंका आहार कराना आरम्भ कर देती हैं । इसके अतिरिक्त वह बालकोंकी

क्षुधा निवारण होनेपरभी अनेक प्रलोभन देकर भोजन कराती हैं। वह नहीं विचारतीं—भोजनकी वह मात्रा, जो वास्तविक क्षुधाके अतिरिक्त बलात् सेवन करायी गयी है, क्या हानि पहुंचावेगी? इससेभी बढ़कर डाक्टर लुई कोहनीने, भोजनके विषयमें, मूक बालकोंके साथ निर्दयतासे काम लिया है। हमारे अनुमानसे इन प्राकृतिक डाक्टर महाशयको शिशु पोषण विषयपर पुस्तक लिखते समय कदाचित् कबूतर आदि, जो अपने बच्चोंको चुगा हुआ दाना उगलकर खिलाते हैं, का ध्यान आगया होगा। इसीसे आपने माताओंको उपदेश किया है—वह दलियेको भली भांति चवाकर उगलनेपर बालकोंको सेवन करायें। धन्य है इस बुद्धिमत्तापर जो मनुष्यत्वका गर्व करते और प्रकृतिके अनुयायी होते हुएभी बच्चोंके ऐसे कोमल मुखका, जिसमें सूक्ष्म मीठे पदार्थों, या अन्य व्यक्तिकी लार आदिसे दृश्य या अदृश्य घाव तथा छाले पड़ जाते हैं, विचार न करके, इस संक्रामक रोगोंकी उत्पत्ति करनेवाली घृणित रीतिसे उन्हें भोजन करानेकी अनुमति देते, और प्रकृतिकी डींग मारते हैं।

हमारी सभ्यताके कारण हमारी सर्व श्रेष्ठ मानव जातिको यहभी एक अभिमान है कि अतिथिको अधिकाधिक गरिष्ठ भोजनकी अत्यधिक मात्रा सेवन करायी जाती है। वह अभागा आपत्तिका मारा, यदि कुछ समझदार है, बहुतेरा खानेसे मुख मोड़ता है, किन्तु उसके भाग्यने ऐसा धक्का दिया है, कि हमको विना अधिक भोजन कराये शान्तिही नहीं होती, चाहे रात्रिमेंही विशूचिका भगवान्के दर्शन हो, और डाक्टरका द्वार खट-खटाना पड़े।

आगे इससेभी अधिक हमारी मूर्खता यह है, यदि किसी रोगीको क्षुधाका ज्ञान शिथिल हो जाता है, तो हमारा यही उपदेश होता है—यदि तुम भर-पेट न खाओगे तो किसके सहारे रहोगे? हमारे डाक्टर कभी यह नहीं सोचते–उनका रोगी भोजनके नामसे क्यों घबराता है? या यों कहना चाहिये—वह यह जानतेही नहीं कि क्षुधाकी अनुपस्थितिमें भोजनसे क्या आपत्ति होती है? अन्यथा वह विना भूखके भोजन करनेकी सम्मति न देते।

ग्रीष्म ऋतुमें न्यूनाति न्यून अनावश्यक और क्षुधासे अधिक भोजनकी मात्रा भी विषका काम देती है। क्योंकि उस ऋतुके तापसे आमाशयमें भोज्य पदार्थोंके परमाणुओंकी त्वचाका विच्छेद होजानेसे और भोजनकी अधिक मात्राके हेतु उसके

पाचनमें विलम्बके कारण, वायुकी सहायता द्वारा उसका पाचन होनेकी अपेक्षा सड़न उत्पन्न हो जाती है, जिससे खट्टी डकारें या अपवित्र गैस मुख और गुदा द्वारा आया करते हैं। परन्तु डा० कोहनीने यहांभी कुछ अपूर्व कल्पनासेही काम लिया है। वह ग्रीष्मकी अपेक्षा शरद ऋतुमेंही कम भोजन करनेकी बात कहते हैं।

हमारे देशमें यहभी कुछ कुप्रथाही है, कि इधर प्रसूता बालक नहीं जनने पाती उधर उसके लिए घृत, गोंद आदि द्वारा बने हुए गरिष्ठ पदार्थ उपस्थित रहते हैं; और इसपरभी आनन्द यह है—उसको बहुतसा खानेको बाध्य किया जाता है। क्या कोई विचार-शील यह कहेगा—वह प्रसूता ऐसे गरिष्ठ पदार्थोंका पाचन करके बल और शिशु निमित्त दूध प्राप्त कर सकती है? कौनसा विज्ञान यह सिद्ध करनेमें समर्थ होगा—घृत शीघ्र पाचनमें आकर रसोंकी वृद्धि कर सकता है? और यदि घृत शीघ्र पाचनमें नहीं आसकता, और उसके द्वारा रसोंकी वृद्धि नहीं होसकती, तो प्रसूताको ऐसे गरिष्ठ पदार्थ देना कौनसी बुद्धिमत्ता है? आज दिन हमारी स्त्रियोंका निर्बल और उनके स्तनोंमें दूधकी न्यूनता और दोषोंसे बालकोंका प्राणान्त या बलहीन और रोग पीड़ित होना बहुत करके हमारी मूर्खता द्वारा प्रसूताओंको गरिष्ठ पदार्थ देनेपरभी अवलम्बित है।

इसके अतिरिक्त हमको भोजनकी मात्राका ज्ञान हो यह जाननेकीभी आवश्यकता है—हमको कहां और किस प्रकार अपने भोजनोंको सेवन करना चाहिये? इसके लिए सर्वोचित तो यही है, कि प्रकृतिके साथ विहार करते हुए शीतल (सह्य), हरे-भरे, प्रसन्नता एवं चैतन्यता देनेवाले स्थानोंमें निर्दोष, अनुत्तेजक, रसीले फलोंको स्वयं वृक्षोंसे प्राप्त करनेका परिश्रम करके सेवन करें। किन्तु ऐसा करना प्रथम तो प्रचलित सभ्यताकेही विरुद्ध है, द्वितीय हमारेही कुकर्मों द्वारा वन-वृक्षोंपर कुल्हाड़ा बजनेसे यथेष्ट फल उपलब्धभी नहीं हैं। अतः बड़ी स्वच्छता, स्वाधीन्ता और सावधानीके साथ नग्न, या ढीले और हलके वस्त्र धारणकर ऐसे पवित्र स्थानमें भोजन करना चाहिये, जो धुएं, सीलन (अपवित्र तरी), गर्द, कूड़े और दुर्गन्धादिसे मुक्त और सुरक्षित हो, और जहां प्रकाश एवं स्वच्छ वायुका यथेष्ट प्रभाव हो। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक ध्यान देने योग्य यह बात है कि भोजनालयमें अवश्य थोड़े-बहुत फूलों आदिके वृक्ष हमें प्रसन्न और चैतन्य करनेके निमित्त होने चाहियें।

भोजनके विषयमें इस बातपरभी ध्यान देना आवश्यक है—भोजनके समय बात-चीत करना या हंसना कभी, कभी बड़ी भयङ्कर आपत्तियोंका कारण होता है। क्योंकि ऐसा करनेसे प्रायः भोजन भोजन-नालीकी अपेक्षा वायु-नालीमें चला जाता है, जिससे तीव्र खांसी उठने लगती है, और जबतक भोज्य पदार्थ वायु-नालीसे न निकल जायँ मनुष्य विकल रहता है। इसीसे बहुधा बालक माताओंकी मूर्खतासे रुदन करते समय दूध पिलानेके कारण दूधके भोजन-नालीके स्थानमें वायु-नालीमें चले जानेके हेतु मृत्युको प्राप्त होते या भारी कष्ट सहन करते हैं।

यदि हम स्वस्थ रहना चाहते हैं, तो यह विचारनाभी आवश्यक है—हमको अपने प्यारेसे प्यारेकेभी साथ खान-पान न रखना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे अनेक संक्रामक और भयङ्कर रोगोंका भय रहता है। किन्तु हमारे देशमें यवनादि जाति-योंके अतिरिक्त आर्य जातिके द्विज वर्णोंमेंभी हुक्के सरीखे स्वास्थ्य-नाशक साधनकी प्रथा पड़नेसे प्रायः सभीके नेत्रोंसे पट्टियां बंध गयी हैं। क्योंकि जोभी हमारे घर आता है वहीं अपना मुंह फूंकनेके लिए उसी एक हुक्केकी नलीमें मुंह मारता है। उत्तम तो यह है कि अपने भोजन करनेके पात्रभी अन्य व्यक्तिको न दिये जायें।

अपरञ्च यहभी आवश्यक है कि भोजनके उपरान्त जबतक भोजन पाचनमें न आजावे प्राकृतिक व्यायाम अर्थात् धीरे, धीरे विचरने या अङ्गड़ाइयां लेनेके अति-रिक्त दौड़ना या किसी प्रकार अधिक परिश्रम करना, हंसना, गाना और चिल्लाना न चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे श्वासकी तीव्र गति हो जानेसे आमाशय और अन्त्रादि-पर ऐसा भार पड़ता है कि भोजन पाचनमें आनेसे पूर्वही वमन, विरेचन द्वारा बाहर आनेको बाध्य होता है। उन ग्रामीण मनुष्योंको इस बातका यथेष्ट अनुभव प्राप्त हो सकता है, जो गाड़ीमें जुते हुए बैलोंको बलात् उनकी शक्तिसे अधिक दौड़ाते हैं। क्योंकि देखा गया है कि इस प्रकार बैलोंको दौड़ानेसे उनके मुंहमें झाग आ जाते हैं, और गुदा द्वारसे द्रव-रूपमें मल प्रवाहित हो जाता है।

नियम विरुद्ध भोजनकी अधिक मात्राके एक ग्राससेभी दूषित विकारोंके होने-पर शरीरके जीवन-कणोंके नष्ट होनेसे और उनका विषैले अमल और गैसोंमें रूपान्तर होजानेपर उनकी तीक्ष्णतासे मांस और घृतादि सरीखे गरिष्ठ पदार्थ भी पाचनमें आकर शरीरको फुलाना और मोटा करना आरम्भ कर देते हैं। परन्तु इस प्रकारका फूलना उन्हीं खर्बजोंके सदृश है, जो अधिक मल, मूत्रादिके खादसे

फूलकर बड़े हो जाते हैं, किन्तु वास्तविक जीवनकी न्यूनताके कारण बिना कृत्रिम खाद्य द्वारा उत्पादित खर्बूज़ोंसे फीके एवं अस्वादिष्ट होते हैं। अतः हमको अपने भोजन भले प्रकार चबाकर उदरस्थ करने चाहियें, जिससे जिह्वा द्वारा भोजनकी उतनीही मात्रा आमाशयमें प्रवेश की जावे जितनी हमारी पाचन शक्तियोंकी प्रकृतिके अनुकूल है।

वस्तुतः मनुष्यके पीनेके निमित्त प्रकृतिने दांत निकलनेके उपरान्त कोई पदार्थ नहीं बनाया है। इसीसे फलोंमें जो रस हैं उनके अतिरिक्त प्रत्यक्ष तरल पदार्थोंके सेवनार्थ, उनके द्वारा हानि पहुंचनेके भयसे, हमारे वैज्ञानिकोंने कृत्रिम साधनोंका आविष्कार किया है, और फिल्टर्ड वाटर (छना और पका हुआ जल), डिस्टिल्ड वाटर (वाष्प द्वारा बनाया हुआ जल), सोडा वाटर, लेमनेड, बियर (यवकी मदिरा) एवं सौंफ, गुलाब, केवड़ेके अर्क आदि सरीखे अनेक प्रकारके जल बनाये हैं। परन्तु वह सभी अपनी उत्तेजना या कृत्रिम साधनों द्वारा मसालोंसे मिश्रित या अग्निसे रन्धित भोजनोंके सदृशही तीक्ष्ण और जीवनहीन हो जाते हैं। अतः उपरोक्त सर्व प्रकारके जलोंकी अपेक्षा फलोंके दूषित जीवोंसे रहित रसोंको चूंसकरही अपने शरीरके तरल पदार्थोंकी कमीकी पूर्ति करनी चाहिये: और ऐसे शुष्क, तीक्ष्ण और कुपाच्य पदार्थोंका सेवन न करना चाहिये जो हमारे रसोंको तर करनेकी अपेक्षा उनको सोककर या उनके स्राव द्वारा या अपनी ऊष्णतासे जलाके शुष्क करदें। परन्तु आज दिन हमारे रसीले भोजनोंका अभाव होनेसे शरीरके रसोंका व्यय होनेके कारण प्यासका ज्ञान होना परमावश्यक है। अतएव उस कमीको पूरा करनेका साधन हमको प्रकृति द्वारा मिला हुआ स्वच्छ जलही पर्याप्त है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जल दूषित जीवों और स्थूल पदार्थोंके कारण अवश्य हमारे शरीरपर कुछ अपकार करता है, किन्तु हमारे अग्नि और मसालों द्वारा बनाये हुए कृत्रिम जलोंकी अपेक्षा वह हमारे शरीरको कम हानि और अधिक जीवन प्रदान करता है। परन्तु इसपरभी निर्बल रोगियों या संक्रामक रोगोंकी ऋतुओंमें स्वस्थ मनुष्योंकोभी इससे यथा शक्ति बचना चाहिये। जलसे, उसके स्वाद रहित होनेसे, भारी होनेके कारण फलोंके रसोंकी अपेक्षा हमको शरीर पोषणार्थ जीवनके रासायनिक पदार्थोंकी यथेष्ट मात्रा प्राप्त नहीं होती; और कभी, कभी एकैक बहुतसा जल पीजानेसे आमाशय अधिक विकल हो जाता है। अतः यथा शक्ति जलका पान न्यून मात्रामें चुसकी

लगाकर धीरे, धीरे करना चाहिये; और उसीके सदृश दूध आदिका पान करना उचित है।

आमाशय या अन्त्रादिसे पीड़ित अजीर्णके रोगियोंको भोजनके विषयमें विशेष ध्यान रखना चाहिये। यदि उनकी पाचन शक्तियां सर्वथा उत्तर दे बैठी हैं, किन्तु जीवनकी लता पुनः नवजीवन प्राप्त करने योग्य है तो उनको चाहिये कि केवल अपनी प्रकृतिके अनुकूल फलोंको चूसकर और उनका फोक थूकके उनके रसोंपर निर्वाह करें; और धीरे, धीरे आमाशयादिके स्वस्थ होनेपर रसोंकी अपेक्षा क्रमशः थोड़ा, थोड़ा फलोंका गूदा सेवन करें।

अपवित्र या रोगी मनुष्यके हाथोंका भोजन, चाहे वह कैसाही प्रिय हो न करना चाहिये।

क्षुधाके समय आवश्यकसे आवश्यक कार्य होनेपरभी उसे त्यागकर भोजनके समयको न टालना चाहिये, क्योंकि भोजनपरही हमारा जीवन निर्धारित है। इसीसे किसीने कहा है—'अव्वलहु त्याम बादहु कलाम,' अर्थात पहिले भोजन और पीछे बात। अतः भोजन नहीं है तो संसारमें कुछभी नहीं है। यहं समस्त झगड़े भोजनके पीछेही हैं।

हमारे निवास स्थान

हम अपनी शरीरकी रचनासे स्वयं यह परिणाम निकाल सकते हैं—न हमको बहुत गर्म देशोंमें रहना चाहिये और न बहुत ठन्डे स्थानोंमें। क्योंकि प्रथम तो मनुष्यकी त्वचा अपनी कोमलतासेही अनुचित तापके किसी कष्टको सहन करने योग्य नहीं, द्वितीय हमारी त्वचापर अन्य जीवोंके समान दुर्तापवाहक घने बाल या उसके नीचे अधिक चर्बीके कोष न होनेसे हम गर्मी, सर्दी सहन करनेको असमर्थ हैं। क्योंकि देखनेमें आया है कि जो जीव शरद देशोंमें जन्म लेते हैं, दयालु प्रकृति उन्हें वहांके शीतसे सुरक्षित रखनेके निमित्त घनी और लम्बी ऊन या अन्य कोई साधन प्रदान करती है; और उष्ण देशोंके जीवोंको वहांका ताप सहन करनेके हेतु छोटे, छोटे दुर्तापवाहक लोम तथा उसीके अनुकूल चर्बीमय चामादि देती है।

इसीसे हिमके स्थानोंमें रहनेवाले कुत्तों और बकरोंके बहुतही घनी और लम्बी ऊन होती है, जब कि ऊष्ण तापके देशोंके कुत्तों और बकरोंके बहुतही छोटे और गर्मीके तापसे रक्षा करने एवं श्वेद न लानेवाले बाल होते हैं। निदान् जिस देशकी सर्दी, गर्मी जिस जातिके मनुष्योंकी त्वचा बिना अभ्यस्त हुए सहन नहीं कर सकती—प्रकृति वहां रहनेकी आज्ञा नहीं देती।

"**प्रकृतिका उपदेश**" शीर्षक लेखका सारांश लेनेसे पहिलेही सिद्ध हो चुका है—मनुष्य मात्रके खाद्य पदार्थ केवल वही वानस्पतिक पदार्थ हैं, जिनके सेवन करनेकी हमारी ज्ञानेन्द्रियां आज्ञा देती हैं। निदान् जो देश ऐसे खाद्य पदार्थोंसे शून्य हैं, कदापि हमारे रहने योग्य नहीं।

वह पत्थरीले देश जहां चलनेसे पगोंके छिलने और उनमें बिवाइयां फटनेकी सम्भावना हो—प्रकृति नियम विरुद्ध वहांका निवास नहीं बताती। कारण यह कि वह देश या स्थान केवल उन्हीं जीवोंके निमित्त हैं, जिनके पैरोंके खुर या त्वचा ऐसी कठोर और गद्दीदार है जो पत्थरोंका घर्षण सहन हो सके।

वह रेतीले देश जहां, बिना अभ्यासके, थोड़ाभी चलनेसे पैरोंकी गद्दियां पीड़ा या दुःख प्रगट करती हैं—मनुष्यकी प्रकृतिके प्रतिकूल हैं। क्योंकि ऐसे देश केवल उन्हीं जीवोंके लिए हैं, जिनके खुर या पैरोंकी गद्दियां ऊंट या बैल आदिके सदृश बालूके स्थानोंमें चलनेके अर्थसे रची गयी हैं।

वह देश जहां तेरह, चौदह घन्टेसे अधिक बड़े दिन, रात होते हैं—वहांका रहना प्राकृतिक सिद्धान्तके विपरीत है। कारण यह कि हमारा शयन करना और निद्रासे जागरित होना तथा अन्य कार्यक्रम दिन, रातपरही अवलम्बित है।

वह देश या स्थान जहांकी भूमि दलदल और सील्न युक्त होनेसे पैरोंकी त्वचा चिपकनेके कारण हमको गिलगिली या फुरेरी आकर किसी प्रकार घृणा होती है—नितान्त वहां निवास करना प्रकृतिका उलंघन करना है।

वह देश या स्थान जहां भुंगे, मच्छर, पिस्सू, बिच्छू एवं सर्पादि या अन्य किसी प्रकार दुःख देने एवं रोगोंकी उत्पत्ति करनेवाले जीव-जन्तु हों—कदापि प्रकृति वहां रहनेकी आज्ञा नहीं देती। क्योंकि मनुष्यको दुःख देनेवाले जीव-जन्तु प्रायः वहीं पाये जाते हैं, जहां जल, वायु और भूमि मनुष्यकी प्रकृतिके विपरीत होती है। इसीसे अधिक मच्छरोंका वहीं ज्ञान होता है, जहां सीलन होनेसे मैलेरियल

अपवित्र जल, वायु होती है; बिच्छू वहीं होते हैं, जहां लीद और गोबर आदि सरीखे दूषित पदार्थोंकी सड़न होती है; और सिंह, भालू आदिभी ऐसेही स्थानोंमें पाये जाते हैं, जहां हमारी प्रकृतिके विपरीत साधन होते हैं ।

वह स्थान जहां कंटकमय झाड़ियां आदि इतनी अधिक हों कि चलनेमें कष्ट हो—वहांभी प्रकृतिसे उपदेश लेकर न जाना चाहिये ।

सबसे आवश्यक और ध्यान देने योग्य बात यह है—कमसे कम ऐसे ठन्डे या गर्म देशोंमें न रहना चाहिये, जहांकी शीतलता तथा ऊष्णता सह्य न हो; और इससे भी अधिक इस बातको स्मरण रखना चाहिये, कि जिन देशोंमें तरी या दल-दल हो, या पृथ्वीसे क्षार अधिक निकलते हों, अर्थात् जिस स्थानकी वायु अधिक जलयुक्त होनेसे पदार्थोंको सड़ाकर अपवित्रताका सञ्चार करके मैलेरिया (जूड़ीका ज्वर) आदि रोगोंका हेतु हो, या जहां जल क्षारयुक्त हो और उसपर तेलके समान दूषित पदाथ तैरते हों—भूलकरभी न रहना चाहिये । आर्य जातिको ऊष्ण देशोंकी अपेक्षा शरद देशोंका निवास कम हानिप्रद है । क्योंकि आर्य जातिके शिरके केश अफ्रीका निवासियोंकी अपेक्षा बहुत बड़े होते हैं ।

इसके उपरान्त शरीरके निवासार्थ रक्षक स्थानों अर्थात् प्रचलित प्रथोंके घरोंके विषयमें लेखनी उठाना दुधारी खड्गपर चलना है । इसीसे यदि हम स्पष्ट रूपमें यह कहें—प्रकृतिने हमको ऐसे घरोंमें रहना नहीं बताया, जिनकी अनेकानेक कृत्रिम तथा स्वास्थ्य-नाशक रीतियोंसे मनुष्यने रचना की है—तो चहुं ओरसे बिना सोचे, समझेही मभ्य समाज एवं वर्षाऋतुमें गुबरीले कीटोंके सदृश उपजे हुए आज-कलके पत्र सम्पादक हमें भर-पेट गालियां देते हुए यही कहेंगेः—

> शिक्षा 'कर्नल' दीजिये, धरे जो चितमें चाय,
> बया जो बानर हेत कहे, निश्चय घरे तुड़ाय ।

इसके अतिरिक्त हम यहभी जानते हैं, कि वह मनुष्य, जो अपनेको सभ्य समझते हैं, अवश्य इस प्रकारके अनर्थक प्रश्न उठाते हुए आलोचना करेंगेः—

१ । मनुष्य जो अपनी बुद्धिके हेतु सब जातियोंमें श्रेष्ठ है, और जिस बुद्धिके बलसे बड़े, बड़े सुन्दर सुसज्जित भवन (महल) एवं दुर्गादिकी रचना कर सकता है, तो यह कौनसी सभ्यता है कि वह अपनी बुद्धिपर पानी फेरकर अपनेको प्रकृतिके आधीन करदे ?

२। यथा जो एक छोटासा पक्षी है—अपनी बुद्धिके अनुसार कैसी सुन्दर, दुर्तापवाहक एवं वर्षासे सुरक्षित रखनेवाली, और दिन तथा रात्रिमें विश्राम और झूलने आदिकी क्रीड़ा एवं शयन करनेकी पृथक, पृथक तोंद (घोंसला) बनाता है—तो क्या मनुष्य वयेसेभी गया बीता है, जो अपनी बुद्धिकी कुशलताका परिचय न दे?

उपरोक्त प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है:—

वस्तुतः मनुष्यकी बुद्धि सर्व श्रेष्ठ है, यदि प्राकृतिक चक्रसे बाहर न हो। हम गृहादि रक्षा करनेवाले स्थानोंको प्रकृतिके विपरीत नहीं कहते। क्योंकि सृष्टिमें जितनेभी जीव हैं, वह अपनी, अपनी प्रकृतिके अनुकूल सुरक्षित स्थानोंकी खोजमें रहते हैं। परन्तु क्या हमको कोई वैज्ञानिक यह बतानेको प्रस्तुत है-बड़े, बड़े सुन्दर भवनादि, जिनकी रचनाके उपरान्त उनमें प्रवेश करनेके निमित्त सूर्य भगवान्की किरणोंको मार्गभी नहीं मिलता, शुद्ध और पवित्र रह सकते हैं? क्या मनुष्य जो अपनी बुद्धिपर फूला नहीं समाता, अभीतक सूर्यके प्रकाशके गुणोंसेभी अनभिज्ञ है? कोई डाक्टर यह कहनेका साहस नहीं कर सकता, कि प्रकाश विहीन स्थान, किसी प्रकार मनुष्यके निवास करने योग्य हैं-फिर वह घर या चिकित्सालय, जिसमें कभी प्रकाश नहीं पहुंचता, और यदि पहुंचताभी है तो केवल कुछ साधारण द्वारादिके मार्गोंसे, जो ठीक वैसेही है, जैसे ऊंटकी डाढ़को जीरा या अग्नि सदृश उष्ण तवेपर जलका विन्दु—क्या कभी स्वास्थ्यप्रद हो सकता है?

नहीं, कदापि नहीं! प्रकाश पहुंचानेवाली खिड़कियां या रौशन-दान कभी यथेष्ट प्रकाश पहुंचाकर घरों या चिकित्सालयोंको दूषित विकारोंसे वञ्चित नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त फ़िनाइल, चूनेकी कुलई आदिसे घरोंके विषैले जीवोंका नाश करनेपरभी वह शुद्ध नहीं किये जासकते। क्योंकि उनकी उत्पत्तिका कारण प्रकाशकी हीनता फिरभी उपस्थित रहेगा; और नाशित जीवोंके मृत शरीरोंसेभी वायुके संसर्ग द्वारा उनके सड़नेपर अन्य विषैले जीवोंकी उत्पत्ति क्रमशः बनी रहेगी। अतः बिना प्रकाशके फ़िनाइलका छिड़कना और चूने या गोवरसे लिपायी, पुतायी करना निवास स्थानोंको, उनकी तीक्ष्ण गन्धों द्वारा पहिले दोषोंको छिपाकर एवं नवीन विकारोंको उत्पन्न करके, औरभी दूषित करना है अतएव लिपायी, पुतायीभी केवल उन्हीं

पदार्थोंसे होनी चाहिये, जो स्वयं विषैले, तीक्ष्ण या गोबर और लीद सरीखे दुर्गन्धयुक्त, और विषैले जीवोंकी उत्पत्ति करनेवाले न हों।

हमारे मतसे निवास स्थानोंको विकार रहित करनेमें सर्वोत्तम प्रकाश है, तद उपरान्त क्रमसे वायु और जल हैं। अतः जहां वायु एवं जल यथेष्ट रूपमें पहुंच सकते हैं, किन्तु सूर्य देवकी किरणोंको मार्ग नहीं मिलता, उस स्थानके यथेष्ट दोषोंका वायु या जल कोइभी नाश नहीं कर सकता; फिर यदि हम उन सुन्दर, सुन्दर कृत्रिम भवनोंको, जो नितान्त प्रकाशार्थ भटकते हैं, मनुष्यके घातकके नामसे सम्बोधन करें तो क्या अनुचित है?

वायु और प्रकाश दोनोंही पृथ्वीके दोषोंको पृथक करनेवाली वस्तुएं हैं; क्योंकि वायुके सञ्चार द्वारा अशुद्ध परमाणु अन्य स्थानोंमें चले जाते हैं, तथा उनको वायु मण्डलके विस्तृत क्षेत्रमें विस्तार पानेसे वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होनेके कारण हमारे शरीरपर अधिक अपकार नहीं कर सकें। इसके अतिरिक्त अशुद्ध, वायुके स्थानमें शुद्ध वायुका प्रवेश होता रहता है, जिससे वह स्थान जहां यथेष्ट वायुका सञ्चार रहता है, रोगोंकी जन्मभूमि नहीं होता, और प्रकाश हमारे घरके अन्य दोषोंके साथ, साथ जलकी तरी द्वारा रासायनिक पदार्थोंसे उत्पादित दोषोंकाभी शुद्ध पदार्थोंमें रूपान्तर करता है। इसीसे मूत्र सरीखे पदार्थोंकोभी सूर्य भगवान् जलमें परिवर्तित कर देते हैं। अतः प्रकाश वायु और जलादिकोभी शुद्ध करनेके निमित्त सर्वोच्च है।

हा! हमपर टेढ़ी आलोचना करनेवाले बयेकी कुशलता और चतुरताकी उपमा देते हैं; परन्तु यह कभी ध्यान नहीं देते—उसकी तोंद (घोंसला) कैसी प्रवेशनीय और दुर्तापवाहक होती है, जिससे प्रवेशनीय होनेके कारण सूर्यके उचित ताप और यथेष्ट प्रकाश एवं आवश्यक वायु सञ्चारमें कोई बाधा नहीं पड़ती, और दुर्तापवाहक पदार्थों द्वारा रचना किये जानेसे सर्दी, गर्मीभी कष्ट नहीं देती। इसके अतिरिक्त वर्षासेभी पूर्ण बचाव रहता है, और पृथ्वीसे अन्तर रहनेके हेतु उसमें स्वास्थ्य नाशक जीवोंकोभी उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु हमारे तीन, तीन, चार, चार प्रत्युत इससेभी कहीं अधिक खण्डके सुतापवाहक पदार्थों द्वारा रचित एवं अनप्रवेशनीय कौनसे ऐसे घर हैं, जो वायु और प्रकाशको यथेष्ट मार्ग देते हों, और उस तृणके तुच्छ घोंसलेके समान सर्दी, गर्मीसे हमारी रक्षा करसकें वरन् कोई एक खण्ड वाला घर

भी जो बड़े, बड़े महत्व पूर्ण इञ्जीनियर्स और डाक्टर्सकी सम्मतिसे सुतापवाहक पदार्थों द्वारा बनाया गया हो ऐसा न मिलेगा, जो बयेकी तोंदके सदृश उसपर वायु और सूर्य स्वतन्त्रतासे अपना प्रभाव डालकर हमें लाभ पहुंचा सकें। अपरञ्च कौन यह कह सकता है कि यह छोटी चिड़िया कभीभी आगामी वर्ष उस तोंदमें रहेगी? जब कि प्रति वर्ष उसकी नूतन तोंदोंकी रचना हुआ करती है। परन्तु मनुष्य देवता प्रति वर्ष नवीन गृह बनाकर तो क्या रहेंगे? वहां तो दादा ले पोता वर्ते इसपरभी विश्राम नहीं! प्रत्युत पीढ़ियों उसी नरक समान अपवित्र घरमें रहनेकी अभिलाषा है!! और फिरभी यह स्वयं घातक मानव जाति अपनेको सभ्य और पवित्र कहनेका साहस करती है!!!

नूतन प्रणालीके ऊंची छतोंवाले घर आदि, जिनमें पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने अनेकानेक खिड़कियों द्वारा वायु सञ्चारादिका बहुत कुछ प्रबन्ध रक्खा है, वहांभी प्रकाशका रोनाही है। क्योंकि जिस प्रकार अग्निरूप दहकते हुए लोहेका छोटासा कण हिम समान पत्थरकी शीतल चटानपर रक्खनेसे उसको ऊष्ण करनेकी अपेक्षा स्वयं अपनेही ऊष्ण तापसे हीन हो जाता है, उसी प्रकार वह थोड़ासा प्रकाश, जो खिड़कियों और रौशन-दानोंसे आता है दूषित विकारोंको नष्ट करते समय स्वयंही अपने तापमय प्रभावको व्यर्थ नष्ट करता है।

यह कौन नहीं जानता कि एक बड़ेसे बड़े कमरेमें तनिकभी तीक्ष्ण गन्ध वाले पदार्थों द्वारा सारा कमरा दुर्गन्धसे परिपूर्ण हो जाता है? फिर कैसे सम्भव है कि वह विकार जो पृथ्वी या मनुष्यके श्वासादि द्वारा उत्पन्न होते हैं, कमरेकी वायुको दूषित न करते होंगे?

हमें शोक है कि विदेशी स्वार्थमय राज्यने कोई ऐसा उचित स्वास्थ्य सम्बन्धी विभाग नहीं रक्खा है, जो सरकारी या जनताके कार्यालयों, स्कूलों और रेल गाड़ियों आदिकी ओर, जिनमें मनुष्योंकी अधिक संख्या और संक्रामक रोगियोंके दूषित कीटाणुओंसे नित्य वायु आदि इतनी विकृत हो जाती है, कि उनमें जानेवाला कोई स्वस्थ नहीं रह सकता, तनिकभी ध्यान दे। वहां तो केवल आडम्बरों और तीसवें दिन अपना खरा वेतन लेलेनेसे प्रयोजन है। और इससेभी अधिक उनकी यह उपेक्षा है कि वायुको अत्यधिक विषैला करनेके निमित्त मोटर या ऐञ्जिनोंको नगरियोंमें चलाने, हलवाइयों आदिको धुएं करने और कूचरों आदिको मांसादिकी दूकानें

खोलनेकी आज्ञा दी जाती है। क्या वह यह नहीं जानते कि नगरोंमें किसी प्रकार धुआं करना और दुर्गन्धित पदार्थोंकी दूकानें होना शरीरपर क्या अपकार करता है?

आजकल स्वार्थी राज्यके आधीन होनेसे हमारे अभागे देशमें ऐसा स्थान, जहां स्वास्थ्य सम्बन्धी विभाग अच्छा काम कर रहा हो मिलना दुस्तरही नहीं प्रस्तुत असम्भव है। क्योंकि कलकत्ता, बम्बई, देहली, लखनऊ और लाहौर आदि सरीखे स्थानोंमें कोईभी ऐसा नगर नहीं, जहां अपवित्र नाले न बहते हों, और कूड़ा-घर आदि न सड़ते हों। हां, इतना अवश्य है—नगरके जिन भागोंमें अङ्गरेज़ देवता निवास करते हैं वह निस्सन्देह स्वर्ग भूमि बने हुए हैं, यद्यपि दोषोंसे शून्य वहभी नहीं। अतः इन नगरोंकी टीप-टाप सुवर्ण-पात्रमें लिपटी हुई विषकी गोली नहीं है तो क्या है? जितना इन नगरोंमें ऊंचे, ऊंचे घरोंके बनानेसे सूर्यकी किरणोंका मार्ग और वायु सञ्चार रुक जाता है, उतनेही अधिक इनके पुरवासियोंको रोग सताते जाते हैं।

यह बात ठीकही है कि चींटीके तभी पंख उपजते हैं, जबकि उसकी संख्याका विकास उन्नतिकी अन्तिम सीमाको प्राप्त हो जाता है, और पंखों द्वारा उड़ाकर अन्य पक्षियोंका आहार बनाके प्रकृति उसका पतन चाहती है। अतः अनेक प्रकार विषैले गैसों द्वारा वायुको अपवित्र बनाने वाले, और गैसों एवं विद्युतादिके प्रकाशोंसे हमारे नेत्र फोड़ने वाले नगरोंका निवास, और इससेभी अधिक मेलों, थियेट्रों और सर्कसों आदिमें जाना, हमारी जनसंख्यामें अनावश्यक वृद्धि हो जानेसे प्रकृति द्वारा विकसित बुद्धिके कारण हमारे पतनकी सूचना देरहा है। अतएव हमारा समझानाभी बहुत सीमातक निष्फल है; क्यों कि मनुष्योंकी वृद्धि हो जानेसे प्रकृतिही हमारा पतन चाह रही है; और यह निश्चय हमारेही कुकर्मों द्वारा होकर रहेगा। किन्तु अन्तमें वह दिन शीघ्र आनेवाला है कि बुद्धि द्वारा कृत्रिम उत्पादित रहन-सहनके साधनों और जगत व्यापी समर होनेसे पापियोंका नाश होनेपर मनुष्य अपने पतनसे विकल होकर अपनी रक्षार्थ फिर प्रकृतिकी शर्ण लेगा, और उसी समय सुखके राज्यकी स्थापनाके निमित्त हमारा प्राकृतिक शास्त्र उपयोगी सिद्ध होगा।

हम मनुष्यको गृहादिकी रचना करनेके निमित्त कभीभी नहीं रोकते। परन्तु उसको अपनी विकसित बुद्धिसे काम न लेकर कमसे कम इन मधु मक्षिकाओंसेही

पाठ लेना चाहिये, जो अपूर्व स्वास्थ्य रक्षक छत्तोंकी रचना करके उनमें रहती हैं। न्यूनातिन्यून एक वार तो उनके छत्तोंपर वैज्ञानिक दृष्टि डालनी चाहिये।

स्थानाभावसे पूर्णतः इस विषयकी त्रुटियां यहां नहीं दर्शायी जासकतीं। अतः अत्र घर बनानेके विषयमें हम अपनी सम्मति देते हैं:—

संसारमें सबसे सुलभ, प्रवेशनीय और दुर्तापवाहक, अर्थात् जिसपर गर्मी, सर्दी, सीलन एवं पृथ्वीके विकारोंका प्रभाव न हो केवल तृणकी कुटियाही है। निदान् प्रकृतिके अनुसार प्रतिवर्ष हमको ऐसेही स्वच्छ घास-फूंसके प्रवेशनीय घर बनाने चाहियें जिनमें बयेकी तोंदके सदृश वायु और प्रकाशको यथेष्ट मार्ग मिलसके और सूर्यके ताप द्वारा विकृत कीटाणुओंका नाश होता रहे; क्योंकि वह घर जो सुतापवाहक होनेसे हमारी गर्मी, सर्दीसे रक्षा नहीं कर सकते, या जिनमें वर्षोंसे प्रकाश और सूर्यका ताप न पहुंचनेके कारण दिनमेंभी दीपक प्रज्वलित करना पड़ता है, अपवित्र होते, होते यदि नरकके समान नहीं हैं तो क्या हैं? अतः हम कभी किसी व्यक्तिको उनमें रहनेकी सम्मति नहीं देते।

कुटियाके चारों ओर विस्तृत और शुष्क एवं पवित्र तथा घने वृक्षादिसे शून्य क्षेत्र होना परमावश्यक है। अन्यथा वयेकी तोंदके सदृश हमारी कुटिया स्वास्थ्यप्रद न रहेगी। इसके अतिरिक्त निवासार्थ कुटियाके निकट अन्य ऐसे जीवोंका निवास न होना चाहिये, जिनके मल-मूत्रादिसे वायु अशुद्ध हो। कुटियाके भीतर अप्राकृतिक आडम्बर और अन्य सामग्री रखकर अपने स्वास्थ्यपर अपकार करनेकी आवश्यकता नहीं। कुटियाके भीतर भूमिके दूषित एवं गर्मी, सर्दीके विकारों और उसकी कठोर तलसे रक्षा करनेके निमित्त गुदगुदी घांस, फूंस, जो कभी, कभी सूर्यतापसे शुद्ध करली जाया करे, बिछाना आवश्यक है। विनोदार्थ और चैतन्यता प्रदान करनेके निमित्त कुटियाके समीप छोटे वृक्षोंकी ऐसी वाटिकाभी होनी चाहिये, जो वायु सञ्चार और सूर्य प्रकाशमें बाधक न हो; और जिसके द्वारा रोगके कीटाणुओंकी उत्पत्ति न हो। परन्तु आज कलकी सभ्यता हमारे कहे हुए मितव्ययिताके साधनों द्वारा प्रति वर्ष घास, फूंसके नवीन स्वास्थ्य रक्षक घरोंके बनानेकी आज्ञा नहीं देती तो निम्न लिखित रीतिसे चित्राङ्कित निवास स्थानोंकी रचना करनी चाहियेः—

पहिले घरकी नीवों और तलके नीचे दो या तीन फ़ीट बालू भरना चाहिये, जिससे पृथ्वीके विकारोंका प्रभाव कम हो और दीमक आदिसे बचाव रहे, तद्

उपरान्त मिट्टी आदिकी अपेक्षा दुर्तापवाहक काष्टका घर जिसकी छत और भीत ऐसी खिड़कियोंकी बनी हों, जो जब इच्छा हो डोरियोंके खींचनेसे खुलकर यथेष्ट वायु और प्रकाशको मार्ग देसकें, और जब चाहें तब वर्षा तथा आंधीरक्षार्थ बन्द कर सकें । तलपरभी काष्ठ या कोई दुर्ताप-वाहक पदार्थ बिछा होना आवश्यक है, जिससे हमारे शरीरतक पृथ्वीके विकार न पहुंचें । हमें प्रकृति द्वारा मनुष्यके पतनके साधन नष्ट [illegible] होते हुए आ[illegible] कि मन्द [illegible]नियोंका गर्भ [illegible] उपर्युक्त संस्कार न होनेसे अपनावेंगे । अतः हमारा उद्देश है कि यथाशक्ति ऊंचे, खुले हुए और चिकने प्लास्टर या चीनीके टाइल्स द्वारा पेवमेन्ट हुए हुए घर होने चाहियें
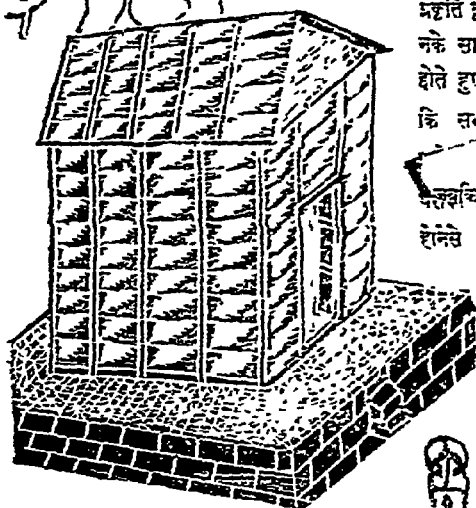
और उनकी भीतमें आले या अलमारियां न हों, जिनसे रोगोंके कीटाणुओंकी उत्पत्तिके साधन हों; और प्रति मास एकबार दहकते हुए कोयलोंसे भले प्रकार तप्त करके विषैले कीटाणुओंका नाश करते रहना चाहिये ।

हमको कहां निवास करना चाहिये ? : यह विषय बहुतही गम्भीर है । अतः न्यूनातिन्यून रोगियोंको इसपर बहुत ध्यान देना चाहिये । क्योंकि निवास

स्थानोंका भोजनसेभी अधिक प्रभाव पड़ता है। इसीसे यूरोपीय मनुष्य भारतीय मनुष्योंकी अपेक्षा अत्यधिक दूषित पदार्थोंका भक्षण करतेहुएभी वैज्ञानिकोंके उपदेशानुसार स्वच्छ वस्त्र धारण करने और पवित्र स्थानोंमें निवास करनेसे हमसे कहीं अधिक बलवान, स्वस्थ और चैतन्य मस्तिष्क वाले हैं। इसके अतिरिक्त वह हमारी अपेक्षा दीर्घायुभी होते हैं।

शयन सम्बन्धी बातें

रवि देवका अस्त और उदय होनाही हमारे सोने और जागनेके समयको बतानेवाला एक प्राकृतिक संकेत है; परन्तु जिन देशोंमें दिन और रात्रिके समयका परिमाण एक दूसरेसे अत्यधिक होता है वहां हमारी प्रकृतिके विपरीत समयका अन्तर होनेसे रात्रिकी निद्राको पूरा करनेके निमित्त दिनमें शयन करने और दिनके काम-काजकी पूर्ति करनेके हेतु रात्रिमें जागनेको बाध्य होना पड़ता है; और मनुष्यका स्वास्थ्य उचित दशामें नहीं रहता। परन्तु जिन देशोंमे दिन और रात्रि समान समयके होते हैं, वहां मनुष्यके सूर्यास्त कालपर सोने और सूर्योदयके समय उठनेकाही यह परिणाम होता है कि हमारा दिनभरके कार्योंसे थकित शरीर रात्रिके विश्राम द्वारा नवजीवित और चैतन्य होनेसे, यदि हम रोगी नहीं हैं, तो प्रफुल्लित वदन उठते हैं; और रात्रिको कुसमय शयन करनेसे थकित शरीरको और थकानेके कारण निस्सन्देह प्रसन्नताकी अपेक्षा उदासीनताके साथ अङ्गड़ाइयां लेते हुए बहुत दिन चढ़े उठते हैं, और इसपरभी शरीरमें हड़फूटन और नेत्रोंमें दाह प्रतीत होती है। अपरञ्च यहभी अनुभवमें आया है कि प्रकृतिके विपरीत दिनमें शयन करने और रात्रिमें जागनेवालोंको रात्रिमें शयन करनेवालोंकी अपेक्षा अत्यधिक आलस्य और अनेक प्रकारके रोग होते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे नेत्रभी इस बातके साक्षी हैं कि वह रात्रिमें विना कृत्रिम प्रकाश (दीपकादि) के, जो प्रकृतिके साथ एक धींगा-धींगी है, तिमिर वश कुछ काम नहीं कर सकते, जब कि उल्लू और चिमगादर सरीखे जीवोंके नेत्र जो दिनमें देखनेको असमर्थ हैं, अन्धेरीसे अन्धेरी रात्रिमें सुगमता पूर्वक अपने कार्योंको कर सकते हैं। अतः हमारे नेत्रोंकी प्रकृति रात्रिमें

शयन करना चाहती है, और उल्लू आदिके नेत्रोंका नैसर्गिक धर्म दिनमें शयन-करनेका है।

शयन करनेके स्थान गर्मी, सर्दी और सीलनसे रक्षा करनेके हेतु दुर्तापवाहक पदार्थों द्वारा रचित और वायु एवं सूर्यके तापको यथेष्ट प्रभाव करनेके हेतु प्रवेश-नीय होने चाहियें।

रात्रिको विद्युत (इससे वायु अपवित्र नहीं होती), और गैस आदिके लेम्पों द्वारा नेत्रों और वायुको नष्ट न करना चाहिये। यद्यपि विद्युतके प्रकाशसे गैस या अन्य तैला-दिके सदृश ओपजनके न जलनेके कारण वायु दूषित नहीं होती, तथापि प्रकाशकी तीक्ष्णता नेत्रोंमें घाव करके उनको बिना हानि पहुंचाये नहीं रहती। आज दिन विज्ञानकी उन्नतिसे ऐसे तीक्ष्ण प्रकाशोंका आविष्कार हो चुका है, जिनके द्वारा पृथ्वीके भीतरके पदार्थभी बाहारसे प्रतीत हो सकते हैं, फिर रात्रिको प्रकाशसे दिन बनाना तो एक साधारण बात है! परन्तु यह सभी अलौकिकता हमारे पतन का संकेत है। यदि हमारी सभ्यता उल्लूके समान रात्रिमे कार्य करनेको बाध्य करती है तो हमारे अनुमानसे अन्य प्रकाशोंकी अपेक्षा मोमवत्तीका प्रकाश उत्तम है; किन्तु उसेको शिरके पीछे रखना चाहिये, जिससे नेत्रोंको अधिक कष्ट न हो।

हमारे नीचे बिछानेके निमित्त प्राकृतिक वाटिकामें केवल घास, फूंस या रुई आदिही सर्वोत्तम पदार्थ हैं; किन्तु सभ्यताकी नानी और मितव्ययिताकी शत्रु बुद्धिने हमारे ऊपर वह दण्डा फेरा है! कि हमारी समझमें हितकी बात एक नहीं आती, और आनेही क्यो लगी है? क्यों कि:—

> है मुकद्दरमेंही 'कर्नल', गर मुसीबत आपके,
> ख्याल उलटे खोपड़ीके खुदबखुद हो जायंगे।

परन्तु स्मरण रहे कि भारतका हित इसीमें है कि हम प्रकृतिके साथ, साथ चलें। जैसे अपने देशके खद्दरको अपनाकर हमने सुख पाया है उसी प्रकार फूंसके घर और शय्या हमको सुख देंगे। फूंसके घरों और बिछोनोंको साधारण न समझना चाहिये। यह खद्दरसेभी अधिक महत्वके पदार्थ हैं। इनसे हमारे स्वास्थ्य सरीखे अमूल्य पदार्थोंकी अपेक्षा हमारे उन दारिद्रतासे पीड़ित भाईयोंको, जिन्हें लज्जावश दिखावेके निमित्त अपने शरीर और धनका नाश करके एवं ऋणी होकर, गृहादि बनानेके लिए बाध्य होना पड़ता है, अपार सुख प्राप्त होगा। हमको विदेशी फैश-

नोंके अनुकरणको तिलाञ्जली देकर अपने उन पूर्वज ऋषियोंकी ओर दृष्टि डालनी चाहिये, जिनकी शय्या केवल कुशाके तृणोंकी होती थी। हमारा अनुमान है, इस संकटमय समयसे तभी छुटकारा हो सकता है, जबकि हम अपनी विकसित सभ्यतासे हाथ धोलें। किन्तु यदि हम एकैक ऐसा करनेको प्रस्तुत नहीं हैं तो छीदी बुनी हुई विषैले कीटाणुओंसे शून्य चारपायीका प्रयोग करना चाहिये। परन्तु हमारा फिर कहना है कि जितने आडम्बर होंगे उतनाही दुःख अधिक होगा।

जिन वस्त्रादिको शयनार्थ प्रयोग किया जाय वह अति स्वच्छ और ऋतुओंके अनुसार हमारी रक्षार्थ दुर्तापवाहक हों। हमारे अनुमानसे इस कार्यके लिए ग्रीष्म और वर्षाऋतुमें आवश्यकतानुसार मोटाईका खद्दर और शरदऋतुमें काशमीरी ऊनी पट्टी या कम्बल आदि सर्वोत्तम हैं। परन्तु यह ध्यान रहे कि कोई वस्त्र इतना अन-प्रवेशनीय न हो जो आवश्यकतानुसार वायु सञ्चारमें बाधक हो।

शयन करते समय नासिकाके द्वार न ढके जावें, अन्यथा नासिका एवं गुदा द्वारा त्यागी हुई विषैली वायु पुनः श्वांस द्वारा शरीरमें पहुंचकर उसका नाश करेगी। शयन करनेके स्थानोंमें शयनार्थ वस्तुओंके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंका रखना शरीरपर अपकार करना है; और इससेभी अधिक हानिप्रद एक स्थानपर कई व्यक्तियोंका शयन करना, और शयनागारमें रात्रिके समय वायु सञ्चारको मार्ग न देना, या किसी प्रकार धुएं उत्पन्न करना, एवं अग्नि द्वारा ओषजनका नाश करना है।

कठोर पदार्थोंपर बिना गुदगुदे पदार्थोंकी सहायताके कभी भूलकरभी शयन न करना चाहिये। क्योंकि इससे शरीरकी अनेक नाड़ियां और मांस पेशियां शिथिल हो जाती हैं। रोगीके विषयमें उसको विश्राम देनेके हेतु बहुतही सूक्ष्म, कोमल और गुदगुदे पदार्थोंसे काम लेना चाहिये। क्योंकि उस समय उसकी सच्ची मैत्री एक मात्र शय्यासेही होती है।

स्नान

-:*:-

शरीरको स्वच्छ और चैतन्य करनेके हेतु वायु और सूर्य-तापके अतिरिक्त त्वचाके अनुकूल अनुत्तेजक जलका स्नानभी एक प्राकृतिक साधन है। ... व जिस प्रकार भोजन, वायु और प्रकाश हमारे शरीरकी शक्तियां व्यय

होनेपर नवजीवन प्रदान करते हैं, उसी प्रकार जीवनमय स्वच्छ जलका स्नानभी, त्वचाको शुद्ध करनेके अतिरिक्त शरीरको नवजीवित करते हुए चैतन्य करता है। परन्तु हमको अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल शीतल देशोंमें निवास करनेके निमित्त शीतल और स्वच्छ (ताज़ा) जलसे स्नान करते हुए प्रकृति भय दिखाती है। इसीसे हम कृत्रिम साधनों द्वारा जलकी शीतल उत्तेजनाको न्यून करनेके निमित्त अग्निसे उष्ण करते हैं। परन्तु इस प्रकार जलको अग्नि द्वारा तप्त करनेसे उसकी जीवन शक्तियां वायु मण्डलमें लय हो जाती हैं, और उसके द्वारा हमारे शरीरका मल दूर न होनेके अतिरिक्त नवजीवन भी प्राप्त नहीं होता। प्रत्युत उष्ण जल द्वारा उसके शीघ्रतासे वाष्प भवन होनेकी प्रकृतिसे शीतल जलकी अपेक्षा हमारे शरीरकी उष्णताभी अधिकांश उसकी वाष्पके साथ उड़कर वायुमें लय हो जाती है, जिससे हमारी शक्तियोंका कुव्यय होता है। इसके अतिरिक्त शरीरके अधिक शीतल होनेपर उसकी उत्तेजनासे उसमें अनावश्यक प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है, जिससे अधिकाधिक रक्तका व्यय होनेसे हमारी शक्तियोंका क्षति होता है। किन्तु शीतल देशोंमें दुर्भाग्य वश निवास करनेसे शीतल जलका स्नान सह्य न होनेके कारण जलको उष्ण करनेके अतिरिक्त हम अन्य कोई साधनभी नहीं रक्खते हैं। अतः अति शीतल देशोंमें सह्य उष्ण जलसे स्नान करनेके उपरान्त शरीर पोंछकर तुरन्त दुर्तापवाहक वस्त्रोंमें लेट जाना चाहिये, जिससे हमारे शरीरपर शीतल वायु आदिका अपकार न हो। क्योंकि उष्णताके उपरान्त शीतलता उसी प्रकार हानि पहुंचाती है, जिस प्रकार तिमिरके स्थानसे एकैक प्रकाशमें जानेपर नेत्रोंको दीखना बन्द हो जाता है। अपरञ्च उष्ण जलके स्नानसे त्वचाकी जीवन शक्तियां, जीवनके प्राप्त न होने, वाष्पके साथ हमारे तापके उड़नेसे शक्तियां व्यय होने और तापके प्रभावसे शरीरके झुलसनेके कारण, दिनोदिन न्यून होती जाती हैं, जिससे शरीर वायुके संसर्गसे कष्ट पाता है।

प्रत्येक व्यक्तिको ऋतु और देशादिके अनुसार प्रतिदिन एक, दो या जितनी बार आवश्यकता हो स्नान करना परमावश्यक है। क्योंकि सृष्टिके अन्य जीव जो केवल ऋतु और देशोंके तापके अनुकूल नवजीवन प्राप्त करनेकी आवश्यकताका अनुभव करके स्नान करते हैं, वह मलादिसे स्वच्छ होनेके हेतु एक दूसरेको परस्पर चाटने आदिका भी साधन रक्खते हैं; परन्तु यह मनुष्यकी प्रकृतिके प्रतिकूल है। अतः प्रकृतिके

निरन्तर शीतल देशों और ऋतुओंमें रहते हुएभी त्वचाको विकृत और विषैले पदार्थोंसे स्वच्छ करनेके हेतु नित्य प्रति स्नान करना आवश्यक है।

हम यदि अपनी प्रकृतिके अनुकूल ऋतुओं और देशोंमे निवास करते हैं तो नितान्त हमको सुन्दर, निर्मल, क्षार एवं धातुओं आदिसे रहित उस श्रेणीके शीतल प्रवाहित जलमें डुबकी लगाकर स्नान करना चाहिये, जो हमारी त्वचाको असह्य न हो। कारण यह कि त्वचा द्वारा उसकी ज्ञान शक्तिकी सहायतासे हमारी प्रकृति अति शीतल या उष्ण जलसे स्नान करनेकी आज्ञा नहीं देती। इसीसे अति शीतल जलभी वैसेही हानि पहुंचाता है जैसे उष्ण जलसे कष्ट होता है। क्योंकि अत्यधिक शीतल जल हमारे रक्त-कणोंको शरीरके भीतर सिकुड़नेको बाध्य करता है। फलतः उनके नीचेके रक्त-कण अपनी निरन्तर क्रियामें बाधा पड़नेसे ऊपरके कणोंमें बल पूर्वक अत्यधिक रक्त भेजनेको बाध्य होते हैं, और इस अनुचित रक्तके तीव्र प्रवाहके घर्षणसे शरीरमें दाह (ज्वर) उत्पन्न हो जाता; और उसके अनावश्यक सञ्चारसे रक्तका अधिक व्यय होता है। इसीसे यदि कुछ समयतक हस्त-तलपर हिमका टुकड़ा रख दिया जावे तो उसकी शीतलतासे रक्त-कण रक्तको भीतर भेजनेके हेतु विवश होते हैं, जिससे हाथकी नाड़ी रक्तहीन होकर पीतवर्ण हो जाती है, किन्तु बर्फके पृथक करनेही या कभी, कभी उससे पूर्वही नीचेके रक्त-कण रक्तकी अनुचित मात्राको अधिक कालतक स्थिर रखनेमें असमर्थ हो, उसके कष्टसे थककर इतने निबल हो जाते हैं कि वह अधिक समयतक उस रक्तकी अनुचित मात्राको अपने शरीरमें नहीं रख सकते, अन्ततः नीचेके कणोंसे रक्तकी अधिकाधिक मात्रा ऊपरके कणोंमें बलपूर्वक लौटनेसे दाहके कारण हस्त-तल लाल हो जाती है। अपरञ्च यहभी नित्य अनुभवमें आता है कि शरीरके अग्नि द्वारा जले हुए स्थानपर शीतल जल प्रयोग करनेसे उस समय उस स्थानकी प्रकृति शीतलताके प्रतिकूल होनेसे तत्क्षण छाले उठ आते हैं। परन्तु यदि हम शरीरपर नित्य प्रति अधिक शीतल जल या हिमादि प्रयोग करनेके अभ्यस्त हो जायें, तो त्वचाके निकटवर्त्ती रक्त-कण शीतल पदार्थोंकी तीक्ष्णताकी दाहसे कुछही कालमें ऐसे निर्जीव, कठोर और रक्तहीन हो जाते हैं, जैसे धीमी, धीमी अग्निके स्पर्शसे हमारी त्वचा रसहीन हो जाती है, और फिर रक्त-कणोंके निर्जीव होकर त्वचाके दुर्तापवाहक हो जानेसे शरीरके भीतर शीतलताका प्रभाव न पहुंचनेके कारण प्रतिक्रिया न होनेसे ठीक उसी प्रकार शीतलताकी

दाहका ज्ञान नहीं होता, जिस प्रकार अग्नि स्पर्श करते रहनेसे उसका अभ्यस्त होने पीछे अग्निका ताप प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त रक्तके सञ्चारमें अनावश्यक प्रतिक्रिया द्वारा अनुचित वृद्धि हो जानेसे रक्तका कुव्यय होनेके कारण हमारा स्नायु और अन्य नाड़ियां एवं अवयव शिथिल होकर उसी प्रकार कर्त्तव्यहीन हो जाते हैं, जिस प्रकार पच्चीस मील चलनेवाला बैल पैंतीस मील चलानेसे दूसरे दिन पन्द्रह मील चलनेकोभी समर्थ नहीं होता।

जर्मनी, अमेरिका और आस्ट्रियाके जल चिकित्सकोंने प्रत्येक रोगकी चिकित्सार्थ अति शीतल जल-क्रियाओंसे त्वचाको उत्तेजित करके शरीरकी रक्तवाहिनी नाड़ियों आदि द्वारा प्रतिक्रिया स्थापन कर शिथिलताको नष्ट करने अथवा शरीरको उत्तेजना देकर हमारे विकारमय पदार्थोंको निकालने या अस्तव्यस्त करके सूक्ष्म करनेकी चेष्टा करने, या प्रतिक्रिया द्वारा शरीरमें उष्णता लानेके उपायोंको बड़ा हितकर कहा है। परन्तु यह कभी नहीं विचारा—इस प्रकार शीतलताकी उत्तेजना द्वारा बलात् नाड़ियोंको कृत्रिम प्रतिक्रिया करनेपर बाध्य करना, प्रथम तो रक्तकी अधिक मात्राका व्यय और शरीरकी जीवन शक्तियोंको शिथिल करना है, जिससे रोगी दिनोंदिन निर्बल होता जाता है। इसीसे अधिकांश रोगी जिनकी शीतल जल द्वारा चिकित्सा होती है निर्बल हो जाते हैं। द्वितीय जिस प्रकार अन्य तीक्ष्ण पदार्थोंसे हमारे जीवन-कणोंकी त्वचा फटनेपर वायुके संसर्गसे हमारे जीवनके रासायनिक पदार्थोंका विसङ्गठन होकर वायु मण्डलमें लय या विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर होनेके कारण रोगोंकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार जलकी तीक्ष्णताकी उत्तेजनासे प्रतिक्रियाके उत्पन्न होनेपर दाहकी उत्पत्ति होनेसे हमारे जीवन-कोषोंको उसकी वेधना द्वारा त्वचा विहीन होनेपर ओषजनके सहयोगसे हमारे जीवनके रासायनिक पदार्थों और तत्वोंका विकृत पदार्थोंमें परिवर्तन होनेसे अनेकानेक रोगोंके जन्म लेने या पहिले दमन किये हुए उन रोगोंके बीजाणुओं, जो शरीरमें उपस्थित होते हुएभी अपनी सूक्ष्मताके अर्थसे अदृश्य हो गये हैं; को पुनः उभर आनेमें सहायता मिलती है। परन्तु भ्रम वश जल चिकित्सक इस प्रकार रोगोंके उभरनेको अच्छा समझे हुए हैं। इसीसे उनका कथन है—छिपे हुए रोगोंको उनके वास्तविक रूपमें उभारना शरीरको सदाके लिए उनसे मुक्त करना है। किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। कारण यह कि जो रोग शीतल जलकी उत्तेजनासे उभरते

हैं, कुछ काल पीछे शरीरकी चैतन्य क्रियाओंके शिथिल हो जानेसे उनका मन्द रोगोंमें परिवर्तन होनेके कारण वैसेही प्रतीत नहीं होते, जैसे तम्बाकूका अभ्यस्त होनेके उपरान्त मितलीका ज्ञान नहीं होता । और यहभी अनुभवमें आया है कि कुछ कालमें शीतल जलसे रोगोंका उभरनाही नहीं वरन् शीतलसे शीतल स्नानोंके प्रभावका भी ज्ञान नहीं होता । निदान् अनुचित प्रतिक्रियाओंके हेतु तीक्ष्ण या असह्य शीतल जलसे स्नान करना वर्जित है । अतएव ऐसी श्रेणीके शीतल जलसे स्नान करना चाहिये, जो शरीरको चैतन्यता लाते हुएभी अनिवार्य उत्तेजनाके अतिरिक्त तीक्ष्ण न हो ।

ज्वर, पीड़ा या दाहके समय शरीर या उसके प्रदाहित भागोंका ताप उसी प्रकार बढ़ा हुआ होता है, जिस प्रकार शरीरके जले हुए अङ्गमें अधिक गर्मी हो जाती है । इसीसे तनिकभी शीतल जल या शीतल वायुके सहयोगसे शरीर या उसके प्रदाहित अङ्गोंमें वैसेही दाहकी मात्रामें वृद्धि हो जाती है, जैसे जले हुए हाथपर शीतल जलके प्रयोगसे छाले उठकर अधिक जलन होने लगती है । अतः दाहकी दशामें शीतल जलका स्नान निषेध है । परन्तु यदि किसी दाहसे पीड़ित रोगी को शरीरके मलसे शुद्ध करनेके निमित्त स्नान करनेकी आवश्यकता हो तो दाहकी अवस्थानुसार सह्य ऊष्ण जलसे वाष्प द्वारा तप्त किये हुए बन्द स्नानागारमें टबके भीतर डुबकी लगाकर बड़ी सावधानीसे स्नान करना चाहिये; और जबतक शरीरको भली भांति पोंछकर शुष्क करनेपर दुर्तापवाहक वस्त्र न धारण कर लिये जायं, कमरेको गर्म और बन्द रखना चाहिये । क्योंकि ऊष्ण जल वाष्प द्वारा वायुके साथ बड़ी तीव्र गतिसे शरीरकी गर्मीको उड़ाकर नाड़ियोंको शक्ति हीन करता है; और ऊष्ण शरीर-पर शीतल वायुका प्रभाव उस समय रोगीकी प्रकृतिमें प्रतिकूलता होनेसे दाहकी वृद्धि करता है, जिससे कभी, कभी बड़ी, बड़ी आपत्तियोंका सामना होता है ।

स्नान करनेके उपरान्त अन्य जीव बालू आदिमें लोटकर अपने शरीरको शुष्क करते हैं; परन्तु यह या इसी प्रकारका अन्य कोई प्राकृतिक साधन हमारी प्रचलित सभ्यताके विपरीत है । अतः हमको स्नान करके शरीरको शुष्क करनेके निमित्त, जिससे उसका ताप जलके साथ उड़कर वायुमें लय न हो, टर्किश रूएंदार तौलिया या मोटे कम बटे हुए सूत वाले खद्दरके अङ्गोछे प्रयोग करने चाहियें ।

शिरादिको स्वच्छ करनेके हेतु साबुन या अन्य तीक्ष्ण पदार्थोंकी अपेक्षा गज़नी

या अन्य कोई चिकनी मिट्टीही उत्तम है । क्योंकि साबुन या अन्य तीक्ष्ण पदार्थोंसे हमारी त्वचा, केशों और उनकी जड़ोंपर बहुत बुरा प्रभाव होता है । इसके अतिरिक्त साबुनके प्रयोग करनेसे दिनोदिन हमारे धनका कुव्यय होनेसे हमारा जीवन दुःखप्रद होता जाता है, और हमारी सम्पत्ति विदेशियोंके मुखका ग्रास होती है । अतः यदि भारत अपना कल्याण चाहता है तो अपने जीवनको आडम्बरोंसे शून्य करनेकी चेष्टा करे, और प्रकृतिसे निष्फल युद्ध करनेका प्रयत्न त्याग दे; अन्यथाः—

जंगे कुदरतसे जो ' कर्नल ', हश्र होगा अब बपा,
वक्तसे पहले हमारे, बस कयामत आयगी ।

स्नान करनेके स्थान वायु और प्रकाशके प्रभाव द्वारा अति स्वच्छ और स्नान करते समय शीतल या ऊष्ण वायुसे सुरक्षित हों । यथा शक्ति टबमें बैठकर डुबकी लगाके स्नान करनाही अच्छा है । क्योंकि जलमें बैठे हुए शरीरपर वायुके शरीरतक न पहुंचनेके कारण ऊपरसे जल छिड़कनेकी अपेक्षा उसमें उत्तेजना द्वारा प्रतिक्रिया कम होनेसे हमारी शक्तियोंका व्ययभी कमही होता है, और वर्षाके बर्षते हुए जलमें स्नान करनेसेभी यदि शरीरमें दाह या उसके चारों ओर शीत वायु न और प्रतिकूल ऋतु या देश न हो तो हमारे समस्त ओर जल होनेसे वायु हमको टबमें स्नान करनेके समानही हानि नहीं पहुंचा सकती । प्रत्युत किसी, किसी अनुकूल ऋतुमें वर्षामें स्नान करनेसे हमको बड़ी चैतन्यता प्राप्त होती है ।

हमको अपने स्नान करनेके पदार्थ उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्तिके कार्यमें न लाने देने चाहियें जिस प्रकार रोगोंकी सम्भावनासे भोजनके पात्रोंको अन्य मनुष्योंके प्रयोगमें लानेसे बचाव करनेकी आवश्यकता है ।

मल, मूत्र त्यागनेके नियम

जीवनके अन्य मुख्य नियमोंके साथ, साथ मल, मूत्र त्यागनके ऊपर भी ध्यान देनेकी आवश्यकता है । क्योंकि मनुष्यने अपनी सभ्यताके बलसे प्रकृतिके अनुकूल हगना और मूतनाभी बन्द कर दिया है; और अधिकांश इस कार्यके लिए केवल प्रातका समयही नियत कर लिया है; किन्तु यदि किसीने शरीरपर बहुतही दया दृष्टि रक्खीतो सायंका समयभी इस बेगारके भुगतनेके निमित्त

निश्चय कर लिया। परन्तु इसके विपरीत हम यह नित्य अनुभव करते हैं कि सृष्टिके प्रत्येक जीवको जिस समयभी शौचादिकी इच्छा प्रतीत होती है वह उसी समय उससे निवृत्ति प्राप्त करता है, जब कि हम स्वच्छताकी डींग मारते हुए भी अपने शरीरमें मलको स्थान देते रहते हैं; और क्रमशः इसी प्रकार हमारे बुरे स्वभावोंके अनुकरणसे हमारी निर्दोष सन्तानभी उसी कुमार्गपर चलनेको बाध्य होती है। फलतः शरीर शिथिल होकर अपनी प्राकृतिक क्रियाएं करना त्याग देता है। फिर यदि हम नितान्त अर्श (बवासीर), पथरी, कोष्ठबद्ध एवं यकृत, फुफ्फुस और शिर पीड़ाओं तथा अनेक भयङ्कर रोगोंमें ग्रसित रहें तो कौन आश्चर्यकी बात है? निदान् हमको बालपनसेही मल, मूत्र स्थिर रक्खने और किसी नियत समय त्यागनेका अभ्यस्त होनेकी चेष्टा न करनी चाहिये, प्रत्युत जबभी इच्छा हो उनसे निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त हमारे देशमें मल, मूत्र त्यागनेकी जो दशा है उसका कथन करनाभी सभ्यताके विपरीत है। किन्तु मनुष्यका पतन देखकर लेखनी उठानेको बाध्य होना पड़ता है। हम लोग विशेषतः शौचागार घरके ऐसे भागमें रखते हैं जो समस्त स्थानोंसे दूषित हो; और यदि किसीने कुछ ध्यानभी दिया तो एक, आध छोटासा प्रकाश मार्ग (रौशनदान) खुलवादिया; अन्यथा प्रायः शौचागार काल-कोठरीके समानही होते हैं; प्रत्युत काशी सरीखे आर्य जातिके तीर्थ स्थानपर तो यहांतक देखनेमें आया है कि अनेक गङ्गा किनारे वाले घरोंके शौचागार जिस दिनसे बने हैं आज पर्यन्त उनसे विष्ठाभी नहीं निकाला गया है। अपरञ्च हमारे यहां यहभी कोई गिन्ती नहीं है कि एक शौचागारमें कितने मनुष्य मल त्याग सकते हैं? वहां दो, चारकी तो कोई बातही नहीं, वरन् दो, दो, चार, चार दर्जनभी साधारण बात है।

सर्वोत्तम प्राकृतिक धर्म तो यही कहता है—मल, मूत्र त्यागनेकी इच्छासे वायु और प्रकाशसे स्वच्छ किये हुए विस्तृत क्षेत्रोंमें जाना चाहिये। परन्तु यदि हमारी सभ्यता आज्ञा न दे तो चीनीके कमोड प्रयोग करने सर्वोत्तम हैं, और यदि यहभी न हो सके तो शौचागारकी तल ढालदार सिमेन्टसे प्लास्टर किये हुए अत्यधिक कठोर पत्थरोंकी होना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त शौचागार ऐसे स्थानपर होना चाहिये जहां दिनभर सूर्य-तापका प्रभाव और शुद्ध वायुका सञ्चार रहे, एवं उसकी

दुर्गन्ध निवास स्थानादितक न पहुंच सके । कारण यह कि सूर्य देवके तापमें वह शक्ति उपस्थित है, जो जल और वायुमें अशुद्ध कीटाणुओंका हनन करनेके निमित्त कभीभी नहीं पायी जा सकती । इसीसे कलकत्ते आदिके चीनीके कमोडवाले शौचागारोंमें जलके बड़े, बड़े मोटे नलोंसे धड़ा-धड़ वारि प्रवाह होने और खिड़कियों द्वारा वायु पहुंचनेपरभी सूर्यकी किरणोंको मार्ग न मिलनेसे असह्य दुर्गन्धका अनुभव होता है । अपरञ्च उन शौचागारोंमें सूर्य-तापके न पहुंचनेसे विष्टे और मूत्र-की गन्धके अतिरिक्त जलकी नालीमें विकृत कीटाणुओंके उत्पन्न होनेपर सीलनकी अपवित्र गन्ध प्रतीत होने लगती है । अतः सिद्ध होता है कि किसी स्थानको मल, मूत्रसे स्वच्छ करनेके निमित्त जल केवल इतनाही कर सकता है कि उस स्थानसे मल, मूत्रके परमाणुओंको अधिकांश पृथक करके अपने प्रवाह द्वारा किसी अन्य-स्थानमें ले जाय, किन्तु यह सम्भव नहीं कि वह दुर्गन्धके परमाणुओंको नष्ट कर दे, और इसी प्रकार वायुभी अपनी प्रसार शक्तिसे दुर्गन्धके परमाणुओंको इतना विस्तार दे सकती है कि वायु मण्डलके विस्तृत क्षेत्रमें फैलकर सूक्ष्म हो जानेसे उनका अनु-भव करना दुस्तर हो जाय; किन्तु यह सम्भव नहीं कि वायु या जल दुर्गन्धके परमाणुओंको समूल नष्ट कर दें । परन्तु सूर्य भगवान्‌के ज्योतिर्मय प्रकाशके तापसे, मल-मूत्रादिसेभी अधिक दुर्गन्धित पदार्थोंके परमाणु, यदि उनको अन्य पदा-र्थोंकी सहायता न मिले, समूल नष्ट हो जाते हैं ।

जिस स्थानपर किसी अन्य व्यक्तिका मल, मूत्रादि पड़ा हो वहां शौचार्थ न जाना चाहिये, प्रत्युत जहांतक ऐसे दूषित पदार्थोंकी गन्धका प्रभाव हो एक पल भी स्थिर रहना उचित नहीं, क्योंकि इससे नासिकादि द्वारा विष्टेके परमाणुओं या उसके साथ रोगी मनुष्यके कीटाणुओंका हमारे शरीरमें प्रवेश होता है ।

हमारे शौचागार नित्य प्रति भले प्रकार धुलते रहने चाहियें, और यदि सूर्य-ताप उनतक न पहुंचता हो, यथाशक्ति शीघ्राति शीघ्र उनकी तलको दहकते हुए कोयलोंसे तप्त करते रहना चाहिये, जिससे दूषित परमाणुओंका नाश होता रहे ।

वस्त्र

—:*:—

'रोग और मृत्युकी व्याख्या' शीर्षक निबन्धसे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक रोगकी उत्पत्ति शरीरके जीवन-कणोंकी प्रकृतिके विपरीत उसका तीक्ष्ण

पदार्थोंसे संसर्ग होता है । अतः यदि हम शरद, ग्रीष्म तथा वर्षाऋतुके परिवर्त्तनानुसार जल, वायु, और तापके परिवर्त्तनार्थ अन्य देशोंकी उनकी प्रकृतिके अनुकूल ऋतुओंमें निवास करनेके निमित्त स्वास्थ्यरक्षार्थ गमन नहीं कर सकते हैं तो देश और ऋतुके अनुकूल सर्दी और गर्मीसे सुरक्षित रहनेके हेतु वस्त्रोंकी आवश्यकता है। कारण यह कि जिस प्रकार एकैक प्रकाशसे तिमिरमें जानेपर और अन्धेरेसे चान्दनेमें आनेपर कुछ कालके लिए दीखना वन्द हो जाता है, उसी प्रकार एकैक सर्दीसे गर्मी या ऊष्णतासे शीतलता लगनेपर शरीरमें प्रतिकूल उत्तेजनाके कारण दाह उत्पन्न होनेसे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त जैसे अति शीतल या अति ऊष्ण जलसे शरीरकी त्वचाके जीवन-कोष जीवन हीन एवं शुष्क और कठोर हो जाते हैं, या किसी, किसी समय शरीरभी आपत्तिसे शून्य नहीं रहता, उसी प्रकार अति शीतल या ऊष्ण वायुका शरीरपर आपत्ति जनक प्रभाव होता है । निदान् अति शीतलता या ऊष्णतासे वचनेके हेतु ऋतुओंकी अवस्थानुसार दुर्तापवाहक वस्त्रोंकी आवश्यकता है ।

दुर्तापवाहक वस्त्र केवल वही हो सकते हैं, जिनका सूत अधिक वटा हुआ नहीं है । क्योंकि सूतके अधिक वटनेसे उसके स्थूल होनेके कारण उसपर तापको स्थिर रहकर अपना प्रभाव डालनेका अवसर प्राप्त होता है, और सूतके कम वटनेसे उसके सूक्ष्म होने अर्थात् फूले रहनेसे उसपर तापका प्रभाव कम होता है । इसीसे सूतकी अपेक्षा रूईपर तापका प्रभाव कम होता है । और विना धुनी रूईकी अपेक्षा धुनकर फूलायी हुई अर्थात् सूक्ष्म की हुई रूईपर वहुत कम प्रभाव पड़ता है । अतः मेशीनोंके काते और वुने हुए वस्त्रोंकी अपेक्षा हाथके काते और वुने हुए सूतका खद्दर या कोमल काश्मीरी ऊनी पट्टी आदि अधिक दुर्तापवाहक और कम मूल्यकी हैं । इसके अतिरिक्त अपने देशके वने हुए वस्त्रोंसे हमारा धन विदेशियोंके हाथोंमें न जाकर हमारे दारिद्रतासे पीड़ित भाईयोंकी सहायता करता है । अतः अपने देशके वस्त्रोंका प्रयोग बड़े महत्वका कारण है । किन्तु इसपरभी यह लिखना आवश्यक है कि मेशीनरी द्वारा वुनी हुई फूले सूतकी फलेनेल या फूली हुई ऊनकी ट्विल मिलके अन्य वस्त्रोंकी अपेक्षा दुर्तापवाहक है ।

किसी ऋतु या देशमें, कसे हुए, भारी या अनप्रवेशनीय (गफ वुनावटके) वस्त्र धारण न करने चाहियें । क्योंकि ऐसा करनेसे त्वचाको ओपजन द्वारा जीवन प्राप्त होनेकी अपेक्षा त्वचासे निकला हुआ कार्वन वस्त्रोंसे रुक जानेके कारण

दिनों दिन भारी हानि होती है, और शरीरको त्वचाके छिद्रों द्वारा ऑक्सिजनके स्थानमें फिर वही कार्बन ग्रहण करके अनेक रोगोंसे सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कसे हुए या अति कोमल वस्त्रोंसे फुफ्फुसादिको छाती आदि फुलाकर श्वास प्रश्वास द्वारा स्वतन्त्रता पूर्वक अपना कर्तव्य पालन न कर सकने, और कन्धों एवं उदरके दबनेसे फुफ्फुसके ऊपर वाले भाग प्रज्वलित होने और अन्त्रादिकी आकृतिमें अन्तर आजानेसे हम अनेक प्रकार रोगी और निर्बल हो जाते हैं।

हमारे देशमें विज्ञानकी कमी और दरिद्रताकी पीड़ाके कारण प्रति शत एक मनुष्य भी स्वच्छ और शुद्ध वस्त्र धारण करनेवाला न पाया जायगा। हमारा धन तो केवल ऊपर-आपके अनावश्यक वस्त्रोंमेंही व्यय होता है। हम सहस्रों रुपये लगाकर विवाहादिके निमित्त दूषित वस्त्र बनानेमेंही मनुष्यत्व समझते हैं; परन्तु कौड़ियां व्यय करके हम उन्हें शुद्ध रखना सीखेही नहीं हैं। इसीसे प्रायः जनसंख्या रंगीन वस्त्र बनवाया करती है, जिससे वह मल और विषोंका केन्द्र होते हुए भी दूसरोंको मैले प्रतीत न हों। हा, धिक्कार है मनुष्यकी ऐसी बुद्धिको, जो केवल दिखावेके भयसेही रंगीन वस्त्रों द्वारा अपवित्रताके छिपानेका प्रयत्न करती है। हमारे अनुमानसे जिस वस्त्रको पहन या ओढ़कर उसमें एक बार स्वेदकी तरी हो जाती है, वह निश्चयही दूषित हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार मूत्र या विष्ठेके लग जानेसे हम किसी वस्त्रको अपवित्र समझने लगते हैं उसी प्रकार स्वेदके संसर्गसेभी प्रत्येक वस्त्र मूत्रादिके सदृशही अपवित्र हो जाता है। अतः बार बार धिक्कार है उन मनुष्योंपर जो लोभवश ऐसे अपवित्र वस्त्रोंका प्रयोग करते हैं। हमारी सम्मतिमें रात्रिको शयनार्थ प्रयोग किये हुए वस्त्र प्रातके समय और दिनमें धारण किये हुए वस्त्र सायंकालको उष्ण जल और साबुन आदिसे भले प्रकार स्वच्छ करने और तीक्ष्ण सूर्य-तापमें सुखाने चाहियें। अन्यथा हम किसी प्रकार स्वच्छ रहनेकी डींग नहीं मार सकते; और न स्वस्थही रह सकते हैं। शरीरसे स्पर्श करने वाले वस्त्रोंपर कलङ्क होना शरीरपर अपकार करना है।

हमारे वस्त्रोंका वर्ण यथाशक्ति श्वेत होनाही उत्तम है। क्योंकि श्वेत वस्त्रपर तापका प्रभाव कम होता है। इसीसे श्वेत वस्त्रकी अपेक्षा कृष्ण वर्णके वस्त्रपर काँच द्वारा सूर्यकी किरणोंका एकीकरण करके शीघ्र अग्नि उत्पन्न की जा सकती है। निदान यथाशक्ति श्वेत वस्त्रही धारण करने चाहियें, जिससे हमारे धनकी

बचत, स्वास्थ्यका लाभ और विदेशियोंके रंगोंका मुंह काला हो । और कच्चे रंगोंको तो भूलकरभी काममें न लाना चाहिये । क्योंकि इनके कच्चेपनसे श्वेदसे फैलने पर इनका विष कलफ किये हुए वस्त्रोंसेभी अधिक हानि पहुंचाता है । प्रत्युत शरीरसे स्पर्श करने वाला तो कोई वस्त्र रंगीन होनाही न चाहिये ।

ओढ़ने बिछानेके वह वस्त्र जिनका शरीरसे स्पर्श नहीं होता है, या जिन-तक श्वेदका प्रभाव नहीं पहुंचता है, यदि जल, द्वारा शुद्ध न किये जायं तो नित्य सूर्यके तापमें अवश्य फैलाने चाहियें । अन्यथा उनमें रोगोंके हेतु दूषित कीटाणुओंका जन्म हो जाता है । इसके अतिरिक्त शयनार्थ वस्त्र भूलकरभी अनप्रवेशनीय और भारी नहीं रक्खने चाहियें; क्योंकि उनसे शरीरकी गर्मी अधिकांश रुक जानेसे हमारे अचैतन्य होनेके अतिरिक्त हमको ऊष्णताकी अनुचित उत्तेजनासे स्वप्न दोषका भय रहता है । इसीसे उन मनुष्योंको जो शरदऋतु या शीतल देशोंमें वस्त्रोंके अभावसे सारी रात सिकुड़े पड़े रहते हैं विना अजीर्णादिके कभी स्वप्न दोष नहीं होता ।

अधिक मोटे और भारी वस्त्रोंकी अपेक्षा फूले हुए सूत या ऊनके कई कोमल और हलके वस्त्रोंको मिलाकर ओढ़ने या पहननेसे प्रत्येक वस्त्रके नीचे शरीरकी ऊष्णता रुक जानेसे हमारी गर्मीका व्यय कम होता है और ऋतुओंका तापभी कम प्रभाव डालता है; और वह हलके होनेसे अधिक हानि नहीं पहुंचा सकते । इसीसे जिस मोटे कम्बलमें शीतलताका अनुभव होता है, यदि उससे आधी मोटाईके अन्य कम्बलके नीचे एक हलके खद्दरका चादरा लगा लिया जाय तो शीतलताका उतना ज्ञान नहीं होता और न मोटे कम्बलके सदृश बोझही रहता है ।

अनुकूल ऋतुओं, देशों और पवित्र स्थानोंमें जूते आदि पहनकर पगोंको बन्दी करना किसी प्रकारभी उचित नहीं है । किन्तु जिन स्थानोंमें सर्दी, गर्मी, सीलन या रोगके कीटाणुओंसे कष्ट हो, या सर्प, बिच्छू या कांटे आदिका मार्ग हो, या ग्लानियुक्त स्थानोंमें जाना पड़े तो उसी स्थानके अनुकूल गुण वाले जूतेका होना आवश्यक है । जैसे साधारण या ऊष्ण स्थानोंके लिए स्लीपर या हाफ् स्लीपर, अथवा चप्पल और शीतल या अपवित्र स्थानोंके निमित्त बूट या शू । परन्तु इस बातका ध्यान रहे कि पैरको दबाने या रक्त सञ्चारको रोकने वाला जूता न हो । अतः यथा शक्ति विस्तृत पञ्जेका जूता पहनकर लेस बहुत कसकर न बांधने चाहियें । सर्दी या गर्मीसे सुरक्षित रखने वाला जूता केवल ऊन या उसीके

सदृश अन्य दुर्तापवाहक पदार्थोंका हो सकता है । किन्तु सर्दीकी अपेक्षा गर्मीमें या अपवित्र स्थानोंके निमित्त उनके अतिरिक्त चाम, रबर या अन्य पदार्थोंकाभी जूता पहिना जासकता है; परन्तु सर्दीमें प्रयोग होनेवाले जूतोंके भीतर ऊनी पदार्थ अवश्य होने चाहियें । यदि चामके जूते प्रयोग किये जायं तो उसके दूषित प्रभावसे बचनेके निमत्त भले प्रकार पककर कसे हुए कोमल चामके जूते बनाये जावें और इसपरभी मोजोंका काममें लाना आवश्यक है । जूतोंके विषयमेंभी स्वच्छताको हाथसे न देना चाहिये, क्योंकि जूतोंमें स्वेदके प्रवाहसे अनेक विष उत्पन्न हो जाते हैं । अतः पग-तलके नीचे जूतोंमें रबर लगी होनी चाहिये, जिससे आवश्यकतानुसार उसे जूतेमेंसे निकालकर जल द्वारा स्वच्छ करलिया जाय । हमारी सम्मतिमें यथा शक्ति ऐसे प्रवेशनीय जूते प्रयोगमें लाने चाहियें, जिनके द्वारा वायु सञ्चारमें अधिक बाधा न हो और पगोंको दबनेका कष्ट न सहन करना पड़े । परन्तु इस प्रकारके जूते सब देशों या ऋतुओंके अनुकूल नहीं हो सकते । अतः प्रत्येक देशके निमित्त भिन्न प्रकारके जूते होनाही आवश्यक है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमने सर्दी और गर्मीकी रक्षार्थ अशक्त हो वस्त्रोंके धारण करनेकी आज्ञा दी है । किन्तु सर्वोत्तम यही है कि जिस प्रकार आमोंकी ऋतु समाप्त होतेही हमारे देशमे ऋतुकी प्राकृतिक प्रतिकूलताके कारण कोकिला विदा हो जाती है, उसी प्रकार हमकोभी ऋतु परिवर्त्तनार्थ अपनी प्रकृतिके अनुकूल ऋतुओंके देशोंमें प्रस्थान करते रहना चाहिये, जिससे हमको वस्त्रादिकी दासत्व न स्वीकार करनी पड़े । परन्तु आज हमारे लिए इस प्रकार भ्रमण करते रहना लगभग असम्भव है । क्योंकि प्रथम तो हमारे सामाजिक स्वार्थ मय सङ्गठनकी कुरीतियोंसेही इस प्रकृतिकी बनायी हुई भूमिपर जिस मनुष्यने अपना अनुचित अधिकार कर लिया है उसपरसे उसके जीवन तकही नहीं वरन् उसकी पीढ़ियोंतक उसका अनाधिकार नहीं छूटता; द्वितीय मनुष्यपरभी शासन करने वाले राक्षसोंने पृथ्वीभरकी भूमिपर अपना कर लगा रक्खा है । अतः ऐसी दशामें यदि कोई देशात देश भ्रमण करना चाहे तो उसके खड़े होनेको एक पग स्थानभी शून्य नहीं है । इसीसे प्रकृतिपर चलने वाले मनुष्योंकोभी वस्त्रोंकी शरण लेनी पड़ती है । परन्तु यथाशक्ति वस्त्रोंका कम प्रयोग करनाही उचित है, प्रत्युत अधिकांश समय नग्न रहना चाहिये । अन्यथा

हमारे शरीरके निर्बल हो जानेसे साधारण शीतलता या उष्णता द्वारा हमारे श्लेमपाक (निमोनिया) सरीखे रोगोंकी आखेट होनेकी सम्भावना है।

व्यायाम

आज पर्यन्त लगभग सभी मतोंके चिकित्सकोंने व्यायामके गुण गान किये हैं; और वास्तवमें हैभी ऐसाही; क्योंकि सृष्टिमें कोईभी जीव ऐसा नहीं जो अपनी नित्यकी क्रियाएं न करता हो, फिर भला हाथ पैर होते हुए मनुष्यही प्रकृतिके भोगोंसे क्यों वञ्चित रहे। परन्तु व्यायामका अर्थ दण्ड पेलना मुद्गर हिलाना, उम्बल करना, कुश्ती लड़ना, अनुचित दौड़ दौड़ना, अनावश्यक बोझ उठाना, बैठकें लगाना, अधिक चलना, कृत्रिम श्वांस प्रश्वांस क्रियाएं, घोड़े या बाइकिलकी सवारी, दिनमें कई बार मैथुन या अधिक भोजन करना, बहुत तैरना मस्तिष्कसे अधिक काम लेना, प्रत्येक समय नेत्रोंसे कार्य करना (उनकी सामर्थ्यसे अधिक पढ़ना), तीक्ष्ण स्वरसे गाना या चिल्लाना, उत्तेजक औषधियों, भोजनों, या अन्य पदार्थों द्वारा शरीरको उत्तेजित करना या अन्य किसी परिश्रम द्वारा रक्तका अनुचित व्यय करके शरीरकी शक्तियोंका इति करना नहीं है। प्रत्युत केवल उस सीमातक टहलना, उछलना-कूदना, वृक्षोंपर चढ़ना शरीरको अकड़ाना और अपने नित्यके आहारादि सम्बन्धी प्राकृतिक कार्योंका करनाही लाभ प्रद हो सकता है, जबतक हमको दुःख या थकन न प्रतीत हो। कारण यह कि थकन या कष्टके ज्ञान द्वारा हमको प्रकृति सूचित करती है कि अब परिश्रमकी अपेक्षा विश्राम द्वारा शरीरको पुनः शक्तियां सञ्चय और विषोंका परित्याग करके नवजीवित करनेकी आवश्यकता है; और यदि विश्राम न किया जायगा तो निरन्तर शक्तियोंका कोष शून्य और रक्तके जलनेपर विषोंकी उत्पत्ति होनेसे उनके, एवं रक्त-सञ्चारकी गतिमें वृद्धि होनेसे उसके घर्षण द्वारा दाह उत्पन्न होनेके कारण हमारे जीवन-कणोंका नाश होकर उनका विकृत कीटाणुओंमें रूपान्तर होना आरम्भ हो जायगा। इसीसे कड़े कार्य करने वालोंकी हस्त-तलके जीवन-कणोंका नाश होनेपर हमारी त्वचा इतनी कठोर और जीवन हीन होजाती है कि उसके काटनेमें न दुःख होता है और न रक्तही निकलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यायाम द्वारा हमारे कोमल जीवन-कोषोंके जीवनके

रासायनिक पदार्थोंके सूक्ष्म परमाणुओंका वायुमण्डलमें लय या विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर होनेपर स्थूल तत्वों और तन्तुओंके पदार्थोंमें वृद्धि हो जानेसे उनके निर्जीव होनेके कारण मांस-पेशियों एवं अस्थ्यादिके कठोर होनेके हेतु मनुष्यका शरीर शुष्क होकर काष्ठवत् कठोर हो जाता है, जिसको बड़े, बड़े विद्वान आरोग्यताके लक्षण कहते हैं। परन्तु शरीरमें कठोरता होनी उसकी जीवन शक्तियों एवं रसोंकी हीनताको प्रमाणित करती है। क्योंकि जिस प्रकार कोई वृक्ष रसोंकी न्यूनताके कारण स्थूल पदार्थोंकी मात्रामें वृद्धि होनेके हेतु जितना सूखता जाता है उतनाही जीवन हीन होनेपर कठोर होता जाता है। इसीसे कोई कठोर हाथोंवाला लोहकार हस्त-तलकी निर्जीविताके कारण अपने हाथोंसे सुन्दर चित्रकारी नहीं कर सकता; प्रत्युत किसी, किसीके हाथोंकी गद्दियां और ऊंगलियां तो इतनी कठोर या जीवन हीन हो जाती हैं कि वह अपने हाथसे भले प्रकार कोई छोटी वस्तु उठानेकोभी ऊंगलियां नहीं मोड़ सकता, और ऐसेही जितनी व्यायाम अधिक की जाती है उतनाही रक्तका व्यय और उसकी तीव्र गतिके घर्षण द्वारा ऊष्णतासे रसोंके जलनेपर शरीर शिथिल एवं निर्जीव या कठोर होता जाता है, जिसका यह परिणाम होता है कि पहलवानोंमें वैसेही चैतन्यता (फुर्ती) नहीं रहती जैसे कड़ा कार्य करनेवाले लोहकारकी ऊंगलियां तीव्र गतिसे नहीं मुड़ सकतीं। इसीसे वह आलस्य पूर्ण अजगरके समान पड़े रहते हैं; और प्रायः उनमेंसे सर्वांश नपुन्सक हो जाते हैं। अपरञ्च यहभी अनुभूत है कि अत्यधिक मानसिक व्यायाम करनेवाले उन्माद या अन्य मस्तिष्क सम्बन्धी रोगोंमें ग्रसित हो जाते हैं; नेत्रोंसे निरन्तर दुःख प्रद (महीन) काम लेने या रात्रिमें विश्रामकी अपेक्षा जागनेवाले समयसे पूर्व उनके कठोर शिथिल और जीवन हीन होनेपर अन्धे हो जाते हैं; और शीघ्र, शीघ्र एवं कुपाच्य भोजन करनेसे हमारा आमाशय उत्तर दे बैठता है। कारण यह कि हमारे शरीरका कोईभी अवयव अपनी सामर्थ्यसे अधिक परिश्रम करनेको प्रस्तुत नहीं है। अतएव हमारी प्रकृति हाथोंसे साधारण कार्य करने पगोंसे सामर्थ्यानुकूल शनैः, शनैः चलने एवं अन्य इच्छित या अनिच्छित कार्य करनेवाले अवयवोंसे उनकी शक्तिके अनुकूल सुखप्रद काम करनेकोही कहती है। इसीसे वास्तवमें प्राकृतिक व्यायाम केवल समय, समयपर जब हमको आवश्यकता हो शरीरके अवयवोंको भरसक तानकर अंगड़ाना, या अपने खाद्य पदार्थोंकी खोजमें विचरना

और वृक्षों आदिपर चढ़ना या कभी प्रसन्न होनेपर उछलना, कूदना आदिही है। और ऐसेही सृष्टिके अन्य जीव शरीरको अंगड़ाकर तानते या अपने नित्यके आहारादि सम्बन्धी कृत्य किया करते हैं। क्योंकि शरीर स्वतःही विना किसीके सिखाये प्राकृतिक रूपसे अपनी थकनसे मुक्त होनेके हेतु अपनी नाड़ियों आदिको तानकर अंगड़ाना जानता है, और अपने आहारकी खोजमें विचरने और वृक्षोंपर चढ़ने, और प्रसन्नता द्वारा उछलने कूदने आदिकी क्रीड़ा करनेको बाध्य होता है; जब कि हमारी अन्य कृत्रिम व्यायाम विना सिखाये नहीं आ सकतीं। अतः प्रत्येक व्यायाम जिसको सीखनेकी आवश्यकता होती है या जिससे शरीरको कष्ट होता है प्रकृतिसेही हानिप्रद और अप्राकृतिक होनेके निमित्त निषेध है।

व्यायाम द्वारा अनेक प्रकार हमारे दीन जीवन-कण जिनपर हमारा जीवन निर्भर है हमारीही मूर्खतासे नष्ट हो जाते हैं। इसीसे नेत्रों द्वारा टिकटिकी लगाकर अर्थात् दृष्टि बांधके देखनेसे अधिक कालतक [illegible]यके तीक्ष्ण संसर्गके कारण अश्रुपात होनेसे जीवन-कोषोंसे जीवनके रासायनि[illegible] पदार्थोंका अनावश्यक व्यय होनेके हेतु वह शक्ति हीन हो जा[illegible] मैथुन [illegible]र काम करनेपर कठोर पदार्थोंके घर्षण द्वारा दाह होने[illegible]का विसङ्गठन होनेके हेतु उनसे जीवनके तरल रासायनि[illegible] जन्म लेनेके उपरान्त [illegible]ले उठनेका कारण होता है, और शीघ्रही वहांकी त्वचा निर्ज[illegible] नहीं होती [illegible] प्रकार [illegible] हो जाती है; सामर्थ्यसे अधिक चलनेपर रक्तकी तीव्र गति [illegible]ण द्व[illegible] दि[illegible] होनेके कारण रक्त एवं अन्य रसोंके जीवन-कोषोंका व्यय और विकृत पदार्थ[illegible] रूपान्तर होकर नाश होता है, जिससे विना अधिक चलनेकी व्यायामका अभ्यस्त बने थकनका ज्ञान या प्रायः ज्वरकी पीड़ा प्रतीत होती है; कुश्ती या दण्डादिमें रक्तकी तीव्र गति और रसोंके व्ययके अतिरिक्त सहस्रों जीवन-कणोंका तो शरीरके घर्षणमें चूर्णही हो जाता है, और अनेक शरीरमें स्वेद प्रवाह और उसमें छाले उठनेसे हमारे रसोंका धीरे, धीरे क्षति होन[illegible]भग निर्जीव और अचैतन्य हो जाते हैं; घोड़े आदिके समान [illegible] वाले वाहनोंपर हमारे गात्रके आन्तरिक कोमल अवयवोंके जीवन-कोषोंकी [illegible]न हीन करनेके लिए वही दुर्गति होती है जो एक कोमल फलको [illegible]ालनेसे उसके पिलपिले होनेपर होती है; अनावश्यक या गरिष्ठ भोजन [illegible] एवं परिश्रमके कारण आमाशयिक भीतके जीवन-कण निर्जीव होते

चले जाते हैं, जिससे भोजनके पाचनार्थ उसी प्रकार रसोंका स्राव नहीं होता जैसे कठोर कार्योंके करनेसे हाथकी गद्दियोंकी त्वचाके कठोर और जीवन हीन होनेपर सुई छेदनेसेभी रक्त प्रवाह नहीं होता; और उत्तेजक या तीक्ष्ण औषधियों अथवा भोजनों द्वारा नाड़ियोंके भड़ककर अधिक कार्य करनेसे रक्तकी तीव्र गति द्वारा उसके अनावश्यक और परिमाणसे अधिक व्यय होनेके कारण हमारा शरीर अपना नियमित कार्य करना त्याग देता है। इसके अतिरिक्त यहभी अनुभवमें आया है, कि किसी, किसी समय जो लोग शत्रु आदिके भयसे प्राण रक्षार्थ सामर्थ्यसे अधिक भागे हैं, अन्तमें फुफ्फुसादिसे प्रवाहित होनेपर मुखसे रक्त डालकर या रक्तकी तीव्र गतिसे उसके व्यय द्वारा जीवनका अन्त हो जानेसे मृत्युको प्राप्त हो गये हैं, और अपनी शक्तिसे परे अनावश्यक बोझ उठाने वालोंकभी जीवन भण्डारका क्षति हो जानेसे इसी प्रकार, अकस्मात् मृत्यु होती देखी गयी हैं। अपरन्च सुन्दरताके नष्ट करनेका दोष बहुत सीमातक व्यायामपरही अवलम्बित है। क्योंकि जन्म लेनेके समय जोकि व्यक्की सुन्दर और कोमल आकृति होती है वह दिनोदिन ज्यों, ज्यों [illegible] शिथिल एवं निर्जीव [illegible]र जैसे, जैसे काम करता जाता हैं उसीके अनुसार [illegible] कि पहलवानोंमें वैसेहलगती है। इसीसे पहलवानोंके मुख एवं समस्त शरीरसे लोहकारकी अंगलियां ते स्वस्थ मनुष्यकी अपेक्षा अधिक कठोर और बेडौल अजगरके समान पड़े [illegible] कोई सन्देह नहीं कि व्यायामके अतिरिक्त वायु आदिके रक्त सभी [illegible] और आलसनकी अपेक्षा अन्य अवस्थाओंमें क्रमशः अधिक जीवन हीन और बुरी आकृतिका होता रहता है; परन्तु व्यायामका हमारे गात्रको कुरूप और जीवनहीन करनेमें अधिक भाग है। इसलिए हमको उस अनिवार्य व्यायामके अतिरिक्त जिसके बिना हमारे जीवन सम्बन्धी कृत्य नहीं हो सकते, अनावश्यक अर्थात् कृत्रिम व्यायाम नहीं करनी चाहिये।

यद्यपि अनिवार्य व्यायामके हेतुभी नित्य हमारा शरीर कुछ न कुछ उसी प्रकार क्षीण होता रहता है जिस प्रकार गोदमें रहनेवाले बालककी अपेक्षा पगों द्वारा चलनेवाले बालकके पैरकी गद्दियोंकी त्वचा अधिक कठोर और जीवन हीन हो जाती है, तथापि कृत्रिम या अनावश्यक व्यायाम हमारे शरीरको अधिक क्षीण करती है। अतः परिणाम यही निकलता है कि कृत्रिम व्यायाम मात्रसे पृथक रहना चाहिये। किन्तु अनिवार्य अर्थात् प्राकृतिक व्यायामसे जीवनका धीरे, धीरे अन्त होते हुएभी हम

बचाव नहीं कर सकते। क्योंकि प्रकृतिने हमारा विकास करनेके साथ, साथही ऐसे साधन रक्खे हैं कि हमारा क्रमशः पतनभी होता रहे, जिससे एक दिन हमरा मरण अवश्य हो। इसीसे विना अनिवार्य व्यायाम न हम अपने भोज्य पदार्थ ही प्राप्तकर सकते हैं और न चैतन्यही रह सकते हैं। कारण यह कि यदि हम यह विचारकर कि व्यायाम मात्रसे हमारे शरीरकी क्षति होती है, अपने हाथ, पैर हिलाना त्यागदें तो शीघ्रही वह शिथिल होकर अचैतन्य होनेपर अपने कर्त्तव्यसे उसी प्रकार च्युत हो जावेंगे, जैसे पींजरेमें बन्द करके रक्खा हुआ पक्षी पंखोंके कर्त्तव्यहीन हो जानेसे उड़नेकी शक्तिसे वाधित हो जाता है। अतः हम किसी प्रकारभी अपनी शक्तियोंको स्थिर रक्खनेके निमित्त आनिवार्य व्यायामसे पृथक् नहीं रहसकते। निदान् हमको अनिवार्य व्यायामके अतिरिक्त कृत्रिम अनावश्यक व्यायाम द्वारा दिनोदिन अपने शरीरको निर्जीव, शक्ति हीन और रोगी करने या उसके द्वारा किसीको मल त्यागन या शरीरके पुष्ट करनेकी सम्मति देना किसी प्रकारभी उचित नहीं।

मैथुन

जिस प्रकार वालकको जन्म लेनेके उपरान्त दुग्ध पान करनेकी शिक्षा देनेकी आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार डिम्म और शुक्र कीटकी पक्कावस्थाके समय मनुष्यको विना मैथुनका पाठ दियेही उसे उसकी इच्छा होने लगती है। इसीसे- सृष्टिके किसी जीवके दम्पतिको उसकी जातिके अन्य जीवोंसे पृथक् करके एकान्तमें रखनेपरभी तरुणावस्थाके आतेही वह मैथुन करके अपनी जाति वृद्धि करने लगता है; और ठीक ऐसेही मनुष्यका दम्पतिभी वालपनसे एकान्तमें रक्खनेपर, यदि उसका पोषण प्राकृतिक रीतिसे रहे, युवावस्थाको प्राप्त होतेही स्वतः मैथुन करना सीख जाता है। परन्तु आज कल मनुष्यकी बुद्धिके कारण मनुष्यका मैथुन विषयभी अचम्भेसे शून्य नहीं है। क्योंकि जिस जातिमें तीन, तीन वर्षके वालकोंकोभी मैथुन करते देखा है, उसीमें आजन्म मैथुनसे वञ्चित रहनेवाले मनुष्योंके वृत्तान्तभी पढ़नेमें आते हैं।

हमारी अनेक चेष्टाएं यही होती हैं कि हमारे वालक समयसे पूर्व मैथुन द्वारा अपने शरीरपर अपकार करना न सीखें; परन्तु इसपरभी जैसा हम ऊपर कथन

कर चुके हैं, प्रायः तीन, तीन वर्षके बालकभी इस व्याधिमें ग्रसित होकर मनुष्य जातिके पतनका हेतु होते हैं। कारण यह कि हमारे खान-पान एवं रहन-सहन इतने उत्तेजक हैं कि उनकी उत्तेजना द्वारा उसी प्रकार समयसे पूर्व हमारी काम शक्तियां उत्तेजित हो जाती हैं, जिस प्रकार पालमें रक्खा हुआ आम उसकी अधिक उष्णताकी उत्तेजनासे वृक्षपर लगे हुए सूर्यके तापसे पकनेवाले फलकी अपेक्षा शीघ्र और समयसे पूर्व पक जाता है। इसीसे वह तीन वर्षके अज्ञान बालक जिनको मैथुनका ज्ञानभी नहीं है, और जो भले प्रकार बोलनाभी नहीं जानते हैं, केवल अपने या गर्भाधानके समयसे पूर्व माता-पिताके आहारादिकी उत्तेजनाके कारण जननेन्द्रियमें दाहसे रक्तके उत्तेजित होनेपर खुजली प्रतीत होनेसे उसे खुजाते हैं, और खुजानेके हेतु पहिलेसेभी अधिक उत्तेजना होनेसे वह हस्त मैथुनके अभ्यस्त हो जाते हैं। अतः हम अपने बालकोंको एकान्तमें रक्खने और मैथुनसे पृथक रहनेकी शिक्षा देकरभी उन्हें तबतक मैथुनसे सुरक्षित नहीं रक्ख सकते जबतक उनके खान-पान और रहन-सहन प्राकृतिक अर्थात् समयसे पूर्व उत्तेजना देनेवाले न हों। बालकोंको गरिष्ठ और उत्तेजक पदार्थ सेवन कराकर उनके मैथुनसे वञ्चित रहनेकी आशा करना ऐसाही है, जैसे किसी दूधसे भरे हुए पात्रके नीचे धीमी, धीमी अग्निकी अपेक्षा अधिक अग्नि प्रज्वलित करते हुएभी उफान न आनेका अनुमान करना। इसके अतिरिक्त हमारे बालकोंकी काम शक्तिको प्रज्वलित करनेमें कुसङ्गति और अश्लील-साहित्यभी उसी प्रकार सहायता देता है, जिस प्रकार अग्निको प्रचण्ड करनेमें पवन सहायक होती है। अतः यदि हम अपने बालकोंको समयसे पूर्व मैथुनकी आखेट होना नहीं चाहते, तो उनका आहार-विहार प्राकृतिक रक्खनेके साथ उनकी कुसङ्गति और अश्लील साहित्यसेभी रक्षा करनी चाहिये।

मनुष्यने अपनी विकसित बुद्धिके बलसे जहां विज्ञानके शिखरपर पहुंचकर अनेकानेक अपूर्व यन्त्रोंका आविष्कार किया है वहां अनेक प्रकारके मैथुनभी प्रचलित किये हैं। इसीसे आज दिन हस्त मैथुन, गुदा मैथुन और मुख मैथुनादिके नामभी सुननेमें आते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे मनुष्य देवताने जहां अपनी चतुरतासे अखाद्य पदार्थोंकोभी खाद्यमें सम्मिलित किया है, वहां अन्य जातिके दीन, असहाय और मूक जीवोंसेभी बलात् मैथुन करनेके दुष्कृत्य किये हैं। हा! धिक्कार है इस मनुष्य जीवनपर, जो समयसे पूर्व मैथुन करनेके अतिरिक्त निर्लज्ज होकर

अन्य निर्दोष जीवोंसे मैथुन करके अपने और उनके शरीरपर अपकार करता है!

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुसङ्गति या आहार-विहारादिकी अनुचित उत्तेजनाके कारण समयसे पूर्व अर्थात् तरुणावस्थाको प्राप्त होनेसे पहिले मैथुन करनेसे हमारा वीर्य उसी प्रकार सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता जिस प्रकार कच्चे आमके बीजसे अङ्कुर नहीं फूटता, और यदि उससे सन्तान होतीभी है तो वैसेही निर्बल होती है, जैसे अर्ध-पक्क आमके बीजसे उपजा हुआ वृक्ष बलहीन रहता है; और ठीक उसी प्रकार हमारा शीघ्र अन्त हो जाता है, जिस प्रकार आमके वृक्षपर शल्य क्रिया द्वारा अन्य आमके वृक्षकी शाखाएं (क़ल्म) लगा देनेसे उसके समयसे पूर्व फलनेके कारण वह सदा निर्बल रहता है, और उसका शीघ्र इति हो जाता है। परन्तु युवावस्थाको प्राप्त होनेपर जब प्राकृतिक रूपसे कामकी प्रबल इच्छा प्रगट होने लगे तो उसको बलात् रोकनेसे हमारी अनेक नाड़ियां निर्बल हो जाती हैं, और हमारी मैथुन शक्ति उसी प्रकार शिथिल हो जाती है, जिस प्रकार हाथसे काम न लेनेपर वह निष्कर्म हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रथम तो काम शक्तियोंको अपने आधीन करनेके निमित्त उनपर विजय प्राप्त करनाही ऐसा है जैसे जल और भोजन सेवन करनेपर कोई शौचादिकी क्रियाएं न करनेका प्रयत्न करे। इसीसे यदि मनुष्य जागरित अवस्थामें मैथुनसे बचाव करभी ले तो स्वप्नावस्थामें किसी प्रकार नहीं कर सकता। द्वितीय यदि कोई इस अनुमानसे कि मैथुन द्वारा वीर्य पात होने एवं शरीरको परिश्रम करनेसे उसकी शक्तियां व्यय होती हैं, प्रकृतिकी आज्ञापरभी मैथुन न करे तो शक्तिके शिथिल होनेके अतिरिक्त सीमासे अधिक वीर्य हमारे शरीरमें किसी प्रकार एकत्र नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार हमारे शिरके केश अपनी पूर्ण वृद्धिको प्राप्त होकर बढ़ना बन्द हो जाते हैं उसी प्रकार वीर्य कोषके भर जानेपर वीर्यका बननाभी बन्द हो जाता है, जिससे मनुष्यकी सन्तान वंशकी क्षति होती है।

अधिकांश म[illegible] प्राकृति यह अनुमान है—सात्विक पदार्थोंके सेवनसे मनुष्य लग-भग नपुन्सक है। निदा[illegible] है। परन्तु उनका उक्त अनुमान विज्ञान विपरीत है; क्योंकि सूखा[illegible] जिससे तृण खानेवाले पशुभी सन्तानोत्पत्तिके हेतु अवश्य मैथुन करते हैं। [illegible]पनी शक्ति आहार-विहारादिका हमारी कामशक्तियोंपर यह प्रभाव अवश्य होत[illegible]होनेमें कोई स[illegible]नुष्यत्वके भीतर रहते हैं और उत्तेजक पदार्थोंके सेवन

करनेवालोंके सदृश रात-दिन असुर वृत्तिसे काम नहीं लेते। इसके अतिरिक्त उनका यह अनुमान करना—सूक्ष्म पदार्थ सेवन करनेवाले मनुष्य स्थूल पदार्थोंके भक्षण करनेवालोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको सन्तुष्ट करनेमें असमर्थ होते हैं—भी निर्मूल है। क्योंकि जङ्गली सांड (विजार), जिनको केवल घास आदिही चरनेको मिलती है हमारे काममें आनेवाले उन बैलोंकी अपेक्षा जो पांच पांच सेर दाना खाते हैं वृद्धावस्थातक मैथुन करने एवं शारीरिक बलमें कहीं अधिक होते हैं। कारण यह कि हमारे बैलोंको निर्बल करने वाले सूखे और स्थूल पदार्थोंके सेवन करनेकाही यह परिणाम नहीं है कि वह वृद्धावस्थासे पूर्व शिथिल हो जाते हैं, वरन् उनकी स्वतन्त्रामें बाधा डालकर उनसे अनुचित परिश्रम लेनेपरभी वह शक्तिहीन हो जाते हैं। इसीसे हमारी स्त्रियोंके घरमें निश्चिन्त रहनेके कारण और हमारे जीवनार्थ धनोपार्जन करनेके हेतु चिन्ताग्रस्त और परिश्रमसे पीड़ित रहनेके निमित्त हमारी अपेक्षा स्त्रियोंकी काम शक्ति इतनी वृद्धि कर जाती है कि हम बिना उत्तेजक पदार्थोंका सेवन किये उन्हें सन्तुष्ट करनेमें असमर्थ होते हैं। परन्तु उत्तेजक पदार्थों द्वारा काम शक्तिको अनुचित रीतिसे दीपन करनेका वही परिणाम है जो चार कोस चलनेकी शक्ति वाले मनुष्यको मदिराके मदसे उत्तेजित करके आठ कोस चलाया जाय। इसीसे जिस प्रकार नित्य चार कोस चलनेकी शक्तिवाला मनुष्य मदिराकी उत्तेजनासे आठ कोस चलनेपर रक्त और शक्तियोंका अनुचित व्यय हो जानेसे शरीरके शिथिल होनेके कारण दूसरे दिन दो कोस चलनेकोभी असमर्थ होता है, उसी प्रकार उत्तेजक पदार्थोंसे काम शक्तिको उत्तेजित करनेके कारण शक्तियोंका अनुचित व्यय करनेसे हम समयसे पूर्व मैथुन करने योग्य नहीं रहते; और यही कारण है कि बहुत शीघ्र हमारे सन्तान होना बन्द होजाती है, जबकि सृष्टिके अन्य जीव मृत्युके निकटतक बच्चे देते रहते हैं। हमारी मैथुन शक्तियां मृत्यु समयतक स्थिर रहें, इसका केवल एक यही उपाय है कि हम अपने [illegible]नको सुलभ और सामाजिक आडम्बरोंसे शून्य बनायें, जिससे चिन्ताकी विका[illegible] एवं घोर परिश्रम का सन्मुख करके हमारी शक्तियोंका हनन न हो, और प्रा[illegible] और आहार-विहारादि पर जीवन निर्वाह करें।

[illegible]ाने जहां

अपरञ्च हमारी काम शक्तियोंके प्राकृतिक रूपसे पकाव[illegible]हां अन्य [illegible]नेपर, उत्तेजक पदार्थों द्वारा कुसमय उत्तेजित होनेवाली काम शक्तियों[illegible] किये हैं। [illegible]मको धीरे, अतिरिक्त नि[illegible]

धीरे मैथुन करनेसे वैसाही सुख और आनन्द प्राप्त होता है, जैसा मन्द, मन्द सुहावनी पवनमें शनैः, शनैः हरे-भरे क्षेत्रोंमें विचरनेसे प्रफुल्लता होती है । किन्तु जब हम काम शक्तियोंको कृत्रिम साधनों या आहारादिसे उत्तेजना देकर तीव्र गतिसे मैथुन करते हैं, तो उसका परिणाम उसी प्रकार दुःख और कष्ट एवं शक्तियोंका कुव्यय है, जिस प्रकार सामर्थसे अधिक दौड़ने या परिश्रम करनेपर शरीर थकित हो जाता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृतिके आनन्द प्रफुल्लताकी उत्तेजित शक्तियोंसेभी मैथुन करने पर हमारे जीवनकी शक्तियां और रासायनिक पदार्थ दिनोदिन न्यून होते जाते हैं और जीवन हीन या स्थूल पदार्थोंकी मात्राके परिमाणमें वृद्धि होती जाती है । परन्तु हम अपने इस अनिवार्य क्रमशः पतनको वैसेही नहीं रोक सकते जैसे सूक्ष्माति सूक्ष्म भोजनोंके दोषोंसे किसी प्रकार नहीं बच सकते । इसीसे भोजनके पाचनार्थ हमारी शक्तियोंका कुछ न कुछ पतन होताही है । अतः प्राकृतिक खान-पान और रहन-सहन करते हुए प्रकृति द्वारा कामकी इच्छा होनेपर सन्तान वृद्धिके हेतु अवश्य मैथुन करना चाहिये । परन्तु उत्तेजक पदार्थोंका सेवन करके काम शक्तिको उत्तेजित कर मैथुन द्वारा अपने शरीर या सन्तानोंपर अपकार करना प्रशंसित धर्मके विपरीत है ।

प्रातःकालमें मैथुन

प्रायः मनुष्य वाजीकर्ण और वीर्य एवं बलवर्द्धक ... प्रकृति ... गर्भाधान करनेकी आज्ञा परन्तु यह केवल एक भ्रम मात्र है । कोईभी ... अधिकाधिक भानु प्रकाशके भीतरही शक्तियोंमें वृद्धि या अधिक कालतक मैथुन ... हमारे मनुष्य देवता जो स्त्रियोंको मैथुन जिनसे अधिक वीर्यकी उत्पत्ति तथा ... हैं न रात ।
समयसे पूर्व हमारी शक्तियोंका व्यय है कि मैथुन करनेके समय मनुष्यको प्रफुल्ल करदेती हैं, जिस प्रकार किसी समय मैथुन करनेपर कृत्रिम रीतियों अर्थात् तीक्षण तीक्षण प्रभावसे दूधके उफान आभूषणों द्वारा मनुष्यको कभीभी कृत्रिम उत्तेज- है, प्रत्युत दूध पात्रसेभी बाहर प्राकृतिक चैतन्यता प्राप्त नहीं हो सकती । वृद्धि केवल उसी प्राकृतिक आहार विश्रामसे पुनः चैतन्यता लब्ध कर चुका है उत्पत्ति होती है । निदान् मैथुनके वि पाठाध्यन कर सकता है । क्योंकि शरीरके रखना चाहिये जिससे हम मनुष्य बने शीतल जल डालने या अन्य कृत्रिम साध- और हम अपनी शक्तियोंसेभी हाथ । अतः उनके मतसेभी प्रातःकालका क्रिया का पतन होनेमें कोई सन्देह नहीं है · है ।

डिम्ब और शुक्रकीटके अचैतन्य होनेपर उनसे उत्पादित सन्तान निर्बल और अचैतन्य होती है । किन्तु जिस प्रकार शीतल देशों या ऋतुओंमें शीतलताके कारण दिनके अन्य भागोंमेंभी शरीर ऊष्ण देशों या ऋतुओंकी अपेक्षा अधिक थकित नहीं होता है, उसी प्रकार शीतल ऋतु या देशमें रात्रिके अतिरिक्त दिनके अन्य भागमेंभी ऊष्ण देश या ऋतुकी अपेक्षा मैथुन करना कहीं उत्तम है । फिरभी यथा शक्ति भोरके समय मन्द, मन्द प्रफुल्ल और नवजीवित करने वाली समीरमेंही मैथुन करना सर्वोत्तम है ।

रात्रिमें मैथुन करना सबसेही निकृष्ट है । क्योंकि शरीरके इच्छित और अनिच्छित अवयवोंके दिन भर कार्य ग्रस्त रहनेसे उसके थकित हो जानेके कारण प्रत्येक व्यक्ति विश्राम द्वारा पुनः नवजीवन प्राप्त करनेके हेतु विकल होकर निद्रा देवीकी शरणार्थ रात्रिकी प्रतीक्षा करता है । अतः रात्रिमें शरीरके थकित होकर अचैतन्य हो जानेसे उसका डिम्ब और शुक्र कीटपरभी वैसाही आलस्यपूर्ण प्रभाव होनेके निमित्त उस समयके मैथुन द्वारा उत्पादित सन्तान आलस्यसे परिपूर्ण होती है ।

यह पक्षी जो हमारी प्रकृतिके अनुसार सूर्यास्तके समय अपने दम्पति सहित एकही घोंसलेमें शयन करने चले जाते हैं, रात्रिमें भार्याके निकट होते हुएभी मैथुन नहीं करते । किन्तु सूर्यका उदय होतेही, यदि प्रकृति गर्भाधान करनेकी आज्ञा देती है, मैथुन करनेमें प्रवर्त्त हो जाते हैं या अधिकाधिक भानु प्रकाशके भीतरही भीतर किसी समय मैथुन करते हैं । परन्तु हमारे मनुष्य देवता जो स्त्रियोंको मैथुन करनेका यंत्र समझे हुए हैं न दिन देखते हैं न रात !

सनातन चिकित्सकोंकाभी मत है कि मैथुन करनेके समय मनुष्यको प्रफुल्ल वदन होना चाहिये । परन्तु कुसमय मैथुन करनेपर कृत्रिम रीतियों अर्थात् तीक्ष्ण गन्धित तैल या इत्र आदि एवं आभूषणों द्वारा मनुष्यको कभीभी कृत्रिम उत्तेजनाके अतिरिक्त प्रातःकाल सरीखी प्राकृतिक चैतन्यता प्राप्त नहीं हो सकती । इसीसे एक विद्यार्थी जो रात्रिके विश्रामसे पुनः चैतन्यता लब्ध कर चुका है प्रातके समय रात्रिकी अपेक्षा अधिक पाठाध्यन कर सकता है । क्योंकि शरीरके थकित होनेसे रात्रिमें बारम्बार नेत्रोंपर शीतल जल डालने या अन्य कृत्रिम साधनोंसेभी नैसर्गिक चैतन्यता नहीं आती । अतःउनके मतसेभी प्रातःकालका किया हुआ गर्भाधानही सर्वोत्तम सिद्ध होता है ।

इसके अतिरिक्त प्रायः सभी विद्वानोंका यह मत है कि गर्भकी स्थिति करनेके समय नीरोग और आलस्य रहित दम्पति होना चाहिये। इसीसे अनेक चिकित्सकोंने मैथुन करनेका समय अर्ध रात्रिके उपरान्त और सूर्योदयसे पूर्व कहा है। परन्तु हमारे मतानुकूल उन्होंने इस समयके निश्चय करनेमें बड़ी भूल की है। क्योंकि यद्यपि अर्ध रात्रितक विश्राम करनेसे बहुत कुछ शरीरमें चैतन्यता आ जाती है तथापि उस समयतक गात्रके पूर्ण चैतन्य न होनेके कारण शुक्र और डिम्भकीट चैतन्यतामें अपूर्ण रहते हैं, और प्रकृति द्वारा निद्राके अंकुशसे हमको अन्य कार्य करनेकी अपेक्षा प्रातः कालतक विश्राम करके पूर्ण चैतन्यता लब्ध करनेके हेतु चेतावनी दी जाती है। इसीसे जो विद्यार्थी सूर्योदयके समय केवल एक घन्टेही पाठ करता है उसकी अपेक्षा प्रकृतिकी आज्ञाके विपरीत अर्ध रात्रितक शयन करके उसके उपरान्त पाठाध्यन करनेवालेको दो घन्टे पर्यन्त परिश्रम करनेपरभी कम स्मरण रहता है, प्रत्युत प्रायः तो सर्वथाही विस्मरण हो जाता है। अपरञ्च रात्रिके समय विना कृत्रिम प्रकाशके, जो कि हमारी प्रकृतिके विपरीत है, स्त्री; पुरुषोंमेंसे किसीकोभी आनन्दमें वृद्धि करनेके निमित्त एक दूसरेके दर्शन नहीं होते। इसके उपरान्त मनुष्य मात्रकी प्रकृत्यानुसार रात्रि विश्रामके हेतु और दिन कार्य करनेके लिए है। अतएव रात्रिमें किसी प्रकारका परिश्रम करना अपने स्वास्थ्यपर स्वयं अपकार करना है; और मैथुनभी एक प्रकारका परिश्रमही है। इसीसे यदि मैथुन करनेका उद्देश्य गर्भाधान करनेका नभी हो तोभी उसका रात्रिमें करना निषेध है।

भोजनके उपरान्त मैथुन करना वैसेही निषेध है जैसे अन्य परिश्रम करना। क्योंकि उस समय मैथुन करनेसे श्वास गति तीव्र होने और रसोंका प्रवाह आमाशयके स्थानमें जननेन्द्रियकी ओर होनेके कारण आमाशयको भोजनके पाचनार्थ अपना कर्त्तव्य पालन करनेमें बाधा होती है। इसके अतिरिक्त अप्राकृतिक और गरिष्ठ भोजनोंके सेवनके उपरान्त तो भूलकरभी मैथुन न करना चाहिये। क्योंकि ऐसे पदार्थोंके सेवनसे हमारे शरीरके आलस्य ग्रस्त हो जानेपर डिम्भ और शुक्र कीटके अचैतन्य हो जानेके कारण उस समय मैथुन करनेसे आमाशयादिके कष्टके अतिरिक्त हमारी सन्तान उसी प्रकार आलस्यमय होती है, जिस प्रकार रात्रिके मैथुन द्वारा आलस्य पुर्ण बालकका जन्म होता है।

शोकका स्थान है—मनुष्य सर्व शासक होता हुआभी कामके ऐसा आधीन है कि वह उसके आगे जाति वृद्धिके हेतुको सर्वथा भूल गया है ! वह न गर्भवतीको देखता है न रजस्वलाको ! वह ऐसी पाप युक्त चेष्टाएं करनेका प्रयत्न करता है, कि उसकी स्त्री गर्भ धारणही न करे ! वह निरन्तर यही उपाय करता रहता है, कि आजन्म प्रकृतिके प्रतिकूल चलते हुएभी, अनावश्यक रीतिसे उत्तेजित करनेवाली वाजीकर्ण औषधियों द्वारा तरुणही बना रहे । किन्तु ऐसे अपवित्र विचार सदा उसके पतनके संकेत हैं ।

गर्भवतीसे मैथुन करना मनुष्य नामपर कलङ्क लगाना है । क्योंकि सृष्टिका कोई जीव अपनी गर्भवती भार्यासे कभीभी मैथुन नहीं करता । कारण यह कि उस समय गर्भिणीको प्राकृतिक रूपसेही मैथुनकी इच्छा नहीं होती । सारांश यह—मनुष्यके अतिरिक्त सभी जीव प्रकृतिकी आज्ञानुसार केवल जाति वृद्धिके हेतु मैथुन करते हैं; किन्तु मतिमान् मानव जातिका प्रचलित उद्देश्य फूल-झड़ीके समान अपनी काम और जीवन शक्तियोंका समयसे पूर्व व्यय करनेके हेतु योवनकी मिथ्या बहार देखना है ।

रजस्वला स्त्रीसे मैथुन करनाभी नेत्रोंपर पत्थर रक्ख लेना है । कारण यह कि उस समय रक्त प्रवाहके हेतु मैथुन करनेसे गर्भस्थिति होनेकी अपेक्षा वीर्य निरर्थकही जाता है । इसके अतिरिक्त स्त्री और पुरुषको अनेक व्याधि उत्पन्न हो जाती हैं; और फिर उन्हीं रोगोंके बीज कण आगे होनेवाली सन्तानको पीड़ित करते रहते हैं ।

कृत्रिम रीतिसे गर्भस्थितिको रोकनेसेभी सन्तानके नाशके अतिरिक्त दम्पतिके दोनों पक्षोंको हानि पहुंचती है । और वाजीकर्ण औषधियोंके विषयमें हम पहिलेही कथन कर चुके हैं ।

सबसे बड़ा सिद्धान्त यही है—जिस समय हमारा दम्पति प्राकृतिक रूपसे सर्व प्रकार चैतन्य, जोकि सूर्योदयके समय मन्द, मन्द सुहावनी शीतल समीरमेंही सम्भव है, और चिन्ता रहित होकर, कामकी इच्छा रखते हुए, प्रसन्नवदन हो सुख और शान्तिके साथ गर्भाधान करे । कारण यह कि माता-पिताका भरोसा केवल चैतन्य, चतुर, नीरोग और प्रेमी बालकोंहीपर होता है । जो माता-पिता अप्राकृतिक साधनों द्वारा कामसे उन्मत्त होकर मैथुन करते हैं, कभीभी उस मैथुन द्वारा उत्पादित सन्तानसे माता-पिता कहे जाने और सुख पानेके अधिकारी नहीं हैं । क्योंकि उनका उद्देश्य गर्भाधानकी अपेक्षा केवल अपनेको सन्तुष्ट करनेकाही है ।

जल चिकित्साके बड़े विद्वान डाक्टर कोहनीनेभी मैथुन करनेका सर्वोत्तम समय प्रातःकालकाही निश्चय किया है। परन्तु खेद है उनके मतके अनुयायी बहुत कम हैं। इसीसे हमकोभी आशा नहीं होती कि मानव जाति, जिसका पतन प्रकृति स्वयं उसकी बुद्धि द्वाराही करना चाहती है, शीघ्र हमारे उपदेशोंको ग्रहण करेगी। फिरभी हमारा धर्म है—जो सुयोग्य सन्तानके अधिकारी होनेकी इच्छा रखते हैं—उनको विचलित मार्गसे उचित मार्गपर लानेका उपदेश दें। क्योंकि हमारी आविष्कृत चिकित्सामें कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिसके द्वारा प्रकृतिके विमुख आजकलके छैल छैल नवयुवक युवतियोंमें विहार कर सकें, या धातुओंके क्षीण हो जानेपर वृद्ध जन युवकोंके सदृश क्रीड़ाकरके अपनी मृत्युके दिन औरभी निकट ले आवें ! हां इतना अवश्य है कि यदि हमारी मैथुन शक्तियां समूल नष्ट नहीं हुई हैं तो एकबार फिर हमारी चिकित्सासे स्वस्थ होनेपर उपरोक्त समय मैथुन किया जाय तो निस्सन्देह सुयोग्य सन्तान प्राप्त हो सकती है।

मैथुन योग्य दम्पतिके लक्षण

हमारी सन्तानके कुरूप, बेडौल, ठिगने, मन्दमति, रोगी और निर्बल होनेके अन्य दोषोंके अतिरिक्त एक यहभी कारण है कि मैथुन करनेवाले स्त्री, पुरुषका सुयोग्य दम्पति नहीं मिलता। अतएव हम मैथुन योग्य और अयोग्य दम्पतिके लक्षण कथन करते हैं।

प्रकृति माताने मनुष्यकी जिस जातिमें हमको जन्म दिया है उसीके अनुकूल हमारी आकृतिकी रचना और हमारा अपने नियमोंसे बन्धन किया है। इसीसे आर्य जातिमें मंगोलियन और नीग्रो आदिकी आकृतिसे वैसाही अन्तर है जैसा काशमीरी या देशी नाशपातीमें भेद होता है या जैसा इङ्गलिश और भारतीय सांड (बैल) में अन्तर पाया जाता है। अतएव मनुष्यकी प्रत्येक जातिको उचित है, सन्तानोत्पत्तिके ध्येयसे अनावश्यक काम दृष्टिको त्यागकर निम्न लिखित प्राकृतिक नियमोंपर ध्यान दें:—

भिन्न, भिन्न जातिके स्त्री-पुरुषोंका मैथुन प्रकृतिसेही वर्जित है। क्योंकि अपनी जातिके अतिरिक्त अन्य जातिके स्त्री, पुरुषोंकी आकृतिमें विभिन्नता होनेसे हमारी उनकी

प्रकृति नहीं मिलती। इसीसे आर्य जातिके स्त्री, पुरुषोंको नीग्रो जातिके स्त्री, पुरुष, जिनके मोटे ओष्ठ, शिरके बहुतही छोटे लोम, कृष्णवर्ण और कठोर त्वचा है, से कभीभी प्राकृतिक प्रेम नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अन्य जातिके स्त्री, पुरुषोंसे मैथुन करनेपर जो सन्तान होती है, वह ठीक खिच्चरके समान मध्यम श्रेणीमेंही रहजाती है। क्योंकि यद्यपि खिच्चर गर्दभसे उच्चावस्थाका होता है तथापि अश्वकी अपेक्षा च्युत ही रहता है। अर्थात् न वह गधाही होता है और न घोड़ाही। इसीसे आर्य और नीग्रो जातिके मैथुन द्वारा जो बालक उत्पन्न होते हैं वह आर्य या नीग्रो होनेकी अपेक्षा बीचमेंही लटकते रहते हैं; जिससे नीग्रो जातिको अपनी अपेक्षा सुन्दर सन्तान उत्पन्न करनेमें वैसेही लाभ होता है जैसे गधेको खिच्चर उत्पन्न करनेसे अपनी अपेक्षा उच्च कोटिकी सन्तान प्राप्त होती है, किन्तु आर्य जातिको अपनी अपेक्षा कुरूप सन्तानको जन्म देनेसे उसी प्रकार क्षति होती है, जिस प्रकार खिच्चरके होनेसे घोड़ेको अपनी अपेक्षा च्युत श्रेणीकी सन्तानोत्पत्तिसे होती है। अर्थात् उच्च जातिके च्युत जातिसे मैथुन करनेपर जो मध्यम श्रेणीकी वर्णसंकर सन्तान होती है, उससे सदा उच्च जातिका पतन और च्युत जातिका विकास होता है। परन्तु इसपरभी जिस प्रकार खिच्चरको गधे या घोड़ेकी कोईभी जाति प्रेम नहीं करती उसी प्रकार आर्य और नीग्रो जातिके मिश्रणसे उत्पादित वर्णशङ्कर जातिको उक्त दोनों जातियोंमेंसे कोईभी प्रेम नहीं करता। क्योंकि जहां विभिन्नता है वहां प्रेमके दर्शन दुर्लभही नहीं वरन् असम्भव हैं। इसीसे एक जातिके जीव दूसरीसे नहीं मिलते; प्रत्युत यहांतक अनुभवमें आया है कि एक जातिके जङ्गली हाथी अन्य जातिके जङ्गली या पालतू हाथियोंके परस्पर मिलनेपर उनमें ऐसा घोर संग्राम होता है कि अनेकका प्राणान्त हो जाता है। अतःयदि हमको अपनी आगामी सन्तानको कुरूप नहीं करना है तो अपनीही जातिके स्त्री, पुरुषोंसे मैथुन करना चाहिये।

हमारीही जातिके मनुष्योंके अन्य देशोंमें जा बसनेपर उनसे मैथुन करनेके निमित्त प्रकृति अधिक आज्ञा नहीं देती। क्योंकि मनुष्यकी प्रत्येक जातिको प्रकृतिने उसकी प्रकृतिके अनुकूल देशोंमें जन्म दिया है, किन्तु देश परिवर्त्तनसे स्थानावस्थानुसार हमारी वास्तविक प्रकृतिमें वैसेही अन्तर हो जाता है, जैसे लखनऊके खर्बूजेकी दिल्लीमें कृषि करनेसे भेद हो जाता है। इसीसे एशियाके मध्यमें बसनेवाली आर्य जातिका इङ्गलेण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, पर्शिया, और भारतमें आगमन हो जानेसे प्रत्येक

देशके मनुष्योंकी प्रकृतिमें अन्तर प्रतीत होता है । अतः एकही जातिके भिन्न प्रकृतिके मनुष्योंका मैथुन करके मध्यम श्रेणीकी सन्तानका उत्पन्न करना उचित नहीं है किन्तु अन्य जातिके मिश्रणकी अपेक्षा इससे दोनों पक्षोंको बहुतही कम हानि है ।

हमारे देशमें इस समय शुद्ध जातियोंका मिलना बहुतही कठिन है । क्योंकि जब आर्य जातिका भारतमें आगमन हुआ था तो भारत निवासी असभ्य जाति-योंसे उनका घोर संग्राम हुआ, किन्तु धीरे, धीरे आर्य और अनार्य जातियोका मिश्रण हो गया, जिससे वर्णशङ्कर जातियोंकी उत्पत्ति होकर हमारी वास्तविक जातियोंमें अन्तर होजानेसे अशुद्धता उत्पन्न हो गयी । अतःअब हमारी जाति केवल नाम मात्रकोही आर्य है, अन्यथा ऐसे बहुतही कम कुटुम्ब हैं जो अन्य जातियोंसे मिश्रित न होनेके कारण शुद्ध आर्य जातिकी सन्तान कहे जा सकते हों । इसीसे अनेक जातियोंके मिश्रण द्वारा हमारी जातिमें बहु आकृतिके मनुष्य पाये जाते हैं । किन्तु अफ़ग़ानिस्तान या चीनमें जहां शुद्ध आर्य या मंगोलियन जाति निवास करती हैं कुछ वर्णशंकरोंके अतिरिक्त प्राय सभी मनुष्य एक सरीखी आकृतिके होते हैं । अतःहमको इस पचमेल खिचड़ीमें सुयोग्य दम्पति मिलना बहुतही कठिन है । किन्तु यथा शक्ति रंगरूप, डील-डौल एवं अनुकूल प्रकृति और आकृतिके दम्पतिका मैथुनही उचित हो सकता है।

हमारीही जातिके मनुष्योंमें यदि एक समुदायका अन्य समुदायके मनुष्योंसे खान-पान या रहन-सहनादिमें किसी प्रकार अन्तर आगया हो जिससे परस्पर घृणा होती है तो ऐसे समुदायोंके स्त्री, पुरुषोंका परस्पर मैथुन करना अपने शरीर-पर अपकार और सन्तानको दोष युक्त उत्पन्न करना है । क्योंकि जिस प्रकार लखनऊके एकही खर्बूज़ेकी कृषि एक क्षेत्रमें साधारण गोबर या वनस्पतिके खादसे और दूसरेमें तीक्ष्ण विष्टेके खादसे की जावे तो पहिलेकी अपेक्षा दूसरा अधिक दूषित होगा । इसीसे आर्य जातिके शाकाहारी समुदायका अपनीही जातिके मांसा-हारी समुदायके स्त्री, पुरुषोंसे मैथुन करके दूषित सन्तानका उत्पन्न करना उत्तम नहीं है ।

गर्भस्थिति करनेवाले दम्पतिके दोनों पक्षोंमेंसे यदि कोईभी रोगी या किसी प्रकार निम्न प्रकृतिका हो तो मैथुन न करे । क्योंकि सन्तान जो माता, पिताका प्रति-

विम्ब होता है ऐसी दशामें गर्भसेही रोगोंको संसारमें लिये आती है; और विशेषतः जननेन्द्रिय सम्बन्धी क्रूर रोगोंमें तो भूलकरभी मैथुन न करना चाहिये । कारण यह कि प्रथम तो एक पक्ष द्वारा दूसरा पक्षभी रोग ग्रस्त हो जाता है, द्वितीय माता-पिताका कृत्य निर्दोष सन्तानको भोगना पड़ता है। अतः यदि कोई दम्पति कामवश रुग्णावस्थामें मैथुन करभी बैठे तो उचित है कि तुरन्त गर्भवती हमारी प्राकृतिक चिकित्साकी शरण ले, जिससे दीन बालक पैत्रिक रोगोंका प्रमाणपत्र लिये हुए न हो। परन्तु उचित तो यही है कि रोग ग्रस्त दम्पतिको परस्पर मैथुनही न करना चाहिये।

हमारे दम्पतिके किसी पक्षको मैथुनकी इच्छा न हो तो गर्भस्थितिकी लालसा न करे। क्योंकि प्रकृतिके अवलम्बी पशु, पक्षी दम्पतिके किसी पक्षकी इच्छाके प्रतिकूल मैथुन नहीं करते।

रजस्वला स्त्रीसे मैथुन करना सर्वथा वर्जित है। क्योंकि उस समय रक्तके प्रवाहसे दम्पति इस योग्य नहीं होता कि गर्भस्थिति हो सके। इसके अतिरिक्त दम्पतिके दोनों पक्षोंमें और उनके द्वारा आगामी सन्तानमें अनेक भयङ्कर रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

गर्भरक्षा और शिशुजन्म

हम निरन्तर गत् परिच्छेदोंमें योवनकी मिथ्या बहार देखनेकी अपेक्षा जाति वृद्धिके ध्येयकोही श्रेय देते रहे हैं। क्योंकि जीव मात्रही नहीं वरन् वनस्पति वर्गमेंभी जात्योन्नति करना प्राकृतिक धर्म है। परन्तु जबतक गर्भ रक्षार्थ प्राकृतिक नियमोंका पालन न किया जायगा तबतक किसी प्रकारभी अच्छे अङ्कुर न फूटेंगे। इसके अतिरिक्त गर्भवतीभी वैसेही कष्ट सहन करती रहेंगी जैसे अबतक भोगती चली आयी हैं। अतएव गर्भकी रक्षा और शिशु जन्मके हेतु निम्न लिखित नियमोंका अवलम्बन करना चाहियेः—

कमसे कम उस प्रसूताको जो अपने जीवनका निर्वाह प्रकृतिके अनुकूल न रखती हो न्यूनातिन्यून गर्भ स्थितिकालके एक मास पूर्वसे बालकके जन्मके पांच छः मास उपरांततक प्राकृतिक आहार-विहारपर रहना चाहिये। कारण यह कि प्रसू-

ताके लिए मानव जातिकी प्रकृतिके अनुकूल पदार्थोंके अतिरिक्त अन्य कोईभी वस्तु सुपाच्य और सुखका हेतु नहीं हो सकती। प्रत्युत दिनो दिन कष्टोंकी वृद्धिका कारण होती रहती है। इसीसे गर्भवती वमन, विरेचन, शरीरमें दाह, पीड़ा और आलस्य आदि अनेक रोगोंसे दुःख पाती है, जिससे गर्भके बालकको विकसित होनेका सौभाग्य प्राप्त होना तो एक ओर रहा, प्रत्युत केवल माताके कुपथ्यसे उस अभागेको प्रतिक्षण गर्भाशयसे पात होनेका भय रहता है; और यदि किसी प्रकार पूर्णावधितक गर्भाशयमें निवासभी हो गया तो संसारमें आते, आतेही उसका या माताका या दोनोंका प्राणान्त हो जाता है। किन्तु यदि सौभाग्य वश बालक और माता इस भयंकर आपत्तिसे बचभी गये तो प्रथमतो बालक जननेकी पीड़ाही सब दिनके सुखोंका विस्मरण करा देती है, द्वितीय प्रायः बालक और स्वयं गर्भवतीको उसके खान-पान और रहन-सहनकी उपेक्षासे आजन्म निर्बल या अन्य कष्टोंसे दुःखी होना पड़ता है; जबकि प्रकृतिके अनुसार „चलते-फिरने, छोटेसे बड़े पर्यन्त, मनुष्य या उसके पाले हुए जीवोंके अतिरिक्त कोईभी वन-जीव ऐसा नहीं है, जिसको बालक जननेमें मनुष्यके सदश असह्य कष्ट होता हो; या जिसका शरीर बालकके जन्मसे कई, कई मास पर्यन्त रोगोंका मन्दिर बना रहे; या जिसका गर्भ-समयसे पूर्व क्षीण हो जाता हो; या जो अङ्गहीन सन्तानको जन्म देता हो, या जो गर्भके समय अपने नित्यके कृत्य न करता हो; या जो बालक जननेके समय मृत्युका ग्रास हो जाता हो; या जो मृत बालकको जन्म देता हो। हां, इतना अवश्य है कि जिस प्रकार स्वस्थ मनुष्यको शौचादिकी इच्छा होती है, उसी प्रकार स्वस्थ गर्भवतीको पूर्ण काल समाप्त होनेपर बालक जननेकी साधारण उत्तेजनाका ज्ञान होता है। क्योंकि यह हम पहिलेही किसी स्थानपर कथन कर चुके हैं कि बिना अनिवार्य उत्तेजनाके हमारी इच्छित या अनिच्छित इन्द्रियोंमेंसे कोईभी अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करतीं। अतः उस प्रसूताको जो बिना आपत्तियोंका सामना किये होनहार बालककी माता बननेकी इच्छा रखती है गर्भ रक्षार्थ गर्भवतीकी दशामें और बालकके भोजनार्थ स्तनोंमें यथेष्ट दूध बननेके हेतु नैसर्गिक, सुपाच्य, रस युक्त, सूक्ष्म उत्तेजना वाले फलोंका आहार करना चाहिये।

गर्भवती या प्रसूताके निमित्त अनार, अङ्गूर, पौंडा (गन्ना), काशमीरी नास-

पाती, मीठा संगतरा, मालटा, मीठा ... नारंगी (मीठी) लोकाट, लीची, लखनवी या कोमल खर्बूजे, शहतूत, काश्मीरी आड़ू, खुमानी, शरीफे या अन्य कोमल और रसीले फल लेनाही उत्तम है। किन्तु आर्थिक दशाकी निर्बलताके कारण लौका (कद्दू), तोरी, चचेंडे, टिन्डे, गाजर या शल्जम सरीखे रसीले शाक केवल वाष्प द्वारा उबले हुए देनेसेभी गर्भवतीको बहुत सुख रहता है। इसके अतिरिक्त गौऊका दूध या कद्दूकी खीर देनेंसेभी अनेक आपत्तियोंसे सामना नहीं करना पड़ता। यदि रसीले फलोंके अतिरिक्त अन्य फलोंकी इच्छा हो तो बालकके जन्मसे दो मास पहिलेतक उनके सेवन करनेमें अधिक हानि नहीं है; परन्तु फिरभी यथा शक्ति गरिष्ट और उत्तेजक फलों या शाकोंसे पृथक रहना चाहिये। सातवें मासके उपरान्त रसहीन गरिष्ट एवं उत्तेजक फल या शाकादिका सेवन करना माता और सन्तान दोनोंको विष है। अपरञ्च रसीले पदार्थोंके न मिलनेकाही-यह-परिणाम होता है कि माताके स्तनोंमें दूधकी उत्पत्तिकी न्यूनतासे बालकोंकी कुसमय मृत्यु होती है। दूसरे मासमें अधिकांश स्त्रियोंको ...न होने लगती है या कोष्ट-बद्ध प्रतीत होता है। अतः उस समयभी रसीले फल या शाकका आहारही उत्तम है। चौथे माससे स्त्रियोंके स्तनोंमें दूधकी उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है। इसलिए उसी समयसे अन्य फलों या शाकादिकी अपेक्षा रसीले फलों और शाककी मात्रामें वृद्धिकर देना चाहिये। यथा शक्ति गर्भके पूर्ण समयतक सुपाच्य रसीले फलोंका सेवनही हितकर हो सकता है। इस बातपर भले प्रकार ध्यान रखना चाहिये कि गर्भवतीके सेवनार्थ खट्टे या किसी प्रकार अनावश्यक उत्तेजक और कष्ट देनेवाले फल न हों और दूध या शाकादिका अधिक रन्धन करके कुपाच्य न किया जाय। यदि गर्भवती रोगी या निर्बल हो, अवश्य उसके अनुकूल सुपाच्य आहार होना चाहिये।

प्रकृतिके विपरीत कोईभी साधन किसी प्रकार गर्भवती और गर्भको हानिके अतिरिक्त सुखप्रद नहीं हो सकता। इसीसे हमारे कृत्रिम भोजन (अन्नादि शुष्क और रन्धित एवं उत्तेजक तथा गरिष्ट पदार्थ), अनुचित क्रियाएं (सामर्थसे अधिक दौड़ना, कूदना, चलना या व्यायाम करना, पीसनी, कूटना, धुएं आदिमें रहना चूल्हा फूंकना इत्यादि, इत्यादि.) मैथुन करना, रात्रिका जागना, भयङ्कर शब्द या घोर गर्जनाएं सुनना, कुसमय स्नान या भोजन करना, शौचादिकी इच्छा होते हुएभी

प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा, जिसका विस्तृत कथन आगे मिलेगा, यह कार्य, विना किसी आपत्तिके सुगमतापूर्वकही हो जाता है; और यदि गर्भस्थितिके समयसे इस चिकित्साकी शरण ली जाय, तो सम्भव नहीं, प्रसूताको अनिवार्य उत्तेजनाके अतिरिक्त अन्य किसी कष्टका ज्ञान हो; और यदि वह स्त्रियां जिनका गर्भपात हो जाता हो गर्भाधानके समयसे या आवश्यकतानुसार उससे कुछ मास पूर्व हमारी चिकित्साका पालन करें तो अवश्य विना किसी जोखिमके सुन्दर सन्तानकी माता वननेका सौभाग्य प्राप्त हो, अतएव अपनी भार्याओं और सन्तानके प्रेमियोंके निमित्त हमारा उपदेश है कि वह इस प्राकृतिक चिकित्सासे लाभ उठायें ।

शिशु पोषण

देखा जाय तो शिशु-पोषणका ध्यान उस समयसेभी वहुत पूर्व होना चाहिये, जब कि हम गर्भकी स्थिति करते हैं; परंतु ऐसा नहीं है हम तो कामातुर हो पहिलेसेही उसका नाश करते रहते हैं । इसीसे हमारे अधिकांश वालक गर्भमेंही केवल हमारी अनुचित रीतियोंसे अनेक पीड़ाओंमें ग्रसित रहते हैं; जिससे वहुतसे लङ्गड़े-लूले, अन्धे-काने, गूंगे-वहिरे होकर अनेक व्याधियोंको ले संसारमें अमिट दुःख भोगने आते हैं; और वहुतोंका समयसे पूर्वही गर्भाशयसे पतन हो जाता है । सारांश यह है कि हमारे प्रकृतिके विपरीत आहार-विहारकाही यह दुष्परिणाम है । इसीसे हम पहिले कह चुके हैं कि वन-जीव कभी रोगी या अंगहीन वालक नहीं जनते, और न उनको वालक जननेमें हमारे सरीखे दारुण कष्टही भोगने पड़ते हैं । इसीसे यह नित्य अनुभवमें आता है कि प्रायः सभी वन-जीव अभी वालक जनते हैं और अभी दौड़ने लगते हैं । परन्तु खेद है, हमारी बुद्धिके परिणामसे हमारी स्त्रियां कई, कई, सप्ताहतक करवटभी नहीं ले सकतीं; वालक जननेके वहुत काल पहिलेसेही पीड़ा-ग्रस्त होती हैं, और प्रायः तो मृत्युका ग्रासही हो जाती हैं । इसीसे वालक जननेके उपरान्त स्त्रीके उस आपत्तिसे वचनेपर पुनः जन्म कहनेकी प्रथा है । निदान् जवतक हम प्रकृतिके अनुसार गर्भाधानके समयसेही, प्रत्युत उससेभी पूर्व शिशु पोषणपर ध्यान न दें, कभी स्वस्थ वालकोंके माता-पिता नहीं हो सकते ।

प्रचलित कालमें हम अपनी सन्तानकी रक्षाकी अपेक्षा सदा उसके साथ घातही

नीरोग हों, और गर्भकी रक्षार्थ बालक जननेके उपरान्त जबतक पुनः प्रकृति ... आ-नकी आज्ञा न दे मैथुन न करें। गर्भिणीको क्रोध, भय, शोकमें रहना और सामर्थसे अधिक परिश्रमके कृत्य, अप्राकृतिक और रसहीन पदार्थोंका सेवन, प्रतिकूल देश और ऋतुओंका निवास करना, रात्रिका जागना, अपवित्र विचारोंको मस्तिष्कमें स्थान देना, और अधिक दौड़ना या चिल्लाना सर्वथा वर्जित है।

द्वितीय—अन्य जीवोंमें शिशु जन्म होनेपर प्रत्येक जीव वालकका नाल मुखादिसे काट देते हैं। परन्तु यह हमारी प्रकृतिके विपरीत है। अतः हम नखोंसेही नाल काटनेका साधन रक्खते हैं। किन्तु हमारे कृत्रिम रहन-सहनके कारण हममेंसे अधिकांशके नखोंमें विषैले कीटाणु जन्म ले लेते हैं। इसलिए बड़ी सावधानीसे दोनों ओरसे नाल बांधकर तीव्र कतरनी द्वारा काटनेके उपरान्त बन्द स्थानमें ऋतु और देशानुसार शीतल या ऊष्ण जलसे वालकको स्नान कराके भले प्रकार शुष्क करलेनेपर तत्क्षण माताके स्तनोंसे दुग्ध पान कराना चाहिये। यदि माताके स्तनोंमें दूधकी न्यूनता हो तो पशुःआदिके दूधकी अपेक्षा किसी अन्य स्त्रीके स्तनोंसे दूध पिलवाना चाहिये; और माताको दूधकी वृद्धिके हेतु रसीले फलों शाको या दूधका आहार दिया जाना चाहिये। माताओंको कभी दूध पिलाते समय वालककी नासिकाके नथनोंको ढककर श्वांसार्थ वायु रोकनेकी चेष्टा न करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त रुदन करते हुए वालकको सदा चुपाकर दुग्धपान कराना चाहिये; अन्यथा दूधके भोजन नालीमें जानेकी अपेक्षा वायु नालीमें चले जानेके कारण प्रायः वालकोंकी अकस्मात् मृत्यु हो जाती है। अन्य पशुओं या विदेशके कृत्रिम दूधोंको यथा शक्ति कभी सेवन न कराना चाहिये, प्रत्युत हो सके तो अन्य स्त्रियोंके दूधसे भी बचाना चाहिये। कारण यह कि अन्य स्त्रियोंके दूधसे जैसी हमारी वालकको बनानेकी अभिलाषा है वैसा फल प्राप्त नहीं होता, पशुओंका दूध भारी और विजातीय होनेसे कुपाच्य और अनेक रोगोंकी उत्पत्तिका हेतु होता है और विदेशोंसे जमाकर भेजे हुए दूध अग्निके प्रभावसे अनेक पदार्थ रहित हो जाते हैं, जिससे वालकोंको अस्थियां पुष्ट होनेके पदार्थ प्राप्त नहीं होते। इसीसे उन्हें प्रायःरिकेट्स (टेढ़ी अस्थियों) का रोग हो जाता है। अतःसर्वोत्तम दूध माताहीका है, और सबसे निकृष्ट विदेशी जमा हुआ दूध है, और मध्यम श्रेणीमें अन्य स्वस्थ्य स्त्रियोंका और उसके उपरान्त अन्य पशुओंका। यदि वालकोंको पशुओंका दूध

होना पड़े तो दूधको जल मिश्रणसे हलका करना आवश्यक है। फिरभी उसके अवगुणोंसे सचेत रहना चाहिये। दूध पीते बालककी माताको यथा शक्ति पूर्णतः प्राकृतिक भोजन रखना आवश्यक है, और यदि बालक किसी रोगसे पीड़ित हो तो तत्क्षण उस रोगके अनुसार अपनी और बालककी चिकित्सा करनी चाहिये। उपेक्षा करने या पाखण्डियोंकी सम्मतिपर चलनेका परिणाम किसी प्रकारभी अच्छा नहीं।

तृतीय—बालकोंसे सदा मिष्ट भाषण करना चाहिये; प्रत्युत बालकोंके साथ बालक बन जानेमेंही उनका कल्याण है। क्योंकि आतङ्क दिखानेवाले अप्रिय और कटु शब्दोंसे वह पूर्णतः स्वास्थ्य लब्ध नहीं कर सकते। अनेक प्रेम शून्य मनुष्यों-का यह अनुमान है कि बालकोंको ताड़ना करनेसेही वह सुयोग्य बन सकते हैं, अन्यथा बिना दमन किये उनके स्वेच्छाचारी और क्रूर होनेके अन्य कुछ परिणाम नहीं। परन्तु यह बात विज्ञान विपरीत है। प्रेमसे बालक कभी नहीं बिगड़ा करते। क्योंकि यदि प्रेममें किसीको स्वेच्छाचारी और क्रूर बनानेकी शक्ति होती तो बन्य वह जीव जो वनवासी मनुष्योंसे हिल जाते हैं एक क्षणभी उन्हें सुखसे न बैठने दें। इसके अतिरिक्त नित्य हमारे अनुभवमें आनेवाली घटनाएं उन कुत्तों या गायों आदिकी हैं, जो प्रेमवश हमारे पीछे, पीछे फिरती हैं, और हमारी आज्ञा पालन करनेके निमित्त अपने प्राणोंकाभी बलि करनेको प्रस्तुत हैं। फिर क्या प्रेमसे मनुष्यके बालकोंकेही क्रूर और उद्दण्ड होनेकी सम्भावना है? नहीं, कदापि नहीं! प्रेमही एक ऐसी अटूट रज्जू है, जिससे बन्धकर संसार बशमें हो जाता है। परन्तु जहां भय होता है वहां प्रेम नहीं होता। इसीसे भयानक प्रकृतिके पिताको देखतेही सन्तान भयभीत होकर इधर उधर छिप जाती है, और उसके हृदय मन्दिरमें अपने डरावने पिताके प्रति भक्ति या स्नेह रखनेके निमित्त एक तिलभर स्थानभी नहीं होता। प्रेमके स्थानमें दमन और क्रूर नीतिको बालकोंको सुयोग्य बनानेके लिए श्रेय देना सर्वथा भूल है। प्रत्युत दमनके प्रभावसे बालकोंके स्वास्थ्यपर अपकार और हृदय श्रद्धा शून्य होनेके अतिरिक्त वह कपटी और हठीले हो जाते हैं। बालकोंको बिगाड़नेका कलङ्क किसी प्रकारभी प्रेमके माथे नहीं लगाया जा सकता। बालकोंको उद्दण्ड कपटी और हठीले बनानेके हेतु उनको अनुचित रीतिसे छेड़ना उनके साथ दमन नीतिका प्रयोग करना और

उनसे छल करना है। क्योंकि हमारी गौओंके बच्चे जिनसे हम प्रेम करते हैं बिगड़नेकी अपेक्षा हमारे वशीभूत हो जाते हैं, किन्तु यदि हम उनको छेड़ते हैं तो मारना सीख जाते हैं, और दमन नीतिसे उनके हृदयसे प्रेमके विदा होनेपर वह हठीले हो जाते हैं। अतः बालकोंके छेड़ने, उनके प्रति कपटका व्यवहार करने और दमनसे काम लेनेकाही यह परिणाम है कि हमारे बालक मनुष्यके बालक कहे जाने योग्य नहीं रहते। अपरञ्च बुरे बालकों या मनुष्योंकी सङ्गति और माता-पिता आदिके छल छिद्रोंके अतिरिक्त बालकोंके बिगड़नेका सबसे बड़ा कारण यह है कि वह संसारमें माताके गर्भसेही रोगी उत्पन्न होनेके हेतु या कुपथ्य-पर रक्खे जानेसे रोगी होनेके कारण मस्तिष्ककी अनावश्यक उत्तेजनाके निमित्त चिड़-चिड़े और उद्दण्ड हो जाते हैं। अतः ऐसे बालकोंको सुधारनेके निमित्त दमनकी अपेक्षा उनके मस्तिष्क सम्बन्धी रोगादिकी चिकित्सा करते हुए प्रेमकाही पाठ देना चाहिये।

हमारे बालकोंका स्वभाव और स्वास्थ्य बिगाड़नेके हेतु एक बड़ा दोष आजक-लकी शिक्षा प्रणलिकाभी है। क्योंकि हमारी शिक्षा कृत्रिम रीतिसे होनेके कारण शुष्क और भारमय प्रतीत होती है। इसीसे हमारे बालक नरपिशाच अध्याप-कोंकी पाठशालाओंमें जानेसे सदा दुःख मानते हैं। अतः हमारे बालकोंके लिए वही शिक्षा उपयोगी हो सकती है जिसमें उनको रुचि और प्रेम होनेसे भार प्रतीत न होनेके कारण उनके मस्तिष्ककी शक्तियां व्यय न हों। ऐसी शिक्षा केवल वही हो सकती है, जिसको बालक स्वयमेव प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। इसीसे बालक जब बोलने योग्य होते हैं तो वह प्रत्येक प्रश्नमेंसे प्रश्न किया करते हैं; कभी कहते हैं 'यह पवन क्यों चलती है?' कभी प्रश्न करते हैं 'वायु शीतल क्यों प्रतीत होती है?' कभी उनका कथन होता है 'ग्रीष्ममें वायु ऊष्ण क्यों होती है?' सारांश यह है कि जितने पदार्थ उनको नयन गोचर होते हैं, उतनेही प्रश्न उनके मनमें उपजते हैं। अतएव यदि उसी समय वैज्ञानिक युक्ति सहित उनके प्रश्नोंका उचित उत्तर देदिया जाय तो स्कूलोंकी बड़ी, बड़ी पोथियां बलात् कण्ठ करनेकी आवश्यकता न हो। किन्तु आजकलके माता-पिताओंके सदृश चन्द्रमाके चिन्होंके विषयमें बालकोंके प्रश्नके उत्तरमें यदि कहा जाय 'चन्द्र-माके भीतर जो कृष्णचिन्ह हैं; वह बुढ्ढा स्त्रीके चर्खा कातनेको प्रगट

करते हैं।' तो कभीभी हमारे बालक पोथियां पढ़कर भूगोल या अन्य विज्ञान सम्बन्धी विषयकी बातोंको सुगमतापूर्वक स्मरण नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त उनको फिर रुचि उठ जानेसे प्रत्येक विद्या शुष्क प्रतीत होती है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि कहानियोंके रूपमें इतिहासकी शिक्षा देनेसे बालकोंको प्रिय होनेके अतिरिक्त समस्त घटनाएं ऐसी कण्ठ हो जाती हैं कि फिर कभी उनका विस्मरण नहीं होता। और ऐसेही गणित, भूगोल और विज्ञानादिकी उस समयकी मौखिक शिक्षा दी हुई आजन्म बालकोंको स्मरण रहती है; और उनके मस्तिष्कपर भारभी नहीं होता, प्रत्युत वही उनके लिए खेल होता है। हमारे अनुमानसे जैसे एक लोहकारका पुत्र विना सीखनेका कष्ट उठायेही क्रीड़ा करते, करते लोहकार बन जाता है, वैसेही विद्वान माता-पिताका पुत्र खेलही खेलमें पूर्ण पण्डित हो सकता है। वस्तुतः माता और पितासे बढ़कर संसारमें कोई शिक्षक नहीं हो सकता। माता-पिता जैसा चाहें वैसी सन्तानको शिक्षा दे सकते हैं। अतः किसी भाषा या विज्ञानका पण्डित एवं सभ्य या असभ्य बनाना, यह सभी माता-पिताके हाथमें है। यदि माता-पिता अपनी सन्तानसे हिन्दीमें भाषण करें तो वह हिन्दी सीखेगी और यदि इङ्गलिशमें बातें करें तो वह उसका अनुकरण करेगी, यदि तू बोलेंगे तो तूमें उत्तर देगी और यदि 'आप' कहेंगे तो 'आप' कहेगी। सारांश यह है कि सन्तान दर्पणके सदृश होती है; जैसी आकृति उसके सन्मुख रक्खी जाती है वैसाही प्रतिविम्ब दिखायी देता है। अतः माता-पिता सन्तानको जिस भाषा और विज्ञानको पण्डित बनाना चाहते हों उसके जन्मकालसेही उसी भाषामें भाषण करके खेल, खेलमें उस विज्ञानकी शिक्षा देनी चाहिये। परन्तु यद्यपि माता-पिता अपनी बुद्धिकी चतुरतासे अपने इच्छित विज्ञानका बालकको परिचय करा सकते हैं तथापि अपनी इच्छित विद्याकी अपेक्षा उसके अभिलाषित विज्ञानकी शिक्षा देनाही बुद्धिमत्ता है। क्योंकि जिस विज्ञानमें जिस बालकको अधिक रुचि है उसीमें वह उन्नतिके अन्तिम शिखरपर पहुंच सकता है। अतः थोड़ा, थोड़ा प्रत्येक शास्त्रका परिचय कराते हुए, जिस विज्ञान सम्बन्धी प्रश्नोंको बालक अधिक करे उसीमें उसकी रुचि जानकर उसकी प्राकृतिक रूपसे मौखिक शिक्षा देनी आरम्भ की जाय। परन्तु खेद है आज दिन भारतमें ऐसे माता-पिताका अभाव है, जो बालकोंको आदर्श बनानेके निमित्त

प्राकृतिक शिक्षा दे सकें । इसके अतिरिक्त भारतमें शिक्षा विभागभी ऐसा नहीं है जो प्राकृतिक शिक्षासे बालकोंको सन्तुष्ट कर सके । अतः यथाशक्ति ऐसे सुयोग्य सदाचारी अध्यापकोंको नियुक्त करना चाहिये जो बालकोंके साथ वन, उपवनमें क्रीड़ा करते हुए प्रकृतिके दृश्योंको दिखा एवं ऐतिहासिक घटनास्थलोंको नयनगोचर कराकर शिक्षा दें । बालकोंकी शिक्षाका कोई नियत समय नहीं होना चाहिये । क्योंकि उठते-बैठते, खाते-पीते प्रत्येक समय उनके मनमें ज्ञान प्राप्त करनेके हेतु तर्क, वितर्कके प्रश्न उठा करते हैं । अतः उसी समय उनके प्रत्येक प्रश्नका उचित उत्तर देकर उनको सन्तुष्ट करदेनाही उनकी शिक्षा है । परन्तु उनकी स्वतन्त्रता में बाधक होकर उनको किसी नियत समय उस विषयकी शिक्षा देना, जिसके लिए उनके हृदयमें प्रश्न करनेकी रुचि नहीं है, सर्वथा उनके मस्तिष्कपर भार डालना और बन्ध्या भूमिमें कृत्रिम साधनोंसे कृषि करना है । अतएव शिक्षकको प्रत्येक समय बालकोंके साथ रहना चाहिये । क्योंकि न जाने किस समय किन घटनाओंके होने और किन पदार्थोंके निरीक्षण करनेसे किस शिक्षाको ग्रहण करनेके निमित्त उनके हृदयमें प्रश्नोंकी उत्पत्ति हो ?

हमारा तो यह अनुमान है कि सन्तानके सुयोग्य और सुशिक्षित बनानेमें यदि माता-पिताके जीवनपर तुषारभी पड़जावे तोभी हानिकी अपेक्षा लाभही है । क्योंकि किसी दिन तो शिक्षित और प्रेमी सन्तान सूर्यके सदृश तिमिरको नाश करने वाली होगी । परन्तु खेद है यहांपर स्थानाभावसे हम इस विषयपर विस्तृत कथन नहीं कर सकते । किन्तु हां, यदि पाठकोंको हमारी लेखनीसे रूचि होगी तो एक भिन्न और विस्तृत पुस्तकाकारमें इस विषयपर पूरा, पूरा कथन करेंगे ।

चतुर्थ--बालकोंके भोजनका विषयभी बड़ा गूढ़ है । परन्तु यदि हम प्रकृतिके साथ, साथ चलें तो सरलतासेही यह ज्ञान हो जाता है कि ज्यों, ज्यों बालकके जैसी, जैसी आकृतिके दन्त प्रगट होते हैं त्यों, त्यों उन्हींकी आकृति और प्रकृतिके अनुसार बालकोंके आहारमें धीरे, धीरे परिवर्त्तन होना चाहिये, इसीसे पहिले बालकके सामनेके दांत निकलनेके कारण उसे दूधके अतिरिक्त कभी, कभी कुतरे जाने वाले फल देने चाहियें । क्योंकि सामनेके दांतोंसे चबानेका काम नहीं होता । बालकोंसे एकैक दूध छुड़ाकर फलादि देना उचित नहीं है, क्योंकि जबतक आवश्यकतानुसार दन्त विकास नहोजाय तबतक दूधकी अपेक्षा अन्य पदार्थ बालकोंको

हितकर नहीं हो सकते । दांत निकल आनेपर बालकोंकाभी वही प्राकृतिक भोजन है जो मानव जातिका होना चाहिये । परन्तु आर्थिक अधोगतिके कारण यदि बालकोंके लिए फल पर्याप्त न हों तो न्यूनातिन्यून तीन वर्षतक अन्नादिसे बचाकर केवल दूधपरही उनका निर्वाह होना चाहिये ।

बालकोंके भोजनके समयमें कभीभी उपेक्षा न करनी चाहिये । रोग रहित मूक बालकोंका रुदन करनाही उनकी क्षुधाका ज्ञान देता है और जो बालक बोलना सीख जाते हैं वह तो स्वतः ही कह देते हैं । अतः जिस समय बालक क्षुधासे पीड़ित होकर रुदन करें या कहें तो तत्क्षण उन्हे आहार देनेका प्रयत्न करना चाहिये । किन्तु यदि बालक क्षुधाका ज्ञान न होनेसे रुदन द्वारा या बोलकर भोजनकी इच्छा न करें तो मूर्खा स्त्रियोंके कहनेसे कभी भूलकर आहार न देना चाहिये । बालकके भोजन में तनिकभी विलम्ब होने या समयसे पूर्व आहार देनेसे हानिकी अपेक्षा लाभ नहीं है । क्योंकि भोजनके विलम्बसे मिलनेके कारण हमारे कोमल बालक पोषक पदार्थोंके कुसमय प्राप्त होनेसे उसी प्रकार शरीरकी उन्नति होनेकी अपेक्षा जीवन हीन होते रहते हैं, जिस प्रकार किसी वृक्षका छोटा विरला जलकी अनुपस्थिति या उसके कुसमय प्राप्त होनेसे वृद्धिकी अपेक्षा शुष्क हो जाता है या निर्बल रह जाता है; और क्षुधासे पूर्व भोजन मिलनेका परिणाम यह होता है कि जिस प्रकार वृक्षके छोटे विरलेको आवश्यकतासे अधिक जल द्वारा सींचनेपर निश्चय वह गलकर मृत्युको प्राप्त होता है या भयङ्कर रोगसे ग्रसित हो जाता है, उसी प्रकार हमारी सन्तान रोगी होजाती है या मृत्युका ग्रास बन जाती है ।

पञ्चम—बालकोंके रोगोंकी चिकित्साके विषयमें, चाहे वह गर्भमें हो, या दुग्धपान करता हो, या भले प्रकार समर्थ हो, केवल वही साधन हैं, जो प्रौढ़ों और वृद्धोंके लिए हो सकते हैं । कारण यह कि हमारी चिकित्सामें केवल जीवनकोषोंका विकृत कणोंमें रूपान्तर होनेसे उनकी रक्षा करनी है । क्योंकि बिना जीवनकणोंके जीवनके रासायनिक पदार्थोंका विषैले पदार्थोंमें रूपान्तर हुए किसी रोगकी उत्पत्ति नहीं होती; और यह आगे पाठ करनेपर ज्ञात होगा कि जीवन-कोषोंका दूषित जीवोंमें रूपान्तर होनेसे किस प्रकार एकही चिकित्साके मूल सिद्धान्तसे रक्षा की जा सकती है ।

षष्ठ—बालकोंको पहिननेके वस्त्र ऋतु और देशके अनुसार दुर्तापवाहक, ढीले

और स्वच्छ होने चाहियें; और ओढ़ने बिछानेके उनकी प्रकृतिके अनुसार कोमल होने आवश्यक हैं। इसीसे पक्षी अपने बालकोंके निमित्त कोमल तृणोंके घोंसलेकी रचना करते हैं। वस्त्र और स्थानादिके विषयमें गत् निबन्धोंमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है, इस लिए यहां पुनः विस्तारसे लिखनेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु इतना कहना आवश्यक है-बालकोंको मुंह ढककर कभी न सुलाना चाहिये और यथाशक्ति उनको गोदमें कम लेना चाहिये। क्योंकि गोदमें लेनेसे वह प्राकृतिक व्यायाम द्वारा शरीरको पुष्ट करनेसे वञ्चित रहते हैं। इसीसे जब वह सरकने योग्य हों तो मनमाना सरकने दो, जब खड़े होनेका यत्न करें, बिना भयके खड़ा होने दो। सारांश यह है कि किसी प्रकार उनकी क्रियाओंमें बाधा न डालनी चाहिये। हां, यदि वह सर्पकोही पकड़नेकी चेष्टा करें तो दूसरी बात है अन्यथा उनकी स्वतन्त्रतामें बाधक होना उनकी बढ़ती शक्तियोंपर अपकार करना है।

स्वच्छता

स्वास्थ्यके अनुमानसे स्वच्छताकी जो कुछ प्रशंसा की जाय वही थोड़ी है। इसीसे पृथ्वीपर सभ्य मानव जातियोंके प्रत्येक धर्म तथा चिकित्सा शास्त्रने स्वच्छ रहनेका उपदेश दिया है। परन्तु वह वास्तवमें स्वच्छताकी गुण-प्रशंसा करतेहुएभी पशु, पक्षियोंसे गये बीते हैं,। वह लिपे-पुते घर, रङ्ग, विरङ्ग गलीचों आदि द्वारा कृत्रिम रीतिसे सुसज्जित पिच्चीकारीके विशाल भवन, अनेक प्रकारके वस्त्रोंके प्रयोग, नाना प्रकारके नित्य नूतन फैशन, अनावश्यक तीक्षण गन्धोंसे गन्धित भोजनों आदिके सेवनकोही स्वच्छता समझे हुए हैं। परन्तु इस प्रकारकी कृत्रिम टीप-टाप स्वच्छताकी अपेक्षा बनावट है, या यों कहना चाहिये कि सुवर्णके पात्रमें विष भरा है।

अप्राकृतिक अर्थात् प्रकृतिके प्रतिकूल जितनेभी पदार्थ हैं वह सभी एक ओरसे अस्वच्छ हैं। क्योंकि अस्वच्छ पदार्थ केवल वही हैं, जिनके प्रयोग या सेवनसे उनकी रुचिकी अपेक्षा हमारी ज्ञानेन्द्रियोंको दुःख या घृणा होती है। अतएव हमारे प्रचलित खान-पान या रहन-सहन, जो मूलसे कृत्रिम हैं, कोईभी स्वच्छ कहने

योग्य नहीं। हम अप्राकृतिक पदार्थोंको कृत्रिम रीतिसे स्वच्छ, निर्मल, सुन्दर एवं सुस्वादिष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु वह पहिलेसेभी अधिक अस्वच्छ हो जाते हैं। हां, केवल इतना कहा जा सकता है कि इस प्रकार कृत्रिम रीतिसे अन्य तीक्ष्ण पदार्थों द्वारा दूषित पदार्थोंके दोष इतने छिप जाते हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियां उनके पूर्ण रूपका अनुभव करनेको असमर्थ होती हैं। इसीसे करेलेकी कटुता मसालों, तैल एवं खटाई आदिसे कुछ छिप जाती है, इमली या नीबूकी खटाई जल और शकरके मिश्रणसे कुछ न्यून हो जाती है, मांसकी गन्ध लहसन और प्याज आदिसे अल्प प्रतीत होती है, शकरका मिठास गुड़मार बूटीसे लुप्त हुआ जान पड़ता है, फिनाइल आदिके तीक्ष्ण प्रभावसे विष्ठे, और मूत्रादिकी गन्धका ज्ञान नहीं होता, और अपवित्र स्थानके विकारभी लीपने-पोतनेसे ढक जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि खटाई आदिसे करेला स्वच्छ हो जाता है, या शकरसे खटाईके गुण जाते रहते हैं, या लहसन आदिसे मांस निर्दोष हो जाता है, या गुड़मार घाससे शक्करके तीक्ष्ण गुणोंका नाश हो जाता है, या फिनाइलसे मल, मूत्र पवित्र हो सकते हैं, या लीपने, पोतनेसे कोई दूषित स्थान विकार रहित हो सकता है। नहीं! कदापि नहीं!! इस प्रकार विषसे विषको मारना अर्थात् अस्वच्छ पदार्थोंको अधिक अस्वच्छ पदार्थोंसे छिपा देना अपनी ज्ञानेन्द्रियोंको स्वच्छताका धोखा देकर अपने शरीरपर अपकार करना है। इसके अतिरिक्त हम शाक एवं फलों आदिको स्वच्छ करनेके हेतु लोहेके अस्त्रसे उनका छिलका पीछे उतारते हैं उससे पहिले फलोंकी खटाई, द्वारा लोहास्त्रकी कलौंस और वायुके अनावश्यक स्पर्शोंसे वह पदार्थ अस्वच्छ होने लगते हैं। इसीसे अनेकानेक धातुएं और वायुके संसर्गसे उत्पादित विष हमारे भोजनोंमें सम्मिलित हो उदरस्थ होनेपर अनेक रोगोंका कारण होते हैं। यहांतक कि कांच और चीनीके पात्रभी धीरे, धीरे घिस, घिसकर कुछ न कुछ नित्य भोजनोंके साथ हमारे शरीरमें प्रवेश करते हैं। अपरञ्च उनके घिसनेपर वह खुर्दरे हो जाते हैं, और फिर उन खुर्दरे स्थानोंके छोटे, छोटे गढ़ोंमें तरल पदार्थोंकी सहायतासे मलके एकत्र होनेपर विषैले कीट जन्म लेलेते हैं, और हमारे स्वास्थ्यपर अपकार करते रहते हैं।

यह खेदका स्थान है, मनुष्य जो अपनेको सर्वश्रेष्ठ समझता है स्वच्छताके विषयमें पशुओंसेभी गया बीता है। कोई पशु जबतक धोखेसे या बलात् किसी अप्राकृतिक

पदार्थका अभ्यस्त न कराया जाय, कभी उसे यथा शक्ति सेवन न करेगा। परन्तु मनुष्य देवताने विष्टे और मूत्रादिकोभी सेवन करनेसे नहीं त्यागा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं, जो विष्टे और मूत्रादिको उनकी प्रत्यक्ष आकृतिके रूपमें भक्षण करते हों। परन्तु यह ठीकही है कि उन स्थानोंका निवास या वहां जाना जहां विष्टे आदिके ढेर लगे रहते हैं या मूत्रकी नालियां चलती हैं, मनुष्य प्रत्यक्ष वायु द्वारा गन्ध देनेवाले उनके अदृश्य परमाणूओंका आहार करता है। इसके अतिरिक्त मनुष्यकी असन्तुष्ट रहने वाली तृष्णा उसे अधिकाधिक वनस्पति उगानेको बाध्य करती है, जिससे वह मल, मूत्र, मांस, रक्त एवं अस्थ्यादिके कृत्रिम खाद्यकी सहायतासे शाकादिकी अपवित्र कृषि करता है। इस समस्त घोर अपवित्रताके कारण सभ्यतापर निर्भर हैं। इसीसे जितने सभ्य देश हैं उतने ही वहांके कृषि विभागके वैज्ञानिकोंने घृणित और अप्राकृतिक साधनों द्वारा वनस्पति उगानेकी चेष्टा की है, और यही कारण है कि विशाल और सभ्य नगरोंमें कृषि किये हुए शाकादि ग्रामोंकी अपेक्षा स्वाद रहित और अप्रिय गन्ध एव क्षार प्रगट करते हैं, या यों कहना अनुचित न होगा कि वहांके पुरवासी पांच, छः सप्ताहमेंही शाकों द्वारा अपना मल, मूत्र स्वयं भक्षण करते हैं। हा! धिकार है!! और कोटिवार धिकार है ऐसी सभ्यताकी स्वच्छता पर!!!

इस समय यदि कोई स्वच्छताकी किसी देशसे तुलना करे तो सब एकही नौकाके यात्री हैं। कारण यह कि नूतन सभ्य और वैज्ञानिक प्रणालीके देशोंमें यदि टीप-टाप या फैशनों द्वारा आर्थिक दशाकी उत्तमतासे कुछ थोड़ीसी कृत्रिम स्वच्छता प्रतीतभी हो, तो वहांके नगरोंकी जन संख्याकी अधिकता, ऐञ्जिन, मोटरों एवं होटलों आदिके धुएं और विषैले गैस और विद्युत आदिके तीक्ष्ण प्रकाश, उत्तेजक तथा अपवित्र पदार्थोंकी गन्ध, मल, मूत्रादिके तीक्ष्ण खाद्यसे उपजे हुए फल, धान्य तथा शाकादिका सेवन केवल नाम मात्रकी स्वच्छता है। इसके अतिरिक्त भारत सरीखे धन हीन, विदेशी, अन्यायी राज्यके आधीन और विज्ञानसे वञ्चित देशोंका तो कुछ कहनाही नहीं, जहां चारों ओर भीतसे घिरे हुए आंगनवाले छोटे, छोटे वायु एवं प्रकाशसे सर्वथा रहित, सीलन और दुर्गन्ध युक्त तथा मकड़ीके जालों, खटमल, पिस्सू और मच्छर आदिसे परिपूर्ण घर हैं, द्वारपर चौबच्चे, कूड़ा और नलियां सड़रही हैं, वस्त्र मल और श्वेदसे दुर्गन्धित और जुओंसे भरपूर

हैं, और भोजनभी अपवित्रताके साथ बना हुआ विषैली धातुओंके पात्रोंमें रक्खा हुआ बासी, तिवासी मिलता है। इसके अतिरिक्त उनके निवासार्थ घरोंमेंही लकड़ी-डिंगरी; चूल्हा-चक्की, मिर्च-मसाला, आटा-दाल, कपड़े-लत्ते, पशु-पक्षी एवं समस्त जगतकी दारिद्रता भरी होती है। अपरञ्च इस देशमें दीन और कङ्गाल तो एक ओर रहे विज्ञानकी अनुपस्थितिके कारण बड़े, बड़े धनिकभी अपवित्रताके दास बने हुए हैं; प्रत्युत प्रायः यहांके वैज्ञानिकोंके घरमेंभी यही होना है।

आजकल विज्ञानोन्नतिके कारण समस्त भूमण्डलपर छूत-अछूतका विचार बढ़ता जाता है। इसीसे नूतन वैज्ञानिक शिक्षा इस बातका उपदेश देती है-भोजन आदिको बनाते या सेवन करते समय हाथसे स्पर्श न किया जाय और उसके स्थानमें यन्त्रों आदिकी सहायता ली जाय। परन्तु हमारा कहना है कि स्वच्छता छुरी-कांटेकी सहायतासे बिना हाथके स्पर्श किये भोजन करनेसेभी नहीं रह सकती। क्योंकि छुरी, कांटे या अन्य यन्त्रोंसेभी कुछ न कुछ धातुओं आदिके विष उदरस्थ होते हैं, और जो भोजन कृत्रिम रीतिसे बनाये जाते हैं निश्चय वायुके स्पर्शसे दूषित होने लगते हैं। इसपरभी हमारे देशकी छूताछूत दिखावे मात्रकी ढकोसलाही है। हम किसी अन्य जातिसे स्पर्श होनेपर बिना स्नान किये भोजन करना पाप समझते हैं, परन्तु स्नान करके मलयुक्त धोती पहननेमें स्वच्छताकी मर्यादासे नहीं गिरते; हम किसी अन्य वर्णके अपनेसेभी सुन्दर एवं स्वच्छ मनुष्यके हाथसे स्पर्श किये हुए भोजनको अपवित्र कहते हैं, किन्तु अपने वर्णके घृणितसे घृणित और अपवित्रसे अपवित्र मनुष्यके हाथका भोजनभी पवित्रही समझते हैं, हम अन्य व्यक्ति द्वारा शुद्ध जलके बिन्दुके आपड़नेसेभी अपवित्र हो जाते हैं. परन्तु लीद और गोबर सरीखे दुर्गन्धित और दूषित पदार्थोंसे हमारी स्वच्छतामें बाधा नहीं होती; हम धोबीके धुले हुए वस्त्रोंको धारण करके भोजनालयमें नहीं जा सकते, किन्तु मल और दुर्गन्धसे उत्पादित विषैले कीटाणुओं युक्त हलवाइयोंके वस्त्रों द्वारा छने हुए, दूध, घी आदिसे कोई बचाव नहीं करते; हम अपने भोजनके पात्रोंको कदापि अन्य जातिसे स्पर्श करानेको प्रस्तुत नहीं हैं, परन्तु जिन तृणादिसे हमारे पात्र स्वच्छ करनेके हेतु घर्षण किये जाते हैं नित्यके काम-काजसे अपवित्र कीटाणुओंके केन्द्र हो जानेपरभी ग्लानिकी दृष्टिसे नहीं देखे जाते, हमारे मिट्टी, पत्थर एवं काष्ठादिके पात्र यदि किसीसे स्पर्श हो जावें तो तुरन्त फेंक दिये

जाते हैं, परन्तु उन्हीं पात्रोंके दूध, छाच या अन्य रसीले पदार्थोंके सोक लेनेसे विषैले कीटों और दुर्गन्धयुक्त होनेपरभी सदा पवित्रही समझे जाते हैं, हम जलके पात्रमें हाथ पड़ जानेसे उसका पान करनेसे बहुधा घृणा करते हैं, परन्तु हाथसे घचोल, घचोलकर गुंधे हुए पिसान (आटा) की रोटियां भर पेट खा जाते हैं; हम सुन्दर, सुन्दर मेज, कुर्सियोंपर भोजन करना दोष समझते हैं, परन्तु नित्य चौका पोतनेके अपवित्र वस्त्रसे चौका पोतनेमें किसी त्रुटिका अनुभव नहीं करते, हम अन्य जातिके कोरे और मिट्टीके स्वच्छ घड़ेका जल पीनेमेंभी जातिसे पतित हो जाते हैं, किन्तु अपवित्र एवं अस्वच्छ जातियों द्वारा घोर अपवित्र मिट्टीके पात्रोंमें लाया हुआ दूध स्वार्थवश पवित्रही समझते हैं, हम मांसादिको देखकर भी घृणा करते है, किन्तु देशी शक्कर मीठेपनके कारण सहस्रों मक्खी, चींटे, ततैये आदि अनेक जीवोंका चूर्ण होते हुए और नीच जातियोंके पगों द्वारा खूंदे जानेपरभी पवित्रही मानते हैं, हम अपने भोजनोंपर अन्य व्यक्तिकी छायाभी नहीं पड़ना चाहते, किन्तु अस्वच्छ जातिकी पिसनहारियोंके पीसते समय एवं हलवाइयों द्वारा मीठा आदि बनानेमें पिसान और मिठाइयोंमें स्वेद विन्दु गिरने, बिल्ली आदिके घृतादि जूंठा करने, पनिहारियोंके हाथ पानीमें घचोलने तथा उनके मासिक रजस्रावके जल खींचते समय कूपमें गिरने एवं अनेक घृणित बातोंसे बचाव नहीं करते; सारांश यह है कि हमारे अचार, मुरब्बे, मिठाइयां पूरी, पकवान इत्यादि, इत्यादि केवल चांदी-सोनेके पत्रोंसे भूषित, तीक्ष्ण गन्धोंसे गन्धित और मेवा आदिसे अलंकृत और कृत्रिम टीप-टाप किये हुए समस्त भोजन हट मात्रको ही सुन्दर और पवित्र प्रतीत होते हैं, अन्यथा वह मूलसे अपवित्र हैं; और ऐसेही हमारे रेशम और ऊन आदिके वस्त्र हैं, जिनको हम वर्षों पर्यन्त इसीसे नहीं धुलवाते कि उनमें छूतका विचार नहीं रक्खा गया है। परन्तु इस प्रकारकी हटका आधार मिथ्या है। ऐसे पदार्थ विज्ञानकी दृष्टिसे पवित्र कभीभी नहीं कहे जा सकते। निदान् दिखावे मात्रकी छूताछूतके मिथ्या आधारपर चलनेवाले जबतक स्वच्छ और अस्वच्छका ज्ञान प्राप्त करनेके हेतु अपनी ज्ञानेन्द्रियोंसे उचित काम न लें कदापि अन्धानुयायीके अतिरिक्त स्वच्छ नहीं कहे जा सकते।

अतएव हमारे बहुमूल्य कृत्रिम भोजन, जो घोर अपवित्रतासे बनाये जाते हैं, या बड़े, बड़े सुन्दर और रङ्गीन वस्त्र, जिनके मलादिके दोषोंको उनके रङ्ग और इत्र

आदिकी गन्धने छिपानेका प्रयत्न किया जाता है चिरकालतक न धुलनेके कारण शरीरको अस्वच्छ करनेसे अपनी सुन्दरताकोभी कालिमा लगाते हैं, या वह अमूल्य सुवर्णादिके आभूषण, जिनपर मोहित होकर हमारी कोमल, और मृदु मंजुल स्त्रियां उनके घर्षण एवं मलादिसे शरीरको कठोर तथा अस्वच्छ करके कुरूप करलेती हैं कैसी मिथ्या स्वच्छता और कृत्रिम टीप-टाप है ?

उपरोक्त कथनसे यह परिणाम निकालना, कि हम छूताछूतके विरोधी हैं या अन्य जातियोंके साथ भोजन करनेका उपदेश करके प्राकृतिक धर्मका खण्डन करना चाहते हैं, निर्मूल है । नहीं ! कदापि नहीं ! ! हमारी सम्मतिमें दिखावेके अतिरिक्त जितनीभी छूताछूत एवं स्वच्छतासे काम लिया जाय उतनाही उत्तम है क्योंकि अस्पृश्यता केवल उन्हीं पदार्थोंसे होती है, जो किसी प्रकार हमारे शरीरको अस्वच्छ करते हैं । हम यहांतक छूताछूत सम्बन्धी विचारके अनुकूल हैं कि अप्राकृतिक या कृत्रिम भोजन तो एक ओर रहा, वरन् नैसर्गिक आहार अर्थात् फलादिभी मनुष्यको स्वयं अपने हाथों द्वारा वृक्षोंसे प्राप्त करके सेवन करने चाहियें, जिससे अन्य व्यक्तिके शारीरिक दोषोंके कारण हमारे सेवनार्थ फलोंके दूषित होनेसे हमारे शरीरपर रोगों द्वारा अपकार न हो । इसके अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्तिके शयनागारमें विश्राम करना तो बहुत बात है, वरन् किसी मनुष्यके वस्त्रों गलीचों एवं कुर्सी आदिका प्रयोग करना अन्य व्यक्तियोंके काममें आनेवाले अस्त्रोंसे मद्र कराना, उन धोबियोंसे, जो अन्य मनुष्योंके वस्त्रोंके साथ वस्त्र धोते हों, वस्त्र धुलवाना और अन्य व्यक्तियोंके अङ्गोछे, साबुन, कंघी या पात्रादिको काममें लानाभी स्वास्थ्यके विचारसे अस्वच्छ होनेके हेतु निषेध है । अपरञ्च यदि कोई छूताछूतको स्वास्थ्यका एक सर्वोच्च अङ्ग समझकर उसका इससेभी अधिक पालन कर सकता है, तो नगरोंसे पृथक ऐसे स्थानोंमें निवास करना चाहिये जहां अग्निके धुएं और गैसों, दूषित पदार्थोंके परमाणुओं एवं बचा-बच्च जन संख्याके श्वांस द्वारा अपवित्र की हुई वायुकोभी पहुंच न हो । किन्तु हमारे अनिर्वाय सामा-[illegible] बन्धनोंसे ऐसा होना प्रायः असम्भव है । इसलिए यथाशक्ति खुले और [illegible] वायुके स्थानोंमें रहना चाहिये । इसके उपरान्त यदि हम छूताछूतके विचा-पत्थर एवं गम्भीर दृष्टिसे देखें, तो अन्य देश या जातिमेंही नहीं वरन् अपनी [illegible] सम्बन्ध केवल उन्हीं निकटवर्ती कुटुम्बोंसे होना चाहिये जिनकी

प्रकृति अधिकांश हमारी प्रकृतिके अनुकूल हो। कारण यह कि अन्य जातिके स्त्री, पुरुषोंसे मैथुन करनेपर यदि एक पक्ष स्वच्छ है और दूसरा अस्वच्छ अर्थात् रोगी है, तो प्रकृतिमें अन्तर होनेसे यद्यपि अस्वच्छ पक्षको लाभ है तथापि स्वच्छ पक्षको केवल हानिही है।

आज-कल हमारे देशमें प्राकृतिक धर्मके विपरीत उन अस्पृशीय जातियोंको, जो पीढ़ियोंकी अस्वच्छताके कारण नीच और अछूत समझी जाती हैं उच्च जातियोंके समान देखे जाने और उनसे छूताछूतका विचार त्याग देनेकी लहर उठ रही है। अतः हमभी इससे सहमत हैं। परन्तु खेद है कि यह बात विज्ञान विपरीत है कि अछूत जातियोंको उदार विचारसे हम एकैक अपने समान कर लें। क्योंकि यदि हम अपने हाथसे भले प्रकार एक घन्टे पर्यन्त विष्टेको मथें तो साबुन सरीखे तीक्ष्ण पदार्थोंको मलकर हाथ धोनेसे भी कई घन्टेतक हमारा हाथ दुर्गन्धसे मुक्त न होगा। अतः ऐसी दशामें जबतक हमारा हाथ दुर्गन्धसे शून्य न हो जावे मुखके सेवनार्थ भोजन देनेके निमित्त अस्पृशीयही रहेगा; और उसीके सदृश उन जातियोंका, जो वास्तवमें हमसे भिन्न नहीं है, किन्तु पीढ़ियोंसे विष्टे या चामका या अन्य कोई अपवित्र कार्य करती रही हैं, और जिनके गात्रके प्रत्येक कणमें उस कार्यके करनेसे उसके अपवित्र और दूषित परमाणुओंका मिश्रण हो गया, एक जन्ममेंही नहीं, प्रत्युत पीढ़ियोंमेंभी उन दोषोंसे मुक्त होना दुर्लभ है। अतएव उन नीच जातियोंसे जबतक वह दूषित विकार, जिनके द्वारा वह अस्पृशीय हो रही हैं सर्वथा पृथक नहो जाये तबतक विज्ञानकी दृष्टिसे किसी प्रकार उनका स्पर्शीय होना नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्योंकि जबतक वह अस्वच्छ जातियां पूर्ण प्राकृतिक स्वच्छताको प्राप्त न हो जावें हमको उनके स्पर्शसे उनके दूषित स्वभावके कारण अपने स्वच्छ शरीरके रोगोंसे पीड़ित होनेकी सम्भावना है; और इसीसे प्रकृति हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उनके शरीरकी विषैली गन्धादिका ज्ञान कराकर उनसे भिन्न रहनेका उपदेश करती है। किन्तु इसपरभी हमारी सम्मति है कि नीच जातियोंसे अपवित्र व्यवसायोंका त्यागन कराकर उनको क्रमशः उन्नतिका मार्ग दिखाना चाहिये। अन्यथा यह बड़ा अन्याय है कि हम अपने स्वार्थवश किसी मनुष्यकी जातिके पतनका हेतु बनें।

स्वच्छताका वास्तविक अर्थ प्रकृतिका अनुयायी होना है। क्योंकि हम पहिलेही कथन कर चुके हैं—हमारी ज्ञानेन्द्रियोंको घृणा केवल उन्हीं पदार्थोंसे होती है, जो

हमारे शरीरको अस्वच्छ अर्थात् रोगी करते हैं, और हमारे शरीरको अनावश्यक अस्वच्छ करनेवाले केवल वही पदार्थ होते हैं, जो मानवीय प्रकृतिके विपरीत हैं; और रोगभी केवल उन्हीं पदार्थोंसे होते हैं जो प्रकृतिके विपरीत होनेके कारण शरीरको दूषित करते हैं। अतएव प्रकृतिपर न चलनाही अस्वच्छताको स्थान देना है; और अस्वच्छताको मार्ग देनाही निर्मल शरीरको रोग मन्दिर बनाना है। निदान् अस्वच्छताके केवल उन अनिवार्य सूक्ष्म दोषोंके अतिरिक्त, जो प्रकृतिने क्रमशः हमारे शरीरको धीरे, धीरे अस्वच्छ कर आयुकी पूर्णावधिको प्राप्त होनेपर उसकी मृत्युके साधन रक्खे हैं, स्वच्छताके मार्गपर चलनेवाला कभी रोगी नहीं हो सकता। परन्तु पूर्णतः स्वच्छताका पालन करना आज कलके दिखावटी मनुष्योंको बहुतही कठिन है। अतःन्यूनातिन्यून उन रोगियोंके लिए जो अपने दारुण रोगोंसे दुःखी होकर उनसे मुक्त होना चाहते हैं, चाहिये अपने खान-पान और रहन-सहनआदिके विषयमें यथाशक्ति स्वच्छतापर ध्यान रक्खें, उसीमें उनका कल्याण है। जो पदार्थ निर्मल दीखते हुएभी हमारे शरीरके बाह्य या आन्तरिक पदार्थोंको अस्वच्छ अर्थात् दूषित करें उसीसे उनको अस्वच्छ समझकर पृथक रहना चाहिये। अन्यथा विना स्वच्छताकी शरण लिये हुए कोई रोगी अपने रोगोंसे मुक्त होकर आरोग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्युत स्वच्छ मनुष्यभी अस्वच्छताको स्थान देनेसे अस्वच्छ अर्थात् रोगी शरीरका हो जाता है।

आरोग्यताके मुख्य नियम

क्योंकि 'प्राकृतिक विज्ञानकी' एक एक पंक्ति और अक्षरका धर्म है कि साहित्यकी दृष्टिसे, एक, एक बातका कई, कई स्थानपर पुनः कथन करनेसे, च्युत होनेपरभी स्वास्थ्य सरीखे जटिल विज्ञानको समझानेके निमित्त मनुष्य मात्रको दयालु प्रकृति माताकी शरणमें लाकर आरोग्यताके सुवर्ण मार्गपर चलानेका भरसक प्रयत्न करे। इसीसे यहांपर उन बातोंका जो अनेक बार कही जा चुकी हैं पुनः संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। कारण यह कि हमारा जीवन और विकास केवल स्वास्थ्यपरही निर्भर है। बडेसे बड़ा सुख जो संसारमें किसीको प्राप्त हो सकता है, विना आरोग्यताके निरर्थक है। अतएव जीवनकी अभिलाषासे निम्न लिखित नियमोंपर पूर्ण ध्यान देना चाहियेः—

अधिकांश मनुष्य अनुचित दशामें श्वांस लेनेसे फुस्फुस, कण्ठ और वायु नाली आदिके रोगोंमें ग्रसित हो जाते हैं। यह प्रकृतिके प्रतिकूल नासिकाकी अपेक्षा मुखसे श्वांस लेते हैं। मुखका कर्त्तव्य केवल बोलना और खाना-पीना है, और नासिकाका काम सूंघना और श्वांस लेना है। जो श्वांस नासिका द्वारा फुस्फुसमें प्रवेश करता है, वह नासिकाके हेर-फेरके मार्गमें अनेक अवयवोंसे टकराकर उनके ताप द्वारा शरीरके तापकी श्रेणीका हो जाता है, परन्तु मुखसे वायु सेवन करनेपर, फुस्फुसतक सीधा मार्ग होनेसे, वह शरीरके तापके समान तापकी न हो जानेके कारण अपने शीतल या ऊष्ण तापसे फुस्फुस एवं श्वांस नालीमें दाह करती है। अतःकभी मुखसे श्वांस न लेना चाहिये। प्रत्युत शीघ्र बोलना या स्वर खींचकर गाना अथवा चिल्लानाभी फुस्फुसादिपर वही प्रभाव करता है जो मुखसे श्वांस लेनेपर होता है। खेद है हमारे देशके सुनगेकार फुस्फुससे रक्त शुद्ध करनेकी अपेक्षा अग्निको प्रज्वलित करनेमें धौंकनीका काम लेते हैं, और हमारे हुक्केके रसिया उनको विषैले गैसोंसे अपवित्र करते हैं।

यदि हम दीर्घायु होना चाहते हैं तो शयन करने और निद्रासे जागरित होनेके समय नियमित होना चाहिये। क्योंकि दिन भरके परिश्रमसे थकित शरीरको पुनःचैतन्य और नवजीवित करनेका उपाय केवल रात्रिमें सूर्यास्त होनेपर शयन करना और सूर्योदके समय जागरित होना है। इसके अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यका अधिक तेजस्वी ताप होनेपर दिनके मध्य कालमेंभी विश्रामकी आवश्यकता है। शयन करनेके स्थान अन्य पदार्थोंसे शून्य, स्वच्छ और यथेष्ट वायु और प्रकाशको मार्ग देनेवाले होने चाहियें, और उनको खिड़कियां सदा शयन करते समय वायु सञ्चारके निमित्त खुली रहनी चाहियें।

ऐसे रोगोंमें जिनमें रोगीको निद्रा नहीं आती है, कभी भूलकरभी डाक्टरोंको ऐसा अवकाश न देना चाहिये कि वह Bromide of Potassium, Chloral Hydrate and Marphia सरीखी मादक औषधियोंसे हमको कृत्रिम मूर्छा लानेकी चेष्टा करें। क्योंकि वास्तवमें उक्त मादक और विषैले पदार्थोंसे कभी प्राकृतिक निद्रा नहीं लायी जा सकती, वरन् हम, इनके मदमें ज्ञान तन्तुओंके शिथिल हो जानेपर ज्ञानसे वञ्चित हो जाते हैं। इसीसे प्राकृतिक निद्राके उपरान्त विश्रामके कारण मनुष्य चैतन्य और नवजीवित हो जाता है, परन्तु मादक पदार्थों

द्वारा ज्ञान रहित किया हुआ मनुष्य मदका प्रभाव जानेके उपरान्त पहिलेसेभी अधिक शिथिल और थकित प्रतीत होता है; और क्रमशः हम उन मादक पदार्थों-की अधिक मात्रा प्रयोग करनेके ऐसेही अभ्यस्त हो जाते हैं, जैसे कर्त्तव्य हीन अन्त्रादि विना नित्य रेचक पदार्थोंकी मात्रा वृद्धि किये अपने धर्मका पालन नहीं करतीं। अतः मादक पदार्थोंका प्रयोग करनेवाले डाक्टरोंकी चिकित्सा हमारे तन्तु-ओंको निष्कर्म करके हमारे शरीरमें स्नायु और मस्तिष्क सम्बन्धी रोगोंकी कृषि करती हैं।

यदि हम बहुत अंशोंमें प्रकृतिके अनुकूल नहीं चल सकते हैं तोभी अति तीक्षण पदार्थोंसे बचना, क्षुधाके अनुकूल भोजन, समयपर विश्राम, शक्तिके भीतर परिश्रम, नियमित रूपसे मल, मूत्र त्यागन, आवश्यकतानुसार प्राकृतिक व्यायाम और भरसक स्वच्छतासे रहकर आडम्बर शून्य जीवन निर्वाह करना चाहिये।

औषधियोंका शरीरपर अपकार

आज पुरातन युग बीत गये हैं और समस्त संसारमें युगान्तर हो रहा है, परन्तु औषधियोंने हमारे शरीरको रोग मन्दिर बनाकर ऐसा आधीन किया है कि हमारा जल और भोजनभी उनसे मिश्रित होता है। क्योंकि जबतक हमारे प्रत्येक शाकादिमें चार, पांच तीक्षण मसाले (औषधि) सम्मिलित नहीं किये जाते या सोडा, नीबू और शक्कर आदिसे मिश्रित जल नहीं होता, या भोजनके उपरान्त पान, तम्बाकू, सिग्रेट, सौंफ़, इलायची या किसी प्रका-रके पाचक चूर्णादि प्राप्त नहीं होते तबतक हम उनके लिए विकलही रहते हैं। कारण यह कि मसाले या तीक्षण पदार्थ (औषधि) हमारी आमाशयिक भींतके जीवन-कोषोंको नित्य खुरचते, खुरचते वैसेही कठोर और जीवन हीन कर देते हैं जैसे कड़ा काम करनेपर हस्त-तलकी त्वचा निर्जीव हो जाती है, और जिस प्रकार हस्त-तलके कठोर होनेपर त्वचाके रक्तहीन होनेके कारण सुईकी अपेक्षा अधिक ती-क्षण अस्त्र चुभानेपरही रक्त निकलता है, उसी प्रकार आमाशयिक भींतके कठोर और जीवन रहित होनेसे जबतक पहिलेकी अपेक्षा उन पदार्थोंकी तीक्षणताके हेतु उनकी मात्रामें अधिक वृद्धि न की जाय तबतक वह आमाशयिक भींतको खुरचकर भोज-

नोंके पाचनार्थ रसोंका स्राव करनेमें असफल होते हैं; और उनकी उत्तेजनासे रक्त सञ्चारकी गति सामर्थ्यसे अधिक तीव्र होनेपर कुछ कालमें वह उसी प्रकार मन्द या शिथिल हो जाती है जिस प्रकार घन्टेमें दस मील दौड़नेकी सामर्थ्य वाले घोड़ेको पीटकर बलात् पन्द्रह मील भगानेसे वह अगले दिन दस मील प्रति घन्टाभी दौड़नेको असमर्थ होता है। निदान् औषधियों द्वारा अवयवोंके शिथिल हो जाने पर उनसे काम लेनेके लिए हमको विवश हो उनकी मात्रा और तीक्ष्णतामें वृद्धि करनेको दिनोदिन बाध्य होना पड़ता है; और इतना होते हुएभी हमारे बालक संसारमें जन्म लेने नहीं पाते कि हमारी स्त्रियां उनके पुष्प सरीखे कोमल शरीरपर अपकार करके औषधियोंका दास बनानेके निमित्त पहिलेसेही उनके लिए घुट्टी आदि प्रस्तुत रखती हैं।

शोकका स्थान है कि जिन औषधियोंकी कृपासे हम अपना वास्तविक स्वास्थ्य खो बैठे हैं, और जिनके बिना सहारे हमारे आमाशयादि एक दिनभी अपना काम नहीं कर सकते, उन्हींको अपना जीवन और मुक्ति कर्त्ता समझे हुए हैं। आज दिन समस्त संसारमे राज्यक्रान्तिकी लहर फैल रही है, धूर्तोंकी पोल खुल रही है और मिथ्या बन्धनोंकी सदाकी रस्सी काटी जा रही है। अतःविचारशील अपने नेत्रोंकी पट्टी खोलकर यथार्थ बातका निर्णय करें और औषधियोंको धोखेको दबाने दबें।

आज दिन ऐलोपैथिक विज्ञानके रसायन शास्त्री अनेक नूतन और प्रभावशाली औषधियोंका आविष्कार करते चले जा रहे हैं; किन्तु उनमेंसे प्रायः अनेक अनुभव पीछे भयंकर आपत्तियोंकी हेतु होनेसे चिकित्सा शास्त्रसे पृथक् कर दी जाती हैं या उनमें अन्य पदार्थोंका मिश्रण करके उनके तीक्ष्ण गुणोंके न्यून करनेकी चेष्टा की जाती है। इसका केवल एक मात्र यही कारण है कि वह औषधियां साधारण औषधियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक तीक्ष्ण होती हैं; और उनके सवगुण शीघ्र दर्श जाते हैं। परन्तु हमारा यही कथन है " प्राकृतिक आहारके अतिरिक्त औषधि मात्र विष है "; चाहे उसमें तीक्ष्णता न्यून हो अथवा अधिक। औषधियोंको उपयोगी समझना केवल एक भ्रम है। प्रत्येक औषधि अपने प्रभावशाली तीक्ष्ण गुणोंसे हमारे जीवन-कणोंको भेदकर वायुकी सहायतासे या अपने झुलसाने वाले तापसे उनका नाश और विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर एवं रक्त और शक्तियोंका व्यय करती है। हमारे प्राकृतिक आहारके

अतिरिक्त ऐसी कोईभी औषधि नहीं है, जो अपनी तीक्ष्ण प्रकृतिके कारण अनावश्यक मीठे, खट्टे, खारी, कषीले, कटु, अस्वादिष्ट, कण्ठमें अटकनेवाले, या दुर्गन्धादिके गुणोंसे वञ्चित अथवा हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल साधनोंसे न बनायी गयी हो; और यह पहिलेही सिद्ध हो चुका है कि तीक्ष्ण या उत्तेजक पदार्थ हमारे जीवन-कोषोंको वेधकर उनका विसङ्गठन करके उनके जीवनके रासायनिक पदार्थोंको उसी प्रकार वायुमण्डलमें लय और वायुकी सहायतासे विकृत कणोंमें रूपान्तर करते हुए हमारे शरीरको क्षीण और अनेक रोगोंको उत्पन्न करते हैं, जिस प्रकार किसी अस्त्रसे काशीफल (कोढ़ा) को त्वचा विहीन करनेसे वायुकी सहायता द्वारा उसका सड़कर दूषित पदार्थोंमें परिवर्त्तन हो जाता है। अतः हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा औषधियोंकी उत्तेजनका ज्ञान होनेसे हमारी प्रकृति उनके सेवनकी आज्ञा नहीं देती। परन्तु खेद है हम नेत्र और बुद्धिका अभिमान करते हुएभी उन अज्ञान बालकोंसे गये बीते हैं, जो माताके स्तनोंसे किसी कटु पदार्थके लग जानेपर या माताके किसी रोगसे पीड़ित होनेके कारण दूधके अस्वादिष्ट होनेसे, क्षुधासे विकल होकर रुदन करते हुए प्राण जानेके समयतकभी स्तनोंको मुखमें नहीं लेते।

हमारे डाक्टर, वैद्य या हकीम औषधियों द्वारा हमारे दुष्ट रोगोंकी चिकित्सा करनेकी अपेक्षा दोनों हाथोंसे हमारा गला घोटते हैं। हम डाक्टर महाशयसे आंखोंकी पीड़ासे मुक्त करनेकी प्रार्थना करते हैं, वह कोकिन लोशन (Cocaine lotion) या उसी प्रकारकी अन्य कोई ज्ञान तन्तुओंको शिथिल करनेवाली औषधि लगा देते हैं; और हमभी बुद्धिपर पत्थर पड़ जानेसे समझते हैं, कि दयालु और योग्य डाक्टर महाशयने ऐसी उत्तम औषधि प्रदान करनेकी कृपा की, कि क्षण भरमें पीड़ा लुप्त हो गयी। हा ! हम यह विचारनेका कष्ट नहीं उठाते—हमारे नेत्र उस कोकिन लोशन द्वारा रोगसे मुक्त नहीं हुए हैं। केवल नेत्रोंके ज्ञान तन्तुओंके शिथिल होनेसे हम उनकी पीड़ाका ज्ञान करनेमें उसी प्रकार असमर्थ हैं, जिस प्रकार मदिरा या अन्य मादक पदार्थ सेवन करनेके उपरान्त मनुष्य अपनी चिन्ताओंका चिन्तवन करनेको असमर्थ होता है। किन्तु जैसे मादक पदार्थोंके मदका प्रभाव जानेपर मनुष्यको पुनः उसकी चिन्ताएं घेरने लगती हैं, उसी प्रकार औषधियोंका ज्ञान तन्तुओंको शिथिल करनेवाला प्रभाव जानेके उपरान्त हमारे

नेत्रोंकी पीड़ा दुःख देने लगती है। परन्तु कभी, कभी ऐसाभी होता है कि उपरोक्त प्रकृतिके ज्ञानतन्तुओंको शिथिल करनेवाले पदार्थोंका प्रभाव जानेपर पीड़ाका ज्ञान नहीं होता अर्थात् हम रोगसे मुक्त हो जाते हैं। किन्तु इसका श्रेय ज्ञान तन्तुओंको, शिथिल करनेवाली औषधियों या हमारे डाक्टर महाशयकी चतुरताको नहीं है। इसका ऐश्वर्य प्रकृतिके माथेही है। क्योंकि जिस प्रकार भारी चोटकी पीड़ाएं या बिच्छूके दंशनेका दारुण कष्ट अपनी परिमित अवधिके भीतर स्वयं जाता रहता है उसी प्रकार अनेक पीडाओंका कुछ कालमें स्वयं अन्त हो जाता है; और जैसे बिच्छूके काटे हुए स्थानके ज्ञान तन्तुओंको तीन, चार दिनके लिए शिथिल किया जा सकता है, उसी प्रकार अनेक उन रोगोंके जो स्वतःही शीघ्र शरीरसे जाते रहते हैं, पीड़ित स्थानके ज्ञान तन्तुओंको शिथिल कर देनेसे औपधियोंका प्रभाव जानेकी अपेक्षा पूर्व रोगसे मुक्त होनेके कारण हम पीड़ाका ज्ञान नहीं करते। या यों कहना चाहिये कि कोई मनुष्य यह सुनकर कि उसका पुत्र विदेशमें मृत्युको प्राप्त हो गया है, शोकसे विकल है। किन्तु मदिरा पान करनेपर वह उस शोकको सब भूल गया और दूसरे दिन मदका प्रभाव जानेसे पूर्वही अकस्मात् उसका वह पुत्र, जो वास्तवमें जीवित था, विदेशसे आजानेके कारण मदिराका मद उतरनेपरभी उसको शोक नहीं होता। किन्तु यह मदिराकी कृपा नहीं है, वरन् मद उतरनेपर पुत्रके उपस्थित मिलनेका कारण है। अतः कोई ज्ञान तन्तुओंके शिथिल करनेवाली औषधि पीड़ाके मूल कारणकी चिकित्सा नहीं कर सकती। क्योंकि पीड़ा अपनी परिमित अवधिसे पहिले उसी प्रकार नहीं जा सकती जिस प्रकार बर्फ़का ढला हस्त तलपर रक्ख देनेसे अपनी परिमित अवधिसे पूर्व जबतक पिघल न जाय तबतक अवश्य शीतल प्रतीत होगा। किन्तु इतना किया जा सकता है कि या तो ऐलोपैथिक विज्ञानके सदृश हस्त तलकी त्वचाके ज्ञान तन्तुओंको औपधियों द्वारा शिथिल करदिया जाय या हमारी चिकित्साके अनुसार हस्त-तलपर दुर्तापवाहक ऊनी वस्त्र रक्खकर उसपर बर्फ़को रक्ख दिया जाय तो जिस समयकी परिमित अवधितक वायु मण्डलादिके तापसे बर्फ़ पिघलेगा हमको उसके तापका ज्ञान न होगा। परन्तु उसके शीतल गुणको पृथक करनेवाली औषधियां या कल नहीं हो सकती प्रत्युत उसकी प्रकृतिही क्रमशः वायु मण्डलको शीतल करके स्वयं उष्ण होने, अर्थात् वायुके तापके समान तापका होनेकी है; और ऐसी ही हमारी प्रकृति हमारे दाहके तापसे

वायु मण्डलको ऊष्ण करके उसके सदृश शरीरको शीतल तापका करके प्रत्येक समय रोगोंसे मुक्त करनेकी है । परन्तु शिथिल करनेवाली या अन्य तीक्ष्ण औषधियों और कुपथ्यसे हमारे रोगके कीटाणुओंको सहायता मिलती रहती है। इसलिए हम रोगसे मुक्त होनेकी अपेक्षा अधिकांश रोगी हो जाते हैं।

हमारे डाक्टर महाशय अपना महत्व इसीमें दिखानेकी चेष्टा करते हैं, कि किसी प्रकार रोगको शरीरके भीतर इतना छिपादें कि रोगीके परिचारकोंको उनमें पूर्ण श्रद्धा होजाय। इसीसे वृक्कादिकी विकल करनेवाली असह्य पीड़ाओंके समय वह रोगीके रक्तको औरभी दूषित करनेके निमित्त मादक पदार्थोंका टीके द्वारा शरीरमें प्रवेश करके मस्तिष्क और ज्ञान तन्तुओंको शिथिल करनेपर मूर्छित करनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु उन मादक पदार्थोंकी मूर्च्छा उससेभी अधिक है जो ततैयाके दंशनेकी चिकित्सा विच्छूसे कटवाकर करायी जावे । उनके प्रयोगसे वस्तुतः रोगी पीड़ासे मुक्त नहीं होता, वरन् मस्तिष्क हीन होकर पीड़ाओंका ज्ञान करनेको असमर्थ होता है। क्योंकि जबतक प्राकृतिक साधनोंसे हमारा शरीर दाह रहित नहीं होता तवतक पीड़ा वनी रहती है । खेद है इसपरभी हमारे वैज्ञानिक डाक्टर औषधियोंकी महिमाका गान करते, करते नहीं थकते !

प्रत्येक रोगके कीटाणु प्रकृतिके प्रतिकूल आहार-विहार करनेसे उसी प्रकार वृद्धि करते रहते हैं; जिस प्रकार फूंसकी सहायतासे अग्नि प्रचंड होती रहती है, किन्तु यदि हम रोगोंके कीटाणुओंके अनुकूल साधनोंको वन्द करदें तो उनका पोषण न हो सकनेके कारण वैसेही उनमें अपनी जाति वृद्धि और हमारे जीवन-कोषोंको वेध कर उनका अपने रूपमें रूपान्तर करनेकी शक्ति नहीं रहती, जैसे कई सप्ताहतक आहार न मिलनेके कारण अति निर्वल होकर सिंह मैथुन द्वारा अपनी जाति वृद्धि या अपनी शक्तिसे हमारा हनन करनेको असमर्थ होता है। परन्तु वह मादक या तीक्ष्ण औषधियां हमारे ज्ञान तन्तुओंको शिथिल करने या अपनी उत्तेजना द्वारा हमारे जीवन-कणोंका विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर करके रोगके कीटाणुओंको सहायता देनेके अतिरिक्त हमको कभीभी पीड़ाके वास्तविक दूषित गुणोंसे मुक्त नहीं करतीं। अतः हमको उन मादक पदार्थोंसे कभीभी हितकी आशा न रक्खनी चाहिये। हमारे डाक्टर महाशय केवल उन्हीं रोगोंमें उन मादक पदार्थों द्वारा प्रकृतिकी कृपाओंका मौर अपने शिरपर रक्खने योग्य होते हैं, जिनके अन्त होनेके समयकी

परिमित अवधि ज्ञान तन्तुओंको शिथिल करनेवाली औषधियोंके प्रभावकी अवधिसे पूर्व होती है। अन्यथा जिन रोगोंके अधिक भयङ्कर होनेसे एकैक शरीरका नाश हो जाता है या जिनका इति होनेके कालकी परिमित अवधि शिथिल करनेवाले पदार्थोंके प्रभावकी अवधिसे अधिक होती है, वहां वह औषधियां शरीरको जीवन दान करनेमें या तो सर्वथाही निरर्थक सिद्ध होती हैं या उनके शिथिल करनेवाले प्रभावका काल समाप्त होतीही पुनः पीड़ाओंका ज्ञान होने लगता है। इसीसे बिच्छूके दंशनेकी पीड़ाकी तीक्ष्णताका अनुभव करनेवाले ज्ञान तन्तु तीन, चार दिनके लिए अनेक औषधियों द्वारा शिथिल किये जा सकते हैं; क्योंकि बिच्छूके विषका प्रभाव स्वतः ही जानेके समयकी परिमित अवधि केवल तीन चार दिन है। परन्तु उन मन्द पीड़ाओंमें जिनके प्रभावका अन्त होनेके समयकी नियमित अवधि अतिदीर्घ होती है रोगी निरन्तर पीड़ित रहता है; केवल कुछ कालके लिए ज्ञान तन्तुओंको शिथिल करके हमको उनका ज्ञान होनेसे वञ्चित रक्खा जा सकता है। यही कारण है कि हमारे महत्व पूर्ण चिकित्सक यदि किसीको रक्त विकार होता है, तो औषधियों द्वारा दूषित कीटाणुओंका हनन करनेकी चेष्टा करते हैं; जिससे विकृत कणोंके अतिरिक्त हमारे अनेक रक्त कणोंकाभी हनन और निर्बल होनेके कारण रक्तकी गति शिथिल हो जाती है और जो विकृत कण हनन होनेसे शेष रहगये हैं धीरे, धीरे वृद्धि करते रहते हैं। क्योंकि किसी औषधिसे उन समस्त विकृत कीटाणुओंको जो रक्तके समस्त कणोंके साथ निवासकर रहे हैं तबतक नष्ट नहीं किया जा सकता जबतक कि उन औषधियोंसे हमारे रक्त कणोंकाभी पूर्णतः नाश न हो जाय। इसीसे रक्त विकारके रोगियोंको प्रतिवर्ष ग्रीष्म ऋतुमें रक्तके दूषित वीर्य कणोंके वृद्धि करते हुए प्रभावको शिथिल और मन्द करनेके हेतु चिरायते सरीखे पदार्थ सेवन करने या वमन, विरेचन द्वारा आमाशयादिको स्वच्छ करनेकी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त शिर पीड़ाओ और श्वांस रोगादिमें बड़ी, बड़ी प्रभावशाली औषधियांभी कुछ अल्प कालके लिएही हमें पीड़ाका ज्ञान नहीं होने देतीं। परन्तु कुछ काल पीछेही हम ज्योंके त्यों पीड़ामें ग्रसित दीखते हैं। क्योंकि तीक्ष्ण औषधियोंसे दूषित कणोंका बहुत अंशोंमें हनन हो जानेके कारण उनके निश्चल और शिथिल होजानेसे और हमारे स्नायु एवं ज्ञान तन्तुओंके कर्तव्य च्युत हो जानेके हेतु हम अपनी पीड़ाका बहुत कम अनुभव करते हैं। शिथिल हुए, हुए

दूषित कण धीरे, धीरे रक्तसे अपने पोषण पदार्थ प्राप्त करके चैतन्य होने लगते हैं और बन्द मुंहवाले गन्दे नालेके सदृश शरीरके भीतरही भीतर अपनी वृद्धि करते रहते हैं, और अन्तमें प्रगट हो जाते हैं।

अपरञ्च प्रत्येक औषधि अभ्यस्त होनेके उपरान्त अपने गुणोंमें प्रतिकूल प्रतीत होती है। इसीसे तम्बाकू सेवन करनेसे आरम्भ कालमें मितलीकी उत्तेजनाके कारण वमन हो जाती है, किन्तु उसका अभ्यस्त होने पीछे उसकी दीर्घ मात्राएंभी वमन करानेमें निरर्थक सिद्ध होती हैं; और इसी प्रकार रेचकातिरेचक और गरिष्ठातिगरिष्ठ पदार्थभी हमारे स्वाभाविक अभ्यासमें स्थान पा जाते हैं। क्योंकि आरम्भ कालमें किसी निश्चित मात्राकी एक रेचक वटि विरेचन द्वारा मल प्रवाहित करनेको यथेष्ट हो[illegible] पाचन [illegible] कुछ कालतक उसका निरन्तर प्रयोग करनेसे उसकी उसी निश्चित मात्रा[illegible]भ्यस्त हो कई गोलियां सेवन करनेपरभी विरेचनका हेतु नहीं होता। कारण यह [illegible]किसे [illegible]कार एक मदिरा पान करनेवालेको आरम्भ कालमें उसके कुछ बिन्दुओंसेही [illegible] प[illegible]प्रभावका अनुभव होता है, किन्तु उसके निरन्तर सेवन करनेसे हमारे ज्ञान तन्तुक [illegible]नकी सामर्थ्यसे अधिक काम लिये जानेके हेतु उनके शिथिल और कर्त्तव्य हीन [illegible] [illegible]ानेके कारण उसकी बड़ी, बड़ी बोतलें सटकनेपरभी मदका प्रभाव नहीं प्रतीत [illegible]ता। इसीसे जिस प्रकार गत् दिवसके सदृश मद[illegible]ी उत्तेजनाकी इच्छासे मदिरा पान करनेवालेको स्वभाव वश दिनोदिन मदिराकी मा[illegible] वृद्धि करनेको बाध्य होना पड़ता है, उसी प्रकार प्रत्येक तीक्ष्ण औषधि द्वा[illegible] [illegible]दिकालमें शरीरके स्नायु और तन्तुओंको उत्तेजित करके प्रतिक्रिया द्वारा उ[illegible] [illegible]मर्थ्यसे अधिक परिश्रम लिया जानेके निमित्त रक्तकी गतिमें वृद्धि हो[illegible] ज[illegible] [illegible]का और शक्तियोंका अनावश्यक व्यय होनेके कारण उनके शिथिल और [illegible] [illegible]जानेसे आगेको बलात् परिश्रम लेनेके निमित्त गत् दिवसके समान उत्तेजि[illegible] [illegible] लिए नित्य उनकी मात्रा और तीक्ष्णतामें वृद्धि करनी होती है; और हमारे शरीरके कर्त्तव्य हीन हो जानेके कारण हमको उनकी दासत्व स्वीकार करनी पड़ती है। क्योंकि फिर बिना औषधियोंकी उत्तेजनाके हमारे शरीरके अवयव प्राकृतिक रूपसे अपने धर्मका पालन करना त्याग देते हैं। अतः औषधियोंको निरन्तर सेवन करनेवाले उसी अफ्यूचीके सदृश हैं, जिसको बिना अफ्यूनके कलही नहीं पड़ती। परन्तु अन्तमें हमारा शरीर तीक्ष्णसे तीक्ष्ण औषधिकी अधिकसे

अधिक मात्रा सेवन करनेपरभी अपने कर्तव्यका पालन उसी प्रकार नहीं करता जिस प्रकार एक क्षुधा पीड़ित और थकित बैल यद्यपि पिटते-कुटते अपनी सामर्थ्यसे अधिक मार्गतक गाड़ी घसीटकर ले जाता है, किन्तु अन्ततः जब अति थकित होनेसे उसकी शक्ति सर्वथा उत्तर दे बैठती है तो उसका शरीर काट डालनेपरभी वह एक पग नहीं सरकता ।

हमारे चिकित्सक विज्ञान, विज्ञान पुकारते थक गये; परन्तु इसपरभी ऐसे तीक्ष्ण क्षार, और अमलादि प्रयोग करते हैं, जो हमारे कोमल शरीरके अतिरिक्त लोहा, चांदी और पत्थर आदिकोभी काट देते हैं । यह कौन नहीं जानता कि तनिक असह्य शीतसे दाह होकर हमारे हाथ, पैर सूज जाते हैं, श्वास नाली और मुखमें दृश्य या अदृश्य घाव होकर कण्ठादिमें दाहका ज्ञान, [illegible] कुछ कालके [illegible] एकत्रित होने लगते हैं, किसी पदार्थके लेश मात्र [illegible] हमारे जीवन-कणोंकी त्वचा कटका अनुभव करती है, तब क्य[illegible] विज्ञानकी शरण लेते हुए यह कहनेका साहस करेगा—किसी रोगीको [illegible] क्षण पदार्थकी अल्पातल्प मात्राभी लाभ प्रद हो सकती है ! हां, केवल [illegible] सम्भव है कि जिस प्रकार आरम्भ कालमें शीतसे सूज जानेवाले पैर निर[illegible] शीतलताके संसर्गसे पग-तलोंकी त्वचा निर्जीव और कठोर होकर दुर्तापवाहक हो जानेके कारण अपने नीचेकी स्वस्थ त्वचाको शीतका ज्ञान नहीं होने देती, उसी प्रकार तीक्ष्ण औषधियोंका अभ्यस्त होनेके उपरान्त हमारे अवयवोंकी त्वचाके जीवन हीन हो जानेसे हम उनकी तीक्ष्णताका साधारण रीतिसे अनुभव नहीं कर सकते ।

लोहेके बड़े, बड़े यन्त्र और ऐंजिन आदिमेंभी कोई वैज्ञानिक ऐसे तीक्ष्ण पदार्थोंकी सहायता लेनेसे यथा शक्ति पृथक रहते हैं, जिनसे लोहा क्षीण होकर यन्त्र निष्कर्म हो जाय किन्तु हमारे चिकित्सक इसी उधेड़-बुनमें रहते हैं—किसी प्रकार ऐसी तीक्ष्ण औषधि हाथ लगे जो विकृत जीवोंके अतिरिक्त मांस, ग्रन्थियों और अस्थि आदिकोभी काटकर फेंकदे । इसीसे बड़े, बड़े वैज्ञानिक डाक्टर कोमल घावोंपर मांस काटनेके अर्थसे तूतिया सरीखे कट देनेवाले पदार्थ प्रयोग करते हैं, और अर्शादिकी तो उनके शास्त्रमें केवल यही चिकित्सा है, कि औषधियों द्वारा अथवा शल्य क्रियासे रोगीके प्राणोंपर बीतते हुएभी उसके मस्सोंको काट दिया जाय । यहभी एक अच्छी चिकित्सा है ' आंख फूटी पीड़ा गयी ! ' परन्तु इसपर

भी अनेक रोगियोंके पुनः अर्शके मस्से उभर आते हैं। कारण यह कि मस्से काट-कर अर्श रोगके कीट निर्वार्य कर देनेपरभी रोगका मूल कारण नहीं जाता। शोक है—इसपर भी हमारे चिकित्सक प्रत्येक रोगके लिए तीक्षण औषधियां और अस्त्र लिये खड़ेही रहते हैं!

बड़े, बड़े, विद्वान चिकित्सक तीक्षण औषधियोंका प्रयोग केवल इसीसे करते हैं कि उनके द्वारा रोगके कीटोंका नाश हो, या उनकी उत्तेजनासे विश्रामकी इच्छा कर-नेवाला हमारा थकित स्नायु जाल और तन्तु समुदाय कृत्रिम प्रतिक्रियासे उत्तेजित होकर उसी थके हुए बैलके सदृश काम करने लगे जो निर्दयी स्वामीकी मारसे विवश होकर फिर कुछ चलनेकी चेष्टा करता है, या उनकी खुरचनेवाली प्रकृतिसे आमशयादिकी भींतसे रसोंका स्राव होकर पाचन शीघ्र हो, या उनकी उत्तेजनासे रक्तकी गतिमें वृद्धि होनेसे रोगके कीटाणु अस्तव्यस्त हो जायं, जिससे उनका प्रभाव कम हो जाय, या उनकी शिथिल करनेवाली शक्तिसे ज्ञान तन्तुओं अथवा मस्तिष्कके शिथिल होनेसे पीड़ाका ज्ञान न हो इत्यादि, इत्यादि। परन्तु यह कोई नहीं विचारता कि इस प्रकार हमारी शक्तियों और रक्तका अनावश्यक व्यय करने और विश्राम एवं रसोंकी वृद्धि होनेकी अपेक्षा औषधियोंकी तीक्षणता द्वारा हमारे थकित शरीरसे अनुचित परिश्रम लेनेपर रसोंका क्षति होनेका कितना भयङ्कर परिणाम है? यह तीक्षण औषधियां हमारे शरीरको शुद्ध करनेकी चेष्टासे अशुद्ध करनेके अतिरिक्त उसी प्रकार क्षीण करती रहती हैं, जिस प्रकार मलयुक्त चांदी अमलादिसे निखारनेमें नित्य क्षीण होती रहती है, या जैसे तीस मील प्रति घन्टे चलनेवाले ऐञ्जिनको चालीस मील प्रति घन्टा चलानेसे उसकी मैशीनरी आवश्यकतासे अधिक क्षीण होती रहती है।

अनेक औषधियां प्रत्युत किसी न किसी रूपसे समस्त औषधियां इस प्रकार अनुभवमें आयी हैं, जिनकी अल्प मात्रा हमारे जीवन कणोंका हनन करते हुए भी रोगके कीटाणुओंको नष्ट करनेमें असफल होती हैं, और दीर्घ मात्रा प्रयोग करनेसे जिह्वा या जिस स्थानसे स्पर्श हो उसपर दृश्य या अदृश्य छाले उठ आते हैं या घाव हो जाते हैं, कान गुनगुनानेका शब्द और शुष्कता प्रगट करते हैं, नेत्रोंसे कम दीखने लगता है तथा अन्य अनेक नवीन रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है, अर्थात् ज्वरसे मुक्त करनेके उपायमें अन्य कई व्याधियां पीछे हो लेती हैं। परन्तु इसपरभी हमारे चिकित्सक औषधियोंको उपयोगीही कहते हैं!

हमारी देशी एवं विदेशी औषधियां सभी एक ओरसे विष हैं। हम जब चिकित्सा-लयों या रसायन शालाओंमें प्रवेश करते हैं तो औषधियोंकी तीक्ष्ण गन्धोंसे हमारा मस्तिष्क फटने और छींकें आने लगती हैं, और कभी, कभी उनके सूक्ष्म परमाणु-ओंके मुखतक पहुंचनेपर हमारा स्वाद बिगड़ जाता है। परन्तु फिरभी हम यह विचारनेको असमर्थ हैं कि शरीरके भीतर उनसे क्या उपद्रव हो सकते हैं।

प्रत्येक तीक्ष्ण पदार्थ, जिसका किसी प्रकार हमारे शरीरपर प्रयोग किया जाता है, हमारी शक्तियोंका अनावश्यक व्यय करने, शरीरसे सामर्थ्याधिक काम लेने और जीवन-कणोंको वेधकर वायुके संसर्गसे विकृत कणोंमें रूपान्तर करके रोगके कीटाणु-ओंको सहायता देकर बिना अपकार किये नहीं रहता। इसीसे पुरातन जल चिकि-त्सकोंकी आविष्कृत शीतल जल या शीतल वायुकी क्रियाओं द्वारा चिकित्सा करनेसे उनकी तीक्ष्णता द्वारा शरीरके कोमल जीवन-कोषोंका नाश होता है, और तन्तुओंके उत्तेजित होनेपर स्नायु जाल अनावश्यक प्रतिक्रियाके परिश्रमसे रक्तका अनुचित व्यय होनेसे शिथिल और थकित हो जानेके कारण चिकित्सासे पहिलेकी अपेक्षा अपने प्राकृतिक धर्मका पालन करना अधिक त्याग देता है। अतः तन्तुओंके कर्त्तव्य हीन हो जानेपर शरीरसे प्रतिक्रिया करानेके निमित्त जल या वायुकी शीतलताकी मात्रामें उत्तेजनाके निमित्त पहिलेकी अपेक्षा उसी प्रकार वृद्धि करनी पड़ती है, जैसे थके हुए बैलको चलानेके लिए पहिलेकी अपेक्षा अधिक पीटना पड़ता है, या जिस प्रकार रेचक औषधिका अभ्यस्त होनेके उपरान्त विरेचनके हेतु उसकी अधिक मात्रा सेवन करनेको बाध्य होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जैसे अन्य तीक्ष्ण पदार्थ हमारे रोगके कीटाणुओंको, शरीरके स्वस्थ कणोंका विकृत कणोंमें रूपान्तर करके, उनकी वृद्धिमें सहायता देते हैं, वैसेही शीतल जल या वायुकी तीक्ष्णता शरीरमें उपस्थित रोगके कीटोंको उनकी वृद्धिमें सहायक होती है। परन्तु भ्रमवश हमारे जल चिकित्सक इसका अर्थ उल्टा समझे हुए हैं। उनका अनुमान है कि इस प्रकार छिपे हुए रोग बाहर आ जाते हैं। परन्तु हमारा कथन है कि शरीरमें उपस्थित रोग कणोंको उनके अनुकूल साधन मिल जानेसे उनकी वृद्धि हो जाती है।

विष सदा विषहीका काम करेगा। यह दूसरी बात है कि अल्प मात्रा होनेके कारण अधिक हानि न पहुंचाये।

यदि कोई चिकित्सक कहे कि अमुक औषधि अमुक स्थानके अतिरिक्त या उसकी अमुक मात्रा अमुक विकृत कणोंके अतिरिक्त शरीरके अन्य किसी स्थानपर बुरा प्रभाव नहीं डालती, तो यह सर्वथा असत्य है। क्योंकि यह कभी सम्भव नहीं कि कोईभी औषधि, जो हम सेवन करें, हमारे स्नायु, तन्तुओं और रक्त वाहिनी नाड़ियों द्वारा उसका थोड़ा बहुत प्रभाव हमारे शरीरके किसी भागमें न पहुंचे। हमारा शरीर चांदीकी प्रतिमा नहीं है, जो जिस स्थानपर असल प्रयोग किया जाय उसी स्थानको हानि पहुंचे, वरन् शरीरके किसी भागमेंभी हानि पहुंचायी जाय तो सर्व शरीर विकल हो जाता है। पैरमें साधारण कण्टक लगनेपरभी तुरन्त मस्तिष्कको सूचना मिलती है। इसीसे यदि सर्प हमारे पैरमें डसे तोभी हमारा प्राणान्त हो सकता है, और यदि हाथमें काटे तोभी वही परिणाम है। क्योंकि शिरसे पैरतक निरन्तर हमारा रक्त सञ्चार करता रहता है। इसके अतिरिक्त शरीरमें दूपित और शुद्ध कणोंका निवास भीतमें चुनी हुई ईंटोंके डाड़ेसेभी अधिक जटिल होनेके कारण एक विकृत कणका नाश करनेपर अवश्य शुद्ध कणोंकाभी नाश हो जाता है। निदान् अल्पात्यल्प मात्रामें एक विकृत कणका नाश करनेके लिएभी जो विप (तीक्षण औपधि) प्रयोग किया जाता है, वह प्रयोग करनेके स्थानके अतिरिक्त सर्व शरीरपर अपकार करता है। यह दूसरी वात है कि जिस प्रकार रङ्गकी अल्प मात्राका अधिक जलमें कम ज्ञान होता है उसी प्रकार सूक्ष्म विपोंकी हानिका ज्ञानभी थोड़ाही हो।

शरीरपर अपकार करनेवाली औपधियोंका कलङ्क विदेशी वैज्ञानिकोंके माथेही नहीं है, वरन् इस दूपित कार्यके भागी हमारे देशके औपधियों द्वारा चिकित्सा करने वाले समस्त चिकित्सक हैं। क्योंकि उनकी औषधियोंकेभी प्रायःवही गुण हैं। इसीसे गुड़मार वूटी सेवन करनेसे मीठेका ज्ञान देनेवाले अर्थात् स्वादके ज्ञान तन्तुओंके शिथिल हो जानेपर हमको मीठे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता; सौंफ़, इलायची और चन्दनादिके तैलोंका शिरपर मर्दन करनेसे उनके तीक्षण गुणोंका अनुभव करनेके कारण हमको शिरकी पीड़ा उसी प्रकार प्रतीत नहीं होती, जिस प्रकार विच्छूके दंश लेनेपर ततैयाके काटे हुएका ज्ञान, पीड़ाका कारण उपस्थित रहते हुएभी, नहीं रहता। इसके अतिरिक्त उक्त तैलोंकी उत्तेजनासे पीड़ाका ज्ञान देनेवाले ज्ञान-तन्तुभी उत्तेजनाके कारण सामर्थ्यसे अधिक कार्य करनेपर बहुत अंशमें शिथिल हो जाते हैं। अतःकोईभी औपधि या उत्तेजक क्रिया अपने तीक्षण गुणोंसे वञ्चित न होनेके कारण हमारे शरीरपर विना अपकार किये नहीं रह सकती।

परिचर्या

प्रत्येक रोगीकी चिकित्सामें परिचारकका सुयोग्य होनाही एक ऐसी बात है, जिसपर रोगीका जीवन अवलम्बित है। अतएव रोगीका परिचारक-वही होना चाहिये, जो रोगीको प्रत्येक समय प्रसन्न रख सके और इतना दृढ़ विश्वासी और स्थायी चित्तका हो कि चिकित्सकके कथन और आज्ञाका कभी उल्लंघन न करे। इसके अतिरिक्त आलस्य रहित और सहानुभूतिसे परिपूर्ण हृदयका व्यक्ति होना चाहिये। अतः ऐसे परिचारकको निम्न बातोंपर पूर्ण ध्यान देना चाहियेः—

प्रथम—रोगीके निवास करनेका स्थान (कमरा) तृण या काष्ठादि सरीखे दुर्तापवाहक पदार्थोंसे रचित, प्रकाश और वायुको यथेष्ट मार्ग देनेवाला, सीलन, अपवित्र वायु, धुएं, दूषित गैसों, शीत, उष्ण, अपवित्र पदार्थों एवं अन्य सामग्री शून्य, सर्व प्रकार स्वच्छ और सामाजिक झंझटोंसे पृथक एवं अन्तरमें होना चाहिये। कमरेमें यदि असह्य शीतल पवनका प्रभाव अधिक प्रतीत हो तो खिड़कियों आदिको बन्द करनेकी अपेक्षा स्वच्छ दुर्तापवाहक वस्त्र या तृणादिके पट लटका देना आवश्यक है। परन्तु किवाड़ों द्वारा सर्वथा वायुके सञ्चारको रोकनेके हेतु भूलकरभी खिड़कियां बन्द न करनी चाहियें। यदि आवरण द्वारा खिड़कियोंको ढकनेपरभी शीतका अनुभव हो तो निम्नाङ्कित यन्त्रसे कमरेके बाहर रखकर उसकी नलीका मुख कमरेके भीतर करके उससे निकली हुई वाष्प द्वारा कमरेके तापको रोगीके शरीरके अनुकूल तापका उष्ण रखना चाहिये। इसीसे निमोनिया, प्लेग आदि सरीखे तीव्र रोगोंमें रोगीके शरीरका ताप अधिक होनेसे उसके तापके अनुकूल कमरेको अधिक उष्ण रखना चाहिये, और मन्द रोगोंमें शरीरका ताप कम होनेसे कमरेके तापकी उष्णताभी न्यून रखनी चाहिये। परिचारकको इस बातसेभी सावधान रहनेकी आवश्यकता है कि कभी भूलकरभी रोगीके कमरेमें दहकती हुई अग्नि न रखी जाय। क्योंकि ऐसा करनेसे कमरेकी वायुका जल शुष्क और ओषजनका कार्बनमें रूपान्तर हो जानेके कारण रोगीकी श्वांस नालीमें

शीघ्र दृश्य या अदृश्य घाव और उसके रसोंके शुष्क होनेसे दाहकी वृद्धि हो जाती है। रोगीके कमरेमें अन्य मनुष्योंका निवास न होना चाहिये, वरन् परिचारकको यहांतक दृष्टि रखनी चाहिये कि दीन रोगीसे सामाजिक कुव्यवहारके अनुसार सहानुभूति दिखानेवाले मित्रों और सम्बन्धियोंकोभी उसके कमरेमें आनेकी आज्ञा न दी जावे। क्योंकि उनसे वार्त्तालाप करनेके कारण रोगीके विश्राममें बाधा और मस्तिष्ककी शक्तियां व्यय एवं अनेक प्रकारके दुःख होते हैं। इसके अतिरिक्त रोगीके शयनागारमें काना-फूंसी करने या पञ्जों द्वारा धीरे, धीरे उचककर चलनेसे रोगी हमारी धीमी, धीमी बातों और चलनेकी मन्द आहट आदिके सुननेका सामर्थ्यसे अधिक प्रयत्न करता है, जिससे उसके मस्तिष्कको विश्रामकी अपेक्षा परिश्रम करनेको बाध्य होना पड़ता है। रोगीके कमरेके द्वारपर, यदि कमरेके बाहार मनुष्यादि चलते फिरते हों तो अवश्य आवरण डाल देना चाहिये, अन्यथा रोगी अपनी विचार शक्ति उधर लगा कर मस्तिष्कसे परिश्रम लेना आरम्भ कर देता है। निदान् रोगीके कमरेमें सदा ऐसे प्राकृतिक स्पष्ट स्वर और नैसर्गिक चालसे बोलना और चलना चाहिये जो न अति मन्द हो न तीव्र। चलनेके कामके लिए यदि परिचारकके जूते रबरकी तलीके हों तो अति उत्तम है। यह बातभी स्मरण करने योग्य है कि रोगीके कमरेकी किवाड़ोंसे चड़चड़का शब्द या अन्य पदार्थोंका खटका न हो, और कमरा तीक्ष्ण गन्धोंसे वञ्चित हो। क्योंकि कभी, कभी अन्य तीक्ष्ण गन्धोंके अतिरिक्त साधारण पुष्पोंकी गन्धभी बड़े, बड़े उत्पात कर बैठती है। यथा शक्ति रोगीको कृत्रिम प्रकाशसे बचाना चाहिये और यदि आवश्यकताही हो तो सदा नेत्रोंसे बचाकर शिरके पीछे दीपक रहना चाहिये।

द्वितीय—रोगीके खान-पानमें परिचारकको सबसे अधिक भोजनोंकी स्वच्छता पर दृष्टि रखनी चाहिये, जोकि विना छूताछूतके विचारके, जिसको नवीन सभ्यता ढकोसला मात्र समझती है, नहीं हो सकती। यदि आर्थिक दशाकी अधोगतिसे रोगीका आहार प्राकृतिक नहीं हो सकता है, तो जो शाक, हरे धान्य या शुष्क अन्नादि उबाले जावें उनके पात्रों या उसके निमित्त जो चूल्हा काममें आवे उसपर कभी मिर्चे, मसाले या किसी प्रकार उत्तेजक, अपवित्र एवं घृणित पदार्थोंका रन्धन न किया जावे, वरन् यथा शक्ति रोगीका रसोई भवन और पात्रादिही पृथक होना चाहिये। कारण यह कि विना मसालेके भोजनभी उत्तेजक भोजनोंकी पाक-शालाओंमें

रन्धन किये जानेसे उत्तेजक गन्धों द्वारा और पात्रोंमें दूषित प्रभाव हो जानेसे रोगीके भोज्य पदार्थ तीक्ष्ण हो जाते हैं। रोगीके काम आनेवाले पात्र स्वच्छ इनेमेल्ड (जो खुर्दरे न हों) चीनी या कांचके होने चाहियें; और भोजन करनेसे पूर्व एवं उपरान्त कीट नाशक पदार्थोंकी सहायतासे उष्ण जल द्वारा स्वच्छ करने चाहियें। यथा शक्ति रोगीको शुष्क धान्यादिके सेवनसे बचाकर रस युक्त हरे शाक, अन्न और फलों आदिपरही रखना चाहिये। रोगीके लिए उबले हुए पदार्थोंमेंसेभी यथा सम्भव वाष्प द्वारा रन्धित पदार्थही उत्तम होते हैं॥ क्योंकि जिन पदार्थोंपर अग्निका प्रभाव अधिक होता है वह शक्ति शून्य, कठोर, विषैले और कुपाच्य हो जाते हैं। भुने, सिके या घृतादिमें तले हुए पदार्थ रोगियोंके शरीरपर विषका काम करते हैं। अतः उनके निमित्त सर्वथा वर्जित हैं॥ अधिक कालतक उबले हुए या उबालकर रक्खे हुए रसीले पदार्थोंका देनाभी निषेध है। इसके उपरान्त परिचारकका यहभी धर्म है कि वह प्रत्येक रोगीको उसकी शक्तियोंके अनुसार खाद्य पदार्थ देनेका ध्यान रक्खे; अन्यथा रोगी अपने आहारका पाचन न कर सकनेके कारण स्वास्थ्य और बल प्राप्त करनेकी अपेक्षा दिनोदिन अधोगतिको प्राप्त होता जाता है। इसीसे उस संग्रहणीके रोगीको जो प्रत्येक पदार्थका पाचन करनेमें असमर्थ है या दिनोदिन निर्बल होता जाता है, कुछ सप्ताहतक निरन्तर केवल रसीले और सूक्ष्म फलोंका रस चुंसवाना और फोक थुकवा देना चाहिये, तद् उपरान्त ज्यों, ज्यों शक्तियां चैतन्य होती जायं क्रमशः रसीले फल तथा अन्य अनुत्तेजक फलोंका आहार देना चाहिये। किन्तु इस काममें कभी शीघ्रतासे काम न लेना चाहिये; अन्यथा लाभकी अपेक्षा किसी, किसी समय भारी उत्पात हो जाते हैं। फलोंका रसभी केवल रोगीके दांतों द्वारा दावकर चूंसा हुआही लाभप्रद हो सकता है। क्योंकि यन्त्रों द्वारा या कृत्रिम रीतिसे रस निकालनेपर वह वायुके संसर्गसे दूषित हो जाता है। इसीसे गन्ना रेचक न होते हुएभी उससे कृत्रिम साधनों द्वारा रस प्राप्त किया हुआ आमाशयमें पहुंचकर पाचनके अतिरिक्त सड़न उत्पन्न होनेपर रेचकका काम देता है। रोगीको यदि क्षुधाका ज्ञान न हो तो कभी उसे बलात् खानेके लिए बाध्य न करना चाहिये। परन्तु यदि रोगी क्रोधवश, जैसाकि प्रायः पुराने रोगियोंका चिड़-चिड़ा स्वभाव हो जाता है, भोजन करे तो बड़ी नम्रता और आधीनतासे उसके क्रोधको शान्त करके भोजन कराना

चाहिये। अन्यथा भोजन न करनेसे निर्बलताकी अपेक्षा क्रोधसेभी रोगकी वृद्धि होती है। यथा सम्भव ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि रोगीके हृदयमें क्रोध उत्पन्न-ही न हो। परिचारकको चाहिये कि वह प्रत्येक समय आवश्यक खाद्य सामग्री उप-स्थित रक्खे। क्योंकि दिन-रातमें न जाने किस समय रोगी क्षुधासे पीड़ित हो कर दुःख पावे। रोगीको लोभ वश सड़े हुए या बासी फलादि न देने चाहियें। यदि रोगीका चिकित्सक किसी कारण वश दूधकी अनुमति दे तो यथा शक्ति गौऊका धारोष्ण दूध देनाही उचित है या इसके अतिरिक्त यदि चिकित्सक आज्ञा दे तो एक उफानका अथवा बकरीका दूध देना चाहिये। किन्तु आमाशयकी पाचन शक्ति-योंके निर्बल होने अर्थात् अजीर्णादिमें चिकित्सकके कहनेपरभी दूधका पान कराना उचित नहीं है। परिचारकको दूधके पशुओंके स्वास्थ्य और खान-पानपरभी गहरी दृष्टि डालनी चाहिये।

तृतीय–रोगीके शयन और विश्रामका पूरा ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि इसकी निद्रा भङ्ग होनेसे असह्य कष्ट होता है। निर्बल रोगीको यथा शक्ति यहांतक विश्राम देना चाहिये कि नेत्र खोलने और मूंदनेकी क्रियाभी वह स्वतः न करे। रोगीकी शैयापर किसीको बैठने या स्पर्श करनेकी आज्ञा न होनी चाहिये। शैया ऐसे स्थानपर हो, जिससे चारों ओर कमरेकी भींतका अन्तर अधिक हो, जिससे रोगी जिस ओरसे चाहे उतर सके; और भींतके दूषित विकार शैयातक न पहुंच सकें। शैयापर ओढ़ने, बिछाने और रोगीके धारणार्थ वस्त्र अति स्वच्छ कोमल और ऋतुके अनुसार हों, जिससे रोगी शीत और ऊष्णसे सुरक्षित रहे। वस्त्रोंके स्वच्छ करनेके निमित्त कीट-नाशक पदार्थों द्वारा ऊष्ण जलकी सहायतासे वस्त्रोंको नित्य धोकर सूर्यके ताप या अग्निसे शुष्क करना चाहिये। जिन वस्त्रोंमें एक बार श्वेद आजावे तुरन्त पृथक कर देने चाहियें। हमारी चिकित्सा क्रियाओंके बन्धनों आदि द्वारा यदि बिछोनेके भीगनेका सन्देह हो तो मोमिया (Oil cloth) या मोटा गुदगुदा ऊनी वस्त्र बिछा दिया जाय। बिछोना और शैया सदा ऐसी हो, जिसपर रोगी को कोई कष्ट न हो। क्योंकि असहाय रोगीका एक मात्र मित्र केवल बिछोनाही होता है। जो रोगी मल, मूत्र त्यागनके अर्थसे उठ-बैठ नहीं सकते हैं. नहीं। रहित, रबरकी मूत्र थैली (Urine Bag) और चीनीके मल पात्र क्रियाएं की प्रत्येक ावश्यक हैं; और जिनकी दुर्बलतामें

अस्थियां निकलकर बिछोनेसे कष्ट पाती हो या जिनकी पीठ आदिमें फोड़ा या घाव होनेसे वह सुख पूर्वक शयन न कर सकते हों उनके लिए मध्य भागसे शून्य आकृतिके रबरके तकिये (Air pillow) प्रयोग करने चाहियें। मूत्रादिके पात्र कीट नाशक पदार्थोंसे ऊष्ण जल द्वारा स्वच्छ करने चाहियें। रोगीके थूकनेके निमित्तभी एक चीनीका पात्र जो नित्य शुद्ध किया जाता हो निकट रहना चाहिये। परन्तु थूकनेके पश्चात् उसे पात्रका मुख बन्द करदिया जाय। इस बातका ध्यान रहे कि रोगीकी शैयामें खटमल आदि न हों और उसतक मक्खियां न पहुंच सकें।

चतुर्थ—रोगीके मन बहलावकीभी वैसीही आवश्यकता है जैसी उसके दुर्बल शरीरको रसीले फलोंकी आवश्यकता है। अतएव परिचारकको उचित है कि वह सदा रोगीको किसी ऐसी रीतिसे उसकी उदासीनता दूर करके प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करे, जिसमें रोगीकी मानसिक शक्तियोंका व्यय न हो। रोगीको कभी हताश न होने दे, प्रत्युत उसे शीघ्र स्वस्थ होनेकी आशा दिलाता रहे। किन्तु ऐसे मिथ्या वाक्योंकी रचना न करनी चाहिये जिनके शीघ्र असत्य प्रमाणित होनेसे रोगीका विश्वास परिचारक और चिकित्सासे उठ जावे। उसे सदा अपनी जिह्वासे ऐसे गोल शब्दोंका उच्चारण करना चाहिये जो असत्य होनेपरभी मीठी, मीठी युक्तियों द्वारा सत्य प्रमाणित किये जा सकें। अतः परिचारकका नीतिज्ञ होनाभी आवश्यक है। किन्तु समस्त गुणोंके होते हुए दक्ष परिचारकको यहभी आवश्यक है कि वह प्राकृतिक चिकित्सा सिद्धान्तोंसेभी विचलित न हो जाय।

पञ्चम—बालकोंका उत्तम परिचारक माताके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। अतः माताओंको चाहिये कि यदि उनके बालक क्षुधाके अतिरिक्त अन्य किसी कारणसे रुदन करते हैं या दुग्ध पान करना त्याग देते हैं, या उनके मुखसे लार आदि जाती हो, या अतिसार अथवा कोष्ठ-बद्धकी पीड़ा हो, या दन्त विकास होता हो या अन्य किसी रोगका कष्ट हो तो उसकी पीड़ाके लक्षण जाननेका प्रयत्न करके उसीके अनुसार चिकित्सा और परिचर्या करनी चाहियें।

षष्ठ—परिचारकको पूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि उसका रोगी नियमित रूपसे मल, मूत्रादि त्यागन करता है या [illegible]सके को[illegible] नियमित शब्दका यह अर्थ नहीं है कि उसका रोगी नित्य शौचादिकी[illegible] [illegible] है या नहीं। प्रत्युत यह

जाननेकी आवश्यकता है कि रोगीके विष्टेकी मात्रा भोजनके पाचनमें न आनेके कारण परिमाणसे अधिक तो नहीं है, विष्टेमें तीक्ष्ण गन्धका ज्ञान तो नहीं होता, वेष्टा बन्धे हुएकी अपेक्षा द्रव रूप तो नहीं है, और उसके त्यागनके समय कष्ट तो नहीं होता, और ठहर ठहरकर तो नहीं आता, या इच्छा होते हुएभी मल शुष्क हो जानेके कारण त्यागा नहीं जाता इत्यादि, इत्यादि । यदि उसके रोगीको कई, कई दिनतक मल त्यागनेकी इच्छा न होती हो और उससे कोई कष्टभी न हो तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है । क्योंकि सूक्ष्म आहारके कारण मलकी उत्पत्ति कम होती है । इसलिए जबतक अन्त्रको पूर्ण भारका अनुभव न हो वह मलका त्यागन अनियमित रूपसे नहीं किया करतीं ।

सप्तम—इसके कथन करनेकी तो आवश्यकताही नहीं कि परिचारक परिचर्याके विषयमें दक्ष हो । क्योंकि ज्ञान रहित और कटु स्वभावके परिचारकसे तो उसका न होनाही उत्तम है । अतएव विचारशील परिचारकको, हमारी आविष्कृत चिकित्सा क्रियाओंमें निपुण और उनके प्रयोग करनेमें चिकित्सककी आज्ञानुसार आलस्य रहित और श्रद्धापूर्ण होना चाहिये । कारण यह कि परिचारककी साधारण असावधानीसे किसी, किसी समय रोगीपर भारी आपत्ति टूट पड़ती है प्रत्युत कभी, कभी उसका कुसमय प्राणान्त हो जाता है ।

अष्टम—बहुधा चिकित्सकोंका मत है कि भयङ्कर रोगोंकी दशामें प्रति रोगीकी परिचर्यार्थ चौबीस घन्टेमें क्रमशः तीन परिचारक होने चाहियें, जिससे प्रति परिचारक आठ घन्टे काम करके विश्राम करने चला जाय । परन्तु हमारे मतसे प्रति परिचारक सावधानीसे केवल छः घन्टेही रोगीका काम कर सकता है । अतः चौबीस घन्टेमें चार उपपरिचारक और एक मुख्य परिचारक होना चाहिये । अर्थात् चार परिचारकोंमेंसे प्रति परिचारक क्रमशः छः, छः घन्टे अपना काम करे, और पांचवां मुख्य परिचारक उन चारोंके ऊपर चिकित्सकके आधीन होकर उनका निरीक्षण करने और उनको उचित सम्मति देने या समय पड़नेपर किसी उपपारिचारककी अनुपस्थितिमें उसका कार्य करनेके लिए रहे ।

नवम—सुयोग्य परिचारक केवल वही कहा जा सकता है जो स्वच्छ, स्वस्थ, सदा मृदु, आज्ञाकारी, आलस्य रहित, मतिमान, नीतिज्ञ और दयालु एवं कृपालु हो, और इसके अतिरिक्त रोगीको प्रत्येक अवस्थाको समयके समय पूर्ण विवरण

सहित विस्तार पूर्वक लिखकर नित्य चिकित्सकको सूचित करे, और उस दिन करनेवाले कार्योंके विषयमें चिकित्सककी विस्तृत सम्मति प्राप्त करे। प्रायः चिकित्सकोंको रोगियोंकी अधिकतासे अवकाश कम होता है इस लिए बहुधा वह कुछकी कुछ बात कह जाते हैं, या कुछ प्रश्नोंका उत्तर दे देते हैं और कुछ भूल जाते हैं। अतः परिचारकको चाहिये वह उनको सावधान करके समस्त बातोंका उत्तर ले।

प्राकृतिक चिकित्सा।

रोग और मृत्युकी व्याख्या शीर्षक निबन्धसे यह स्पष्ट है कि हमारे उन जीवन-कणोंकी, जिनके सङ्गठनसे हमारे शरीरकी रचना हुई है, रक्षा करनेवाले चर्मके तीक्ष्ण पदार्थों या क्रियाओं द्वारा फटने या दूषित जीवोंके विषैले प्रभावसे वेधना होनेके कारण उनमें दाह होकर हमारे जीवनके रासायनिक पदार्थोंका विकृत पदार्थों या वायु आदिके तत्वोंमें रूपान्तर होता है, और उस दाहकी वेदना या उससे उत्पादित दूषित कीटोंका प्रभाव, उनके निकटवर्ती या रक्त वाहिनी नाड़ियों आदि द्वारा, जिस, जिस जातिके जीवन-कोषोंके समुदायतक पहुंचता है उसी जातिके जीवन-कणोंको अपनी तीक्ष्णतासे वेधकर प्रदाहित करके उनका विकृत कणोंमें रूपान्तर और पल, पलपर उनकी जाति वृद्धि करता चला जाता है, जिसका परिणाम सन्सनाहट, खुजली या पीड़ाका ज्ञान होता है।

यह बहुतही स्पष्ट है कि एक-कणित जीवन-कणोंका चर्म कट जानेपर किसी प्रकार उनकी स्थिति नहीं रह सकती। क्योंकि ऐसी दशामें उनकी वायुके तीक्ष्ण गुणोंसे रक्षा करना असम्भव हो जाता है; किन्तु द्वि-कणित या बहु-कणित जीवन कोषोंके एक कणकी त्वचा नष्ट होनेपार अन्य कणकी त्वचा निर्दोष होनेसे उसकी रक्षा की जा सकती है। इसी प्रकार एक-कणित जीवन-कणके प्रदाहित होनेपर उसके वेधनेवाले दूषित गुणोंसे निकट सम्बन्धी अन्य जीवन-कोषोंको बचायों जा सकता है।

यहभी पहिलेही सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक जीवन-कण तीक्ष्ण पदार्थोंके संसर्गसे त्वचा विहीन होनेपर अपने जीवनके रासायनिक पदार्थोंके दूषित पदार्थों और

विकृत कीटोंमें रूपान्तर एवं अनेक अंशोंका वायु मण्डलमें लय हो जानेके कारण परिमाणतः पहिलेकी अपेक्षा वैसेही हलका हो जाता है जैसे किसी फलका सड़ा हुआ भाग उसीके स्वस्थ भागसे हलका होता है; और यह प्राकृतिक धर्म है कि द्रव पदार्थोंके तल या मध्यमें जो हलके पदार्थ होते हैं वह स्वतःही उस प्रकार ऊपर आजाते हैं, जिस प्रकार जलके तलमें डाला हुआ काष्ठ छोड़नेपर जलके ऊपर तैरने लगता है। अतः हमको उत्तेजक पदार्थों द्वारा दूषित पदार्थोंको शरीरसे बाहर निकालनेके प्रयत्नसे अनावश्यक परिश्रमके हेतु अपनी शक्तियां व्यय और उसे पहिलेकी अपेक्षा अधिक दूषित करनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह तो हमारे तरल प्राय शरीरके ऊपर स्वमेव आजावेंगे। हमको तो केवल उनके उस दूषित गुणसे अपने जीवन-कोषोंकी रक्षा करनी है, जिससे उनकी तीक्षण प्रकृतिसे हमारे जीवन-कणोंका वेधन होकर वायुके संसर्गसे उनका दूषित पदार्थोंमें रूपान्तर होनेके कारण सन्सनाहट, खुजली या पीड़ाका ज्ञान न हो।

हमारे स्वस्थ जीवन-कणोंपर दूषित कीट या पदार्थ अपनी तीक्षणता द्वारा वेधन करके वेदना न करसकें इसका केवल यही उपाय है कि शरीरके प्रदाहित भागको ताप द्वारा ऊष्ण रक्खना चाहिये। क्योंकि ऊष्णताके तापसे तीक्षण पदार्थ स्वस्थ जीवन कोषोंपर अपने वेधन करनेके दूषित प्रभावको उसी प्रकार नहीं डाल सकते जिस प्रकार इमलीकी खटाई, जलसे भरे हुए पीतलके पात्रमें तीक्षण अग्निके ऊपर रक्खे रहनेसे घन्टोंतक पात्रकी धातुके विप वमन करनेके प्रभावसे वञ्चित रहनेके कारण, नहीं पितलाती। परन्तु जैसे उस पात्रके अग्निसे पृथक करनेपर खटाईका पीतलको क्षीण करनेका प्रभाव काम करने लगता है, वैसेही शरीरके प्रदाहित भागसे ऊष्ण तापके पृथक होनेपर शरीरमें पहुंचे हुए या उत्पादित तीक्षण पदार्थ अपने वेधनके प्रभावसे हमारे स्वस्थ जीवन-कणोंका वेधन करके दाह और वायुकी सहायतासे उनमें पीड़ाकर उनका रूपान्तर करना आरम्भ कर देते हैं। इसके अतिरिक्त शरीरके प्रदाहित अङ्गका ताप दाहके कारण अधिक ऊष्ण प्रकृतिका हो जाता है। अतः ऐसी दशामें साधारण शीतल पदार्थभी उत्तेजक और प्रकृतिके प्रतिकूल तीक्षण प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि शीतल पदार्थोंसे उनकी तीक्षणता द्वारा स्वस्थ जीवन-कोषभी प्रदाहित होने लगते हैं, जिससे उनमें पीड़ाका ज्ञान अधिक होता है। क्योंकि हमारे जीवन-कणोंके नाशका मूल कारण

प्रकृतिके प्रतिकूल तीक्ष्णता उसी प्रकार है, जिस प्रकार शरद ऋतुमें दुरांपवाहक मोजे धारण करनेवाला मनुष्य एकैक उन्हें उतारकर पत्थरकी शीतल चटानपर टह-लनेसे तत्क्षण तापकी प्रतिकूलताके कारण शीघ्र अपने पैरोंको प्रदाहित और खुजली युक्त पाता है। इसीसे यदि किसी छोटे बालककी अंगलीमें चोट लगे तो वह तुरन्त उसे मुखके उष्ण तापकी वाष्प द्वारा शीतलता और वायुकी तीक्षणताके प्रभावसे जीवन-कोषोंकी रक्षार्थ फूंकने लगता है, या मुंहमें दे लेता है, और यदि नेत्रमें खेलते समय किसी अन्य बालककी अंगली लग जाती है तो पीड़ा या दाहके कारण वह तत्क्षण उस समय नेत्रकी प्रकृतिके प्रतिकूल उत्तेजक एवं तीक्ष्ण बाह्य शीतल वायु और प्रकाशके बचानेके अर्थसे उसके पलक बन्द करके किसी कोमल वस्त्रकी पोटली बनाकर या केवल हथेलीको मुखकी वाष्पसे उष्ण करके तप्त करने लगता है। अतएव उस अज्ञान बालक द्वारा हमको प्रकृतिका उपदेश होता है कि शीतलताकी उत्तेजनासे प्रदाहित अर्थात् रोगी शरीरमें दाहकी वृद्धि होगी, और तीक्ष्ण पदार्थ हमारे जीवन कोषोंका वेधन करके उनका विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर करते रहेंगे। किन्तु शरीरके प्रदाहित स्थानको तप्त रखनेसे कोई तीक्ष्ण पदार्थ हमारे जीवन-कणोंका वेधन न कर सकेगा और स्वयं शरीरसे परिमाणतः हल्का होनेके कारण गात्रके बाहर आनेको बाध्य होगा। अतःउसी अज्ञान बालकसे शिक्षा लेनी चाहिये जो प्रकृतिकी आज्ञानुसार चुटैल अंगलीकी दाहको शीतल पदार्थोंसे रक्षा करके मुंहकी उष्ण तापमय वाष्पसे तीक्षण और विषैले पदार्थोंके प्रभावको रोककर उसे स्वस्थ करनेकी चेष्टा करता है। कारण यह कि प्राकृतिक चिकित्सा केवल वही कही जासकती है, जो एक अज्ञान बालक विना किसीके सिखाये मूक प्रकृतिकी आज्ञानुसार करता है।

अबतक हमने जो कुछ कहा उसका सार यही है कि प्रत्येक रोगका एकही कारण है, अर्थात् तीक्षण पदार्थोंके वेधन द्वारा जीवन-कणोंकी त्वचा फटकर उनमें दाह होना और वायुके संसर्गसे उनका विकृत पदार्थोंमें रूपान्तर होना है; और इसीसे उसकी चिकित्साका हेतुभी एकही है, अर्थात् उष्णताके तापसे तीक्षण पदार्थोंके स्वस्थ जीवन-कोषोंके वेधन करनेवाले प्रभाव और वायु द्वारा आगेको उनका रूपा-न्तर होनेकी क्रियाका रोकना है। किन्तु अग्निके उष्ण तापसे प्रथम तो हमारे रक्तादि रसोंका नाश होता है, द्वितीय विकृत पदार्थ शुष्क हो शरीरके मध्यमेंही

चिपककर उसी प्रकार रुक जाते हैं, जिस प्रकार नासिकामें अति दाहकी ऊष्णतासे दूषित पदार्थ (श्लेष्मादि) चिपक जाते हैं। अतः शरीरको जलादिकी सहायतासे वाष्पके समान सह्य तापकी ऊष्ण क्रियाएं, जिनकी रीति आगे मिलेगी, प्रयोगमें लानी चाहियें। उन क्रियाओंको शरीरके प्रदाहित अङ्गोपर या जहांसे दाहके प्रधान कारण आरम्भ होते हैं, जिनका विवरण आगे मिलेगा, प्रयोग करना चाहिये।

यद्यपि हमारी आविष्कृत ऊष्ण क्रियाओं या बालकके मुखसे निकलनेवाली वाष्पकी चिकित्साकी अनिवार्य उत्तेजनासेभी शरीरकी कुछ न कुछ हानि उसी प्रकार अवश्य होती है, जिस प्रकार अनारकी अनिवार्य उत्तेजनासे शरीरकी किसी न किसी मात्रामें शक्तियां व्यय होती हैं। परन्तु किसी पदार्थकी अनिवार्य उत्तेजनासे सुरक्षित रहना हमारे हाथमें नहीं है। क्योंकि प्रकृतिही हमारा विकास करनेके साथ, साथ क्रमशः पतन करना चाहती है।

हमारी चिकित्सा विधि

यद्यपि हमारी चिकित्सा विधि वास्तवमें संसारके सन्मुख कोई नूतन वस्तु नहीं है; परन्तु हमारे सिद्धान्तका मर्म अज्ञान बालकोंके अतिरिक्त प्रायः जगतके लिए एक अचम्भेमें डालनेवाला आविष्कार है। किन्तु यह कोई विस्मयकी बात नहीं है। प्रायः सभी वैज्ञानिक दाहपर जलादि द्वारा या पौल्टिससे ऊष्ण तापका प्रयोग करते हैं। परन्तु उन्होंने यह कल्पना कभी नहीं की है कि समस्त रोगोंका एकही कारण होनेसे केवल ऊष्ण क्रियाओं द्वारा विना औषधिकी सहायताके किस प्रकार चिकित्सा हो सकती है। वह पौल्टिस आदिको केवल अनुभवसेही उपयोगी समझते हुए उनका प्रयोग करते रहे हैं। उनकी दृष्टि कभी उस अज्ञान बालककी ओर नहीं पहुंची जो अपनी चुटेल अंगलीकी चिकित्सा मुखकी वाष्पके तापसे करना, जानता है। वह केवल उन्ही जीवोंपर दृष्टि पात करते रहे हैं, जो प्रायः औषधियां प्रयोग करते हैं। इसीसे वह यह जानकर कि कुत्ता वमन करनेके हेतु घास सेवन करता है, मनुष्यकी प्रकृतिके लिएभी औषधियोंके सेवन करनेका परिणाम निकाल-

बैठे। परन्तु मनुष्यकी प्रकृति किसी, किसी बातमें अन्य जीवोंसे सर्वथा भिन्न है। इसीसे हमारे बालक औषधियोंके नामसेही भयभीत हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, डाक्टर कोहनी तथा कुछ अन्य चिकित्सकोंनेभी समस्त रोगोंका एकही मूल कारण स्वीकार किया है। किन्तु हमारे और उनके मतमें बहुत भेद है। हां, डा० कोहनीके सिद्धान्तोंसे हमारे सिद्धान्त बहुत अंशतक टक्कर खाते हुए प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तवमें गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर बहुत अन्तर मिलेगा। क्योंकि हम कीट कल्पना (Germ Theory) के पक्षपाती हैं, और वह विकृत पदार्थोंसेही अपनी कल्पनाको पुष्ट करते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक रोगकी उत्पत्तिका मूल कारण ज्वरही है, और हमारा कथन है कि प्रत्येक रोगकी उत्पत्तिका एक मात्र हेतु हमारे जीवन-कणोंकी त्वचा तीक्ष्ण पदार्थ या क्रियाओं द्वारा वेधन किये जानेपर वायुके संसर्गसे उनका दूषित पदार्थोंमें रूपान्तर होना है। अतःरोग मात्रका एक ही कारण सिद्ध करनेमें हमारे और डा० कोहनीके सिद्धान्तोंमें लगभग समानता होते हुएभी वैज्ञानिक दृष्टिसे तुलना करनेपर बहुत अन्तर मिलेगा। इसके अतिरिक्त उनकी और हमारी चिकित्सा विधिमें आकाश पातालका अन्तर है।

हमें अपनी चिकित्सा विधिका आविष्कार करनेसे पूर्व कभी स्वप्नमेंभी यह ध्यान न था कि हमारे चिकित्सकों द्वारा दाहके स्थानपर एकत्रित विकृत जीवोंको रक्त-सञ्चार द्वारा अस्तव्यस्त करके निर्बल करनेके अतिरिक्त समस्त रोगोंमें उष्ण ताप प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु अनायास एक दिन हमारे चित्तने यही साक्षी दी कि यदि प्रकृतिके मर्म जानने हैं तो अज्ञान बालकोंसे शिक्षा लेनी चाहिये। निदान् बालकोंकी चिकित्सा विधिपर दृष्टि डालकर कीट कल्पनाकी सहायतासे हम इस परिणामको पहुंचे कि समस्त रोगोंका एकही कारण होनेसे उनकी एक मात्र चिकित्सा यही है कि ताप द्वारा तीक्ष्ण पदार्थोंका प्रभाव रोक दिया जाय, जिससे वह हमारे जीवन-कणोंका वेधन करना बन्द करदें, और उनकी वेधन शक्ति रुक जानेसे पीड़ाका अन्त हो जाय और वह हलके होनेसे स्वतः शरीरसे बाहर हो जायं। अतः इस रीतिसे हम अपनी कल्पनाका स्वयं निर्माण करते हुए उसको क्रियात्मक रूपसे प्रायः पन्द्रह वर्षसे अधिक कालतक सहस्रों रोगियोंपर अनुभव करके निम्न लिखित चिकित्सा विधि रोगी जनोंके लाभार्थ उपस्थित करते हैं:—

जल ताप

टब द्वारा

यदि समस्त शरीरको ताप पहुंचाना हो तो रोगीको जलसे भरे हुए टिन आदिके एक ऐसे टबमें लेट जाना चाहिये जिसके भीतर चारों ओर काष्ठकी तह हो और तलवाली काष्ठकी तह टिनसे छः इञ्च ऊंचाई पर ऐसे काष्ठकी हो जिसमें छिद्र हों या टबके भीतर उसीकी आकृतिकी वेतकी बुनी हुई कुर्सी हो, जिससे रोगी
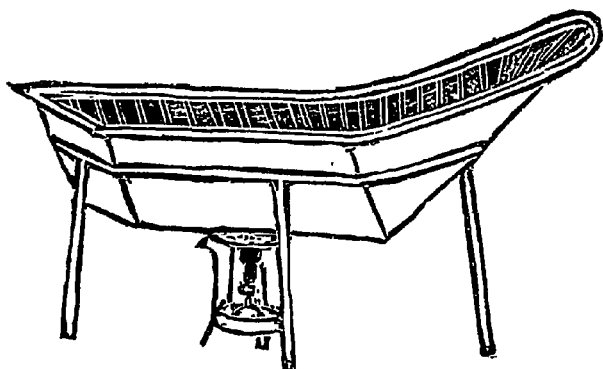
चित्र संख्या १

टिनकी ऊष्णतासे जले नहीं। टबके नीचे चित्र संख्या १ के समान जलको ऊष्ण करनेके निमित्त स्टोव जलाकर रक्खदेना चाहिये।

जलको उसी श्रेणीतक ऊष्ण करना चाहिये जिसको रोगी सहन करसकता हो। अतः इसके निमित्त स्टोव द्वारा अग्निका ताप न्यूनाधिक किया जा सकता है।

जल तापके उपरान्त रोगीको वन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये या यदि चिकित्सक आज्ञा दे तो दुर्तापवाहक वस्त्र धारण करने चाहिये।

भीगे वस्त्रों द्वारा

यदि शरीरके किसी विशेष भागको ताप पहुँचाना हो तो दो तहकी ऊनी फ्लेनल (फुलालेन) शीतल जलमें निचोड़कर चित्र संख्या २ के समान रोगीके नग्न

शरीरपर फैला देना चाहिये, और दो, दो तहके दो ऊनी वस्त्र ऊष्ण जलमें स्टोवके ऊपर रहने चाहियें जो कि वस्त्र निचोड़नेके यन्त्रमें एकके पश्चात् दूसरा निचोड़कर क्रमसे
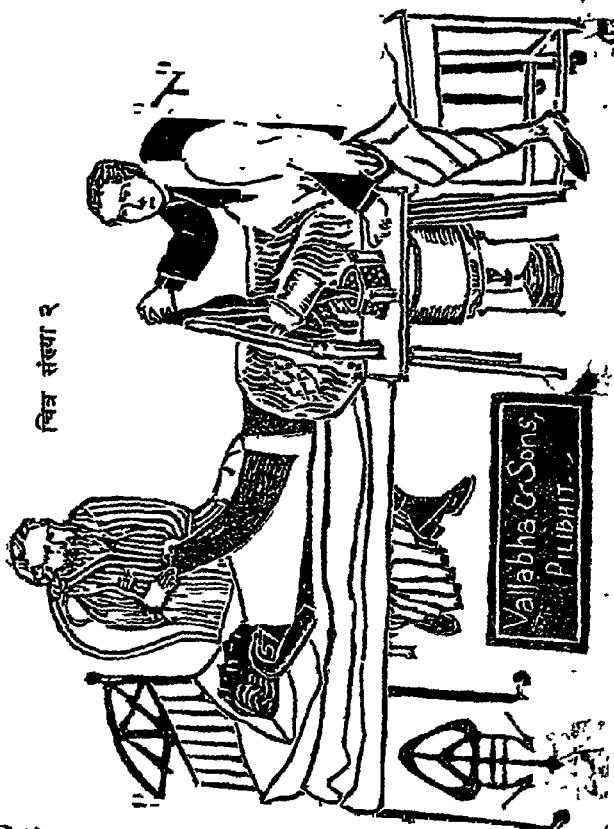
चित्र संख्या ४

रोगीके शरीरपर शीतल जलमें निचोड़े हुए वस्त्रके ऊपर शीघ्र, शीघ्र फैलाने चाहियें ।

यदि वस्त्र निचोड़नेका यन्त्र, फ्लेनल और स्टोव पर्याप्त न हों तो वस्त्र चिम्टे आदिसे पकड़कर निचोड़े जा सकते हैं, फ्लेनलके स्थानमें, टर्किश टाविल या खद्दरके वस्त्र काममें लाये जा सकते हैं, और स्टोवकी अपेक्षा अंगीठीका प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु फिरभी इससे परिचारकको कष्ट अधिक होता है और रोगीको उपरोक्त यन्त्र द्वारा ताप पहुंचानेकी अपेक्षा लाभ कम होता है।

मृत्तिका ताप

धड़ बन्धन
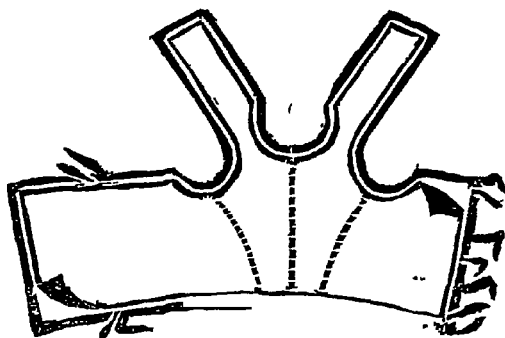
चित्र संख्या ३

चित्र संख्या ३ के समान दो सूती और एक ऊनी वस्त्र लेने चाहियें। सूती वस्त्रोंको जलमें निचोड़कर उनमेंसे एकको किसी चटाई या मेजपर फैलाकर उस-पर लेहीके समान पकी हुई चिकनी मिट्टीका आध इञ्च मोटा प्लास्टर कर ऊपरसे दूसरा सूती वस्त्र बिछा देना चाहिये। इस प्रकार मिट्टी दो सूती वस्त्रोंके बीचमें होजानेपर मिट्टीके नीचेवाले सूती वस्त्रके नीचे उसका ताप रोकनेको ऊनी वस्त्र बिछाकर चित्रसंख्या ४ के सदृश रोगी को उनपर लिटा तनियों द्वारा बांध देने या सेफ्टी पिनों द्वारा कसदेनेसे वह चित्र संख्या ५ की नाईं प्रतीत होते हैं।

मिट्टी बांधते समय ठन्डी न हो जाय और इतनी ऊष्णभी न हो जो त्वचाको सहन न हो।

उदर बन्धन

उदर बन्धन घड़ बन्धनके सदृशही बांधा जाता है । केवल अन्तर इतनाही है कि वह उदरसे ऊपर नहीं होता है । अतः उसकी आकृतिके लिए चित्र संख्या ६ देखना चाहिये ।

चित्र संख्या ४

अन्य बन्धन

अन्य रोगोंके निमित्त जो बन्धन हैं वहभी उपरोक्त रीतिसे बांधे जाते हैं; केवल घावोंपर जो बन्धन प्रयोग किये जाते हैं उनमें यह अन्तर होता है कि मिट्टीके नीचे सूती और ऊनी वस्त्र होता है, परन्तु उसके ऊपर नहीं होता । क्योंकि घावोंसे मिट्टीका स्पर्श होना आवश्यक है । इसके अतिरिक्त घावों या कोमल स्थानोंपर प्रयोग किये जानेवाले बन्धनोंकी मिट्टी कुछ अधिक पतली होनी चाहिये ।

चित्र संख्या ५

आवश्यक सूचनाएं

शरीरको उष्ण जल या उष्ण जलमें निचोड़े हुए वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचानेके उपरान्त नम न रखना चाहिये । अतः तत्क्षण जलमें पकी हुई चिकनी मिट्टीके बन्धनों (Packs) को ताप पहुंचाये हुए स्थानपर बांध देना चाहिये, या ऊनी वस्त्र पिन्हा देना चाहिये ।

कमसे कम प्रत्येक रोगमें एक घन्टा पर्यन्त ताप पहुंचाना चाहिये, और यदि दो घन्टे किया जाय तो अति उत्तम है। किन्तु भयङ्कर रोगोंकी दशामें किसी, किसी रोगीको निरन्तर चौबीस, या अड़तालीस घन्टे या उससेभी आधिक अर्थात् जबतक रोगी जोखिमसे न निकल जाय ताप करना चाहिये।

चित्र संख्या ६
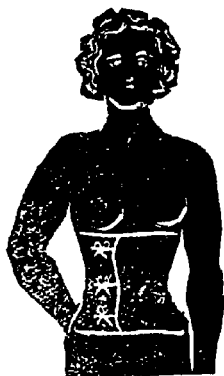
यों तो प्रत्येक रोगीको चौबीसों घन्टे ताप पहुंचाना लाभप्रद है, क्योंकि प्रत्येक समय तापके पहुंचानेसे विकृत कणोंका प्रभाव हमारे स्वस्थ कणोंपर होना रुक जाता है और तापके वन्द करनेसे कुछ कालमें या अधिक तीव्र रोगमें तत्क्षण उसका प्रभाव जानेके उपरान्त दूषित कण पुनः स्वस्थ कणोंका वेधन करना आरम्भ कर देते हैं। परन्तु तीव्र भयङ्कर रोगोंमें रोगीको चौबीसों घन्टे ताप पहुंचाना चाहिये, और साधारण तीव्र रोगोंमे दो, दो घन्टेका ताप दो, दो घन्टे पीछेभी ठीक हो सकता है। किन्तु यदि किसी रोगीको शीघ्राति शीघ्र उस रोगसे मुक्त करना है तो उस व्याधिका अन्त होनेतक प्रत्येक समय ताप पहुंचाना चाहिये, अर्थात् जितने अधिक समयतक ताप पहुंच.या जायगा उतनीही शीघ्रतासे लाभ होगा। किन्तु जब रोगी उसस वास्तवमें ऊब जाय और उसका चिकित्सकभी आज्ञा दे तो ताप वन्द करदिया जाय।

अच्छा तो यही है कि जलका ताप पहुंचानेके ऊपरान्त जो मृत्तिका वन्धन प्रयोग किये जायं उनको उसी समय खोला जाय जब दूसरे समय ताप पहुंचाना हो, और यदि उस समयके बीचमें मृत्तिका वन्धन शुष्क हो जाय तो तत्क्षण उसके शुष्क होनेसे पूर्व उसे खोलकर दूसरा बांध देना चाहिये। परन्तु यदि किसी रोगीके प्रत्येक समय किसी असुविधावश वन्धन न प्रयोग किये जायं तो घावोंसे पीड़ित रागीके घावों पर तो सदा ताप पहुंचानेके उपरान्त मृत्तिका वन्धन रखनाहीं चाहिये, जिससे शरीरकी ऊष्णता फ्लेनलकी सहायतासे मृत्तिकामें रुककर दूषित कणोंके प्रभावको रोके रहे और वायुके दूषित विकारोंसे घावकी रक्षा करे।

वन्धनके शुष्क हो जानेपर उसे कभी शरीरपर न रखना चाहिये, प्रत्युत शुष्क होनेसे पूर्व खोल देना चाहिये। घावोंपर वन्धनका शुष्क हो जाना सदा विषका काम करता है। अतः उससे लाभकी अपेक्षा अधिक हानि होती है।

वन्धनोंके निमित्त सर्वोत्तम मृत्तिका मुरादाबादमेंही होती है। वहां उसको पिण्डोल कहते हैं। परन्तु प्रत्येक स्थानपर उसका पहुंचना कठिन है। इस लिए काष्ट तन्तु और अपवित्र पदार्थोंसे रहित प्रत्येक पवित्र स्थानकी चिकनी मृत्तिका काममें लायी जा सकती है।

मृत्तिका पकाते समय उसमें गांठ न पड़नी चाहियें; उसमें इतना अधिक जलभी न हो जो बह निकले, और इतना कमभी न हो कि वस्त्रपर प्लास्टर न किया जा सके।

ताप या वन्धन क्रियाओंका कार्य ऐसे स्थानोंमें न किया जाय जहां वायुका वेग हो। किन्तु शरीरपर वन्धनोंका प्रयोग होनेपर रोगी जहां चाहे पवित्र स्थानोंमें जा सकता है।

ताप होते समय या वन्धनोंका प्रयोग हुए, हुए यदि रोगीको क्षुधाका ज्ञान हो तो आहार दिया जा सकता है।

मृत्तिकाकी अपेक्षा वस्त्रों द्वारा जलका ताप कहीं उत्तम है, और वस्त्रों द्वारा जलके तापकी अपेक्षा टब द्वारा जलका ताप कहीं उत्तम है। अतः चौबीसों घण्टे शरीरपर वन्धनोंका प्रयोग करनेकी अपेक्षा यदि प्रत्येक समय रोगीको रोगसे मुक्त होनेके कालतक जल ताप पहुंचानेके लिए टबमें रक्खा जाय तो अति लाभप्रद है।

ताप पहुंचाते समय बहुधा रोगी सुख पहुंचनेसे निद्रा ग्रस्त हो जाते हैं। अतः ऐसी दशामें ताप बन्द न करना चाहिये, और ताप समाप्त करनेपर रोगीकी निद्रा भङ्ग न करनी चाहिये, उस समय यदि रोगीके शरीरपर वन्धनोंका प्रयोग न किया जा सके तो शरीरके ताप पहुंचाये हुए स्थानोंपर ऊनी शुष्क वस्त्र डाल देना चाहिये।

जल या मृत्तिका ताप ऐसी श्रेणीका पहुंचाना चाहिये जो शीतऊभी न हो और असह्य ऊष्णभी न हो।

ताप और वन्धनका प्रयोग नित्य नियत समयपर होना चाहिये और अपने सन्मुख घड़ी रखलेनी चाहिये।

ताप पहुंचानेसे पूर्व उसके उपरान्त और यदि आव. फलोंका सेवन कराना भी किसी प्रकारके ज्वरसे पीड़ित रोगियोंका टम्प्रेचर लेना चाहिये.

इस पुस्तकमें जहां तापका शब्द प्रयोग हो उसका अर्थ जल या अजीर्णके हुए वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचाना और वन्धनका अर्थ उष्ण जलमें पकी हुई मृ... - वन्धन समझना चाहिये ।

रोगीका आहार

यद्यपि यह जानना वहुतही कठिन है कि किस रोगीको कोनसा आहार उसके अनुकूल हो सकता है तथापि यह वहुतही सुगमता पूर्वक जाना जा सकता है कि उच्च श्रेणीका वह अनार (वेदाना या मस्कती) जिसमें तीक्षण गन्ध या स्वाद नहीं है और जो स्वाद हीन या अस्वादिष्टमी नहीं है अर्थात् जो कण्ठमें मौलश्रीके समान अटकता नहीं है, जो कुन्धारी अनारके सदृश दांतोको खट्टा नहीं करता है, जो चीकूकी नाईं अधिक मीठा न होनेसे मुखमें दाह नहीं करता है, जो चेहड़ेके सदृश कसीला नहीं होता है, जो निवोली या कमेलेकी नाईं कटु नहीं होता है, जो पोपीतेकी नाईं हीक नहीं देता है, जो ... श तीक्षण और लहसनके समान अप्रिय गन्ध प्रगट नहीं करता है, ज... फलोंका आ... करना चा... नाईं तीक्षण चेंपसे मुखमें कष्टका कारण नहीं होता है, जो अमरूद या ... र फलोंके समान मसूड़ोंको कष्ट देनेवाला नहीं होता है, जो केलेके सदृश रसहीन नहीं होता है, इत्यादि, इत्यादि, किसी ऐसे रोगीको जिसके जीवनका अन्त नहीं हुआ है कभी प्रतिकूल नहीं हो सकता।

यन्धनके शुष्क हो इसके अतिरिक्त किसी रोगीके लिए अन्य फलोंमेंसे किसीको होनेसे पूर्व खोल दें चिकित्सकके अनुभवपर निर्भर है । अतः चिकित्सकको प्रारम्भिक करता है। अतः अनार या अन्य रसीले और सूक्ष्म फलोंहीकी सम्मति देनी चाहिये क्योंकि प्रत्येक रोगीकी पाचन शक्तिका सुधार करके शुद्ध रक्तमें वृद्धि करनेकी आवश्यकता है, और बिना रसीले और सूक्ष्म फलोंके न पाचन शक्ति ठीक हो सकती है और न शुद्ध रक्तकी उत्पत्ति और उसकी वृद्धि हो सकती है।

यदि अनार या अन्य उच्च श्रेणीके रसीले फल धनाभावसे या किसी अन्य कारण वश पर्याप्त नहीं तो रोगीको अवस्थानुसार कद्दू, तोरी, चचेंडे, टिन्डे, टोमेटो, परवल, या गाजर आदिभी वाष्प द्वारा उबालकर दिये जा सकते हैं। परन्तु जीर्ण रोगियोंके विषयमें शाकोंके देनेमें बहुत विचारसे काम लेना चाहिये । क्योंकि संग्रहणी, क्षयी या अन्य दारुण रोगोंमें किसी, किसी रोगीको अनारके अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं दिया जा सकता।

अनारके अतिरिक्त स्ट्रावेरी, संगतरा, लीची, लोकाट, नुमानी, आलूचा, आलू-बुखारा, काश्मीरी नाशपाती, गन्ना, लखनवी खरबूजा, शरीफा, शहतूत आदि फलभी दिये जा सकते हैं। परन्तु इन फलोंमें कोई अधिक उत्तेजक या खट्टा न होना चाहिये। इसके अतिरिक्त द्वारा ... की सम्मति देते समय रोगीकी दशाका अवश्य ध्यान कर लेना चाहिये। करनेकी

हमारे देशमें सबसे सुलभ और उत्तम आहार गन्नेका है। परन्तु उसका रस भारी होनेके कारण अनारके समान दोष रहित नहीं है। इसीसे वह अजीर्ण या वृक्क सम्बन्धी रोगोंमें कुछ प्रतिकूल रहता है, और अनारकी समानता नहीं कर सकता। किन्तु फिरभी वह दमे और क्षयी आदिमें कभी, कभी अमृतका काम करता है।

रोगीके आहारका विचार करनेके लिए सबसे अधिक यह ध्यान रखना चाहिये कि सदा ऐसे फल हों जो रक्त बनानेके रससे परिपूर्ण हो, क्योंकि जीवन और स्वास्थ्यका आधार एकमात्र रक्तही है; और जो बिना कष्टके सुगमता पूर्वक पाचनमें आ सकें, जिससे आमाशयको विश्राम मिलनेके कारण उसकी निर्बलताका अन्त होनेसे रोगीके शरीरका पोषण होकर नवजीवन प्राप्त हो और शरीरके जीवन-कोष विकृत कणोंका हनन करनेमें समर्थ हो रोगसे पीछा छुटा सकें।

रोगीको लोभवश कभी कुम्हलाय हुए बासी या विकृत फलोंका सेवन कराना उसके रोगको सहायता देनी है।

यथा शक्ति समस्त रोगियोंको दूधसे बचाना चाहिये, किन्तु संग्रहणी या अजीर्णके रोगियोंको तो विशेषकर किसी पशुका दूध न देना चाहिये।

रोगीको जिस पशु का दूध दिया जाय उसका स्वस्थ और स्वच्छ होना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त उस पशुका आहारभी शुद्ध होना चाहिये।

यद्यपि समस्त पशुओंमें रोगीके निमित्त गौऊका दूध सर्वोत्तम है। परन्तु किसी, किसी रोगीको, जिसको वह पाचनमें नहीं आता बकरीका दूधभी बहुत लाभप्रद सिद्ध होता है। किन्तु फिरभी यथा शक्ति यदि दूधकी अपेक्षा रोगीको रसीले फलोंका आहार दिया जाय तो बहुत अच्छा है।

अनेक रोगियोंको अनेक प्रकारके फल बिना किसी अधिक हानिके दिये जा सकते हैं। परन्तु फिरभी जितना रसीले, सूक्ष्म और अनुत्तेजक फल लाभ पहुंचा सकते हैं उतना रसहीन, भारी और उत्तेजक फलोंसे लाभ नहीं हो सकता; प्रत्युत जितने रसहीन, भारी और तीक्ष्ण फल होते हैं उसी क्रमसे उनके द्वारा शरीरको क्षति पहुंचती है। अतः रोगीको यह विचारकर कि उसका रोग भयङ्कर नहीं है निकृष्ट जातिके फलोंका सेवन, उस समयतक जबतक कि धनाभाव न हो, करना किसी प्रकारभी अच्छा नहीं है। इसीसे उच्च श्रेणीके फलोंका आहार मिलते हुएभी जो रोगी निम्न श्रेणीके फलोंका सेवन करके कुपथ्य करना चाहता है वह अपने दांतोंसे अपनी कब्र खोदनेका प्रयत्न करता है।

पीड़ा

—:ः—

संसारके समस्त रोगोंका मूल हेतु तीक्ष्ण पदार्थों द्वारा जीवन-कोषोंमें वेदना होनेपर पीड़ा या उसका दूसरा रूप खुजली अथवा उत्तेजना होना ही है। परन्तु वास्तवमें पीड़ा, खुजली या उत्तेजना द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियोंके जागरित और शरीरके जीवनमय होनेकी सूचना मिलती है। इसीसे जबतक हमारे कण स्वस्थ और जीवनमय होते हैं तभीतक उनमें तीक्ष्ण पदार्थों या क्रियाओंकी वेदना द्वारा शीत और वायुका सम्पर्क होनेपर पीड़ा आदिका ज्ञान हो सकता है।

किन्तु जब हमारा शरीर अथवा उसका कोई भाग निर्जीव हो जाता है तो उसको उसी प्रकार पीड़ाका ज्ञान नहीं होता, जिस प्रकार कठोर कार्य करनेसे हस्त-तलकी त्वचाके निर्जीव होजानेपर ज्ञान तन्तुओंके नष्ट होजानेसे उसमें सुई चुभानेसेभी कोई प्रभाव नहीं होता; और यही कारण है कि एक वह कृषक जो नग्न पग रहकर कण्टकमय क्षेत्रोंमें कार्य करता है पग-तलकी त्वचाके निर्जीव होजानेसे बड़े, बड़े कांटोंके लग जानेपरभी दुःखका अनुभव नहीं करता।

पीड़ाका केन्द्र हमारा अग्र मस्तिष्क है, और मस्तिष्कतक उसकी सूचना पहुंचनेवाले वह ज्ञान तन्तु हैं जो समस्त शरीरमें जालके समान फैले हुए हैं। अतः शरीरके सजीव होते हुएभी यदि अग्र मस्तिष्कको निकाल दिया जाय या क्लोरोफार्म अथवा अन्य किसी मादक पदार्थसे उसे शिथिल करदिया जाय या हमको मस्तिष्क सम्बन्धी कोई रोग हो जाय तो पीड़ाका ज्ञान होना बन्द हो जाता है। किन्तु मस्तिष्क स्वस्थ रहते हुएभी बिना शीत और वायुके स्पर्शके साधारण वेदना या पीड़ाका ज्ञान नहीं होता है, या बहुत ही कम होता है। इसीसे कोमलाति कोमल आन्तरिक अवयवोंकी अपेक्षा बाह्य अङ्गोंमें पीड़ाका ज्ञान अधिक होता है; क्योंकि यह नित्यके अनुभवकी बात है कि मिर्च सेवनकी दाह अन्त्रादिकी अपेक्षा जिह्वा, गुदा, शिरके बालोंकी जड़ों या कर्णादिमें अधिक प्रतीत होती है; और इसीके सदृश मूलीकी तीक्ष्णता आमाशयकी अपेक्षा जिह्वा और नासिकाको अनुभव होती है; हृदयके तीव्र रोगोंमें कोहनीमें कष्ट होता है; अजीर्ण ग्रसत रोगीको प्राय माथे और कनपटीमें वेदना होती है; यकृत रोगमें बहुधा दाहिने हाथ या कनपटीमें दुःख प्रतीत होता है; अन्त्र पीड़ामें जंघाओंके पीछे और विशेषतः वाम जंघासे घुटने पर्यन्त दुःख होता है, और योनि रोगोंमें कमर, शिरके पिछले भाग, जंघा और घुटनों आदिमें मुख्य स्थानकी अपेक्षा पीड़ाका अधिक ज्ञान होता है। कारण यह कि प्रथम तो शरीरके भीतर पहुंचकर वायु उत्तेजक नहीं रहती है, जिसके द्वारा हमारे कणोंका परिवर्तन होकर पीड़ा प्रतीत हो; द्वितीय शरीरके आन्तरिक भागोंमें प्रत्येक समय उष्ण तापके उपस्थित रहनेसे तीक्ष्ण पदार्थ हमारे कणोंको उसी प्रकार प्रभाव डालनेको असमर्थ होते हैं, जिसप्रकार अग्निपर रक्खे हुए पीतलके पात्रपर खटाईका प्रभाव नहीं होता। किन्तु तीक्ष्ण पदार्थ बोझमें हलके होनेसे प्रत्येक हमारे कणों द्वारा शरीरके ऊपर अनेक मार्गोंसे खदेड़े जाते हैं। अतःवह जिस

स्थानपर आते हैं वहांपर ऊष्ण तापकी न्यूनता और वायुके संसर्गसे वह शरीरके उन भागोंको पीड़ा देनेमें समर्थ होते हैं। परन्तु निरन्तर तीक्षण पदार्थोंके संसर्गसे शरीरके वाह्य अङ्गोंके दिनोदिन निर्जीव होनेसे ज्ञान तन्तुओंके नष्ट या शिथिल हो-जानेपर अधिक तीक्षण पदार्थभी सह्य हो जाते हैं। इसीसे अतिसारके आरम्भ कालमें यदि अधिक पीड़ाका ज्ञान होता है तो उसके संग्रहणीमें परिणत हो जानेपर तीव्र वेदनाका अनुभव नहीं होता। अपरञ्च अनेक विषोंके सेवनसे शरीर इतना शिथिल हो जाता है कि तीक्षणाती तीक्षण पदार्थोंसेभी कष्ट प्रतीत नहीं होता।

आन्तरिक अवयवोंमें जब अधिक पीड़ाका ज्ञान हो तो तत्क्षण यह जान लेना चाहिये कि या तो शरीरके ऊष्ण तापमें न्यूनता हो गयी है, या पीड़ित स्थानतक वेदनामें सहायक होनेके लिए वायुको यथेष्ट मार्ग मिल गया है, या उन तीक्षण पदार्थोंका प्रभाव रोकनेके हेतु हमारे शरीरका ऊष्ण ताप यथेष्ट नहीं है। अतएव पीड़ा अर्थात् समस्त रोगोंकी एक मात्र यही चिकित्सा है कि पीड़ित स्थानों, तथा जहांसे उनका सम्बन्ध हो उनकी जल अथवा जलमिश्रित मृत्तिका ताप द्वारा रक्षा की जाय।

तीव्र रोग

Acute disease.

तीव्र रोग उसी समय होते हैं जब हमारे जीवन कोष चैतन्यतासे कोमल अर्थात् अधिक जीवन युक्त होते हैं। कारण यह कि तीक्षण पदार्थ स्वस्थ और कोमल जीवन कोषोंको वेधन करनेसे उनमें अति तीव्रताके साथ दाह होनी आरम्भ हो जाती है; और उनकी दाहकी वेदनासे उनके निकट सम्बन्धी जीवन-कोषोंमें दाह होने लगती है। अतः इसी प्रकार यथा क्रम वह दाह अपनी सामर्थ्यके अनुसार फैलती जाती हैं; और जितनी दाह बढ़ती जाती है हमारे शरीरके रसीले द्रव पदार्थ जलते या शुष्क होते जाते हैं अर्थात् जीवन शक्ति व्यय होती जाती है। निदान् दाहकी चिकित्सा यही है कि पीड़ित स्थानपर हमारी बतायी हुई जल ताप द्वारा चिकित्सा की जाय। क्योंकि जलसे दाह द्वारा शरीरके रसीले पदार्थोंका जलना या शुष्क होना बन्द हो जाता है, और ऊष्ण तापसे तीक्षण पदार्थ

स्वस्थ जीवन-कोषोंपर अपना प्रभाव नहीं करसकते। इसके अतिरिक्त दाहके समय वायुमण्डलका शीत हमारी प्रकृतिके अनुकूल नहीं रहता। इसीसे बन्दूककी गोली खाया हुआ हरिण जबतक गर्मी रहती है दौड़ा चला जाता है, परन्तु शीतका प्रभाव होतेही पीड़ाका ज्ञान होने लगता है। निदान् जितनी दाह हो उसीके अनुसार जल ताप या जल मिश्रित तापमय मृत्तिका बन्धन होने चाहियें, अर्थात् जैसी रोगकी प्रकृति हो वैसीही रोगीकी सह्य और सुखप्रद जल ताप क्रियाओं द्वारा चिकित्सा करना चाहिये। कारण यह कि यदि जल ताप दाहकी मात्रासे अधिक शीतल होगा तो तीक्ष्ण विषैले पदार्थोंसे हमारे जीवन-कोषोंकी रक्षा न हो सकेगी प्रत्युत लाभकी अपेक्षा हानिकी सम्भावना है; और यदि अधिक उष्ण होगा तो रसीले पदार्थोंको जलाना और जीवन-कोषोंको उत्तेजित करना आरम्भ करेगा। बिना जलकी सहायताके किसी प्रकारकी उष्ण क्रियाओंका प्रयोग या सेकना वर्जित है; क्योंकि इस प्रकार शरीरके रसीले पदार्थ क्षय होनेके अतिरिक्त विकृत पदार्थ शुष्क होकर शरीरके भीतर चिपक जाते हैं।

तीव्र रोगोंकी चिकित्सामें यहभी ध्यान रखनेकी आवश्यक्ता है कि जिस स्थान पर पीड़ाका ज्ञान होता है उसका किस स्थानसे सम्बन्ध है। जैसे—किसीके तो शिरमें चोट लगनेसे, किसीके शीतके प्रभावसे, और किसीके पाचन क्रियाके दोषके कारण पीड़ा होती है। अतः जिसके चोट या सर्दीसे पीड़ा होती है उसकी जल या मृत्तिका ताप द्वारा स्थानीय अर्थात् पीड़ित स्थानको तप्त करके चिकित्सा करनी चाहिये, माथे [illegible] जिसके पाचन क्रियाके विकारसे दुःख होता है उसकी स्थानीय अर्थात् शिर तथा दुःख प्रतीत होता है; [illegible]त् उदरादिको ताप पहुंचाकर करनी चाहिये। परन्तु स्थानीय और [illegible] दुःख होता है; [illegible] अधिक बढ़नेकी सम्भावना हो तो जहांतक उस दाहकी पीड़ाके मुख्य हेतु [illegible] जीवन-कोषोंकी रक्षा करनेकी आवश्यकता है। जैसे—सर्पके चिकित्सामेंभी यदि दाह [illegible] पहुंचका लगानेका विष बड़ी तीव्रतासे रक्तवाहिनी नाड़ियों सीमा हो वहांतकके जी[illegible] काटने या मादक पदार्थोंका [illegible]। अतः काटे हुए स्थानपर तथा उससे दूरतक द्वारा सर्व शरीरमें फैलने लगता है [illegible] ताप पहुंचाना चाहिये; किन्तु जो स्थान जितनी या आवश्यक्ता हो तो सर्व शरीरपर [illegible] ताप [illegible] होना चाहिये।

उष्णताको सहन कर सका हो उसीके अनुसार [illegible] तो भोजन सर्वथा वर्जित है, किन्तु भूख तीव्र रोगोंमें यदि भूखका ज्ञान न हो प्रतीत होनेपर अनुत्तेजक स्वस्थ और अधिकतर रसीले फलोंका प्रयोग होन

चाहिये। परन्तु मन्द और तीव्र मिश्रित रोगोंमें जिनमें रोगी क्षयी आदिके सदृश अति निर्बल हो या संग्रहणीके समान पाचन क्रिया अति न्यून हो तथा आमाशय था अन्त्रमें घाव होगये हों तो कुछ कालतक या हो सके तो कई मास पर्यन्त रोगीको केवल रसीले फलोंका रस चूंसना और फोक थूक देना चाहिये; तद् उपरांत रोगके अन्ततक केवल रसीले फल लेने चाहियें या जैसी अवस्था हो वैसे भोजन हों। स्मरण रहे कि सबसे सुपाच्य और अधिक बल देनेवाले सदा अनुत्तेजक और रसीले फलही हैं और शेष जितने भारी या उत्तेजक फल हैं उनसे कभी निर्बल रोगी लाभ नहीं उठा सक्ता। क्योंकि ऐसे अनेक क्षयी और संग्रहणी आदिके रोगी जिनको केवल साधारण फलोंपर रहनेसे लाभ नहीं हुआ है और दिनोदिन इतने निर्बल होते चले गये हैं कि विना किसी दूसरेकी सहायता करवटभी लेनेको समर्थ नहीं थे। रसीले फलोंके रससे दो, तीन सप्ताहमेंही चलने-फिरने लगे हैं, और बहुतसी पीड़ाओंसे मुक्त होगये हैं। जिन रोगियोंको कुछ दिनका उपवास हो जाय उनको भूलकरभी रसीले फलोंके अतिरिक्त कुछ न देना चाहिये।

मन्द रोग

Chronic disease.

मन्द रोगोंका केवल एक यही कारण है कि तीव्र या तीक्ष्ण रोगोंकी निरन्तर दाहसे हमारे जीवन-कोष निर्जीव होनेके कारण उसी प्रकार इतने कठोर और जीवन हीन हो जाते हैं जिस प्रकार लगातार हाथसे कड़ा काम करनेपर हाथकी गद्दियां निर्जीव होकर कठोर हो जाती हैं, और जिस प्रकार जितनी हाथमें कठोर और जीवन हीन ठेकें होती हैं उतनीही सुई चुभानेसे कम पीड़ा होती है, उसी प्रकार मन्द रोगोंकी वेदनासे हमारे जीवन-कोष जितने निर्जीव या कठोर हो जाते हैं उतनीही कम पीड़ा का ज्ञान होता है। कारण यह कि पीड़ाका ज्ञान जीवनके साथ है। अतः मन्द रोगोंकी नीव शरीरसे तबतक दूर नहीं हो सक्ती जबतक हमारे शरीरमें पुनःजीवन शक्ति न बढ़ायी जाय, और रही सही जीवन शक्तिको दाह या तीक्ष्ण पदार्थोंसे न बचाया जाये। अतःजीवन शक्तिके बढ़ाने वाले रसीले फल, तथा मन्द, मन्द सुहावनी वायु सेवन आदि हैं, और दाहको रोकने वाला प्रकृतिके अनुकूल सह्य जलताप है। मन्द रोगमें दाहके

कम होनेसे जीवन-कोषोंके शीघ्र नाश होनेकी सम्भावना नहीं होती इस लिए अधिक उष्ण ताप कभी न होना चाहिये और इसीसे हमने सह्य जलतापकी सम्मति दी है

मन्द रोगोंमें शीतल सह्य पवनमें टहलना तथा इच्छा हो तो शीतल सह्य जलसे स्नान करना बड़ाही हितकर है। परन्तु यदि सह्य न हो तो लाभकी अपेक्षा हानिकी सम्भावना है।

मन्द रोगोंमें यदि तीक्ष्ण पीड़ा न हो तो घावों या छाजन आदिके चिन्हों आदिके अतिरिक्त अन्य स्थानपर तीव्र रोगोंके सदृश प्राथमिक कालको छोड़ आपत्तिसे निकलनेपर प्रत्येक समय ताप पहुंचानेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। केवल प्रति दिन एक या दो बार ताप पहुंचानेसेभी काम चल सक्ता है। परन्तु यदि प्रत्येक समय मृत्तिका तापके बन्धन रहें तो बहुतही अच्छा है, और शीघ्र आरोग्य होनेका उपाय है।

मन्द रोगोंमें जिससे हमारी चिकित्साको कलङ्क न लगे सर्वोत्तम तो रसीले फल ही हैं; परन्तु यदि धनाभावसे फल पर्याप्त न हों तो अनुत्तेजक रसीले शाक या चिकित्सककी सम्मतिसे दूधभी दिया जा सकता है।

शिर सम्बन्धी रोग

शिर पीड़ा Headache.

शिर पीड़ा एक अति दुष्ट रोग है, इसीसे नहीं कि यह बड़ी जन संख्याको अनेक प्रकार होती है, वरन् कभी, कभी ऐसे भयङ्कर या निरन्तर रूपोंमें होती है कि हम नित्यके साधारण काम काज करनेकेभी योग्य नहीं रहते। बाल्यावस्थामें इसको कोई साधारण रोग न समझना चाहिये। क्योंकि प्रथम तो शिर पीड़ा किसी मुख्य अवयवके भारी रोगका कारण होती है, द्वितीय आरम्भ कालमें थोड़ेही ध्यानसे दूर हो सकीत है। उस समय उपेक्षासे काम लेनेपर रोग स्थायी हो जाता है, और उससे नेत्र, कर्ण नासिकादिके रोगोंकीभी सम्भावना रहती है। किसी २ समय मस्तिष्क सम्बन्धी रोगोंसेभी शिर पीड़ाका भय रहता है। शिर पीड़ाभी प्रायः, जैसे शरीरके अन्य भागोंकी दाह स्नायु जाल द्वारा शरीरके ऊपरी भागोंपर जान पड़ती है, उसी प्रकार माथे, खोपड़ी, वातरज्जुओं आदिमें प्रतीत होती है।

शिर पीड़ाओंमें चिकित्सासे पूर्व मुख्य हेतु देखनेकी आवश्यकता है। अतः यदि ज्वर है तो उसके मूल कारण अर्थात् ज्वरकी चिकित्सा होनी चाहिये; और यदि वृक्क, आमाशय, यकृत, फुफ्फुस, प्लीहा, वक्ष, कण्ठ या अन्त्रादिके रोगी होनेसे पीड़ा होती है तो स्थानीय चिकित्साके साथ मूल रोगोंके दूर करनेकीभी आवश्यकता है। जैसे यदि यकृत, वृक्क, आमाशय; प्लीहा, अन्त्र तथा गर्भाशयादि द्वारा पीड़ा होती है तो उनकी चिकित्साके हेतु उदर या धड़पर जल ताप और उसके उपरान्त मृत्तिका तापके वन्धन प्रयोग करने चाहियें, और उनसे जो विकृत पदार्थ शिरकी ओर जाते हैं उनको ग्रीवापर ताप पहुंचाकर रोकना चाहिये। इसके अतिरिक्त शिरके जिस स्थानपर पीड़ा या दाह है वहांभी ताप पहुंचाना चाहिये। निदान् इसी प्रकार यदि शिरकी पीड़ाका मूल कारण फुफ्फुस, वक्ष या श्वांस आदिसे पीड़ित होना हो तो छाती या कमरको ताप पहुंचाना चाहिये।

शिर पीड़ाओंकी चिकित्सा बड़ी सावधानीके साथ करनी चाहिये। यदि रक्तकी न्यूनतासे हो तो जहांतक हो रसीले फलोंका सेवन हो। शेष बातें जिस हेतुसे शिरमें पीड़ा हो उस रोग में देखो।

यदि तीव्र पीड़ा हो तो ग्रीवा और पीड़ित स्थान तथा जहांसे पीड़ा आरम्भ होती है निरन्तर कई घन्टेतक दिनमें कई वार उसपर जल ताप पहुंचाना चाहिये, और जिस समय जल ताप वन्द किया जाय तत्क्षण शिर या आवश्यकता हो तो अन्य स्थानोंपरभी मृत्तिका वन्धन प्रयोग किये जायं। परन्तु मन्द रोगोंमें प्रात और सायंके समय दो, दो घन्टे केवल जल ताप और उसके उपरान्त दुर्तापवाहक वस्त्रों अथवा मृत्तिकाके वन्धन होने चाहियें। इसके अतिरिक्त रोगीको मस्तिष्क सम्वन्धी परिश्रमसे दूर रहना चाहिये।

उपरोक्त विधिसे शिर सम्बन्धी तीव्र रोगोंकी चिकित्सा करनेपर प्रायः रोगी ताप होते हुएही पीड़ाके न्यून होने या उससे सर्वथा मुक्त होनेपर निद्रा ग्रस्त हो जाता है। क्योंकि यह एक वार नहीं प्रत्युत अनेक वार अनुभवमें आयी हुई वात है। सवसे पहिले सन् १९१६ ई०में हमने प्रयागमें एक मासिक पत्रिकाकी सम्पादिकाकी चिकित्सा की थी। हमारे अनुमानसे उससे पहिले हमारी चिकित्सामें वैसी भयङ्कर शिर पीड़ाका कोई रोगी नहीं आया था। परन्तु उसको कदाचित पन्द्रह मिनिट तकही जलताप पहंचाया था कि एकैक वह निद्रा ग्रस्त हो गयी; और कोई दो

घन्टे पर्यन्त ताप देनेपर वह सर्वथा पीड़ासे मुक्त हो गयी। इसी प्रकार एक शीत (जुकाम) से पीड़ित रोगी जो कि इतना दुःखी था कि उसे समस्त रात्रि बैठकर ही व्यतीत करनी पड़ी, दिनके निकलतेही हमारे निकट आया। अतः हमने उसको दो, दो घन्टे दिनमें चार, पांच बार माथे और उदरको जल द्वारा तप्त करने, और उसके पश्चात् तप्त किये हुए स्थानको नग्न न रक्खनेकी सम्मति दी। फल यह हुआ कि दूसरे दिन जब वह आया तो वह रोनेके स्थानमें प्रफुल्ल वदन था और उस समय उसको कोई पीड़ा न थी। अतएव ऐसी महत्त्व पूर्ण घटनाओंसे हमको यह गर्व हो गया कि हम दारुणसे दारुण रोगोंको उस समयतक दूर कर सकते हैं जबतक कि शरीरमें जीवन शक्तियां उपस्थित हैं। परन्तु अन्तमें हमारा यह गर्व चूर होगया। क्योंकि बम्बईमें एक शिर पीड़ासे क्लेशित रोगी हमारे निकट आया; और हमने अभिमानपूर्ण उसको तत्क्षण उस पीड़ासे मुक्त करनेकी बात कही, और उसके शिरको ताप पहुंचाना आरम्भ किया। किन्तु स्टोवपर जल पात हो जानेसे वह बुझगया, और दुबारा जलानेपर वह फिर जल उठा, परन्तु तैल समाप्त हो जानेके कारण वह कुछ सेकिन्ड जलकरही रहगया। किन्तु हम यह न समझ सके कि तैलका क्षति हो गया है, प्रत्युत हमको यही ज्ञान रहा कि जलके गिर पड़नेसे स्टोव बिगड़ गया है। अतः उस रात्रिको अशक्त हो हमको अपना कार्य बन्द करना पड़ा, और हम उस रोगीको शिर पीड़ासे मुक्त न करसके। परन्तु दूसरे दिन सूर्यके उदय होतेही ज्योंही हमने यह जाननेके निमित्त स्टोव उठाया, कि देखें उसका क्या बिगड़ गया है, त्योंही उसके बोझमें हलकापन प्रतीत होनेसे यह ज्ञान हुआ कि उसका तैल समाप्त हो गया था, और गत् रात्रिको उस रोगीको रोगसे मुक्त होना नहीं था इसीसे उस समय हमारी बुद्धिनेभी धोखा दिया।

मन्द शिर पीड़ाओंमें कुछ धैर्यसे काम लेनेकी आवश्यकता है। क्योंकि तीव्र रोगकी उत्पत्ति बड़ी तीव्र गतिसे होने और शरीरमें जीवनकी मात्रा अधिक होनेके कारण उनसे ताप पहुंचानेपर शीघ्र छुटकारा हो जाता है, किन्तु मन्द रोगोंकी मन्द गति और शरीरकी शिथिलताके कारण उसके आरोग्य होनेमें विलम्ब होता है; प्रत्युत कभी, कभी ऐसे रोगियोंको मन्द शिर पीड़ाओंसे मुक्त होनेमें छः, छः सात, सात मास लग जाते हैं। परन्तु इस प्रकार वह सदाको इस दारुण दुःखसे छूट जाते हैं।

मस्तिष्क सम्बन्धी रोग Brain Diseases.

मिर्गी, उन्माद, पक्षाघात, तथा मस्तिष्कके फोड़े हिस्टेरिया, ऐपापलेप्सी, एफ़ेसिया, इपीलेपसी, मेनिनजाइटिस, हाइड्रोसेफ़ेलस आदि समस्त मस्तिष्क सम्बन्धी रोग शरीरके अन्य अवयवोंके रोगी होनेपर होते हैं। अतः स्थानीय चिकित्साके अतिरिक्त छाती या कमरपर गलेसे उदरके आगेतक जल ताप तथा धड़ या उदर बन्धन होना चाहियें। किसी २ समय उन्माद सरीखे रोगोंमें एक सप्ताहमेंही रोगियोंकी दशा वहुत अच्छी होती देखी गयी है, परन्तु पक्षाघात सरीखे रोगोंमें कई मासमें सफलता होती है।

भोजन रोगकी अवस्थाके अनुसार होना चाहिये परन्तु यदि शीघ्र वल प्राप्त करना और हमारी चिकित्साका अद्भुत चमत्कार देखना हो तो रसीले फलोंका आहार होना चाहिये।

मस्तिष्क सम्बन्धी अनेक रोगियोंमेंसे भटिन्डेमें एक उन्माद रोग ग्रसित प्राय पन्द्रह वर्षीय कन्या हमारी चिकित्सामें आयी। उसका रोग इस गतिको पहुंच लिया था कि उसके शरीरमें किसी स्थानपर सुई चुभानेसे उसे उसका ज्ञान न होता था। अनेक डाक्टर उसकी चिकित्सा करचुके थे। किन्तु किसीकी चिकित्साका परिणाम सन्तोष जनक न रहा; और उसका बहनोई, जिसके यहां वह उन दिनों आयी हुई थी, और जो कि रेलवेका एक उच्च पदाधिकारी था, इस लिए हमारी चिकित्सा नहीं करना चाहता कि रोगीके फल सेवन करनेसे धनका अधिक व्यय होगा। परन्तु अन्ततः औषधियोंके मूल्य और डाक्टरोंकी फ़ीसकी अपेक्षा उसको हमारी चिकित्सा सुलभ प्रतीत हुई। क्योंकि एकतो उसे हमको फ़ीस न देनी पड़ती थी, दूसरे वह अपने कुष्ट रोगपर हमारी चिकित्साका अनुभव कर चुका था। परन्तु इस-परभी उसने हमसे यह प्रार्थना की थी कि हम केवल गाजरके आहारकी सम्मति दें, जिससे कौड़ियोंमें काम हो जाय। किन्तु यह हमारे सिद्धान्तके विपरीत था कि हम सत्यपर आवरण डालकर उसको ऐसे धोखेमें डालते। अतः हमने वही कहा जो उचित था और उसने वही किया जो एक अनुदार मनुष्य कर सकता है, अर्थात् अन्य रसीले और उच्च जातिके फलोंके स्थानमें केवल उवली हुई गाजरोंकाही सेवन कराया और दिनमें दो वार दो, दो घन्टे पर्यन्त छाती और मस्तिष्कको जल-द्वारा ताप पहुंचाया। फलतः एकही सप्ताहमें वह प्राय उस रोगसे मुक्त होगयी।

किन्तु उसके बहनोई महाशयने लोभ वश हमारी सम्मतिके अनुसार अधिक काल-तक उसकी चिकित्सा नहीं की, जिसके कुछ मास उपरान्त वह फिर उन्माद ग्रस्त हो गयी। अतः हमारी सम्मतिके अनुसार मस्तिष्क सम्बन्धी समस्त रोगोंमें कई मासतक चिकित्सा करनी चाहिये।

कर्णरोग Ear diseases.

कानके प्रत्येक रोगमें कभी विलम्ब न करनी चाहिये क्यों कि यह बड़ाही कोमल तथा अमूल्य यन्त्र है। प्रत्येक कानके रोगमें ऐसा जल ताप पहुंचाना चाहिये कि पीडित स्थानतक उसका यथेष्ट प्रभाव हो सके और जल तापके उपरान्त मृत्तिकाका ऐसा बन्धन करना चाहिये कि कान दबकर कष्ट न हो, या जलमें घुली हुई ऊष्ण की हुई चिकनी मिट्टी कानमें भरकर ऊपरसे फुलालेनका टुकड़ा बांध दिया जाय। कानके फोड़ों आदिमें ताप या मिट्टीके बन्धन अधिक ऊष्ण होने चाहियें, जिससे तत्क्षण पीड़ा बन्द होनी आरम्भ हो जाय। यदि जल तापकी सुविधा न हो और मृत्तिका बन्धन प्रयोग किये जावें तो शीघ्र शीघ्र बदलते रहना चाहिये; और किसी समय कानको रोगसे मुक्त होनेतक बन्धन हीन न रखना चाहिये। किन्तु मन्द रोगोंमें यदि प्रत्येक समय जल ताप न पहुंचाया जा सके तो प्रत्येक समय मृत्तिका बन्धन रहने चाहियें। किसी किसी कर्ण रोगमें कमसे कम दिनमें एक बार उदर या धड़पर जल ताप या मृत्तिका बन्धन तथा साधारण ठन्डी वायु में टहलने-कीभी आवश्यकता है। ठन्ड और वायु से अन्य प्रदाहित स्थानोंकी नाई कानको-भी सुरक्षित रखना चाहिये।

भोजन रोग तथा शरीरकी अवस्थाके अनुसार होना चाहिये, परन्तु जहांतक हो रसीले फलही अच्छे हैं और शरीरकी निर्बलता या कानके बहिरेपनकी दशामें उन्हींसे लाभकी आशा है।

कर्ण रोगका एक रोगी सबसे पहिले हमारी चिकित्सामें बिजनौरके स्थानपर सन १९१५ ई० में आया था। उसके कानमें फोड़ा होगया था; और वहांपर बड़ेसे बड़े डाक्टर और हकीम निरन्तर पन्द्रह दिनतक अनेक उपाय करनेपरभी उसकी पीड़ामें न्यूनता न कर सके थे। पीड़ासे वह इतना दुखी था कि उसके कमरेमें चलनेसेभी वह विकल हो जाता था। परन्तु हमारी चिकित्सामें विश्वास रखते हुएभी अपनी जिह्वाके चटोरपनसे वह हमसे चिकित्सा कराना नहीं चाहता

था। किन्तु अन्तमें दुःखी हो हमसे चिकित्सा करनेके लिए प्रार्थना की। अतः हमने उसके पीड़ित कर्णपर दिनमें कई वार ताप पहुंचवाकर मृत्तिका वन्धनोंका प्रयोग करवाया। फल यह हुआ कि वह तीन दिनमें उस पीड़ासे मुक्त हो गया।

एक अन्य अनेक व्याधियोंसे पीड़ित रोगीने सन १९१७ ई० में हमको अमृतसरके ज़िलेमें एक स्थानपर बुलाकर अपनी चिकित्साके लिए सम्मति मांगी। अतः हमने उसे उदरको प्रति दिन दो वार ताप पहुंचाने और उसके उपरान्त वन्धनोंका प्रयोग करनेकी सम्मति दी। अतएव केवल उसी प्रयोगसे उसके अन्य रोगोंका इति होनेके अतिरिक्त उसके कानोंकी शुष्कता और कम सुननेकाभी अन्त हो गया।

सबसे अधिक हमको एक आगरेके रोगीका दुःख है। क्योंकि हमारी चिकित्सासे अनेक वहिरों और कानके नासूर वालोंको लाभ पहुंचा, किन्तु उस रोगीके कानके नासूरको इस लिए लाभ नहीं हुआ कि वह एक वहुतही कृपण सेठका पुत्र था; और इसपर कि हमको उसने कभी एक कौड़ी न देनेपरभी चिकित्सार्थ स्टोव आदिके मोल लेनेमें जो व्यय किया था उसका कई वार अनेक मनुष्योंके सन्मुख कथन किया था। इसीसे हमने उसे अन्य कोई सम्मति देना उचित न समझा अन्यथा हम उसके लिए कोई ऐसा टब वनवाते जिसमें लेटनेसे दोनोंकानोंके भीतर जल पहुंचकर अपने ताप द्वारा कर्ण रोगका नाश कर देता।

नेत्ररोग Eye Diseases.

स्थानाभावसे नेत्र रोगोंकी साधारण व्याख्याभी नहीं हो सकती। अतः इतनाही कहना उचित है कि नेत्र सम्बन्धी किसी रोगमें उपेक्षासे काम न लेना चाहिये।

तीव्र रोगोंमें यथा शक्ति दिन (२४ घन्टे) में कई वार जलका ताप पहुंचाना चाहिये और मन्द रोगोंमें दिनमें दो वार ताप देना चाहिये, और नेत्रोंको किसी समय खुला न रक्खना चाहिये, अर्थात् ताप पहुंचानेके उपरान्त मृत्तिकाके वन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये। क्योंकि यों तो समस्त नेत्र रोगोंमें परन्तु विशेषतः तीव्र रोगोंमे आंखके खुले रहनेपर वायु और प्रकाशका स्पर्श होना वहुतही आपत्ति जनक है।

नेत्रोंके अनेक ऐसे रोगियोंको जो सर्वथा हताश हो चुके थे फलोंके आहार और जलके ताप तथा मृत्तिकाके ताप मय वन्धनोंसे जो लाभ पहुंचा है उसका कथन वहुत विस्तृत है। इसलिए संक्षेपमें कुछ रोगियोंका विवरण देते हैं:—

सोमना ज़िले अलीगढ़में एक रोगी नेत्रोंकी तीव्र पीड़ासे विकल था और निरन्तर डेढ़ वर्षतक एक नेत्र विशेषज्ञकी चिकित्सामें आगरे रहनेपरभी उसे विशेष लाभ न होनेसे वह हमारी चिकित्सामें आया। हमने उसको प्राय तीन, चार चार दो, दो घन्टेतक जल द्वारा ताप पहुंचाने और उष्ण मृतिकाका बन्धन प्रयोग करनेकी सम्मति दी। अतः उसने बहुत अंशतक उसका पालन किया और प्राय एक सप्ताहमें पीड़ासे मुक्त हो गया।

ज़िले स्यालकोटमें एक रोगीके दोनों नेत्रोंमें कई वर्षसे रोहे पड़ गये थे और उनके घर्षणसे एक नेत्रमें अधिक पीड़ा होनेके कारण उसके डाक्टर महाशयकी यही सम्मति हुई कि वह नेत्र निकाल दिया जाय अन्यथा दूसरा नेत्रभी बिगड़ जावेगा। अतः रोगी उस ओरसे हताश होकर हमारी चिकित्साकी शरणमें आया। हमने दिनमें दो बार दो, दो, घन्टे जल द्वारा तप्त करने और प्रत्येक समय उष्ण मिट्टी बांधे रखनेकी सम्मति दी। परन्तु वह पूर्णतः उसका पालन न करसका। अतः उसकी चिकित्सामें चार, मास व्यतीत हो गये। किन्तु फिर कोई यह नहीं जान सकता था कि वह नेत्र किसी समय रोगी था।

हमारी भार्याभी एक बार नेत्र रोगमें ग्रसित हुई। उसकी दोनों आंखोंके कोय कटते थे और पल्कोंमें रोहे हो गये थे। किन्तु उसने उपेक्षासे काम लिया और उन्हीं दिनोंमें हमको आगरेसे बम्बई जाना था। अतःमार्गमें वायुके स्पर्शसे आंखोंमें सूजन और पीड़ामें वृद्धि होगयी। परन्तु मार्गमें चिकित्सा सम्बन्धी कोई सामग्री न होनेके कारण बम्बई पहुंचकर हमने उसकी आंखोंपर जलके ताप और उष्ण मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग किया, जिससे प्राय एक सप्ताहमें वह रोगसे मुक्त हो गयी। परन्तु उसने एक दिन जल तापके उपरान्त आंखोंको खुला रक्खा, जिससे उसके नेत्र बहुत सूज गये। इसके अतिरिक्त वह कभीभी पथ्यसे नहीं रही। इस लिए वह पूर्णतः स्वस्थ बहुत दिनोंमें हुई।

साधारण नेत्र पीड़ामें तो अधिकतर यही देखनेमें आया है कि यदि आज आंखमें पीड़ा और लाली हुई है और आजही ताप पहुंचाकर मृत्तिका बांध दी गयी है तो कलकोही नेत्र स्वच्छ प्रतीत हुए हैं। परन्तु रोगको निर्मूल करनेमें अवश्य कुछ दिन लगते हैं।

मोतिया बिन्दको छोड़कर प्रायः सभी नेत्र रोगियोंपर उनके दुःख दूर करनेमें

मको विजय हुई है, और मोतिया विन्दमें केवल उन रोगियोंपर सफलता हुई है जिनका रोग प्रारम्भिक दशामें था। इसके अतिरिक्त जिन रोगियोंके नेत्रसे देखने की शक्ति विदा हो लेती है और पीड़ाका ज्ञानभी नहीं रहता उनको लाभ पहुंचना असम्भव है।

नासिका रोग Nose diseases.

अति शीतल, विषैली धूलमय वायु एवं उत्तेजक पदार्थोंको सूंघनेके अतिरिक्त बहुधा नासिका रोग उदर सम्बन्धी रोगों तथा क्षयी, श्वांस और पदंश आदि पीड़ाओंकाभी परिणाम होता है। परन्तु साथही साथ जिस प्रकार क्षयी आदिसे नासिका रोग होजाते हैं उसी प्रकार नासिका रोगोंसे क्षयी आदि की सम्भावना रहती है। अतः साधारणसे साधारण सर्दी या जुकाममेंभी असावधान न रहना चाहिये।

नासिका रोगमें यदि प्रधान कारण आमाशय या फुफ्फुस आदिके रोग हों तो सबसेपूर्व उन हेतुओंकी चिकित्सार्थ छाती और उदरको तप्त करना चाहिये तत्पश्चात् ग्रीवा तथा माथे या नासिकादिपर अर्थात् जहां दाह प्रकट हो ताप पहुंचाकर वन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये। नासिकाका वन्धन सदा ऐसा हो जो माथे या कनपटीको बांधता हुआ नासिकापर आता हुआ नथनोंके ऊपर न आवे।

क्षयी आदि सरीखे रोगोंके हेतु जो नासिका रोग हों उनमें उन्हीं रोगोंके अनुसार भोजन होना चाहिये किन्तु जो सर्दी या गर्मी आदिसे साधारण जुकाम आदि हो उसमें साधारण फलोंसेभी काम चल सकता है।

नासिका रोगमें सबसे पहिला रोगी हमारी चिकित्सामें सन् १९१२ ई० में वृन्दावन स्थानपर आया था। उसको प्रत्येक ग्रीष्म ऋतुमें प्राय वाल्यकालसेही रक्त जाया करता था। अतः हमने उसको पाचनके विकारसे रक्तकी ऊष्णताको शान्त करनेके लिए उदर और माथेको प्रति दिन दो, दो घन्टे जल द्वारा ताप पहुंचाने और रसीले फलोंपर प्राय छः मास पर्यन्त निर्वाह करनेकी सम्मति दी, जिसका फल यह हुआ कि जब वह हमें सन् १९१४ ई० में जोधपुर मिला तो उसने उस व्याधिसे मुक्त होजानेके शुभ समाचार सुनाये।

एक और नासिकामें शुष्कता रहनेका रोगी सन् १९१६ ई० में हमें आगरेके स्थानपर मिला। उसकी यह दशा थी कि प्राय दस वर्षसे रात्रिको शयन करनेके

उपरान्त प्रातको उठते समय उसके दोनों नथनेमें शुष्कताके कारण खुरण्ड जम जाते थे और वाम नथनेकी तो यह दशा थी कि ऊंगलीसे खुरण्ड उचालतेही रक्त प्रवाह हो जाता था, जिससे उसको प्रत्येक समय बड़ा दुःख प्रतीत होता था; और यदि किसी दिन घृतका पकवान या अधिक मिर्चे अथवा गर्म मशाला सेवन कर लेता था तब तो उसकी पीड़ाकी कोई सीमाही न रहती थी। वह प्रत्येक समय नासिकासे खूं, खूंका शब्द करता रहता था और अपने इस स्वभावसे पीड़ाके अतिरिक्त इस कारणसे औरभी दुःखी था कि वह कहीं किसी समाजमें इस लज्जावश नहीं बैठ सकता था कि वहां उसके बुरे स्वभावका अनुकरण करके उसे चिढ़ाया जाता था। अतः हमने उसके उदरको विकारमय जानकर उसको उदर, ग्रीवा और माथेसे नासिका पर्यन्त प्रति दिन दो, दो घन्टे दो वार जल तापके प्रयोग आर सूक्ष्म सुपाच्य फलोंके सेवन करनेकी आज्ञा दी। परिणाम यह हुआ कि पहिले सप्ताहमेंही उसकी पाचन क्रियाओंके ठीक होनेपर उसका वह स्वभाव बहुत कम हो गया। और चार सप्ताहमें उसका लेशभी न रहा, परन्तु रोगके जानेपरभी हमने उसे कई मास पर्यन्त उसी आहार और चिकित्साके नियम पालन करनेकी सम्मति दी, जिससे रोगका सदाको अन्त हो जाय।

सन् १९१५ ई० के आरम्भमें एक पीनससे पीड़ित रोगी हमको बलरामपुरमें मिला। उसकी नासिकासे बड़ी तीव्र गन्ध प्रतीत होती थी, और प्राय छोटे, छोटे जन्तु झड़ा करते थे। इसके अतिरिक्त वह बहुतही रोगी था। अतःवह चिकित्सार्थ सामग्री प्राप्त करनेकोभी धन न रक्खता था। किन्तु उसकी स्त्री पूर्ण पतिव्रता थी। उसने हमारी सम्मत्यानुसार अंगीठीपर जल तप्त करके चिम्टेसे वस्त्रोंको निचोड़कर प्राय सात मास पर्यन्त उसकी नासिका और उदरको प्रति दिवस दो, दो घन्टे कर दो बार ताप पहुंचाया। और नासिकापर मिट्टीके वन्धनोंका प्राय चौवीसों घन्टे प्रयोग रक्खा। किन्तु धनाभावसे उच्च श्रेणीके फल न देसकनेके कारण गौऊका दूध और रसीले शाकोंका प्रयोग कराया। अतः वह शीघ्र आरोग्य होने लगा और कुछही मासमें वह उस पीड़ासे सदाको मुक्त हो गया।

मुख रोग Mouth diseases.

स्थानीय मुख रोग केवल वही हैं जो चोट लगने या अधिक शीतल, उष्ण या कठोर पदार्थोंके सेवन करने, अधिक तीव्रतासे चिल्लाने या गानेके हेतु

होते हैं; और इनके अतिरिक्त समस्त मुख संबन्धी रोगोंका मूल कारण उदर या छातीमें होता है । अतएव प्रायः मुख रोगोंमें ग्रसित होना आमाशय संबन्धी रोगोंका संकेत है । अतः दांतोका गिरना मसूड़ोंका फूलना या बालकोंको दांत निकलनेमें मुंह और उदरमें कष्ट होना, मुखमें छाले या फोड़े होना या स्वाद बिगड़ा हुआ रहना, कण्ठ-नालीमें दाह होना, डकारें आना, जिह्वा या दातोंपर मैल जमा रहना, लारका बहना तथा हकलाना या कण्ठमाला आदिका प्रगट होना यह सभी आमाशय सम्बन्धी रोगोंपर अवलम्बित हैं । निदान् ऐसी दशाओंमें स्थानीय चिकित्साके अतिरक्त आमाशय सम्बन्धी रोगोंकी चिकिसा करनेके लिए ग्रीवाके साथ छाती और उदरपर ताप और बन्धन होने चाहियें ।

यदि मुखमें साधारण चोट आदिसे कष्ट होता है तो साधारण कोमल फलोंका आहार हो सकता है, किन्तु आमाशय सम्बन्धी रोगोंमें उन रोगोंके अनुसार होना चाहिये ।

सन् १९१५ ई० में एक वैश्या हमारी चिकित्सामें आयी । वह गान विद्यामें बहुत प्रख्यात थी । अतः उसकी वायु नालीमें दाहके कारण कण्ठमें पीड़ा होते हुएभी उसका गान सुननेवाले प्रेमी उसको गानेके लिए विवश करते थे, जिससे उसका रोग दिनोदिन उन्नतिको प्राप्त हो रहा था । इस लिए हमने उसे कण्ठको विश्राम देनेके निमित्त तत्क्षण उस व्यवसायको बन्द करने और ग्रीवापर दिनमें कई, कई बार रोगसे मुक्त होनेके समयतक दो, दो घन्टे ताप पहुंचानेकी सम्मति दी । किन्तु व्यवसाय छोड़ना उसके लिए एक अति कठिन समस्या थी । फलतः हमने उसको अपना विवाह करनेके लिए कहा, और यह बात उसकीभी समझमें आगयी । अतः उसने गान करना बन्द करके चिकित्सा आरम्भ की, जिससे प्राय तीन सप्ताहमें उसका दुःख दूर होगया ।

अलीगढ़में सन् १९२० ई० के अन्तमें मसूड़ोंकी पीड़ासे पीड़ित एक रोगी हमारी चिकित्सामें आया । दाहके कारण उसका वाम कपोल बहुत सूज रहा था और दुःखके कारण आहार लेनेकोभी अशक्त था । अतः हमने उसको दिनमें कई, कई बार कई, कई घन्टे पर्यन्त गालपर ताप पहुंचानेकी सम्मति दी, जिससे तीन दिनके भीतर वह पीड़ासे मुक्त हो गया । किन्तु उसके मसूड़े प्राय सूज जाया करते थे, इसलिए हमने उसको कुछ काल निरन्तर उदरपर ताप और प्राकृतिक आहार सेवन करने-

की सम्मति इस निमित्त दी कि मसूड़ोंकी पीड़ाका मूल कारण उदरका विकार था। परन्तु खेद है वह अपनी जिह्वाके चटोरपनसे हमारी शिक्षापर न चल सका।

सन् १९१६ ई० में एक रोगी जालन्धरसे हमारी सम्मति लेनेके लिए आया। वह पायरिया अर्थात् दांतोंकी जड़ोंसे पीप आनेके रोगमें बहुत कालसे ग्रसित था। किन्तु यवन होनेके कारण बहुत समयतक उससे मांसादि पदार्थोंका त्यागन न हो सका। परन्तु अन्तमें उसको रोगसे दुःखी हो हमारी सम्मतिके अनुसार उन समस्त दूषित पदार्थोंका त्यागन करके कई मास पर्यन्त प्राकृतिक आहारपर निर्वाह करना पड़ा। हमने उसको उस रोगसे मुक्त होनेके निमित्त ठोड़ीसे ग्रीवा पर्यन्त और उदरपर प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचानेकी सम्मति दी थी, जिसका वह पालन करके शीघ्र आरोग्य हो गया।

बम्बईमें हमारे एक मित्रकी स्त्रीको सन् १९२३ ई० में डेंग्यू फीवर हो गया था, जिससे उसके दांतोंमें पीड़ा होगयी थी, और वह पीड़ा जानेभी न पायी थी कि अजीर्णसे उसके मुखमें छाले पड़गये। अतः हमने उसकी चिकित्सा अपने हाथमें ली और कोई एक सप्ताहतक प्रति दिन प्राय दो घन्टे पर्यन्त इस लिए स्वयं हाथसे उसकी ग्रीवा, छाती और उदरका ताप किया कि हमें अपनी चिकित्साका महत्त्व दिखाना था। परिणाम यह हुआ कि उसके छाले उसी सप्ताहमें चले गये; और कदाचित् वह पूर्ण पथ्यसे रहती तो तीन दिनसे अधिक छाले जानेमें न लगते। यद्यपि हमारी चिकित्सासे उसके छाले दूर हो गये थे तथापि उनके उत्पन्न होनेका मूल कारण उस समयतक उपस्थित था, और यह हमारी शक्तिसे बाहर था कि नित्य हम अपने हाथसे ताप पहुंचाते। क्यों कि हम मानसिक परिश्रम करने या सम्मति देनेके अतिरिक्त कोई ताप पहुंचाने सरीखा कड़ा काम करनेको असमर्थ थे। इसीसे चिकित्साके बन्द हो जानेके कारण कुछही समयमें अजीर्णके हेतु उसका शरीर फूलकर असाधारण भारी होने लगा; और उन दिनोंमें हम एक सेठकी स्त्रीकी चिकित्सार्थ आगरे चले गये थे। इस लिए उसने केवल हमारीही चिकित्सामें विश्वास रखनेके निमित्त किसी अन्य चिकित्सककी सम्मति नहीं ली। अतः अब हमारा विचार हुआ है कि उसकी पाचन क्रियाओंको ठीक करने और फूले हुए विकृत शरीरको स्वच्छ करके घटानेके निमित्त उसके समस्त गात्रको नित्य प्रति टब द्वारा कई, कई घन्टे जल ताप पहुंचाने और पूर्ण प्राकृतिक आहारपर निर्वाह करने सम्मति दें,

और यथा शक्ति उसको लाभ पहुंचानेको चेष्टा करें । क्योंकि हमने आज पर्यन्त ऐसी साध्वी स्त्री नहीं देखी । वह वास्तवमें दारिद्रतासे पीड़ित होते हुए भी हृदयसे उदार सिद्ध हुई ।

धड़ सम्बन्धी रोग

क्षयी रोग Consumption or phthisis.

संसारके प्रायःसभी चिकित्सकोंने क्षयी रोगकी असाध्य रोगोंमें गणना किया है, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है । हां, इतना अवश्य है कि इस रोगकी चिकित्सा करनेमें बड़े समय, पथ्य तथा सावधानीकी आवश्यकता है । क्षयीके हेतुभी उसी प्रकार तीक्ष्ण अपवित्र विषैले पदार्थोंका खाना, पीना, सूंघना, क्षयीके रोगियों या रोगी कुटुम्बोंसे सम्बन्ध रखना तथा अपने माता, पिताके दोष हो सकते हैं, जिस प्रकार अन्य रोगोंमें होते हैं । परन्तु क्षयी रोगके बिसिली (बीजाणु) इतने कठोर जीवनके होते हैं कि उनके श्लेष्म आदि द्वारा शरीरसे बाहर आनेपर बिना सूर्य तापके सूखे नाश नहीं होता, जिससे उनके परमाणु श्वांस द्वारा फुफ्फुस आदिमें पहुंचकर अपनी जाति वृद्धि और हमारे स्वस्थ जीवन कोषोंका नाश करना आरम्भ कर देते हैं, और फुफ्फुस खोखले होने लगते हैं । अतः क्षयी रोगियोंके साथ रहने वालोंको बड़ीही सावधानीसे रहना चाहिये । यों तो इस रोगका शरीरके किसी भागमेंभी होना चिन्तासे शून्य नहीं, परन्तु आमाशय अन्त्र या अस्थि आदिमें ट्यूबरक्लोसिसके बिसिली पहुंचकर शीघ्रही भयंङ्कर आकृति धारण करलेते हैं । क्षयीमें खांसीकी अधिकतासे फुफ्फुसके स्वस्थ जीवन कोषोंपर इतना घर्षण होता है कि रक्त आने लगता है तथा शरीरमें भारी उपद्रव होनेसे यह विषैले बिसिली बड़ी तीव्रताके साथ शरीरके अन्य भागोंमें पहुंच जाते हैं । यह रोग जिनके फुफ्फुस निबल हों या निबल आकृतिका गात्र हो तथा कण्ठमालाकी नींव पड़गयी हो या निरन्तर सर्दी अर्थात् जुकाम रहता हो; या क्लोमपाक (निमोनिया), श्वांस, खांसी या उपदंश आदि अधिक रहता हो, बड़ीही सुगमतासे उनके शरीरमें स्थान पाजाता है । क्षयीके बिसिली (उन पशुओंके दूध या मांस जो क्षयी रोगोंमें ग्रसित हों) दूध, मांस और गाड़ियोंके गद्दों आदिमेंभी क्षयीके रोगियोंसे रह जाते हैं, और फिर उनके संसर्गसे हमारे

शरीरमें पहुंच जाते हैं। अतः रोगीके कमरेको पानीके भीगे हुए पुचारेसे स्वच्छ करना चाहिये, जिससे क्षयीके परमाणु झाड़न द्वारा उड़कर श्वांसके साथ भीतर न जावें, इसके अतिरिक्त रोगीके कपड़ोंको नित्य जलमें उबाल कर धूपमें यथेष्ट समयतक सुखाना चाहिये; क्योंकि धूपसे बिसिली शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसके आगे रोगीका मल-मूत्र तथा कफ आदि या तो बहुत दूर फेंकना चाहिये या अग्नि द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। सारांश यह है कि रोगीको बड़ी स्वच्छतासे रहना चाहिये अर्थात् चारों ओरसे खुला हुआ स्वच्छ वायु तथा प्रकाशमें वर्षा, सर्दी तथा गर्मीसे सुरक्षित पड़ा रहनेवाला कमरा हो और प्रत्येक समय स्वच्छ वस्त्र और भोजन आदि हों। उस कमरेकी खिड़कियाँ किसी समय बन्द न की जावें। हां यदि ठन्डी पवन दुखप्रद हो तो कमरेमें बिना धुएंके कोयलों या वाष्प द्वारा सह्य गर्मी करनी-चाहिये और अधिकसे अधिक खिड़कियोंमें पर्दे टांगे जा सके हैं। मुखसे भूल कर भी श्वांस लेना या कोई परिश्रम करना/अथवा अधिक भोजन करना सदा वर्जित है। क्षयी रोगमें जबतक रोगकी भयङ्कर आकृति दूर न हो नित्य चौबीसों घन्टे रोगीको सर्वाङ्ग टबमें रखकर ताप पहुंचाना चाहिये। परन्तु जब रोग कुछ वशमें आजावे तो रोगकी अवस्थानुसार दो या एक बार दो, दो घन्टे शरीरको तप्त करके नित्य ऊष्ण धड़ बन्धनोंका प्रयोग रोगके अन्त समयतक रहना चाहिये। प्रत्येक रात्रिको यदि रोगी टबमें न हो तो शरीरपर बन्धनका रहना परमावश्यक है। कभी, कभी सुहावनी अनुत्तेजक धूप और मन्द, मन्द पवनमें समुद्र तटपर अथवा हरियालीमें बैठना या टहलना बड़ाही हितकर है। यदि रोगीको कष्ट न जान पड़े तो बिना पवनके स्थानमें अनुत्तेजक शीतल (ताज़े) जलसे स्नान करनाभी जीवन दाता है। शरीरके यदि किसी भागपर ट्यूबरक्लोसिसके फोड़े आदि निकल आवें तो तुरतको स्थानपर घावोंके अच्छे होने पर्यन्त जल ताप और मृत्तिका बन्धनका प्रयोग हो। रोगीको नित्य या दूसरे तीसरे अवस्थानुसार ऊष्ण या शीतल जलसे उचित तापके कमरेमें स्नान करना चाहिये, जिससे शरीरपर मैल न जमे। क्षयी रोगोंमें वैज्ञानिकोंका कहना है कि फेफड़े खोखले हो जाते हैं। अतः वह पूर्णतः काम नहीं कर सकें, इस लिए भारी श्वांस लेनेकी आवश्यकता है। परन्तु हमारे अनुमानसे कृत्रिम श्वांस क्रियाएं करना बड़ाही हानिप्रद है। क्योंकि ऐसा करनेसे क्षति पूर्ण फुफ्फुसकी सामर्थ्यसे अधिक काम करनेपर शक्तियां व्यय होतीं हैं, और इसीसे क्षति पूर्ण

फुफ्फुसकी क्षति पूरी न होनेके अनेक कारणोंमेंसे एक यह कारणभी है। इसके अतिरिक्त डाक्टरोंका यह कहनाभी निर्मूलही है कि फुफ्फुसकी क्षति पूर्ण नहीं की जासक्ती कारण यह कि यदि हमारे फुफ्फुसके जीवन-कोषोंके वीजाणु समूल नष्ट नहीं हुए हैं तो हमको पोषक और रसीले पदार्थ प्राप्त होते रहनेसे यह सम्भव नहीं कि हमारे जीवन-कोषोंकी वृद्धि होकर कभी क्षति पूर्ण नहों। क्योंकि यह नित्य देखनेमें आता है कि हमारे शरीरमें बड़े, बड़े घाव होनेपरभी वह भर जाते हैं। हमारे वाल कटने पीछे फिर उसी सीमातक बढ़ जाते हैं जहांतक प्रकृतिका नियम है। हां, केवल इस वातका ध्यान रक्खना चाहिये कि आगेको जीवन-कोषोंकी विषैले जीवों द्वारा क्षति होना बन्द हो जाय, परन्तु इसमेंभी किसी औषधीकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि विषैले जीव हलके होनेसे स्वयंही बाहर आते रहते हैं, जिससे उनके मारनेका यत्न करना वृथा है। निदान् ताप और वन्धनों द्वारा दूषित कीटोंसे जीवन-कोषोंमें दाह होकर, क्षति होना बन्द हो जाती है और उनकी रसीले फलों द्वारा शीघ्र जीवन-कोषोंकी वृद्धि होकर क्षति पूर्ण होने लगती हैं। क्षयी रोगमें यद्यपि हमारी चिकित्सासे दो, तीन सप्ताहमेंही आशाजनक विचित्र सफलता दीख पड़ती है। क्योंकि अनेक पीड़ाएं योंही दूर हो जाती हैं। परन्तु इसपरभी यह ऐसा दारुण रोग है कि प्रत्येक रोगीको तीन वर्ष पर्यन्त चिकित्सा करके पथ्यसे रहना चाहिये।

भोजनके विषयमें वड़ीही सावधानीकी आवश्यकता है। क्योंकि प्रथम तो आमाशय और अन्त्रआदिमें घाव हो जाते हैं, जिससे रसीले पदार्थोंके अतिरिक्त अन्य कोईभी सुखकर नहीं हो सक्ते। अपरञ्च शरीरके प्रधान अवयवोंकी इतनी क्षति होने लगती है कि जवतक रसीले पदार्थ न मिलें वह क्षति पूर्णही नहीं हो सक्ती। अतः जवतक क्षयी रोगके लक्षण दूर न हो जावें केवल रसीले अनुत्तेजक फलोंका आहार होना चाहिये। किन्तु इसपरभी यदि पाचन क्रियामें कुछ गड़वड़ दीख पड़े तो दो, एक सप्ताहतक केवल फलोंके रसपरही रहना चाहिये।

हमारी इस चिकित्सा तथा आहारसे यदि तीसरे सप्ताहतक कुछ लाभ अर्थात् खांसीमें कमी पाचन में उन्नति या शरीर में कुछ चैतन्यता दीख पड़े तो उन रोगियोंको जो जीवनसे हाथ धो वैठे हों कभी निराश न होना चाहिये; क्योंकि यह स्वयं हमारे अनुभवमें आया है कि वड़े, वड़े रोगियोंकोभी समयके भीतर इस चिकित्सा द्वारा पूर्ण लाभ हुआ है।

क्षयी या संग्रहणी आदि सरीखे रोगोंमें औषधियोंका प्रयोग या ट्यूबरक्युलिन आदिके टीके रोगीपर कुछ कालके लिएही अपना चमत्कार दिखाते हैं, परन्तु अन्तमें रोगी मृत्युका लक्ष्य बने बिना नहीं रहता। अतः जो रोगी इस दुष्ट रोगमें फंस जावें उनको भूलकर वैज्ञानिकोंसे अपने शरीरपर अपकार न कराना चाहिये।

सबसे पहिले सन् १९१४ ई० में हमको क्षयी रोगीकी चिकित्सा करनी पड़ी। परन्तु खेद है हम भरसक प्रयत्न करनेपरभी उसको आरोग्य करनेमें इस लिए सफल नहीं हुए कि रोग उस सीमाको पहुंच गया था कि मृत्युके दिन बहुतही निकट थे। परन्तु उस रोगीकी चिकित्सासे हमको अपार लाभ हुआ। क्योंकि उसकी मृत्युके उपरान्तही हम क्षयी रोगकी खोजमें हाथ धोकर पड़ गये और बीसियों क्षयीसे पीड़ित रोगियोंके प्राणोंकी रक्षा करनेमें सफल हो सके। वह रोगी कौन था? इसका उत्तर केवल इतनाही है कि वह हम सरीखे अभागेको दारुण दुःख देनेवाली वही देवी थी, जिसके पवित्र प्रेमने आज हमको इस योग्य बनाया कि हम संसारके सामने एक नूतन चिकित्सा विधि उपस्थित कर रहे हैं। उसने अपनी संसार यात्रा समाप्त करते हुए हमसे सदाको बिछोहा होते समय हमें उदासीन देखकर केवल इतनाही कहा था "आपकी वही हालत हुई:—

"मेरे दिलकी आर्जूने, मुझे खाकमें मिलाया,
आखिरको हुआ वही, जो नसीबमें लिखा था।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस देवीके कथनानुसार हमारी अभिलाषाओंने सदा हमारे जीवनोद्देश्यको कुचल देनेका प्रयत्न किया है। परन्तु हमको इसीमें सन्तोष और प्रसन्नता रही है कि हमको आपत्तियोंका स्वागत करनेका सौभाग्य प्राप्त रहा है। क्योंकि इससे दिनोदिन नूतन चिकित्साकी खोज और ... स्वार्थी मनुष्योंका अनुभव करनेमें हमारी रुचि बढ़तीही गयी।

... रोगी सन् १९१५ ई० में हमारी सम्मति लेनेके निमित्त, जब हम बिजनौर ... थे, आया। परन्तु वह हमारी आज्ञाका पालन इस लिए न कर सका कि ... इस लिए कोहनीकी रीतिसे चिकित्सा करनेवाले एक अनुभव शून्य महाशयने ... क्रियाएं कथनानुसार रसीले अनुत्तेजक फलोंकी अपेक्षा गेहूंका दलिया और ... सामर्थ्यसे उसको विवश किया। अतः वह रोगी समयसे पूर्व मृत्युको प्राप्त

होगया, जिससे हमको अपनी स्त्रीकी मृत्युसेभी अधिक दुःख हुआ। क्योंकि यदि वह पथ्यसे रहता तो निस्सन्देह वह क्षयी रोगवश अपने जीवनसे हाथ न धोता।

सन १९१४—१५ ई० के मध्यतक हमारी चिकित्सासे प्राय दस या ग्यारह क्षयीके रोगी आरोग्य हो चुके थे, किन्तु हमको किसीसे धनका लाभ नहीं हुआ था। इस लिए हमारा जीवन वहुतही दुःखसे कटने लगा। परन्तु उस समय हमको यह अनुभव हो गया कि जगत वड़ाही स्वार्थी है। अतः एक वैश्य महाशय अपने पुत्र, और पुत्रीको हमारी चिकित्सार्थ लाये। उस समय उन दोनों वालकोंके रोगकी ऐसी दशा थी। कि अवश्य वह क्षयीके पञ्जेसे वच जाते। किन्तु उनके लोभी पिताने ५०००) रु० देने स्वीकार न किये, और हमभी न जाने क्यों उस समय ऐसे निर्दयी हो गये कि कहां तो हम किसीसे एक पैसाभी नहीं मांगते थे और कहां हमारी यह अड़ हो गयी कि या तो वह हमसे धर्मार्थ चिकित्सा कराना स्वीकार करे या ५०००) कै० भेंट करे। परिणाम यह हुआ कि उनका पिता पुत्रको तो शोलन पर्वतपर चिकित्सा कराने लेगया और पुत्रीको घरपरही छोड़ गया। किन्तु वहां उसको इसके अतिरिक्त और कोई लाभ न हुआ कि उसके शरीरके वोझमें वृद्धि हो गयी थी और वह शरीरसे मोटा दीखने लगा था; प्रत्युत उसके एक हाथमें टयूवरक्लोसिसका फोड़ा हो गया था। अतः उसके पिताने टयूवरक्लोसिसको अच्छा न होते देखकर कई मास उपरान्त हमको ५०००) रु० देना स्वीकार किया और उस समय ५००) रु० हमको भेंटभी किये। किन्तु उस समय उसके पुत्रके रोगकी दशा वहुत वढ़ चुकी थी। वह केवल काड लिवर आइल पीकरही फूला हुआ प्रतीत होता था। इसके अतिरिक्त उसकी माता वहुधा उसको चावलोंके भाड़ द्वारा भुने हुए अर्थात् रस और जीवन हीन परमल खानेको देदिया करती थी, जिससे दिनोदिन वह दुर्वल होता चला गया, और सन् १९१६ ई० के मध्यमें मृत्युको प्राप्त हो गया। अतः हमको उसकी कुसमय मृत्युसे इस वातका वहुतही पश्चात्ताप है कि समयपर हमने उसकी चिकित्सा इस लिए नहीं, कि उसका कृपण पिता धन सम्पन्न होते हुएभी हमको ५०००) रु० देना नहीं चाहता था। उसके दिये हुए वह ५००) रु० हमको आज पर्यन्त खटकते हैं, और हमारी समझमें नहीं आता उस पापका प्रायश्चित किस प्रकार होगा?

सन् १९१५ ई० के अन्तमें एक क्षयी रोगग्रस्त पन्द्रह वर्षीय कन्याकी चिकित्सार्थ

हम लाहौर गये। वह देखनेमें बहुतही सुशीला थी और उसके आरोग्य होनेकीभी बहुत कुछ आशा थी। अतः हमने उसे प्रति दिन तीन बार दो घन्टे प्रातके समय, एक घन्टा मध्यानमें और दो घन्टे रात्रिको ताप लेनेकी सम्मति दी, जिससे प्रथम सप्ताहमेंही वह, जोकि कुछ पगभी न चल सकती थी, तीन खण्डके घरसे विना किसीकी सहायताके नीचे उतरकर टांगेमें बैठके टहलने जाने लगी, और प्राय दो सप्ताहमें, जिस खांसीसे वह व्याकुल थी उसका नामभी न रहा। परन्तु उसको चलने-फिरनेकी शक्तियोंका प्राप्त होनाही एक दुर्भाग्यका कारण था। क्योंकि इससे वह नीचे रसोई वाले घरमें पहुंचकर चोरीसे दूषित और तीक्ष्ण पदार्थ सेवन कर आती थी। निदान् जितना पन्द्रह दिनमे उसको चिकित्सासे लाभ होता था उस एक दिनके कुपथ्यसे उससे अधिक उसे हानि पहुंच जाती थी; और यही कारण था कि उसकी गयी हुई खांसी दुबारा होगयी, और अन्तमें वह शैयाकेही आधीन होगयी। उससे हमने अनेक बार पथ्य करनेके लिए कहा, परन्तु उसकी मृत्युके दिन बहुतही निकट थे, अतः उसने हमारी एक न सुनी; अन्तमें हमनेभी दुःखी होकर उसकी चिकित्सा अपने हाथमें न रक्खी। उसकी चिकित्सा करनेमें हमको यह अनुभव अवश्य प्राप्त हुआ कि रसीले फलोंके आहारसे ताप द्वारा कितनी शीघ्र खांसी दूर होकर शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं; अन्यथा उन दिनों हमारे समय और धनका बहुत बुरी रातिसे व्यय हुआ। क्योंकि उस समय हमारी चिकित्सामें वहां केवल गिने चुने रोगीही थे। इसके अतिरिक्त फ़ीस तो एक ओर रही लाहौर आने जानेका रेल भाड़ाभी हमको स्वयंही व्यय करना पड़ा।

सन् १९१५ ई०में जब हम उक्त कन्याकी चिकित्सार्थ लाहौर गये हुए थे, उसी समय काशमीर राज्यके प्रिंसका विवाह था। अतः उसके उत्सवमें सम्मिलित होनेको हमारे पिता हमारे लघु भ्राता सहित जम्मू जा रहे थे। किन्तु वह हमको दर्शन देनेके लिए मार्गमें लाहौर उतर पड़े थे। उस समय उनके दर्शनोंसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हमने अपने भाईको क्षयीसे पीडित होनेकी चेतावनी देते हुए उसकी ओरसे सावधान रहनेकी सम्मति दी। परन्तु हमारी इस भविष्यकी चेतावनीपर उस समय हमारा भले प्रकार हास्य बनाया गया। इसलिए हमनेभी आगेको स्वयं किसीसे अपनी चिकित्सामें आनेके विषयमें कहना त्याग दिया। क्योंकि जब हमारे

भाईनेही हमारी सम्मति स्वीकार न की तो अन्य कौन करता । परन्तु अन्तमें सत्यकी विजय होती है । अतः सन् १९१७ ई० में हमारे कथनानुसार क्षयी रोगके लक्षण प्रगट होने लगे और कई माससे निरन्तर हमारा भाई ज्वरसे पीड़ित रहने लगा । अतः वह हमसे दिल्ली आकर मिला और अपनी चिकित्सार्थ सम्मति देनेकी प्रार्थना की । अतएव उसकी सुविधाके निमित्त हमने उसको मृत्तिका धड़ बन्धनों द्वारा चौबीसों घन्टे ताप लेने और रसीले फल सेवन करनेकी आज्ञा दी, जिससे प्राय तीन मासमें वह पूर्ण आरोग्य हो गया; क्योंकि वास्तवमें उस समयतक उसको क्षयी रोग न हुआ था । हां, यदि उस समयभी उपेक्षासे काम लिया जाता तो निश्चय आपत्ति जनक परिणाम होता ।

सन् १९१८ ई० में जब हम सोमना जिले अलीगढ़में रहते थे, एक रोगी प्रभु राम शर्मा नामका हमारी चिकित्साकी शरणमें आया । परन्तु वह गाज़ियाबाद रेलवे स्टेशनपर प्वाइन्ट्स मेनके पदपर होने, और प्रायः दो माससे रोगवश कामपर न जा सकनेके कारण धन हीन होनेसे हमारी सम्मतिके अनुसार उच्च कोटिके फलोंका आहार न ले सकता था; और उस समय हमारी आर्थिक दशाभी अच्छी न थी, क्योंकि वहांके सम्पति शाली मनुष्यभी हमसे धर्मार्थही चिकित्सा कराना जानते थे । इस लिए हमभी उसकी कोई सहायता करनेको असमर्थ थे; और वहांके रईसोंमेंभी कोई ऐसा धर्मात्मा न था, जिसका धन उसके प्राणोंकी रक्षा करनेमें काम आता । अतः इससे हम बड़े असमञ्जसमें पड़ गये । अन्ततः हमारा ध्यान गन्नेकी ओर गया । क्योंकि उस देशमें वही सबसे कम मूल्यमें प्राप्त होनेवाला और क्षयी रोगमें अति गुणदायक सिद्ध हुआ । उसको यह रोग इस प्रकार हुआ था कि उसे श्लेष्मज्वर (इन्फ़्लुएंज़ा) होनेपर गाज़ियाबादके रेलवे डाक्टरने इस लिए छुट्टीपर नहीं लिया कि उस समय श्लेष्मज्वरके कारण स्टेशनपर कर्मचारियोंकी परिमाणतः बहुतही कमी थी । अतः ज्वरकी दशामें विश्रामके स्थानमें कड़ा कार्य करनेपर उसको निमोनिया होगया । परन्तु इस्ट इण्डिया कम्पनीके स्वार्थसे अन्धे डाक्टरने उस समयभी उसको सिक लीव (छुट्टी) पर न लिया । अन्तमें उसको क्षयी रोगने आघेरा, जिससे अशक्त हो डाक्टरने उसको सिक लीवपर लेलिया । परन्तु दो मास निरन्तर चिकित्सा होनेपरभी उसका रोग बढ़ताही गया । उसको खांस्ते, खांस्ते चैन न पड़ता था, प्रत्युत मुंहसे रक्त आने लगता था, उसमें कुछ पग

चलनेकीभी सामर्थ्य न थी, प्रत्येक समय उसका शरीर ज्वरसे विकल रहता था, उसके मूत्रका रङ्ग प्रायः लालही प्रतीत होता था, उसकी क्षुधाका ज्ञान सर्वथा शिथिल हो गया था, और इसपरभी उसको इस व्याधिकीही नहीं प्रत्युत अपने कुटुंबके जीवन निर्वाहकीभी चिन्ता घेरे रहती थी। परन्तु सर्वोत्तम बात यह थी कि उसने हमारी सम्मतिको उच्च दृष्टिसे देखा और फेब्रुएरीसे हमारी चिकित्साका प्रारम्भ हुआ। हमने उसकी आर्थिक दशा ठीक न होनेके कारण उसको जलतापकी क्रियाओंकी सम्मति नहीं दी, अन्यथा उसको बहुतही शीघ्र लाभ होता। हमने उसे केवल ऊष्ण मृत्तिकाके दिनमें दो बार शौंचा और धड़ बन्धन प्रयोग करनेकी आज्ञा दी। अतः वह नित्य प्रति प्रातके समयके बन्धनोंको सायंकालतक शरीरपर रक्खता था और सायंकालके बांधे हुए प्रातके समयतक रखता था; अर्थात् उसके शरीरपर प्राय चौबीसों घन्टे बन्धनोंका प्रयोग रहता था, जिससे उसको बहुतही सुख प्रतीत होता था। वह हमारी आज्ञानुसार प्रातःकालका बन्धन छः बजे करके कुछही दिनमें दो मील टहलने लगा। वह अपने फल बागसे स्वयं लाता था, और उस समय मन्द समीरमे चलना उसे अति सुहावना प्रतीत होता था। वह हमारी आज्ञानुसार खुले स्थानमें शयन करता था। कई मासतक उसका जीवन निर्वाह केवल ईखपरही रहा, इसके उपरान्त वह शहतूत सेवन करता रहा, और शहतूत या लोकाटभी न मिलनेपर वह उबला हुआ घिया [लौंवा कदु] या रसीले शाक और दूध लेता रहा। परन्तु जितने दिन उसने ईखपर निर्वाह किया उतने दिन उसका शरीर देखने योग्य था; वह एक ओरसे सुन्दर और रक्त मय प्रतीत होता था, और उसका समस्त गात्र मांससे भरगया था। डेढ़ मासके भीतर उसको देखकर कोई रोगी नहीं कह सकता था, उसकी क्षुधामें इतनी वृद्धि हो गयी थी कि वह धन उधार लेकरभी उसकी पूर्ति नहीं कर सकता था, उसकी खांसी सर्वथा जाती रही थी और वह सदा मृदु और प्रसन्न रहता था। किन्तु प्राय ढाई मास पर्यन्त उसका ज्वरने पीछा नहीं छोड़ा था। हां, उसके मूत्रका रङ्ग अवश्य श्वेद या कुछ पीत वर्णका हो गया था। इसके अतिरिक्त कई मास पर्यन्त उसके मुंहसे कभी, कभी रक्त जाता रहता था, जिससे प्राय मनुष्य उसको हताश करनेके लिए उसके सन्मुखही उसके न बचनेकी बात कह दिया करते थे। परन्तु हमको उनकी यह बात भालेके समान प्रतीत होती थी। अन्तमें प्राय आठ मासके उपरान्त वह पूर्ण आरोग्य होकर अपने काम-

पर चला गया, जिससे हमको बहुतही प्रसन्नता हुई; क्योंकि यद्यपि वह धनसे हमारी सेवा करनेको असमर्थ था, परन्तु वह हमारा हृदयसे भक्त था।

सन् १९२१ ई० में ७ जूनको एक हरिप्रसाद नामका क्षयीका रोगी हमारी चिकित्सामें अपनी मृत्युसे २३ दिन पहिले दिल्ली आया। यद्यपि वह २१ वर्षीय नव युवक था तथापि थोड़ेही दिनमें उसको रोगने इतना जीर्ण करदिया था कि उसके शरीरमें केवल अस्थियांही रह गयीं थीं। परन्तु वह हमारी वर्तमान स्त्रीका बड़ा भाई था और हमसे इतना अधिक प्रेम करता था कि यदि उसके माता, पिता आदिभी हमारी खोटी किया करते तोभी वह हमसे कह देता था। इस लिए तथा अन्य कई कारणोंवश वह हमको प्राणोंसेभी अधिक प्रिय था। अतः हम उस समय उसके स्नेह वश ऐसे मूर्ख होगये थे कि हम यह जानते हुएभी कि उसके मृत्युके दिन बहुतही निकट हैं, उसको अपनी चिकित्सामें इस आशासे ले बैठे कि सम्भव है उसके प्राणोंकी रक्षा हो जाय। किन्तु हमारा यह अनुमान बुद्धिके विपरीत था; क्योंकि उसके शरीरसे जीवन शक्तियोंका इति होचुका था; और वह अपनी मृत्युके दिन पूरे कर रहा था। हां, हमारी जल तापकी चिकित्सा, पूर्ण विश्राम और अनारके सेवन द्वारा उसको इतना लाभ अवश्य हुआ था कि एक वर्षसे निरन्तर जो उसको मूत्र त्यागनके समय असह्य वेदना युक्त दाह होती थी उसका दस दिनके उपरान्त सदाको अन्त हो गया और उसके शरीरके तापमें असाधारण न्यूनता हो गयी, जिससे मूत्रका वर्णभी श्वेत प्रतीत होता था। इसीसे उसने एक दिन अपने पितासे कहा था कि वह अब घर जाकर जिर्मीदारीका प्रबन्ध करें, क्योंकि उसका रोग बीसमें केवल पांच शेष रहा है और पन्द्रह दूर हो गया है। उसको वह रोग इस प्रकार हुआ था कि बाल्य कालमें उसको किसी कुत्तेने काटा था और उसकी चिकित्सार्थ किसी मूर्खने ऐसी तीक्षण औषधी दी थी, जिससे उसकी छाती, उदर और मूत्राशयमें असह्य वेदनायुक्त दाह हो गयी थी, प्रत्युत उसकी मूत्र नालीसे मूत्र त्यागन करते समय मांसके छीचड़ेभी निकले थे। अतः उसी समयसे उसके शरीरमें ऊष्णता वृद्धि को प्राप्त हो गयी थी। सन् १९१८ और १९ ई० में उसकी छातीमेंभी कभी, कभी वाम और पीड़ा जान पड़ती थी। इसके अतिरिक्त वह सदा कोष्ठ-बद्ध और शिर पीड़ासे पीड़ित रहता था। अन्ततः सन् १९२० ई० में उसके मूत्राशयमें दाह और वेदना निरन्तर निवास करने लगी। परन्तु मूर्ख चिकित्सक

उस रोगको मूत्र-कृच्छ्रका निदान् करके उसीके अनुसार चिकित्सा करकर उसके रोगकी वृद्धिका कारण हुए। हमने उसे मिलनेपर कई बार समझाया कि वह मूत्र-कृच्छ्र नहीं है, प्रत्युत वृक्क और फुप्फुस रोग तथा अन्त्रादिमें ट्यूबरक्लोसिस उपस्थित रहनेका कारण है। परन्तु वह हमारी चिकित्सामें बहुत कुछ विश्वास रखते हुएभी कहा करता था कि मृत्युकी गोदमें शयन करना स्वीकार है, किन्तु इस बार पिताकी आज्ञाका उल्लंघन न होगा; और उसके पिताको हममें या हमारी चिकित्सामें किंचित मात्र विश्वास न था। इसीसे जब वह अपनी मृत्युसे तीन मास पूर्व हमसे दिल्ली मिलने आया था, तो अपने पिताके भयसे हमारे बहुत कुछ कहनेपरभी अपनी चिकित्सार्थ न ठहर सका। अतः हमको उसके पिताकी उपेक्षासे उसकी कुसमय मृत्युका आजन्म दुःख रहेगा। क्योंकि हमको अपने जीवनमें ऐसा सच्चा मित्र नहीं मिल सकता।

सोमना ज़िले अलीगढ़में एक क्षयीका रोगी फ़ीरोज़पुरसे सन् १९१८ ई० में अपनी चिकित्सा कराने आया था। वह कुछ पगभी बड़ी कठिनाईसे चल सकता था। उसके शरीरका ताप उन दिनों प्राय १०३° रहता था। खांसीभी उसे बहुत दुःखी करती थी, श्वेद प्राय माथे और छातीपरही प्रगट होता था, मूत्रका रङ्ग अधिकांश लालही रहता था, छातीपर समस्त पस्लियां गिननेमें आती थीं, क्षुधाका ज्ञान बहुतही कम होता था, माथेमें प्राय पीड़ा रहा करती थी, नासिकाके नथने सदा शुष्क रहा करते थे, समस्त शरीरमें हड़कल रहती थी, और दुबलेपनसे ग्रीवा बहुत लम्बी प्रतीत होती थी; किन्तु इसपरभी लक्षणोंसे प्रगट होता था कि वह निश्चय उस रोगसे मुक्त होगा। अतः हमने उसको प्रति दिन तीन बार दो, दो घन्टे जल ताप लेने और प्रति ताप लेनेके उपरान्त दूसरे ताप लेनेके समय तक उष्ण मृत्तिकाके ग्रीवा और धड़ बन्धनोंका प्रयोग करने और कुछ मास पर्यन्त केवल अनार या गन्नेका आहार लेनेकी सम्मति दी। अतः उसने उसका पालन करना आरम्भ किया और पहिले सप्ताहमेंही उसको कुछ लाभ प्रतीत हुआ क्योंकि उसकी खांसी पहिलेके समान दुःखप्रद न रही थी, उसका श्लेष्म पतला हो गया था, और उसमें कुछ चैतन्यताका सञ्चार हो गया था। परन्तु सोमनामें उसको निवासार्थ कोई अनुकूल स्थान नहीं मिल सका। अतः उसको दस दिन उपरान्त वहांसे फ़ीरोज़पुर जाना पड़ा। उसने हमसे विदा होते समय ५०) रु० हमारी भेंट किये थे और फ़ीरोज़पुरसेभी

कभी, कभी अपनी सामर्थ्यानुकूल कुछ भेजता रहता था । वास्तवमें वही एक मात्र रोगी हमको ऐसा मिला था जो अपनी शक्त्यानुसार विना मांगे हमारी धनसे सेवा करता रहा, अन्यथा हमको आज पर्यन्त प्राय सभी ऐसे अन्धे मिले जिन्होंने एक पाईभी हमारी भेंट इस लिए नहीं की कि हमको भिक्षुक बनकर मांगनेका साहस न था और वह विना मांगे देना सीखेही नहीं थे । इस लिए हम अपना मन निम्न प्रकारकी पंक्तियोंको पढ़कर बहला लिया करते थेः—

मांगेंगे कहा हम उनसे, देके जीवन दान ?
जो नित झींकत हैं हमसे, खोके अपनो मान ।
देवेंगे कहा वह हमको, होके यों धनवान ?
जो नित रोवत हैं धनको, देके अपनो प्रान।
इच्छा नाहिं है 'कर्नल' मनकी, जो हों हम धनवान,
पाप कमायी लेके उनकी, जो हों नीच महान ।

और अन्तमें दुष्टोंकी ओरसे सन्तोष करके आपत्तियोंके स्वागतको प्रस्तुत रहते थे ।

वह रोगी फ़ीरोज़पुर पहुंचकर निरन्तर डेढ़ वर्षतक हमारी आज्ञानुसार चिकित्सा करता रहा । प्राय दो माससे पूर्वही उसकी खांसी जाती रही थी, किन्तु ज्वरने बड़ी कठिनतासे आठ मासमें पीछा छोड़ा । यद्यपि उसकी क्षुधामें बहुत कुछ वृद्धि हो गयी थी, और कुछ मासके उपरान्त उसमें बलभी अच्छा आगया था, परन्तु उसका शरीर प्रभुराम शर्माके समान इस लिए सुन्दर नहीं हुआ कि वह प्रौढ़ावस्थाको प्राप्त हो गया था, और वह एक नव युवक था । कुछ मास उपरान्त उसके समस्त शरीरमें श्वेद प्रगट होने लगा, उसकी शिर पीड़ाभी धीरे, धीरे दो मासमें विदा होली, प्राय पांच मासमें उसकी समस्त पस्लियां मांससे ढक गयीं और वह उस समय सुगमता पूर्वक दो मील चल सकता था । परन्तु हमको इस बातका अवश्य खेद है कि उसने रोगसे मुक्त होकर हमारे कथनानुसार तीन वर्षतक सम्पत्ति शाली होते हुएभी चिकित्सा और पथ्यका क्रम नहीं रक्खा अन्यथा उसे अपार लाभ होता ।

सन १९२० ई० से पूर्व अम्बाला छावनीके एक रोगीकी हमारी विधिके अनुसार चिकित्सा की गयी । वह कई वर्ष निरन्तर क्षयीसे पीड़ित रहनेके उपरान्त छावनीके मिलिट्री होस्पिटलके प्रधान एक मेजर डाक्टरकी चिकित्सामें पहुंचा, और प्राय तीन वर्ष निरन्तर उसकी चिकित्सामें रहा, क्योंकि मेजर डाक्टरको उसकी चिकित्सा

करनेमें बहुतही रुचि थी। अतः वह एक योरोपियन होते हुएभी प्राय प्रत्युत नित्य प्रति उसके घर जाया करता था। किन्तु वह भरसक प्रयत्न करते हुएभी सफल न हुआ। इसीसे उसका कहना था कि वह मृत्युसे युद्ध करता है। हां, उसकी चिकित्साके प्रारम्भिक कालमें रोगी निस्सन्देह फूलकर देखनेवालोंको पहिलेकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली प्रतीत होता था, किन्तु तीसरे वर्षमें मेजर डाक्टरकी चिकित्सा उसके मोटेपनको स्थायी न रख सकी। इसीसे उसकी समस्त अस्थियां दृष्टिगोचर होने लगीं, और अन्तमें उसे शैयाकी दासत्व स्वीकार करनी पड़ी, और वह बहुत अंशोंमें अपने जीवनसे हताश होलिया। किन्तु उसके एक मित्रने, जो कि श्वांस रोगसे पीड़ित होकर हमारी चिकित्सामें रह चुका था, उसपर हमारी चिकित्सा विधिका प्रयोग किया और आशासे अधिक लाभ होने लगा। वह कुछही दिवसमें कई मील चलने योग्य होगया, किन्तु उनमेंसे किसीको यह ज्ञान नहीं था कि हम उन दिनों कहां थे, इस लिए कभी, कभी डा० कोहनी या अन्य जल चिकित्सकोंके अनुयायी उसको भ्रममें डाल जाते थे। अतःवह उनकी चिकित्सा करने लगता था। इस क्रमसे कभी हमारी और कभी किसी अन्य चिकित्सकोंकी चिकित्सा तथा चिकित्साका कुछ अंश हमारी विधिका और कुछ अन्य चिकित्सकोंका प्रयोगमें लाया जाने लगा। अतः रोगी एक वखेड़ेमें पड़गया। उसकी चिकित्सा एक पचमेल खिचड़ी हो गयी। अन्तमें सन् १९२१ ई० के मध्यमें वह हमसे दिल्ली मिलने आया। हमने प्रात और सायंके समय दो, दो घन्टे धड़को ताप देने और बन्धनोंका प्रयोग एवं रसीले फलोंका सेवन करनेकी सम्मति दी। परन्तु वह पचमेल चिकित्सामें पड़गया था। इसलिए हमारी चिकित्साका पूर्णरूपेण पालन न कर सका। हां, इतना अवश्य है कि वह हमारी चिकित्साके विषयमें कहा करता था—"तमाम इलाजोंसे यह फ़ाक़े कशीका इलाज मुझे बरतर और मुफ़ीद साबित हुआ है। लेकिन फलोंपर ऐयामे गुज़ारी करना मेरे लिए बहुत मुश्किल है।" उसने हमारी चिकित्साकी प्रशंसा करते हुएभी उसके माथे 'फ़ाक़े कशी' का कलङ्क लगाही दिया। कदाचित इसका यही कारण है कि वह एक साधारण रेल्वे टिकिट कलेक्टरका पुत्र था, और धनाभावसे पूर्णरूपेण रसीले फलोंकी यथेष्ट मात्रा प्राप्त करनेको असमर्थ था। हमने उसकी ओर अधिक दृष्टि इस लिए नहीं रक्खी कि वह एकही समयमें कई नौकाओंपर यात्रा

करना चाहता था। इसीसे हमको यह ज्ञान नहीं हुआ कि अन्तमें उसका क्या परिणाम हुआ। परन्तु एक बार इतना सुना था कि वह रसीले फलोंकी बहुत प्रशंसा करता है।

प्राय सन् १९१९ ई० में हमारे निकट एक क्षयीसे पीड़ित रोगी आया वह शरीरका अति दुर्बल था, और उसकी छातीमें ट्यूबरक्लोसिसके फोड़े एवं ग्रीवामें कण्ठमालाके घाव थे। वह आयुमें वृद्ध और धनसे हीन था। इसके अतिरिक्त उसके शरीरमें उस रोगने बहुत दिनोंसे घर बना रक्खा था। अतः बुद्धि यह बतानेको असमर्थ थी कि उसकी चिकित्सा किस प्रकार की जाय? किन्तु एक दिन उसके भाग्यसे अनायास हमको एक स्थानसे १००) रु० प्राप्त हुए, और हमने उनकी अपनी भार्याकोभी सूचना न देकर उसके आहार और चिकित्साका प्रबन्ध कर दिया। हमने उसको प्राय एक मासतक निरन्तर स्टोवके ऊपर रक्खे हुए उष्ण जलसे भरे हुए टबमें रक्खा, केवल शौचादि क्रियाओंसे निवृत्त होनेके लिए उसको उसमें बाहर निकलनेकी आज्ञा थी, अन्यथा दिन और रात प्रत्येक समय वह टबमेंही रहता था। इसके उपरान्त दिनमें तीन, भन बार दो, दो घन्टे उसको ताप पहुँचाकर उसके शरीरपर धड़ और ग्रीवा बन्धनोंका प्रयोग कोई आठ मासतक रक्खा गया। उसके दांत भले प्रकार काम कर सकते थे, इस लिए हमने सबसे सुलभ और बहुत अंशोमें लाभप्रद आहार गन्नेको समझकर उसेही प्राय दस मासतक दिया। उसकी स्त्री हमारी आज्ञाओंका पालन करनेमें बहुतही दत्त चित्त रहती थी। अतः पहिले मासमेंही उसकी खांसी जाती रही, वह चैतन्य प्रतीत होने लगा, ट्यूबरक्लोसिसके घावोंका सूजनभी बहुत कम हो गया, कण्ठमालाका वृद्धिको प्राप्त होना बन्द हो गया और घाव भरने आरम्भ हो गये, क्षुधाका ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होने लगा, अन्त्र और आमाशय नियमित रूपसे कार्य करने लगे, मुखका स्वाद पहिलेकी अपेक्षा बहुत सुधर गया, श्लेष्मका त्यागन सुगमता पूर्वक होने लगा, और मूत्रका रङ्ग फीका पड़ गया। दूसरेसे चौथे मासतक उसके समस्त घाव लुप्त हो गये, और वह दो, ढाई मील सरलतासे चलने लगा। छटे मासतक उसका ज्वरसेभी पीछा छूट गया; और इस प्रकार दस मासमें वह पूर्ण आरोग्य होगया। परन्तु खेद है वह १००) रु० आठ मासमेंही समाप्त हो चुके थे, अन्यथा हमारी सम्मति थी कि न्यूनाति न्यून डेढ़ वर्ष पर्यन्त उसका आहार रसीले फलोंपरही रहता। उसके ट्यूबरक्लोसिसके घावोंके आरोग्य होनेका एक मात्र यही कारण था कि हमने उसको ता।

पहुंचाने, उनपर बन्धनोंका प्रयोग होने और उनको कभी न सूखने देनेका भरसक प्रयत्न रक्खा था, अन्यथा ट्यूबरक्लोसिस और कण्ठमालाके घावोंका अच्छा होना बहुतही कठिन प्रत्युत कभी, कभी असम्भव होता है।

सन् १९२३ ई० के अन्तमें अन्धेरी (बम्बई) के स्थानपर एक सेठजीने हमसे एक क्षयीके रोगीके विषयमें सम्मति चाही थी। परन्तु उनके कहनेसे यह प्रतीत होता था कि उस रोगीका रोग बहुतही विकाल रूप धारण कर गया है, इसलिए हमने उसको एक बार देखनाही उचित समझा। अतः नोवेम्बरमें हम उन सेठजी के साथ उस रोगीको देखने आगरे गये। वह क्षयी रोगसे पीड़ित एक दूसरे सेठकी स्त्री थी। वह प्राय दो वर्षसे अनेक रोगोंमें ग्रसित थी। पहिले उसको प्रसवपीड़ाके एक मास पश्चात् ज्वर हुआ था और उसके दो मास उपरान्त मोती झरा प्रगट हुआ। मोती-झरेसे मुक्त होनेपर अतिसार एवं मेरु दण्डमें पीड़ाका प्रारम्भ हुआ। डाक्टरोंकी चिकित्सासे अतिसारसे तो पीछा छूट गया, किन्तु अजीर्ण और मेरु दण्डकी पीड़ामें कोई न्यूनता न हुई और ज्वरभी वृद्धिको प्राप्त हो गया। अतः एक डाक्टरकी सम्मतिके अनुसार मेरु दण्ड सम्बन्धी अस्थियोंका एक्सरेज़ द्वारा फ़ोटो लिया गया, जिससे ज्ञात हुआ कि मेरु दण्डकी एक अस्थिका सड़ना एवं गलना आरम्भ हो गया है। अतः एक योग्य डाक्टरने उसे आगरेसे पांच मील एक स्वच्छ स्थानपर रक्खा और उसको प्राय सात मासतक तख्तपर सीधा लिटाकर बालूसे भरी हुई थैलियों द्वारा बोझ डाल उसे ऐसा कर दिया कि वह किसी ओरको करवट न ले सके। इस प्रयोगसे उसकी कमरकी उभरी हुई अस्थियां सीधी हो गयीं, शरीरभी औषधियोंकी कृपासे पहिलेकी अपेक्षा बहुत फूला हुआ प्रतीत होने लगा। परन्तु ज्वरके ताप और अजीर्णमें कोई न्यूनता न हुई, प्रत्युत खांसीकी व्याधि और पीछे लग गयी। इसके अतिरिक्त उसका उदरभी बहुत उभरा हुआ, और रसोलियोंसे पूर्ण था। किन्तु नोवेम्बरमें जब हमने उसे देखा था तो उसकी दशा फिरभी बहुत कुछ अच्छी थी और खांसीभी अधीक न थी। उसको देखनेके उपरान्त हम फिर बम्बई लौट गये और हमारी चिकित्साका प्रारम्भ इस लिए नहीं हुआ कि उसका पति उस समय बम्बईमें था। अतएव बम्बई लौटनेपर उसके पतिसे बात-चीत हुई, और उसने हमसे पुनः आगरे चलनेके लिए प्रार्थना की। किन्तु 'प्राकृतिक विज्ञान' का उस समय मुद्रण हो रहा था, इस लिए हमारा

बम्बईसे एक दिनको जानाभी बहुत क्षतिका हेतु था। परन्तु इसपरभी हम प्रसन्नतापूर्वक एक सप्ताहके लिए आगरे जानेको प्रस्तुत हो गये। इसपर उसने एक सप्ताहके लिए और आग्रह किया। अतः हमने पन्द्रह दिनके लिए आगरा जाना स्वीकार कर लिया; और हम पहिली जेन्वेरी सन् १९२४ ई० को बम्बईसे प्रस्थान करके अगले दिन आगरे और वहांसे पांच मील रोगीके रहनेके स्थानपर पहुंच गये, और तीसरी जेन्वेरीको सायंकालसेही रोगीकी चिकित्साका प्रारम्भ हुआ, क्योंकि उसका रोग दिनोदिन बढ़ रहा था और वह खांसी एवं पीड़ासे विकल थी। इसके उपरान्त हम अपनी स्त्री और बालिकाको लेने अपनी सुसराल चले गये, जहांसे हम ग्यारह जेन्वेरीको लौटे। हमारे लौटनेपर उसकी खांसी बहुत कुछ कम हो गयी थी, और उसका कराहना सर्वथा बन्द हो गया था। अतः हमारे अनुमानसे यह बहुत कुछ आरोग्य होनेके लक्षण थे। किन्तु वह महिला इतनी कृतघ्न थी कि उसने कभी मुखसे अपना अच्छा होना स्वीकार न किया। चिकित्साके तीन सप्ताहके उपरान्त उसके ज्वरके तापमेंभी कुछ न्यूनता होनी आरम्भ हो गयी और धीरे, धीरे वह कुछ उठने, बैठने और चलनेकोभी समर्थ हुई। परन्तु अनायास एक दिन उसके पतिको आगरेके बाज़ारमें उन डाक्टर महाशयसे साक्षात हो गया, जिन्होंने प्राय छः या सात मासतक उसकी निरर्थक चिकित्सा की थी। अतएव उसके पतिने लज्जावश अथवा हमारी परीक्षार्थ उन डाक्टर महाशयको एक दिन उसे देखनेके लिए बुलाया। अब क्या था एकैक आकाश टूट पड़ा। डाक्टर महाशयने आतेही रोगीके पहिलेकी अपेक्षा अधोगतिको प्राप्त होने तथा निराशाजनक बातें कहीं और गोल, गोल शब्दोंमें हमारी चिकित्सा विधिपरभी अनेक आक्षेप किये, जिसका तत्क्षण उसपर ऐसा बुरा प्रभाव हुआ कि दोही चार दिनमें वह शैयासे उठनेकोभी असमर्थ हो गयी और उसके शरीरका तापभी मस्तिष्कसे अधिक परिश्रम लिये जानेके कारण वृद्धिको प्राप्त होगया। अतः हमने उसका विश्वास उन्हीं डाक्टर महाशयमें जानकर उसके पतिको उन्हींकी चिकित्सा करनेके लिए कहा। क्योंकि हम वृथा अपने माथे अपयश लेना नहीं चाहते थे, और हम 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणके निमित्त अपना पीछा छुटाकर बम्बई जाना चाहते थे। किन्तु उसके पतिके ज्येष्ठ भ्राता हमारी इन निराशा पूर्ण बातोंको सुनकर रुदन करने लगे, और हमको उनपर दया आगयी। इसलिए एक बार हमने पुनः परिश्रम किया

और इस भयसे कि रोगी दुर्बल न हो जाय, क्योंकि वह क्षुधाके अनुकूल फल सेवन नहीं करती थी, उसे बकरीका दूध और फल देना आरम्भ करदिये, जिसका फल यह हुआ कि प्राय डेढ़ मासमें वह फिर उठने, बैठने एवं धीरे, धीरे चलने, लगी, और दिनोदिन उसकी अवस्था उन्नतिको प्राप्त होती गयी। उसको खांसीका लेशभी न रहा, पाचन शक्ति भले प्रकार काम करने लगी, निद्रामेंभी कोई कमी न रही, उदरका फूलापन जाता रहा, और रक्त एवं मांसकी वृद्धि और ज्वरसे मुक्त होनेके कारण उसकी समस्त अस्थियां लुप्त होगयीं। केवल उदरमें कुछ रसोलियां शेष रही थीं, और मेरुदण्डको दबानेसे कुछ पीड़ा भी होती थी। इसपरभी वह किसीसे अपना आरोग्य होना स्वीकार न करती थी, और यदि कभी कुछ हृदयमें उदारता होतीभी तो केवल इतनाही कहना जानती थी-"रुपयेमें दो आनेभर लाभ है।" परन्तु फिरभी हमको यह देखकर सन्तोष होता था कि हमारा परिश्रम निष्फल नहीं गया; और जितनी वह शक्ति प्राप्त करती जाती थी उतनेही हम प्रसन्न होते थे। हां, केवल इतनी चिन्ता प्रत्येक समय हमारे हृदयको दग्ध करती रहती थी कि 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणमें बहुत विलम्ब हो रहा है। अतः इस चिन्तासे हम बहुतही विकल थे। इस लिए यथा शक्ति एप्रिलके अन्ततक हम बम्बई चला जाना चाहते थे, किन्तु एप्रिल मासमें हमारी बालिकाके सहारनपुरमें चेचक निकल आनेसे हम उसकी चिकित्सार्थ और उसके लेने वहां चले गये और वह (रोगी) हमारे पीछे बिना हमारी आज्ञाके आगरे चली आयी। किन्तु उस समय वह बहुत कुछ चलने और कई खण्डके घरपर बिना किसीकी सहायताके चढ़ने योग्य हो गयी थी। परन्तु ग्रीष्म ऋतुका मध्य और आगरेकी अपवित्र वायु होनेसे हमने उसका वहांका निवास उचित नहीं समझा; इस लिए उन्तीस मेयको हम उसके निमित्त बम्बईमें समुद्र तटपर निवास करनेके हेतु इच्छानुकूल घर देखनेके लिए आगरेसे चल कर इकतीस मेय को बम्बई पहुंच गये। परन्तु आगरेसे चलते समय हमको इस बातका बहुत दुःख हुआ कि बम्बईसे तो हमको सेकिण्ड क्लासमें ले जाया गया था और उधरसे रेलका भाड़ाभी नहीं दिया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके पति ने हमारे साथ बड़ा उपकार किया। क्योंकि हमको उससे अमूल्य पाठ मिला और आगरेमेंभी हमको कुछ वक्तादि बनाये गये। इसके अतिरिक्त हमको कुछ रुपयाभी दियाही गया है। परन्तु वह ऐसेही है जैसे

ऊंटकी डाढ़को ज़ीरा। क्योंकि यदि हम कमसे कम पच्चीस रुपये प्रति दिनभी लेते तो कई सहस्र रुपये होते। अच्छा हमें इस बातकी कोई चिन्ता नहीं है। क्योंकि यह हमाराही अपराध है कि हम अपनी चिकित्साका महत्व दिखानेके निमित्त इस आशापर कि उसका पति एक भारी सेठ है, इस लिए न्यूनाति न्यून पांच सहस्र रुपया तो भेंट करेगाही, विना कुछ अगाऊ लियेही आगरे गये और पन्द्रह दिनके स्थानमें पांच मास रहे। अतः यह दण्ड हमारे लिए उचितही था; प्रत्युत इससेभी कड़ा दण्ड मिलता तो अच्छा था, क्योंकि हमने केवल एक रोगीके कारण, 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणमें विलम्ब करके अन्य अनेक रोगियोंको पांच मास पूर्व लाभ प्राप्त करनेसे वञ्चित रक्खनेका महा अपराध किया है। किन्तु कुछभी हो हमने एक बार यह अवश्य दिखा दिया कि ऐसे रोगीभी पूर्ण आरोग्य हो सकते हैं जो आठ मासतक कर्वटभी न ले सकते थे। जिस समय हम यह विवरण लिख रहे हैं, उससे तीन दिन पहिले अर्थात् २२ जूनके सायंकालको वह आगरेसे बम्बई पहुंच कर तीसरे खण्डके भवनमें विना किसीकी सहायताके सुगमतासे चढ़ गयी थी, और आशा है 'प्राकृतिक विज्ञान' के प्रकाशन समयतक वह कई मील चलने योग्य हो जावेगी; और अभी जो उसके मेरू दण्डकी सहायतार्थ ब्रेस लगा रक्खी है वहभी दूर हो जावेगी। अतः हमारे लिए यही सबसे अधिक प्रसन्नताका कारण है कि हमारे हाथसे एक ऐसे रोगीको लाभ पहुंचा; और इसीसे यदि उससे हमको कुछ धनका लाभ न हो तो कोई चिन्ता नहीं है। इसके अतिरिक्त हमको देनेवाले समय आनेपर बहुत हो जावेंगे। इस समय यदि दुर्भाग्यसे कोई हमारी भेंट कुछ नहीं करना चाहता है तो हमभी भिक्षुकके समान उसके सन्मुख कर फैलाकर धनकी याचना करना नहीं चाहते। क्योंकि हमारा सदासे यही सिद्धान्त रहा है:—

> बदनसीबी है खड़ी जो, आज होकर रोबरू,
> क्या ज़िल्लत हम उठायं, उनके जाकर रोबरू?
> है वजिद यह क्या जमाना, हम करें उनसे सवाल?
> हम न मांगेंगे हशरतक, उनके जाकर रोबरू!
> वह तो क्या उस क़ादिरे, क़ैयूमसेभी हम कभी,
> क्या कहेंगे—हमको कुछदो—उसके जाकर रोबरू?

खूब निकला मुफ्तमें जब, उनका मतलब हमसे यों,
क्या करेंगे फिर वह हज़रत, आज आकर रोबरू ?
जां चुराते हैं जो हमसे, आज सूरत देखकर,
क्या कहेंगे हमसे ' कर्नल, ' कलको होकर रोबरू ?

किन्तु इन घटनाओंसे हमको बहुत कुछ पाठ मिल गया है। इसलिए आगेको यदि हम अपनी चिकित्साका प्रचार करना चाहते हैं तो हमको स्पष्ट व्यवहार रखनेकी आवश्यकता है। क्योंकि इस जगतमें बिना मांगे देनेवाले विरले पुरुषही निकलेंगे, और बिना धनके किसी विद्याकी उन्नति नहीं हो सकती। इसीसे धनाभावके कारण हम अनेक आवश्यक पुस्तकोंका अवलोकन और बहुतसे अनुभव प्राप्त करनेसे वञ्चित रह जाते हैं। परन्तु इसपरभी हमारा सन्तुष्ट और शान्त रहनेका स्वभाव नहीं जाता, हम अनेक कष्टोंके होते हुएभी मौनही रहना सीखे हैं; और कदाचित हम अपने इन दुःखोंकी गाथाका यहां कभीभी कथन नहीं करते यदि आगरेसे चलते समय हमको कमसे कम हमारी भेंट आदि नहीं तो रेलका भाड़ा तो दे दिया जाता; और इतना होते हुएभी हमने बहुतही संक्षेपसे और अनेक क्लेशोंका कथन न करते हुए लिखा है। क्योंकि इस दुःखको हम उस समय इसलिए सहन करनेको असमर्थ थे कि हमसे पहिले चिकित्सा करनेवाले डाक्टरकी चिकित्सामें कई सहस्र रुपया व्यय हो चुका था; और हम प्रत्यक्ष इस बातका अनुभव करके कि यह आवश्यकतासे अधिक स्वार्थ है, मनुष्यत्वके विपरीत है और हमारे साथ घोर अन्याय है बिना लिखे न रह सके। निःसन्देह उसकी ओरसे हमारे दुःखी हृदयपर आघात हुआ है। परन्तु फिरभी यदि वह हमारी आज्ञानुसार तीन वर्ष पर्यन्त पथ्यसे रहकर चिकित्सा करेगी तो हमको इतनी प्रसन्नता होगी, जितनी दस सहस्र रुपये प्राप्त करनेसेभी नहीं हो सकती।

एक रोगी सन् १९१९ ई० में हमारे वर्तमान श्वसुरसे मिलने उनके बागमें आया। वह एक होनहार नवयुवक था और खुर्जे जिले बुलन्दशहरमें मुख्तारीका व्यवसाय करता था। वह देखनेमें क्षयी पीड़ित रोगी न जान पड़ता था, और बहुतही भोला प्रतीत होता था। परन्तु अभाग्यवश क्षयी सरीखे दुष्ट रोगने उसकी मृत्युका मार्ग सर्व प्रकारेण निष्कण्टक कर दिया था। इसीसे हमने अपने प्रिय साले श्री प्रसाद जीको, जो कि स्वयं सन् १९२१ ई० में क्षयीसे पीड़ित होकर तीस

जनको सायंके समय सदाको मृत्यु देवीकी गोदमें चले गये, उस ˝ ~~ हानिही सिद्ध संक्रामक दुष्ट रोगके भयसे, न बैठनेके लिए कहा था; और उससे अपनी : हानिभी विपयमें इस सन्देहसे नहीं कहा कि वहुत सम्भव है वह उसे स्वीकार न ~ था, परन्तु अपने श्वसुर द्वारा हमने उससे उस रोगसे सावधान रहने एवं ध्यान पूर्वक चिकित्सा करनेके लिए कहला दिया था। किन्तु उसकी मृत्यु उसके पीछे हाथ धोकर पड़ी हुई थी। अतः वह हमारा उपदेश कब स्वीकार करनेवाला था ! अतएव प्राय दो मास उपरान्त हमने उसकी मृत्युके दुःख देनेवाले समाचारभी सुन लिये।

सन् १९१५ ई० में एक अठारह वर्षीय कन्याके देखनेके निमित्त हम वच्छूवाली, लाहौरमें गये। वह देखनेमें वहुतही सुन्दर आकृतिकी थी। परन्तु क्षयी रोगने उसके प्रति ऐसी निर्दयता दिखा रक्खी थी कि वह सर्व प्रकारेण अपने जीवनसे दुःखी थी। इसपरभी वैज्ञानिक डाक्टरोंने ट्यूवरक्युलिन इञ्जेकशन्स और विपैली औषधियोंसे उसका जीवन दुःखप्रद वना रक्खा था। उसके पैरोंपर भले प्रकार सूजन आरहा था। वह उस समय अतिसारसे पीड़ित थी। उसके शरीरको देखनेसे कहीं अस्थियोंके अतिरिक्त मांस या रक्त प्रतीत न होता था। उसकी त्वचाका वर्ण जीवन शून्य और श्वेत जान पड़ता था। उसके नख खुर्दरे और ऊपरसे नीचेको गोलाई लिए हुए श्वेत वर्णके जीवन रहित हो रहे थे। उसके ओष्ठोंका रङ्ग समस्त रूपेण फीका दर्शाता था। उसके शरीरके ताप और नाड़ीको देखकर शक्तियोंका विदा होना भासता था। उसकी खांसीकी गतिभी जीवनकी न्यूनतासे वहुत मन्द हो गयी थी। अतः हमने कोईभी अनुकूल लक्षण न देखकर उसकी चिकित्सा करना स्वीकार न किया। क्योंकि उपरोक्त लक्षणोंसे उसके शरीरसे जीवन शक्तियोंके विदा होनेका ज्ञान होता था। अतः तीन सप्ताहके भीतरही हमने उसकी मृत्युके शोकमय समाचार सुन लिये।

श्वांस रोग Asthma.

श्वांस रोगके विपयमें प्राय यही कहावत है, 'दमा दमके साथ जाता है'; और वास्तवमें यह ठीकही है, क्योंकि जिसे यह दुष्ट रोग लग जाता है उसका पीछा सुगमतासे नहीं छोड़ता। परन्तु हमें इस वातका अभिमान है कि हमारी चिकित्सा विधिने अवतक प्रत्येक श्वांसके रोगीपर केवल चार सप्ताहके भीतर

ख... आर दिखाया है, और वर्ष दो वर्षमें पुरानेसे पुराने श्वांस रोगीको
न पहुंचाया है। अतः हम बलपूर्वक कहते हैं कि कोई श्वांसका रोगी उप-
...ताश नहीं हो सक्ता जबतक कि उससें जीवन शक्तियां संचार कर रही हैं और
फुप्फुस या श्वासनाली समूल नष्ट नहीं हुई हैं।

श्वांसकी तीव्र दशामें दो मास पर्यन्त चौवीसों घन्टे रोगीको टबमें लिटाकर या
वस्त्रों द्वारा छातीपर ताप होना चाहिये और यदि ऐसा न हो सके तो दिनमें तीन वार
दो, दो घन्टे ताप पहुंचाकर धड़ बन्धनोंका प्रयोग होना चाहिये। यदि इच्छा और ऋतु
अनुकूल हो तो रोगीको प्रात या दो पहर के समय स्वच्छ शीतल और सह्य जलसे
सर्वाङ्ग स्नान करना या केवल मुखादि धोना चाहिये। किन्तु यदि इच्छा न हो तो कभी
शीतल जलसे स्नान न करे। दो मास के उपरान्त रोगकी अवस्थानुसार तीन वार
ताप पहुंचाने और बन्धनोंके प्रयोग करनेकी अपेक्षा दो या एक बार प्रति दिन ताप
देना और बन्धनोंका प्रयोग रोगके अन्त समयतक रहना चाहिये। रात्रिका
बन्धन कभी न त्यागा जाय। सामर्थ्यके अनुसार शीतल और चैतन्यता प्रदान करने
वाला वायु तथा प्रकाशमें टहलना बड़ाही हितकर है। परन्तु सामर्थ्यसे अधिक
कोई काम ठीक नहीं। श्वांस रोगमें पहिले आठ सप्ताहतक हो सके तो केवल रसीले
फलोंपर रहना चाहिये, परन्तु यदि रोग पुराना और अति भयङ्कर न हो तो अन्य
फलभी दिये जा सक्ते हैं; और आठ सप्ताहके उपरान्त फलोंके साथ धारोष्ण दूधभी
दिया जा सक्ता है। परन्तु यदि इस दुष्ट रोगसे सदाको पीछा छुड़ाना है तो
चिकित्सा कालसे कुछ दिन पीछेतकभी रसीले फलही सर्वोत्तम सिद्ध होते हैं। इसीमें
केवल अनार या गन्नेपर जीवन निर्वाह करनेवाले रोगी उनके अमृत मय गुणोंसे
शीघ्र इस दारुण रोगसे मुक्त हो जाते हैं।

श्वांस रोगसे पीड़ित अनेक रोगियोंकी हम बहुत पहिलेसे चिकित्सा करके लाभ
पहुंचा चुके थे, परन्तु सन् १९१६ ई० में बिजनौरके स्थानपर एक ऐसा रोगी
हमारी चिकित्सामें आया जो प्राय दस पगभी चलनेको असमर्थ था। वह बहुत
दिनोंसे श्वांस रोगसे पीड़ित था, परन्तु उन दिनोंमें उसकी पीड़ाको सहन करना
उसकी सामर्थ्यसे बाहर हो गया था। वह दिन और रात्रिमें किसी समय सीधा
लेटकर शयन न कर सकता था, क्योंकि उसे खांसी बहुत दुःख देती थी। उसे
प्र समस्त रात्रि बैठकरही काटनी पड़ती थी। अनेक औषधियोंका सेवन करते,

करते वह दुःखी हो गया था; और उनसे लाभकी अपेक्षा प्रायः हानिही सिद्ध होती थी। वह अनेक चिकित्सकोंके पञ्जेमें फंसकर बहुत कुछ आर्थिक हानिभी उठा चुका था। इसके अतिरिक्त प्रथम तो वह पचास वर्षसे ऊपरकी आयुका था, द्वितीय वह प्राय समस्त प्रकारके मादक पदार्थ (तम्बाकू, गांजा, भांग, चण्डू, अफ्यून और मदिरा आदि) सेवन कर चुका था, इस लिए उसके शरीरपर किसी औषधिका प्रभाव न होता था। किन्तु हमारी सम्मतिके अनुसार चिकित्सा करनेपर उसको पहिले दिनही इतना लाभ हुआ कि वह सुगमता पूर्वक श्लेष्मका त्यागन कर सका, और उस रात्रिको वह कई घन्टे निद्रामें रहा। उसको हमने प्रात और सायंकालको छाती और उदरपर नित्य दो, दो घन्टे, ताप पहुंचाने तथा धड़ बन्धन प्रयोग करनेकी आज्ञा एवं रसीले फलोंके सेवन करनेकी अनुमति दी थी। परन्तु यह हमको स्मरण नहीं कि किस कारण वश वह अधिक रसीले फल नहीं ले सका। अतः हमने उसे धारोष्ण गौऊका दूध और वाष्प द्वारा उबले हुए रसीले शाकादि सेवन करनेकी सम्मति देदी थी, जिससे प्राय तीन सप्ताहमें वह समस्त रात्रि सुख पूर्वक शयन कर सकता था और आनन्दसे दो मील टहलने जासकता था। पांचवें और छटे सप्ताहमें वह पूर्णतः श्वास रोगसे मुक्त हो गया था; और एक धनिककी कन्याके विवाहमें उसने समस्त मिठाइयों और पकवानके बनानेका काम अपने हाथमें लिया था; क्योंकि वह हलवाईके काममें बहुत निपुण था। उसको अग्निके सामने बैठकर काम करनेपरभी श्वांसका दौरा नहीं उठा था; और वह ठीक वैसेही काम कर सकता था जैसे एक स्वस्थ मनुष्य कर सकता है। चौथे सप्ताहमें उसे प्रातः कालको चार बजेके निकट कुछ खांसी उठकर श्लेष्ममय रसोंकी ऐसी वमन हुई कि एक पात्र, जिसमें प्राय चार सेर या उससे अधिक जल आता हो भर गया, और उसी दिनसे उसका श्वांस रोग विदा हो गया। उसकी चिकित्सामें हमको एक यह अड़चन प्रतीत होती थी कि वह अफ्यून और तम्बाकू छोड़ना नहीं चाहता था; क्योंकि उसको उनके छोड़नेसे कुछ भय प्रतीत होता था। किन्तु हम बिना उन मादक पदार्थोंका त्यागन कराये किसी प्रकारभी चिकित्सा करनेको प्रस्तुत नहीं थे। अतः उसको चिकित्सा करनेसे पूर्व हुक्के और अफ्यूनका सेवन त्यागना पड़ा; और जैसा कि उसको भय था उसे किसी प्रकारका कोई कष्ट नहीं हुआ; प्रत्युत सदाको उससे

वह दुर्व्यसन छूट गये। उसने हमारी चिकित्साका पालव केवल आठ सप्ताहतकही किया। परन्तु हमारी आज्ञा थी कि निरन्तर एक वर्षतक किया जाय, जिससे रोग समूल नष्ट हो जाय। परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षके उपरान्त उसे फिर श्वांस रोगने आघेरा, और फिर हमनेभी इस लिए उसकी चिकित्सा नहीं की कि उसके आज्ञा न पालन करनेसे हमारी चिकित्साको कलङ्क लगाता था।

सन् १९१७ ई० के अन्तमें एक श्वांसका रोगी हमको दिल्लीमें मिला। परन्तु एक विशाल नगर होनेसे वहांका जल-वायु श्वांस रोगमें बहुतही प्रतिकूल था। इस लिए हमने रोगीके पिताको दिल्ली छोड़ रोगीको अन्यत्र ले जानेकी सम्मति दी। अतः वह रोगी और हमको लेकर अम्बालेके निकट एक ग्राममें चले गये। यद्यपि हमारी उनके साथ उस समय जानेकी कोई विशेष आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त उस समय प्रयागके एक प्रेमसें 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणार्थ कागज़ लिया हुआ था, जिसको हमारे उस रोगीके साथ अम्बाले चले जानेके कारण प्रेसवाले धृष्टता पूर्वक अपने काममें ले आये; और 'प्राकृतिक विज्ञान' का मुद्रण झमेलेमें पड़ गया। अतः उस समय वृथा उस रोगीके साथ जानेके कारण 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणमें सात वर्षका विलम्ब हुआ। परन्तु इसपरभी हमको यह सन्तोष था कि उस रोगीकी चिकित्सा दिल्लीके बड़े, बड़े डाक्टर करके कुछ लाभ न पहुंचा सके थे, और डाक्टर कोहनीकी जल चिकित्सा विधिसेभी कई मासतक चिकित्सा करनेपर कोई लाभ न हुआ था, हमारी चिकित्साके पहिले दिनसेही लाभ होना आरम्भ हुआ इसके अतिरिक्त वह हमारे एक परम मित्रका पुत्र था, और उसके कुटुम्बियोंके हमारी चिकित्सामें किञ्चितमात्र विश्वास न था। अतः हमारी यह इच्छा थी कि हम अपनी चिकित्साके महत्त्वको क्रियात्मक रूपसे प्रमाणित करदें। इसीसे हम उस रोगीके साथ उस ग्राममें प्राय डेढ़ मासतक बड़ी प्रसन्नताके साथ रहे। क्योंकि हमको वहां कोई कष्ट नहीं था। हां, इतना अवश्य था कि कभी, कभी हमको 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणकी चिन्ता बहुत दुःख देने लगती थी, और रोगीके शरीरपर यन्त्रनोंका प्रयोग करनेके निमित्त हमसेही कहा जाता था, जिससे हमको कुछ परिश्रम न होते हुएभी अपार दुःख प्रतीत होता था; क्योंकि हमको आरम्भ कालसेही ऐसे कार्योंसे घृणा रही है। किन्तु फिरभी जब हम अपने रोगीको उन्नति

करते देखते थे तो हमारे आनन्दकी सीमा न रहती थी। अपरञ्च हमारा रोगीभी बहुतही प्रसन्न रहनेवाला था। वह एक सत्रह वर्षीय होनहार नवयुवक था। उसको गुरुकुल कांगड़ीमें सामर्थ्याधिक व्यायाम करनेसे बाल्यकालसेही श्वांस रोग होगया था। अतः हमने उसको प्रति दिन तीन वार धड़ बन्धनोंके प्रयोग करनेकी सम्मति दी थी, क्योंकि जल द्वारा ताप करनेमें कुछ असुविधा थी। अन्यथा यदि जल तापका प्रयोग होता तो रोग अति शीघ्र जाता रहता। इसपरभी उसका रोग चौथे सप्ताहमें बहुतही कम होगया था और छटे सप्ताहमें वह श्वांसकी पीड़ासे प्राय मुक्त हो चुका था। उसके पिताने उसके सेवनार्थ गन्नोंका यथेष्ट प्रबन्ध रक्खा था। इसीसे वह जल ताप न होनेपरभी शीघ्र श्वांस रोगसे अपना पीछा छुटानेको समर्थ हुआ। वह प्रात और सायंके समय शरद ऋतुके होते हुएभी नदी तटपर कई, कई घन्टे टहलने जाता था, जिससे वह अल्प कालमेंही चैतन्यता युक्त हो गया था। उसकी अन्त्र और आमाशय नियमित रूपसे कार्य करनेको समर्थ हो गये थे। वह समस्त रात्रि विना किसी विघ्नके चार सप्ताह पीछेही शयन करने लगा था। तीसरे सप्ताहमें एक दिन खांसी होनेपर उसे श्लेष्मके साथ थूकनेमें बाजरेके समान श्वेत वर्णके कई अस्थियोंके सदृश कठोर पदार्थ निकले थे; और उनके निकलनेसेही उसका श्वांस रोग विदा होने लगा था। दूसरे सप्ताहतक उसे कुछ अधिक कष्ट रहा था; परन्तु यदि जल तापका प्रयोग किया जाता तो पहिले सप्ताहमेंही उसके क्लेशोंका इति हो जाता। उसने कई मासतक हमारी चिकित्साको क्रम पूर्वक किया था। परन्तु हमें इस बातका खेद रहा कि उसने हमारे आदेशानुसार चिकित्सा और पथ्यका क्रम एक वर्ष निरन्तर नहीं रक्खा। इस लिए पुनः श्वांस रोगके हो जानेकी सम्भावना है। उस रोगीपर, हमारी रीतिके अनुसार मुरादाबादके एक डा० कोहनीके अनुयायी चिकित्सकने विना हमारे सिद्धान्तोंसे परिचित हुएही, केवल अन्य श्वांस रोगियोंपर हमें विजय प्राप्त करते हुए देखकर, हमारी चिकित्सासे पूर्व, ऊष्ण तापमय मृत्तिकाके बन्धनोंका प्रयोग किया था, जिससे रोगीको लाभकी अपेक्षा इस लिए भारी हानि पहुंची कि बन्धनोंपर ऊष्ण मृत्तिकाका किया हुआ प्लास्टर बांधते, बांधते शीतल हो गया था; और उन महाशयको बन्धनोंकी शीतलतासे पहुंचनेवाली हानिका इसलिए ध्यान नहीं था कि डा० लुई कोहनीने शीतल मृत्तिकाके प्रयोगकाही कथन किया है। अतः हम रोगियोंको उन चिकित्सकोंकी ओरसे,

जो हमारे सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ हैं, या जिनकी चिकित्सा, अनेक भिन्न सिद्धान्तोंपर चलनेसे पचमेल खिचड़ीके समान है, सावधान करते हैं। क्योंकि इससे हमारी चिकित्सा विधिको कलङ्क लगनेके अतिरिक्त किसी, किसी समय रोगी बहुत आपत्तिमें पड़ जाता है।

सन् १९१६ ई० में प्रयागके स्थानपर एक श्वांस रोगसे पीड़ित मनुष्य अपने मृत्युसे एक दिन पहिले इक्केमें पड़कर ज्यों त्यों हमारे निकट आया था। परन्तु उसका यह कृत्य हमको उचित नहीं प्रतीत हुआ। क्योंकि उसको इक्केमें पड़कर आनेमें अपार दुःख हुआ होगा। किन्तु क्या किया जाय हमारे देशके निर्दयी चिकित्सकोंके कारण दारिद्रतासे पीड़ित रोगी फीस देनेकी सामर्थ्य न होनेसे उनको अपने घर बुलानेकी शक्ति नहीं रखते, और कदाचित इसी अनुमानसे वह अपने जीवनका अन्त होनेकी असह्य वेदना सहन करते हुएभी हमको अपने घर बुलानेका साहस न कर सका। हमने उसकी ऐसी दशा देखकर उसको इक्केसे नीचे उतरने और फिर उसके ऊपर चढ़नेका कष्ट देना उचित न समझा। अतः हम तुरन्त उसके घरको पैदलकर उसके यहांही उसको देखने चले गये: किन्तु उसके शरीरसे, जीवन शक्तियां विदा हो ली थीं, इसलिए हमने उसकी चिकित्सा करना उचित न समझा। परन्तु उसकी दुःखिया स्त्रीके बहुत आग्रहपर हमने उसको जल ताप और अनार सेवनकी अनुमति दी, जिससे उसको केवल इतनाही लाभ पहुंचा कि मृत्यु समयतक उसको अधिक कष्टोंका अनुभव नहीं हुआ, उसने बहुत शान्तिके साथ अपने प्राणोंका त्यागन किया।

एक योरोपियन नवयुवक, जिसकी अवस्था प्राय तीस वर्षकी थी, साईकिलपर बहुत चढ़नेसे प्राय बीस वर्षकी अवस्थासेही उसके शरीरमें श्वांस रोगकी पीड़ाका प्रारम्भ हो गया था, सन् १९१८ ई० में हमारी चिकित्सामें आया। परन्तु इसपरभी उसने साईकिलका चढ़ना पचीस वर्षकी अवस्थातक नहीं त्यागा; प्रत्युत छब्बीस वर्षकी अवस्थामेंभी उसने एक रेसमें साठ मीलतक साईकिल दौड़ायी थी, जिससे वह एकैक शैयापर जा गया। वह चौबीसों घन्टे विकल रहता था, और किसी समय शयन करनेको समर्थ न था। क्योंकि सीधा लेटनेही उसे खांसी विकल कर देती थी। उसे शौचसे निवृत्ति प्राप्त करनेके लिएभी दिनमें कमसे कम ३ बार कष्ट उठाना पड़ता था; और इसपरभी उसको शौच जानेकी इच्छा बनीही

रहती थी। उसकी पाचन शक्तियां बहुतही शिथिल प्रतीत होती थीं; क्योंकि बहुत दिनसे उसको यकृत सम्बन्धी पीड़ाएंभी थीं। अतः हमने उसको प्राय डेढ़ ... तक चौबीसों घन्टे समस्त शरीरको टब द्वारा जल ताप पहुंचाने और केवल बेदाने अनारपर निर्वाह करनेकी सम्मति दी; तद् उपरान्त चार मासतक दिनमें तीन बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने और बन्धनोंके प्रयोग करने तथा आनारके अतिरिक्त अन्य रसीले और मीठे फलोंके लेनेकी आज्ञा दी; तत् पश्चात् तीन मासतक प्रति दिन दो बार डेढ़, डेढ़ घन्टे और अन्तके चार मासतक दिनमें एक वार केवल दो घन्टे ताप पहुंचाने और प्राय समस्त अनुत्तेजक और सूक्ष्म फलोंके सेवन करनेकी अनुमति दी। परिणाम यह हुआ कि उसकी युवावस्थाके कारण वह चौथे सप्ताहमें प्राय श्वांस पीड़ासे मुक्त हो चुका था और सातवें सप्ताहमें कोई उसको श्वांसका रोगी नहीं कह सकता था। वह उस समय आठ, दस मील प्रातके समय नित्य टहलने जाता था। उसकी अन्त्र नियमित् रूपसे मलत्यागनका काम करने लगी थी। इसीसे उसे शौचसे निवृत्ति प्राप्त करनेके लिए चौबीस घन्टेमें केवल एक या दो बार जाना पड़ता था; और उसे ऐसा बंधा हुआ मल आता जो न इतना कठोर होता था, जिसके त्यागनमें कष्ट हो, न ऐसा ढीला होता था, जिसके चिपकनेसे गुदाको स्वच्छ करनेके निमित्त कागज़ या जलकी आवश्यकता हो। उसकी पाचन क्रिया इतनी उन्नति कर गयी थी कि एक दिन हमने उसको सोलह सेर शहतूत खाजाते हुए देखा था। उसका यकृत रोगभी सदाको उसका पीछा छोड़ गया था। परन्तु उसकी इस समस्त उन्नतिका कारण उसका हमारी सम्मतिके अनुसार पथ्यसे रहकर एक वर्ष पर्यन्त चिकित्सा करना था; और यह गुण केवल उसीमें नहीं था, प्रत्युत आज पर्यन्त हमने जितने योरोपीय रोगियोंकी चिकित्सा की है उन सभीमें यह प्रशंसनीय गुण पाया है। इसका कारण कदाचित उनका शिक्षित होनाही है। इसके अतिरिक्त किसी योरोपियन रोगीने हमें भारतीय सेठोंकी नाईं असन्तुष्ट नहीं रक्खा। क्योंकि वह स्वास्थ्यके सन्मुख धनको श्रेय देना नहीं जानते, और वह भारतीय धनिकोंके समान ऐसे प्रलोभन देनाभी नहीं जानते कि अन्तमें प्रसन्न कर दिया जावेगा। वह रुपयेका व्यवहार स्पष्ट रखना सीखे हैं, और इसीसे उनके चिकित्सक असन्तुष्ट न रहनेके कारण हृदयसे रोगियोंका भला करते हैं; और हमारे धनिक जन रुपयेका प्रश्न आतेही शुष्क हो जाते हैं, उनकी आंखोंमें

चिकित्सक खटकने लगता है, जिसका परिणाम प्राय वैमनस्यही देखा गया है ।

सन् १९२३ ई० के अन्तमें एक मोटर ड्राईवर जिसका प्राय दो वर्षसे श्वास रोग था, और जो उससे बहुत पहिलेसे उपदन्श रोगसे पीड़ित था बम्बई स्थानपर हमारी चिकित्सामें आया । हमने उसको रसीले फलोंका सेवन और न्यूनातिन्यून दिन में दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुँचानेकी सम्मति दी थी । परन्तु वह न तो यथेष्ट फलही सेवन करता था और न दो बार तापही पहुंचाता था। वह फलोंके अतिरिक्त दूध-चावल और रोटीका सेवन करता था; और दिनमें केवल एक बार ताप पहुंचाता था । इसपरभी दो सप्ताहमें उसको इतना लाभ पहुंचा कि वह रात्रिको सुखसे शयन और बिना हांपे मोटर स्टार्ट कर सकता था। इसीसे उसने मोटर चलानेकी छोड़ी हुई चाकरी पुनः करली । इसके अतिरिक्त उसके उपदन्शके चिन्ह प्राय लुप्त हो गये थे, और उसके शरीरमें चैतन्यता आती हुई प्रतीत होती थी। परन्तु हम उसकी ओरसे इस लिए प्रसन्न नहीं थे कि प्रथम तो वह बीड़ी और चाय पान करना नहीं छोड़ता था, द्वितीय वह हमारी आज्ञाके विपरीत चावल आदि सेवन करता था, तृतीय वह यथेष्ट ताप पहुंचानेका भी प्रयत्न नहीं करता था; प्रत्युत जभी रोगमें कुछ न्यूनता होती थी तभी वह चिकित्सा करना बन्द कर देता था और जिस समय अधिक कष्ट प्रतीत होता था उसी समय ताप पहुंचानेकी सूझने लगती थी। अतः हमने उसे अनेक बार समझाया कि जबतक केवल फलोंपर निर्वाह करके हमारी सम्मतिके अनुसार ताप न होगा कभी लाभ होना सम्भव नहीं है। परन्तु खेद है उसके एक बात ध्यानमें न आयी। अन्तमें हम एक सेठकी स्त्रीकी चिकित्सार्थ आगरे चले गये, और उसका पीछे वही क्रम चलता रहा । अन्तमें दुःखी होकर सन् १९२४ ई० के मध्यमें वह बम्बईसे अपने देशको चला गया। हमारे अनुमानसे ऐसे रोगियोंकी चिकित्सा करनाही पाप है । क्योंकि इससे वहमी झमेलेमें पड़े रहते हैं, और हमारी चिकित्सा विधिकोभी वृथा कलङ्क लगता है। किन्तु यदि ऐसे रोगियों-की चिकित्सा करनाही हो तो उसको समस्त रूपेण अपने आधीन रखकर करना चाहिये ।

सन् १९२१ ई० में एक बङ्गाली यवन श्वास रोगकी चिकित्सार्थ हमारे समीप था। वह पोलोका बड़ा खिलाड़ी था; और उसी खेलसे उसे वह रोग हुआ था।

बीस वर्षकी आयुमेंही उसका शरीर श्वांसका घर बन गया था, और पचीसवें वर्षमें वह उस रोगसे दुःखी होकर मृत्यु देवीकी शरणमें जाना कहीं उत्तम समझता था। क्योंकि पोलोके अतिरिक्त उसका कोई जीवनोधार न थे, और पोलोही उसके प्राणोंकी पिपासी हो रही थी। अन्ततः सन् १९२० ई० में कहीं एक बड़ी भारी पोलोकी मैच हुई, जिसमें उसने श्वांसकी पीड़ा वश खेलना स्वीकार न किया। किन्तु वह एक राजाके यहां पोलो खेलनेपरही नौकर था। इस लिए उसको विवश हो उस मैचमें भाग लेना पड़ा, जिससे वह खेलके समाप्त होतेही मूर्छित होकर गिर पड़ा। उस समय उसका श्वांस धोंकनीके समान चलता था। उसके जीवनकी आशा बहुतही कम होती थी। उस समय उसके पिताने कुछ ब्रांडी दी गयी, जिसकी तीक्ष्णता और उत्तेजनासे उसके कण्ठमें पिताने कुछ आ श्लेष्म बाहर हो गया और वह किसी प्रकार गिरता पड़ता ठहरनेके, हमको अमूल्य च गया, और वहांसे वह घर जानेकी अपेक्षा दो एक दिनके पश्चांकी निरा हमारे यहांको चल दिया। हमें उसकी यह दशा देखकर बहुतही दुःख हुआ, किन्तु यह अच्छा था कि वह चिकित्सार्थ यथेष्ट धन व्यय कर सकता था। अतः हमने तत्क्षण उसके लिए एक ६६" लांबा टब बनवाकर निरन्तर तीन मास-तक उसको चौबीसों घन्टे ताप पहुंचाया। इसके उपरान्त दिनमें दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने और उनके पश्चात् धड़ बन्धनोंके प्रयोग करनेकी सम्मति दी। वह हमारी आज्ञानुसार आठ मास पर्यन्त केवल अनारके आहारपर रहा था, जिससे उसके शरीरमें प्रत्येक स्थानपर रक्त भरा हुआ प्रतीत होता था, उसके समस्त शरीरपर मांस भर गया था। उसकी बैठी हुई छाती उभरी हुई जान पड़ती थी। देखनेसे कोई उसको श्वांसका रोगी नहीं कह सकता था। उसने यवन होनेपरभी मांस, मच्छली और मुर्गी, अण्डेका आहार न करनेकी शपथ लेली थी। वह भले प्रकार यह समझ गया था कि मांस और धान्यादि कोई भी किसी प्रकार फलोंकी समानता नहीं कर सकते। इस लिए उसका विचार था कि यदि सदा फल प्राप्त हो सकें तो उन्हींपर जीवन निर्वाह किया जाय। वह आठ मास चिकित्सा करनेके उपरान्त अपने घर चला गया था और वहीं प्राय: और आठ मासतक अन्य रसीले फलोंका सेवन करके अपनी चिकित्सा करता रहा। उसके पश्चात् यद्यपि वह हमको मिल

नहीं सका है, परन्तु उसके पत्रोंसे प्रतीत होता है कि वह पूर्ण आरोग्य हो गया; और उसने उसी रीत्यानुसार अनेक श्वांस, क्षयी, संग्रहणी और निमोनिया आदि रोगोंसे पीडित अनेक रोगियोंको लाभ पहुंचाया है; प्रत्युत अब उसके जीवनका आधार प्राय दुःखी रोगियोंको लाभ पहुंचानाही है। हमारी इच्छा है कि जोभी हमारी चिकित्सासे लाभ उठाय उसको उक्त रोगीके समान अन्य रोगियोंकी चिकित्सा करके उन्हें लाभ पहुंचाना चाहिये।

खांसी एवं कूकर खांसी Caugh and whooping caugh.

इसी प्रकारकी खांसी अथवा कूकर खांसीकी वही चिकित्सा और पथ्य होना चाहिये जो एक श्वांस रोगीके लिए हो सकती है। केवल इस रोगमें इतना भेद है कि श्वांससे मुक्त होनेमें बहुत समय तथा लगता है और खांसी कुछ सप्ताहमेंही नहीं प्रत्युत कभी, कभी कुछ दिनमें जाती रहती है। परन्तु फिरभी खासीसे बहुत सावधान रहना चाहिये। क्योंकि उससे अधिक समयतक पीड़ित रहनेपर श्वांस रोगका जन्म हो जाता है। इसके अतिरिक्त खासी समस्त शरीरको हिला देती हैं, जिससे हमारी शक्तियोंका कोष अति शीघ्र शून्य हो जाता है, प्राय समस्त नाड़ियां कर्त्तव्य हीन हो जाती हैं, और कभी, कभी भोजन करनेके उपरान्तही वमन हो जाती है। अपरञ्च क्षयीकी दशामें खांसीका होना रोगीके प्राणोंके लाले पड़ना है।

खांसीसे पीड़ित एक रोगी सन् १९११ ई० में हमको जोधपुरके निकट एक ग्राममे मिला था। वह एक १३ वर्षीय बालक था। उसको सूखी खांसी उठा करती थी। खांस्ते, खांस्ते उसका मुंह और नेत्र लाल हो जाते थे, और बहुधा उसको भोजन करनेके उपरान्त वमन हो जाती थी। औषधियोंका सेवन करते, करते वह दुःखी हो गया था, और उसका गात्र मांस एवं रक्तसे वञ्चित होकर केवल अस्थियोंका पिञ्जरही रह गया था। वह दो वर्षसे उस रोगमें ग्रसित था। इसके अतिरिक्त उसकी चिकित्सामें उसके पिताका कई सहस्र रुपया उठ चुका था। हमने खांसीके रोगमें अपनी चिकित्साका पहिला अनुभव उसी रोगीपर दिखाया था। हमने उसको उष्ण होते हुए जलके टबमें दो सप्ताहतक चौबीसों घन्टे रखा। केवल शौचादिसे निवृत्ति प्राप्त करनेके लिए टबसे कुछ समयके लिए टबसे बाहर निकलनेकी आज्ञा थी। उसके आहारके निमित्त हमने

जोधपुरी, अनारकी सम्मति दी थी। अतः फल यह हुआ कि दस दिनके भीतरही उसकी खांसी लुप्त होगयी। हमने उसकी चिकित्साका क्रम निरन्तर तीन मास पर्यंत रखनेको कहा, जिससे शरीरमें रोगका बीज न रहे। अतएव उसके पिताने हमारी सम्मतिके अनुसार तीन मासके स्थानमें छः मासतक उसकी पथ्यके साथ चिकित्सा की, जिससे उसका पिञ्जर समान शरीर मांस और रक्तसे गोल हो गया था। खांसीके अतिरिक्त उसका कोष्ठबद्ध और शिर पीड़ासेभी छुटकारा हो गया। अपरञ्च प्रत्येक ग्रीष्म ऋतुमें जो उसके रक्त विकारसे फोड़े निकला करते थे वह रक्तके स्वच्छ हो जानेसे सदाको बन्द हो गये; और इस प्रकार उसके पिताको प्रति वर्ष बहुत कुछ धनकी बचत होने लगी। परन्तु उसके कृतघ्न पिताने कुछ हमको भेंट करने या हमारे उद्देश्यमें आर्थिक सहायता देनेके स्थानमें हमको अमूल्य पाठ यह दिया कि दारिद्रतासे पीड़ित रोगियोंके अतिरिक्त धनिकोंकी निश्शुल्क सेवा करना पुण्यके स्थानमें पाप है। परन्तु हम अपने स्वभाववश किसीसे चिकित्साके परिवर्त्तनमें धन लेनेका साहसही न रक्खते थे। इसके अतिरिक्त हमको अपनी चिकित्साके प्रचारके आगे धन बहुतही तुच्छ प्रतीत होता था। किन्तु अन्तमें ऐसे स्वार्थी अन्धोंकी परीक्षा करनेने हमको थका दिया। हम किसी, किसी समय भोजन और वस्त्रसेभी पीड़ित रहने लगे। हमारा शरीर सूखकर पिञ्जर हो गया। हमारी ओरसे प्राय सभी नेत्रोंके होते हुएभी चक्षुहीन हो गये। हमने सन् १९०३ ई० के मध्यसे जून सन् १९२४ ई० तक बहुतही कम दिन अपनी क्षुधाको पूर्णरूपेण सन्तुष्ट करनेके निमित्त यथेष्ट आहार प्राप्त किया होगा, अन्यथा आयुका अधिक भाग आधी भूख रक्खकरही व्यतीत किया है। इस लिए हमको अशक्त हो अपनी नीतिमें परिवर्त्तन करना पड़ेगा और हमारे समस्त अनुभवोंका सारांश निम्न पंक्तियोंसे स्पष्ट प्रतीत हो जानेपर कदाचित् हमको कोई दोषी ठहरानेका साहस न करेगाः—

थे विसारत अहल जो वह, आज यांसे मिट गये,
कब्रभी उनकी नहीं है, सब निशांही मिट गये।
उस क़द्रदाने यारसे, किस क़द्रकी हो यास अब,
दाद देनेके लिएभी, चश्म जिसके मिट गये?
उनकी खिदमतके सिलेमें, मुफ्तमें बस यह मिलाः—

मुफ्तमें बदनाम हो हम, मुफ्तमेंही मिट गये।
जालिमोंकी नौकरीसे, अब किनारा कीजिये,
क्या करोगे फिर जो ' कर्नल ', औरभी तुम मिट गये !

सन् १९१२ ई० के अन्तमें हम सम्भल जा रहे थे। अनायास मार्गमें हमारी गाड़ी टूट जानेसे हमको सड़कके किनारेपरही वह रात्रि व्यतीत करनी पड़ी। गाड़ीके टूटनेसे पहिले तो हमको रेल द्वारा वहां न जानेका इस लिए पश्चात्ताप हुआ कि हम अपने पूज्य पिताजीके, जो उस समय सम्भल गये हुए थे, दर्शनोंको बहुत लालायित थे, किन्तु थोड़ेही कालमें हमको उस गाड़ीके टूटनेसे इस लिए दुःखके स्थानमें बहुतही सुख हुआ कि वहां हमारे निकटही एक आमके वृक्षके नीचे एक खांसीकी असह्य पीड़ासे क्लेशित नवयुवक मिल गया। उसने हमको विना किसी पूर्व परिचयके, अपने निकट बुलाकर हमारे शयनार्थ अपनी चारपायी देकर हमको कुछ आम भोजनार्थ दिये और दौड़ा, दौड़ा हमारे लिए ग्रामसे थोड़ा दूध लेने गया। हम नहीं कह सकते क्यों उसने अन्य यात्रियोंसे बातभी नहीं की और हमारे साथ इतनी सहानुभूति दिखायी ? हम नहीं चाहते थे कि वह विना परिचयके हमपर इतना अनुग्रह करे, परन्तु वह हमारी कब सुनता था। उसने तो हमको आम खिलाकरही छोड़े, और विवश हो हमको दूधभी-पान करनाही पड़ा। हमारी इच्छा नहीं थी कि वह भूमिपर शयन करे और हम सुखसे चारपायीपर रात्रि व्यतीत करें, किन्तु इच्छाके प्रतिकूल उसके आग्रहसे हमको चारपायीपरही शयन करना पड़ा। शयन करनेसे पहिले बहुत समयतक वार्त्तालाप होता रहा। इसके अतिरिक्त उसने कई ग्रामीण और रोचक कहानियांभी सुनायीं। इतनेमेंही अधिक बोलनेके कारण उसको खांसी उठ खड़ी हुई, और प्राय एक घन्टेतक उसे चैन न लेने दिया। खांस्ते, खांस्ते उसके नेत्रोंसे अश्रु पात होने लगे, उसका समस्त शरीर हिल गया और छातीमें पीड़ा होने लगी। अतः खांसीके कुछ शान्त होनेपर हमने उससे कहा कि वह उसकी चिकित्सा क्यों नहीं करता है ? इसका उत्तर देते हुए उसने बहुतही दुःखी, होकर कहा कि वह तीन वर्षसे अपने रोगकी चिकित्सा कराते, कराते थक गया है, और जो टका गांठमें था वहभी व्यय हो चुका है, प्रत्युत एक वैद्यराजकी कृपासे घरमें जो पात्रादि थे वहभी बिक गये। हम उसकी इस दुःखमय गाथाको सुनकर

बहुतही दुःखी हुए और हमने उस समय, जो हमारी जेबमें दस रुपये थे उसको देनेके लिए निकाले, और उसकी स्वयं चिकित्सा करनेको कहा। परन्तु उसने हमारे बहुत कुछ आग्रह करनेपरभी रुपये लेना स्वीकार न किया, किन्तु पूर्ण पथ्यके साथ चिकित्सा करनेको उद्यत हो गया। अतः हमने सूर्यका उदय होनेपर उसकी चिकित्सा करना आरम्भ कर दिया, और एक सप्ताहतक सम्भल जानेका विचार स्थगित करके हम वहीं उसके साथ ठहर गये। स्टोव या कोयलोंकी अंगीठी न होनेके कारण उपलोंकी अग्निपरही जलको ऊष्ण कराकर और चिम्टेसे वस्त्रोंको निचड़वाके उसकी ग्रीवा, छाती, उदर और पीठपर प्रति दिन तीन वार दो, दो घन्टे अर्थात्—प्रातके समय पांच बजेसे सात बजे तक, मध्यानमें एकसे तीनतक और रात्रिमें नौसे ग्यारहतक ताप पहुंचवाते थे; और प्रति तापके उपरान्त मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग कराते थे, जोकि दूसरे तापके समयतक शरीरपर रहते थे। आहारके निमित्त फलोंके उपलब्ध न होनेसे हमने उसको केवल गौऊका दूध लेनेकी सम्मति दी थी। परिणाम यह हुआ कि एक सप्ताहमेंही उसको इतना सुख प्राप्त हुआ कि वह आनन्द पूर्वक समस्त रात्रि शयन कर सकता था। इस बीचमें उसको एक दिन अवश्य इस लिए दुःख हुआ था कि उस दिन गौऊके दूध न देनेके कारण उसने इस अनुमानसे आम सेवन कर लिये थे कि वहभी फल हैं। परन्तु आम सेवन कर-...ारण खांसी उठनेसे उसे यह ज्ञात हो गया कि हमारी आज्ञा वास्तवमें केवल ...ों फलोंके सेवन करनेकी है जो अनुत्तेजक और रसीले हैं। अतः वह पूर्ण पथ्यसे ...गा और हम एक सप्ताहके उपरान्त सम्भल चले गये, तत् पश्चात् वह अपनी ...विवरण लिखाकर भेजता रहा, जिससे प्रतीत हुआ कि डेढ़ मासमें उसका ...ं छुटकारा हो गया था और तीन मासमें मुख एवं नासिका द्वारा जो श्लेष्म ...ता था वह पूर्णतः बन्द होगया और कण्ठके घावोंका नामभी न रहा। परन्तु उसने एक दिन रात्रिके समय ईख चल पड़नेपर गन्नेके स्थानमें उसका कोल्हूसे पिलकर निकला हुआ रस पीलिया था, जिससे एकैक उसकी छातीमें पीड़ा उठ खड़ी हुई, कण्ठ घिर आया और श्वास घुटकर खांसी उठने लगी। अतः तत्क्षण उसने छाती और ग्रीवाको ताप पहुंचाना आरम्भ किया, जिससे वह शीघ्र उस दुःखसे मुक्त हो गया। इसके अतिरिक्त उसको सदाको यह पाठ मिल गया कि फलोंसे कृत्रिम रीति द्वारा प्राप्त किया हुआ वही रस, जो शरीरको नवजीवन प्रदान करनेवाला है, वायुके

संसर्गसे दूषित और विषैला होकर उसपर कितना अपकार करता है ? इसी प्रकार उसको अपने चिकित्सा कालमें अनेक अनुभव हुए, और उनके द्वारा उसने कई खांसीके रोगियोंको लाभ पहुंचाया। परन्तु हमको यह खेद है कि हम उससे फिर कभी न मिल सके; प्रत्युत उसके अशिक्षित होनेके कारण अधिक कालतक हमारा उससे पत्र व्यवहारभी न रह सका।

एक बार सन् १९१३ ई० के निकट जब हम महाराजा बलरामपुरकी कन्याके विवाहमें गये हुए थे तो एक खांसीसे पीड़ित रोगी हमसे सम्मति लेनेके लिए आया। उसकी आयु प्राय पचीस वर्षकी थी, और व्यायाम करते हुए सामर्थ्यसे अधिक बोझा उठानेपर उसको खांसी हो गयी थी। वह उस खांसीसे बहुतही दुःखी था। क्योंकि खांसते समय उसकी छातीमें बहुत पीड़ा होती थी। हमने उसको केवल छाती और ग्रीवाको दिनमें दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने, और धारोष्ण दूध या रसीले फल सेवन करनेकी सम्मति दी। अतएव वह तीन दिनमेंही उस खांसीके दुःखसे मुक्त हो गया, परन्तु उसने हमारी आज्ञानुसार पूरे एक सप्ताहतक चिकित्सा की।

सन् १९१८ ई०के अन्ततक हम प्राय दो सौ खांसीके रोगियोंको लाभ पहुंचा चुके थे, उसी समय लाहौरसे लौटते हुए दिल्लीमें हमें अपने ज्येष्ठ भ्राताका पत्र मिला। उन्होंने हमारी सम्मति चाहते हुए लिखा था कि उनका लघु पुत्र, जिसकी अवस्था प्राय तीन वर्ष हो खासीसे पीडित है। अनेक रीतिसे चिकित्सा करनेपरभी कोई लाभ नहीं हुआ, प्रत्युत होम्योपैथीभी निरर्थक सिद्ध हुई। वह स्वयंभी आयुर्वेद शास्त्र और यूनानी तिबाबतके एक विद्वान चिकित्सक हैं, इसीसे हमारा उनका सदा मतभेद रहा करता था; और यह पहिलाही अवसर था जबकि उन्होंने पुत्रका दुःख सहन न होनेके कारण हमारी सम्मति चाही थी। हमने पत्रके प्राप्त होतेही उनको केवल मृत्तिका धड़ बन्धन प्रतिदिन तीन बार प्रयोग करनेको लिख दिया और आहारके निमित्त रसीले फल या दूध सेवन करनेकी सम्मति देदी। फल यह हुआ कि उनके पुत्रकी खांसी जानेपर २८ सप्टेंबर सन् १९१८ ई० को उन्होंने हमको एक पत्रमें लिखा "तुम्हारे खासीके तरीकेसे एक दमे और छः खांसीके रोगियोंको मेरे हाथसे लाभ हुआ। अबतक मुझे स्वयं विश्वास न था, परन्तु खांसीके इलाजने मुझे हैरतमें डाल दिया। दवाओंसे इलाज करना केवल एक आला

रहज़नी और जालसाज़ी है । दो माससे मैं केवल फलही खा रहा हूं। इन दिनोंमें बड़ा लाभ उठाया । तम्बाकूभी छूट गया । " हमको उस समय उनकी उक्त पंक्तियां लिखनेसे बड़ीही प्रसन्नता हुई थी। क्योंकि हमने समझा था कि अब एकसे दो हो जावेंगे और समस्त जगतके रोगियोंके दुःखोंका अन्त करनेके निमित्त 'प्राकृतिक चिकित्सा' का प्रचार करनेमें सफल होंगे। परन्तु खेद है वह अपने गृहस्थका भार उठानेके निमित्त केवल औषधियोंका व्यवसाय करनेसे हमारे सहायक होनेसे डर गये। किन्तु हमारे अनुमानसे यह उनकी भूल थी। उनको हमारी चिकित्साका व्यावसाय करनेपरभी बहुत आय हो सकती थी, और आज दिन वह पूरे सम्पत्ति शाली दिखायी देते; क्योंकि वह व्यापार नीतिमें निपुण हैं, और हम किसीसे यह कहना सीखेही नहीं कि हमारी चिकित्साके परिवर्तनमें कोई हमको कुछ दे। इसीसे बहुधा स्वार्थी मनुष्य धन सम्पन्न होते हुएभी हमारे न मांगनेके स्वभावकी मूर्खता वश हमको कुछ नहीं देते। यही कारण है कि हम कभी इतना धनभी प्राप्त न करसके कि अपनी आवश्यकताओंकोभी पूरा कर सकते। परन्तु इसपरभी हमको प्रसन्नता है कि हम अपने ज्येष्ठ भ्राताकी अपेक्षा दारिद्रताके दिनोंमेंभी सन्तुष्ट रहते हैं, और असंख्य आपत्तियोंका सन्मुख करते हुएभी हमको केवल 'प्राकृतिक चिकित्सा' के प्रचार करनेकीही लग्न लगी हुई है। हमारा सर्वस्व नाश हो जानेपरभी हमारी यह आशा हमको जीवित रक्खे हुए है कि एक दिन सत्यकी विजय होगी, धूर्तोंकी पोल खुलेगी, औषधियोंका इति होगा और घर, घरमें 'प्राकृतिक चिकित्सा' का प्रचार होगा। क्योंकि यह हमारे अनुभवमें आयी हुई घटनाएं हैं कि अनेक लोग जो हमारी चिकित्साके कट्टर विरोधी थे, अन्तमें हमारी चिकित्साके लाभप्रद प्रमाणित होनेपर हृदयसे उसमें श्रद्धा रक्खने लगे; प्रत्युत कोई, कोई तो हमारे ऐसे कट्टर अनुयायी होगये कि उन्होंने अपने घरसे रक्खी हुई औषधियोंकोभी फेंक दिया।

क्लोमपाक Pneumonia.

वास्तवमें क्लोमपाक होना किसी प्रकार जोखिमसे शून्य नहीं है। इस लिए हमारे अनुमानसे यह बहुतही भयङ्कर रोग है; और खेदकी बात यह है कि हमारे नगरोंकी वायुके अपवित्र और मदिरादिका अधिक प्रयोग होने, और हमारे अपवित्र खान-पान और रहन-सहन आदिके कारण आज कल यह

रोग बहुत होता है। इसीसे कुछ वर्ष पहिले निमोनियाका नामभी सुननेमें न आता था, और अब ऐसे बहुतही कम मनुष्य मिलेंगे, जिनको कभी निमोनिय न हुआ हो। इस लिए निमोनिया एक भयङ्कर रोग होते हुएभी बहुतही साधारण प्रतीत होता है; प्रत्युत सन् १९१८ ई० से, जब कि देशमें श्लेष्मज्वर फैला था, और उन रोगियोंमेंसे प्राय सभीको निमोनिया हुआ था, रोगी निमोनियासे डरनाही भूल गये हैं। परन्तु यह एक बड़ी भारी भूल है। निमोनियाका देशमें फैलना किसी प्रकारभी उचित नहीं। इस लिए यथा शक्ति स्वच्छ वायुमें रहना और प्राकृतिक आहारपर निर्वाह करना चाहिये। जबतक हमको शुद्ध वायु नहीं मिलेगी हम निरन्तर निमोनिया, क्षयी और श्वास रोगादिकी आखेट होते रहेंगे। प्राय चिकित्सकोंका अनुमान है कि निमोनिया शीतके कारण होता है, परन्तु इसमें बहुतही कम सत्यको स्थान दिया गया है। निमोनिया शीतकी अपेक्षा बहुधा उष्णके स्थानोंमें वायुके अपवित्र होजानेके कारणही हुआ करता है। इसीसे खुले हुए क्षेत्रोंमें काम करने वालोंकी अपेक्षा नगरोंमें निवास करनेवालोंकोही अधिक निमोनिया होता है। इसके अतिरिक्त भारी और अनप्रवेशनीय ऊनी दुर्तापवाहक वस्त्रभी इस लिए निमोनियाका कारण होते हैं कि उनके हेतु त्वचाको स्वच्छ वायु न मिलनेसे फुफ्फुस तथा अन्य अवयव निर्बल और विकारमय हो जाते हैं। अपरञ्च निमोनियासे पीड़ित रोगियों द्वाराभी वायुके विकृत हो जानेपर इस रोगकी वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त प्राय प्रत्येक ज्वरमें कुपथ्य वश या शीतके पश्चात् उष्ण और उष्णके उपरान्त शीतके ताप लगनेसेभी निमोनियाकी सम्भावना रहती है। अतःनिमोनियाकी उत्पत्तिके अनेक कारण हो सकते हैं।

निमोनियाकी सर्वोत्तम चिकित्सा यही है कि रोगीको, स्टोव या अंगीठीपर रक्खे और जलसे भरे हुए टबमें ऐसे लिटाकर जो पगोंसे ग्रीवा पर्यन्त शरीर जलमें डूबा रहे, उस समयतक ताप पहुंचाना चाहिये जबतक कि वह जोखिमसे बाहर न हो जाय। यदि रोगीको ज्वरका ताप अधिक होनेसे मूर्छा या शिरमें पीड़ा प्रतीत हो तो निरन्तर एक परिचारकको उसके शिरपर सह्य उष्ण जलकी धार डालके या उष्ण जलमें निचोड़े हुए वस्त्रों द्वारा शिर और माथेको ताप पहुंचाना चाहिये; और यदि ज्वर अधिक तीव्र न हो तोभी शिरको कुछ न कुछ समयतक ताप पहुंचाना आवश्यक है। यदि रोगीके शरीरको ताप पहुंचानेके निमित्त उस समय टब आदिका

प्रबन्ध न हो तो ऊष्ण जलमें निचोड़े हुए वस्त्रों द्वारा उदर, छाती, ग्रीवा और शिरको निरन्तर उस समयतक ताप पहुंचानेकी आवश्यकता है जबतक कि रोगी निमोनियाके पञ्जेसे न निकल जाय। ताप पहुंचानेके उपरान्त धड़ और ग्रीवा बन्धन प्रयोग करने चाहियें और यदि मृत्तिका बन्धनोंका प्रबन्ध न हो सके तो दुर्तापवाहक वस्त्र धारण करने चाहियें, जिससे शरीरका ताप पहुंचा हुआ भाग नग्न न रहे। एक तापका प्रयोग बन्द करनेके उपरान्त दूसरी बार शीघ्र फिर ताप पहुंचाना आरम्भ करना चाहिये; और ताप बन्द करनेसे जभी ज्वरका ताप वृद्धिको प्राप्त हो तभी एक पलकाभी विलम्ब न करके ताप पहुंचाना आरम्भ करना चाहिये। किन्तु यदि किसी रोगीके ज्वरका ताप शरीरका ताप बन्द करतेही बढ़ने लगे तो उसको निरन्तर उतने समयतक ताप पहुंचाना चाहिये जबतक कि उसका ज्वर समूल नष्ट न हो जाय। इस लिए ऐसे रोगियोंको कभी, कभी निरन्तर चौबीस, अड़तालीस, बहत्तर या उससेभी अधिक घन्टोंतक ताप पहुंचानेकी आवश्यकता होती है। निमोनियाके साधारण रोगी केवल मृत्तिकाके ऊष्ण बन्धनोंसेभी ठीक हो जाते हैं, किन्तु जब वह विकट रूप धारण करलेता है तो मृत्तिका बन्धन उसको दमन करनेके लिए यथेष्ट ताप न पहुंचा सकनेके कारण निरर्थक सिद्ध होते हैं।

निमोनियाके रोगीको प्राय क्षुधाका ज्ञान रहताही नहीं है और प्यास आवश्यकतासे अधिक बढ़ जाती है। अतः जबतक रोगीको भले प्रकार क्षुधाका ज्ञान न हो तबतक कोई आहार न देना चाहिये, और प्यासकी दशामें कुछ ऊष्ण तापमय जल देना चाहिये। क्षुधाका ज्ञान होनेपर केवल रसीले और अनुत्तेजक फल या शाक और यदि रोगीकी अवस्थाके अनुकूल हो तो गौऊका धोरोष्ण दूध देना चाहिये। रोगीको निरन्तर उस समयतक पथ्यसे रक्खनेकी आवश्यकता है जबतक कि रोगसे मुक्त होनेके उपरान्त यथेष्ट बल प्राप्त न हो जाय।

निमोनियाकी दशामें इस बातपर ध्यान रक्खना चाहिये कि रोगीके कमरेका ताप उसके अनुकूल हो, और प्रकाश एवं शुद्ध वायु सञ्चारमें कोई बाधा उपस्थित न होती हो। किन्तु रोगीको तीव्र पवनसे सदा बचानेकी आवश्यकता है।

निमोनियाके असंख्य रोगियोंपर हमको अपनी चिकित्साका अनुभव दिखानेका अवसर सन् १९१८ ई० में श्लेष्मज्वरके फैलनेपर प्राप्त हुआ था; और उस समय हमने यह प्रमाणित कर दिया था कि एक, दो, नहीं प्रत्युत सैकड़ों रोगियोंकी

चिकित्सा करनेपरभी प्रति शत किसीकी क्षति नहीं हुई। हां, एक, दो मृत्युके होनेका केवल कारण यही था कि हमारी आज्ञाके विपरीत उन रोगियोंके साथ असावधानीसे काम लिया गया। इसीसे सोमनामें एक रोगी निमो-नियाका प्रभाव कम होनेपरभी मृत्युको प्राप्त हो गया। जिस दिन हमने उसकी चिकित्साका प्रारम्भ किया उस दिन वह किसीको भले प्रकार पहि चानताभी न था, उसका कण्ठ घिरा हुआ था, वह प्यासके कारण विकल था और खांसीकी पीड़ासे बहुतही दुःखी था। परन्तु दूसरे दिनही वह सबको पहिचा-नने लगा, उसकी प्यासमें न्यूनता हो गयी, उसके कण्ठसे घर्र, घर्रका शब्द सुनायी देना बन्द हो गया और खांसते समयभी कुछ पीड़ामें कमी प्रतीत होती थी। परन्तु उसका पुत्र एक पाखंडीके फन्देमें आगया और उसने १०) रु० के पेड़े उसकी वेदीपर चढ़ा दिये और उसकी आज्ञानुसार एक पेड़ा अपने पिताको देदिया, जिसके सेवन करतेही उसके रोगने विकाल रूप धारण कर लिया, हमनेभी उसकी चिकित्सा छोड़दी, और वह दूसरे दिन अपने मूर्ख पुत्रके कारण मृत्युको प्राप्त हो गया।

सन् १९१८ ई० में हमारे ज्येष्ठ भ्राता और कई अनुयायियोंने रोगियोंको श्लेष्मज्वर और निमोनियासे बचानेके निमित्त हमारी चिकित्सा विधिका भले प्रकार अनुभव किया था। अतः उनकी सफलताका परिचय देनेके लिए हम निम्नमें अमृतसर प्रान्तके एक तहसीलदार महाशयके उस पत्रकी प्रति लिपि देते हैं, जो कि उस समय उन्होंने हमको १४ नोवेम्बरको लिखा थाः—

Dear pandit sahib,

Thanks for you favour of the 4th. instant. I have been already getting patients treated by using hot fomentations and clay bandages, and many lives have been saved. Now I am giving directions in accordance with your expressed desire...

With best wishes.

Yours sincerely,
K. M. K.

निमोनिया या डिब्बेका हमको चिन्तामें डालनेवाला रोगी सन् १९१५ ई० के अन्तमें भटिन्डेके स्थानपर मिला था। वह एक रेलवे क्लर्कका केवल तीन मासका वालक था। वह कई दिनसे उस रोगमें ग्रसित था और जिस डाक्टरकी चिकित्सामें था वह अनायास पटियाले चला गया। अतः उसके पिताके आग्रहपर हम वालकको देखने गये। उस समय उसका श्वांस इतनी तीव्र गतिसे चल रहा था कि दूरसे उसका शब्द सुनायी देता था, उसकी अन्त्रने कई दिनसे मल त्यागन नहीं किया था, उसके ज्वरका तापभी उस समय वहुत था, उसके दोनों नथने चलते हुए प्रतीत होते थे, उसके होटोंपर शुष्कता थी, उसने पीड़ाके कारण कई दिनसे शयन नहीं किया था, और वह माताका दूधभी पान नहीं करता था। अतएव हमने उसको समस्त रात्रि वस्त्रों द्वारा छाती, उदर, ग्रीवा और माथेपर ताप पहुंचवाया, जिससे उसे प्रातके समय एक विष्टा हुआ और निद्रा आगयी। इसके अतिरिक्त उसके ज्वरमें न्यूनता होनेसे उसके श्वांसकी गतिभी मन्द हो गयी। इसके उपरान्त तीन दिनतक हमने उसको प्रति दिन चार वार दो, दो घन्टे ताप पहुंचवाया और उससे आगेके तीन दिनतक प्रति दिन तीन ताप पहुंचानेकी आज्ञा दी। अतः उस समय वालक दूधभी पीने लगा था और कोई अधिक कष्ट नहीं था, केवल कुछ ज्वर शेष रहा था, किन्तु हमको कुछ कार्यवश वहांसे विजनौर जाना था, इसलिए हम वालकके पिताको ज्वरके अन्ततक क्रमसे उसका ताप करनेका यत्न कह आये थे। परन्तु उसके पिताके न लिखनेके कारण हमको यह ज्ञात नहीं हुआ कि उसका ज्वर कितने दिनमें गया।

सन् १९१८ ई० में हमारे एक मित्र, जो कि सोमनाके रेलवे स्टेशनपर स्टेशन मास्टर थे, की दो वर्षीय वालिका और सात वार्षिय वालकको श्लेष्मज्वरसे निमोनिया हो गया, और चारों ओर श्लेष्मज्वर फैला होनेसे उनके दोनों एसिस्टेन्टभी सोमनासे चले गये थे। इसके अतिरिक्त अन्य स्टाफ़मेंभी वहुत कमी हो गयी थी। अतःउनको चौवीसों घन्टे स्टेशनपर ड्यूटी देने और रोगियोंको संभालनेका काम करना पड़ता था; और उन दिनोंमें हमकोभी रोगियोंसे अवकाश नहीं मिलता था। इस लिए उस समय उनके वालकोंकी चिकित्सा करना वहुतही कठिन था। किन्तु फिरभी हमने ज्यों त्यों प्रति दिन तीन या चार वार कृष्ण मृत्तिकाके वन्धनोंका

प्रयोग किया, जिससे बालक तीन दिनमें निमोनियाके संकटसे निकल गया, किन्तु बालिकाके आरोग्य होनेमें इस लिए एक सप्ताहसे ऊपर लगा कि उसका रोग बहुत बढ़ गया था; प्रत्युत हमको तो उसके बचनेकी बहुतही कम आशा थी। क्योंकि उसके ओष्ठोंपर पपड़ियां जम गयीं थी, श्वांस धोंकनीके समान चलता था और वह किसीको पहिचानतीतक न थी।

सन् १९१९ ई० में सोमनामें एक ठाकुर महाशयकी स्त्रीको निमोनिया हो गया। किन्तु ठाकुर महाशय वहांसे दूर किसी अन्य ग्राममें गये हुए थे। इस लिए उनकी माताने सायंके तीन बजेके समय हमें उसको दिखाया, परन्तु चिकित्सा करनेके विषयमें हमसे कुछ नहीं कहा गया, इस लिए हमभी मौन हो गये; प्रत्युत रात्रिके आठ बजेके समय जब हम उन ठाकुर महाशयके ज्येष्ठ भ्राताकी बैठकमें बैठे हुए थे उनके मित्र एक अन्य ठाकुर देवताने हमसे कहा "आप ००सिंहके घरमें मिट्टी-पानी-का इलाज न करियेगा।" अतः हमने इसके उत्तरमें केवल इतनाही कह दिया था—जिसकी नौ सौ बार अटके वह हमसे चिकित्सा कराये, अन्यथा हमें क्या आवश्यकता है जो व्यर्थ चिकित्सा करनेको कहें। यह बात होही रही थी कि इतनेमेंही रोगीकी दशा अधिक बिगड़ने लगी, और हमसे उसकी चिकित्सा करनेके लिए अनेक बार आग्रह किया गया, किन्तु हमने उसके पतिकी अनुपस्थितिमें, उस नीचके कहनेके कारण, उसकी चिकित्सा करना उचित नहीं समझा। अन्तमें रोगीकी बत्तीसी बन्द हो जानेके समाचार मिले और हमसे उसकी चिकित्सा करनेको बहुत आग्रह किया जाने लगा। अतः हमकोभी दया आगयी; और हमने उसके पतिके लघु और ज्येष्ठ भ्राताके उत्तरदायित्वपर उसकी चिकित्साका आरम्भ किया। उसकी छाती और पांवोंपर कई घन्टे ताप पहुंचाया गया और धड़ बन्धनका प्रयोग किया गया, जिससे प्रातःकाल होनेतक उसकी बत्तीसी और कण्ठ खुल गया, उसको भले प्रकार चेत हो गया, प्यास एकेक दमन हो गयी, मूत्रका रङ्ग फीका पड़ गया और उसको निद्रा आगयी। ऐसी दशा होनेपर उसके पतिको तार दिया गया। अतः वहभी आगये, और हमारी चिकित्साका महत्त्व देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसके आनेसे तीन चार दिन पश्चात् ताप और बन्धनोंका प्रयोग तथा रसीले फलोंका सेवन होनेसे निमोनियाके समस्त लक्षण जाते रहे, ज्वरभी उतर गया और वह चलने, फिरने

लगी। किन्तु उसके परिवर्त्तनमें हमको क्या मिला? केवल धन और समयकी क्षति। क्योंकि उसके शरीरपर जो हमसे लेकर धड़ बन्धन प्रयोग किये गये थे उनका आज पर्यन्त हमको मूल्य नहीं चुकाया गया, और समस्त रात्रि जो हमने उसके घरपर व्यतीतकी उसकी फ़ीसभी न निकली। इसके अतिरिक्त इसके प्रसादमें उसकी एक विधवा पतोहु जिस प्रकार हमको आचार भ्रष्ट करके हमारे जीवनको कलङ्कित करना चाहती थी उसका कथन करनाभी सभ्यताके विपरीत है। परन्तु उसकी इस धृष्टतासे हमको बहुत पाठ मिला। अतः हम उसके निमित्त उसके बहुतही अनुग्रहीत हैं, और उन ठाकुर महाशयकी कृपाओंकेभी हम सदाको इस लिए ऋणी रहेंगे कि उनके व्यवहारसे हमको यह अनुभव हो गया कि कार्य निकल जानेपर कोई फ़ीस तो एक ओर रही चिकित्सा सम्बन्धी सामग्रीकाभी मूल्य नहीं देता।

सन् १९२० ई० में हमारी वर्त्तमान स्त्रीको मुरादाबादके स्थानपर निमोनिया हो गया था। किन्तु वहां उसकी चिकित्साकी कोई सुविधा न थी, क्योंकि उस समय हम पराधीन थे और किसी बातको कहने या कोई पदार्थ मांगनेका स्वभाव न होनेसे हम कई दिनतक मौन रहे। अन्ततः एक दिन उसका कण्ठ घिर आया और उसका बोलना बन्द हो गया, जिससे उसका ज्येष्ठ भ्राता, जो उस समय वहीं था, बहुत घबराकर रुदन करने लगा। इतनेमेंही हमभी पहुंच गये। हमने उसे धैर्य देकर अंगीठीपर जलको ऊष्ण करके अपनी स्त्रीकी छाती, ग्रीवा और माथेपर ताप पहुंचाना आरम्भ किया, जिससे वह बहुत शीघ्र सचेत हो गयी। इसके उपरान्त हम उसके शरीरसे, रोगके अन्तकालतक, प्रतिदिन दो बार ऊष्ण मृत्तिकाके धड़ बन्धनोंका प्रयोग करते थे, और उसकी शैयाके नीचे बन्धनोंको ऊष्ण रखनेके निमित्त दहकते हुए कोयले रख देते थे। परन्तु वास्तवमें ऐसा करना उचित नहीं था; क्योंकि कोयलोंकी अग्नि अधिक तीक्ष्ण होती है। किन्तु क्या किया जाय उस समय जल द्वारा ताप पहुंचानेका प्रबन्ध न होनेसे उसके प्राणोंकी रक्षाके निमित्त ऐसा किया गया था। परन्तु इतना हमने अवश्य किया था कि उसको सर्वप्रकारेण खुली वायुमें रक्खा था। उसको केवल फलोंका आहार दिया जाता था, इसलिए नित्य उसकी अन्त्र नियमित रूपसे मल त्यागनेका काम करतीं थीं, और उसे क्षुधाका भी ज्ञान होता था। किन्तु ज्वर केवल इस लिए तेईस दिनतक नहीं उतरा था कि

लेशभी न रहा और शरीरका ताप केवल ९९° रह गया था, जो कि दूसरे दिन ताप करनेसे किञ्चित मात्रभी न रहा। इस प्रकार वह रोगी तीन दिनमें अपने रोगसे मुक्त हो गया। किन्तु उसके आरोग्य होनेसे पूर्व उसके पुत्रको चेचक और मोतीझरा हो गया। इस लिए उसको रोगसे मुक्त होनेपर यथेष्ट विश्राम नहीं मिला। परन्तु इसपरभी हमको यह प्रसन्नता है कि उसपर पुनः किसी रोगने आक्रमण नहीं किया।

सन् १९२३ ई० के अन्तमें हम वसन्त विलास, अन्धेरी (वम्बई) में श्री सेठ ००० ००के साथ ठहरे हुए थे, और एक रात्रिको बङ्गलेके दूसरे खण्डके वरेंडामें लेटे हुए उक्त सेठजी हमसे बातें कर रहे थे। इतनेमेंही सेठजीका एक नौकर आया और उसने बङ्गलेके मालीको देखनेके लिए कहा। अतः हमने उसको उसी समय जाकर देखा। उसको डव्ल निमोनिया हो गया था। उसके जीवनकी उस समय बहुतही कम आशा होती थी। क्योंकि उसकी आकृति बहुतही भयानक हो गयी थी, उसका श्वांस धोंकनीके समान चल रहा था, कई दिनसे उसने विष्टेका त्यागन नहीं किया था, उसके दोनों होटोंपर सूखी पपड़ियां जम रही थीं, उसको पल, पलपर प्यासका ज्ञान होता था, उसने कई दिनसे शयन नहीं किया था, वह शिर पीड़ासे बहुत विकल था और धनाभावसेभी दुःखी था। किन्तु यह अच्छी बात थी कि वह सचेत था। अतः हमने उसी समय अर्थात् रात्रिके दो बजे उसको वस्त्रों द्वारा जल ताप पहुंताना आरम्भ किया, और निरन्तर चार घन्टे ताप किया। फल यह हुआ कि उसकी प्यास दमन हो गयी, शिर पीड़ा जाती रही, श्वांसकी गति ठीक हो गयी और वह निमोनियाकी जोखिमसे बाहर हो गया। किन्तु वह जङ्गली जातिका मनुष्य था इस लिए उसने पीड़ाके कम होनेपर अगले दिन प्रातःकालको दो, एक घन्टे ताप करानेके उपरान्त फिर उसे बन्द कर दिया, और वह तापसे रोगके निबल हो जानेके हेतु योंही दो, चार दिनमें आरोग्य हो गया। उस रोगीकी चिकित्सा करनेमें हमें सेठ ००० ००के उदार और करुणामय हृदयका भले प्रकार परिचय हो गया; और उसी दिन हमको पूर्ण विश्वास हो गया कि अब हमारी चिकित्साका प्रचार होनेमें कोई विलम्ब नहीं है। क्योंकि उन्होंने उस रोगीके निमित्त ताप पहुंचानेकी सामग्रीके अतिरिक्त उसके ओढ़नेके लिए अपने निजके ओढ़नेके वस्त्र देदिये। उन्होंने तनि-

कभी यह गर्व नहीं किया कि एक नीच जातिके रोगीको अपने निजके वस्त्र किस प्रकार देदिये जावें ? उस रात्रिको उन्होंने विना वस्त्रोंके ओढ़ेही शयन किया था। प्रत्युत वह स्वयं उस मालीकी सेवा करनेको प्रस्तुत थे। हमको ऐसेही मनुष्यकी आवश्यकता थी, जिसके उदार हृदयमें नीचाति नीच रोगीके प्रतिभी सहानुभूति हो। अतएव हमको सेठ ..... का मिलना वास्तवमें करोड़ोंकी सम्पत्ति प्राप्त होना है। हम धनकी आवश्यकता होते हुएभी उस मनुष्यको एक धनिककी अपेक्षा कहीं उच्च दृष्टिसे देखना चाहते हैं जो उदारता पूर्वक दीन रोगियोंके प्रति पूर्ण सहानुभूति रक्खता है; और वास्तवमें मनुष्य वही है जो धनके होते हुएभी दुःखी मनुष्योंके क्लेशोंका अनुभव करके उनके दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है; क्योंकि धनके होतेही बड़े, बड़े विद्वानभी चक्षु हीन हो जाते हैं। उनको अपने भोग, विलासमें किसी दुःखीकी गाथा सुनते हुएभी मृत्यु आती है। नीच कर्मोंमेंही उनका धन व्यय होता है। सुकार्यमें पैसा लगानेसे उनको काला सूंघ जाता है। यह सब उनके ओछे स्वभावका कारण है।

मोतीझरा Typhoid fever.

यों तो भारतवर्षमें अविद्याके कारण समस्त रोगोंके दूर करनेमें धूर्तोंने अनेक पाखण्डोंकी रचना कर रक्खी है, परन्तु मोतीझरे और चेचक आदिमें तो बीसों विसे ऐसे पाखण्डकी रचना की है कि बड़े, बड़े विद्वानभी उक्त रोगोंकी इसके अतिरिक्त कि इधर उधरके देवताओंको मनाते फिरें कोई चिकित्सा नहीं करते। इसीसे सहस्रों बालक चेचक और मोतीझरेसे पीड़ित होकर कुसमय मृत्युको प्राप्त होते हैं। मोतीझरा कितना भयङ्कर रोग है ? यह जानकरभी जो उसकी चिकित्सा करना नहीं चाहते उनको मूर्ख कहनाही शोभा देता है।

मोतीझरेमें ज्वरकी अधिकताके कारण सरसोंके समान छोटे छोटे, जलके रङ्गके दाने मस्तकपर प्रगट होते हुए ग्रीवा, छाती और उदर आदिपर उतरते हुए नीचेको चले जाते हैं, प्यास बढ़जाती है, शिर पीड़ा अधिक होने लगती है, ओष्ठोंपर शुष्क पपड़ी जम जाती है, कण्ठ और जिह्वापर कांटे प्रतीत होने लगते हैं, और कभी, कभी शरीरका ताप अधिक होनेसे रोगीको अतिसार हो जाता है। मोती झरेकी चिकित्सा और पथ्य वही होना चाहिये जो निमोनिया, प्लेग, श्लेष्म-विशूचिका, चेचक या अन्य तीव्र रोगोंकी होनी चाहिये।

सन् १९१७ ई० में हमको लखनऊमें एक मोतीझरेका बहुतही विकट रोगी मिला था। वह एक बारह वर्षीय लड़का था, उसके ज्वरका ताप १०५° था; उसके होंटोंपर सूखी पपड़ी जम रही थी और प्यासके कारण वह बहुतही विकल था। उसको शिर पीड़ाभी बहुत दुःख दे रही थी, परन्तु ज्वरकी अधिकतासे वह अचेत हो गया था, और उसी दशामें अनाप, शनाप बड़, बड़ाता था। अतःकई चिकित्सक यह कहकर कि वायुमें भरा हुआ है और सन्निपात होगया है, इसलिए उसका बचना कठिन है, उसे छोड़कर चले गये। किन्तु हमने उसमें कोई, कोई लक्षण आशा जनक देखकर उसको अपनी चिकित्सामें लेलिया और निरन्तर चौवीस घन्टेतक उसकी छाती, उदर और माथेपर ताप करवाया गया। इस बीचमें सत्रह घन्टे ताप हो जानेके उपरान्त जब रोगीके ज्वरका ताप १०२° हो गया तो वह सचेत होकर ठीक, ठीक बात-चीत करने लगा। परन्तु चौबीस घन्टेके उपरान्त वस्त्रों द्वारा जल ताप पहुंचानेवाला परिचारक बहुत थकगया था, इस लिए ताप बन्द कर दिया गया। किन्तु तापके बन्द करतेही कुछ मिनिट्समें ज्वरका ताप १०३° हो गया और प्राय तीन घन्टेके भीतर फिर १०५° होनेसे रोगी अचेत होकर बड़, बड़ाने लगा। अतः उसको पुनः ताप देना आरम्भ किया गया और निरन्तर अड़तालीस घन्टेतक ताप करनेसे उसका ज्वर ९९° तक उतर गया, जिससे उसकी प्यास, शिर पीड़ा और शुष्कता सब दमन हो गयी। उसको शौचसे निवृत्ति प्राप्त करनेकाभी सौभाग्य प्राप्त हुआ और उसका शरीर एकैक हलका हो गया। इसके उपरान्त प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे कई दिनतक उसको ताप पहुंचाया गया और रसीले फल तथा धारोष्ण दूध उसका आहार रक्खा गया था। जबतक उसको प्यास अधिक थी हम उसको केवल कुछ ऊष्ण तापका (गुनगुना) जल पीनेको देते थे। इस प्रकार प्राय आठ दिनमें वह पूर्ण आरोग्य हो गया।

महामरी Plague.

प्लेग रोगके अनेक रूप हैं, परंन्तु सबसे अधिक हमारे देशवासी ब्यूबोनिक प्लेगसेही परिचित हैं। इस लिए वह ग्रन्थियोंका प्रगट होनाही प्लेग समझे हुए हैं। किन्तु हमारे विचारसे निमोनिक प्लेग बहुत भयङ्कर होता है। परन्तु फिरभी हमारे मतसे समस्त तीव्र रोगोंकी एकही चिकित्सा है, अर्थात् यथा शक्ति जबतक रोगपर विजय प्राप्त न हो जाय शरीरको ताप पहुंचाना। प्राय प्लेग

या अन्य तीव्र रोगोंमें तभीतक चिकित्सा करनेमें सफलता होती है जबतक रोगी सचेत होता है, किन्तु रोगीके अचेत होनेपर बड़े अनुभवी चिकित्सककी आवश्यकता है, और फिरभी यह कहना कठिन है कि रोगीके प्राण बचेंगे अथवा नहीं ।

प्लेगसे पीड़ित सबसे पहिले सन् १९१५ ई० में हमारी चिकित्सामें केवल भङ्गीही आये थे। क्योंकि उन दुःखियोंके अन्य चिकित्सक क्यों जाने लगे थे । परन्तु हमको उनकी चिकित्सा करनेमें बहुतही आनन्द आता था। अतः समस्त भङ्गियोंमें हमारी चिकित्साका प्रचार हो गया। वह ताप पहुंचनेकी रीति और बन्धनोंके प्रयोगको भले प्रकार समझ गये । अतएव उन्होंने अनेक रोगियोंकी चिकित्सा करके उनके प्राण बचाये। उस समय वह लोग जो उनको स्पर्श करनेसेभी घृणा करते थे, अपने स्वार्थके लिए उनको अपने घर बुलाकर उनसे शरीरपर ताप और बन्धनोंका प्रयोग कराते थे। वास्तवमें स्वार्थ ऐसाही होता है। प्लेगका एक रोगी हमको सन् १९१६ ई० में प्रयागके स्थानपर ऐसा मिला था कि उसका कथन करनेके लिए हमको बाध्य होना पड़ता है। वह एक चार वर्षका बालक था। उसके पिता महाशय एक स्त्री मासिक पत्रिकाके सम्पादक थे। उसकी चिकित्सा करते समय उसकी माताने, जिसका नाम उस पत्रिकाके सहकारी सम्पादकके स्थानमें किसी नीतिवश दिया हुआ था, हमको अनेक प्रलोभन दिये थे। सबसे पहिले तो उसने यही कहा-" यदि आपकी चिकित्सासे मेरा पुत्र अच्छा हो जावेगा, तो मैं ०००० में आपका फ़ोटो, जीवनी और इस चिकित्साका महत्त्व प्रकाशित कर दूंगी।" इसके उपरान्त उसने यह कहा-" इसके अच्छे होनेपर मैं दारिद्रतासे पीड़ित रोगियोंकी चिकित्सार्थ चिकित्सा सम्बन्धी सामग्री देनेकी सहायता करूंगी।" परन्तु उसकी यह प्रतिज्ञाएं केवल अपनी चालसे हमको मूर्ख बनानेके लिए थीं । इसीसे वह दुःखी रोगियोंको तो उनकी चिकित्सार्थ क्या सामग्री देती, प्रत्युत उसने हमारे एक प्लेग पीड़ित दीन यवनको देखने जानेपरभी इस लिए आक्षेप किया था कि कहीं हमारे साथ उसके घर जाने पर प्लेग न आजाय। किन्तु जब हमने उसके प्लेग पीड़ित बालकके साथ शयन किया था उस समय उसने हमको उस रोगी बालकसे बचनेको नहीं कहा था। ठीक है! उस समय वह कैसे कहती, तब तो निजका स्वार्थ था, अपने घरमें आग लगी थी। पत्रिकामें फ़ोटो आदि के प्रकाशित करनेका प्रलोभन देना व्यर्थही था; क्योंकि हमको इसकी कभीभी इच्छा नहीं थी। परन्तु उसको अपने उस वचनका पालन

करना चाहिये था जो उसने दीन रोगियोंकी चिकित्सार्थ सामग्री देनेके लिए कहा था । किन्तु खेद है उसने हमारे कई वार स्मरण करानेपरभी अपने उस वचनका पालन नहीं किया । हम नहीं कह सकते वह इतनी निर्लज्ज क्यों होगयी । गालियां सुनते हुएभी निर्लज्ज बने बैठे रहना और गांठसे पैसा न निकालना यह केवल उन्हीं लोगोंके काम हैं जो धनकोही भगवान समझे हुए हैं, अन्यथा शिक्षित समुदायका यह काम नहीं है कि वचन देकर उनको लोभवस पूरा न किया जाय, या किसीको उचित अधिकारोंसे वञ्चित रक्खा जाय। हमारी सम्मतिमें यदि श्रीमती संपादिका जी कुछ सभ्य हैं तो उनको चाहिये कि अबभी वह अपने वचनोंका पालन करें, और अपने इस गुरुतर अपराधके लिए खेद प्रगट करें। इसीमें उनका गौरव है ।

सन् १९२२ ई० में दिल्ली और उसके निकटवर्त्ती नगरोंमें प्लेगका अति कोप हुआ था, और उस समय हमारी चिकित्साके अनुसार एक कालिजके प्रोफ़ेसर महाशयने अनेक रोगियोंके प्राणोंकी रक्षा की थी । उनके पत्रसे ज्ञात होता है कि उन्होंने एक बहुत बड़े पात्रमें कई मन जल भरकर उबलनेको रक्ख दिया था; और एक हालमें प्राय सौ रोगियोंको इस प्रकार टबोंमें लिटा दिया था कि निरन्तर उस पात्रमेंसे टबोंमें ऊष्ण जल आनेसे रोगीके समस्त शरीरको ताप पहुंचता रहे । परिणाम यह हुआ कि पिछत्तर प्रतिशत रोगियोंके प्राण बहुतही सरलतासे बच गये । किन्तु हमको गुप्त रीतिसे ज्ञात हुआ है कि चिकित्साकी इस सफलताके कारण उन प्रोफ़ेसर महाशयको बहुत अभिमान हो गया और उनके हृदयमें लोभकोभी यथेष्ट स्थान मिल गया । अतः इन्होंने प्रति रोगी कमसे कम ५०) रुपये लेना चाहा । किन्तु दिल्ली कोई इङ्गलेण्डका नगर तो थाही नहीं जो प्रति रोगी ५०) रु० प्राप्त हो जाते; प्रत्युत उनके करे करायेपर पानी फिर गया और हमारी चिकित्साके प्रचारकोभी भारी धक्का लगा, अन्यथा दिल्लीमें प्रचार होनेके लिए वह बहुतही अच्छा अवसर था । किन्तु उससे हमको एक पाठ यह मिल गया कि अब आगेको हम अपने उत्तरदायित्वपर कभी किसीको अपनी चिकित्सा विधिके अनुसार किसी अन्य रोगीकी चिकित्सा करनेकी आज्ञा उस समयतक नहीं देंगे जबतक वह हमारे नियमोंको पूर्णतः पालन करनेकी शपथ न लेगा । इसीसे जो हमारी चिकित्सा विधिके अनुसार चिकित्साका व्यवहार करेंगे उनको हमसे प्रमाण पत्र प्राप्त करके प्रत्येक समय अपने निकट रखना होगा ।

वक्ष रोग Heart diseases.

हृदय सम्बन्धी समस्त रोग बहुतही भयानक होते हैं। क्योंकि एक पलको भी हृदयकी गतिमें अन्तर आनेसे मृत्युकी सम्भावना रहती है। अतः हृदयमें रोग होनाही नहीं प्रत्युत उसका निर्बल होनाभी बहुत आपत्ति जनक हैं। इस लिए जो रोगी हृदय सम्बन्धी किसी रोगसे पीड़ित हो उसे उत्तमोत्तम रसीले और अनुत्तेजक फलोंका आहार करके निश्चिन्त हो छाती और उदरपर ताप अथवा ताप और बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये; और यदि शक्ति हो तो अनुकूल समयमें पवित्र वायुके स्थानोंपर सामर्थ्यानुकूल टहलना चाहिये। हृदय सम्बन्धी समस्त रोगोंमें विश्रामकी बहुत आवश्यकता है। क्योंकि सामर्थ्यसे अधिक परिश्रम करनेपर रक्तका अधिक सञ्चार होनेके कारण हृदयकी शक्तियोंका अनुचित व्यय होनेसे प्राय हृदय अपना काम करते, करते एकैक रुक जाता है, जिससे रक्त सञ्चारके बन्द होनेपर बातकी बातमें हमारी मृत्यु हो जाती है। अनावश्यक वाह्य परिश्रमके अतिरिक्त अधिकांश हृदय रोग उत्तेजक पदार्थोंके आहारपरही अवलम्बित हैं। क्योंकि उत्तेजक पदार्थोंके सेवनसे नाड़ियोंके उत्तेजित होनेपर हृदयको रक्त सञ्चारका कार्य तीव्र गतिसे करनेको बाध्य होना पड़ता है, जिससे वह थककर शिथिल और कर्तव्य हीन होनेपर अपना काम करना त्याग देता है। इसीसे मदिरा पान करनेके उपरान्त उसकी उत्तेजनासे उत्तेजित होकर रक्तके सञ्चार करनेकी गतिमें वृद्धि होनेसे शरीर बहुत शक्तिशाली प्रतीत होता है, परन्तु हृदयके अधिक परिश्रमके कारण उसके शिथिल होजानेसे मदके पीछे समस्त शरीर गिरा हुआ और शक्तिहीन प्रतीत होता है।

शरीरके किसी प्रधान अवयवके दूषित होनेपर हमारे समस्त अवयव कुछ न कुछ रोगी हो जाते हैं। इसीसे यदि यकृत दूषित होता है तो फुफ्फुस, वृक्क और हृदयादि विकृत हो जाते हैं, यदि वृक्कमें दोष होता है तो यकृत फुफ्फुसादि विकारमय हो जाते हैं, और यदि हृदयमें पीड़ा होती है तो अन्य अवयवोंमेंभी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि हमारे समस्त शरीरमें आधे मिनिटमें रक्तका पूर्ण सञ्चार हो जाता है, और उसके द्वारा एक स्थानके दूषित पदार्थोंका कुछ न कुछ भाग अन्य स्थानोंमें अवश्य पहुंच जाता है।

निर्बल हृदय वालोंके शरद ऋतुमें प्राय हाथ, पैर इस लिए ठन्डे रहने लगते हैं कि रक्त सञ्चारकी शक्तियोंके शिथिल होनेसे उन (हाथ, पैर) के हृदयसे दूर होनेके

कारण उनको ऊष्ण रक्खनेके निमित्त उनतक यथेष्ट रक्त नहीं पहुंचता। इसके अतिरिक्त हृदयके शक्ति हीन होनेपर उसकी धड़कनके अतिरिक्त बहुधा हाथ, पैरोंपर सूजन आजाता है और शरीरमें दिनोदिन विषोंकी वृद्धि होती जाती है।

हृदय रोगसे पीड़ित एक रोगी सन् १९१३ ई० में हमको कोटा (राजपूताना) में मिला था। उसकी अवस्था प्राय पैंतीस वर्षकी थी। वह शरीरका बहुतही निवल था, और उन दिनों साधारण गर्मीसे घबरा जाता था, तीव्र स्वरके शब्दोंको सुनतेही उसका वक्ष कम्पायमान होजाता था, शीतकालमें उसके हाथ, पैर यथेष्ट दुर्तापवाहक वस्त्रोंके प्रयोग करनेपरभी ठन्डेही रहते थे, वह थोड़ी दूर टहलनेकोभी असमर्थ था। अतःहमने उसको मेरू दण्ड * पर दिनमें तीन बार पांच, पांच मिनिट्सतक शीतल जलका स्नान लेने और रसीले फलोंके सेवन करनेकी सम्मति दी, जिससे पहिले कुछ मासतक शरीरमें प्रतिक्रियाके अधिक होनेसे उसे लाभ और चैतन्यता प्रतीत हुई। किन्तु उसके उपरान्त उसके शरीरका उन्नति प्राप्त करना एकैक रुक गया, प्रत्युत अनेक रोगोंके दौरे होने लगे और

* ताप पहुंचानेकी चिकित्साका आविष्कार करनेसे पूर्व हम शीतल जलके स्नानोंका प्रयोग किया करते थे, और उनकी उत्तेजना द्वारा शरीरमें प्रतिक्रिया उत्पन्न होनेपर उसी प्रकार रोगोंके दूषित कीटोंके समूह अस्तव्यस्त होकर निवल हो जानेके कारण स्वस्थ जीवन-कोषों द्वारा मार दिये जानेसे शरीरका रोग जाता रहता था, जिस प्रकार औषधियोंके प्रभाव द्वारा रक्तकी गतिमें वृद्धि होनेसे पीड़ाके विकृत कणोंके समूह छिन्न, भिन्न हो जानेसे नष्ट हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार शीतल जल या औषधियों द्वारा रक्तको अपनी गतिमें वृद्धि करनेके निमित्त प्रकृतिके नियमके विपरीत बलात् उत्तेजित करनेसे नाड़ियों और शरीरके समस्त अवयवोंको कर्त्तव्य हीन और शिथिल बनाना है। इसीसे शीतल जल चिकित्सा और औषधियोंका प्रभाव एकही है, और जैसे मदिराका प्रयोग करते, करते हमको मदका अनुभव नहीं होता वैसेही शीतल जलसेभी कुछ दिनके उपरान्त शरीरमें प्रतिक्रिया न होनेसे रोगोंका अन्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त रोगकी दशामें शरीरका ताप कुछ ऊष्ण होनेसे उस समय प्रकृतिही शीतल जलके स्नानकी आज्ञा नहीं देती। अतःशीतल जल क्रियाओंके इन्हीं अवगुणोंको देखकर हमको ताप पहुंचानेकी प्राकृतिक चिकित्साका आविष्कार करना पड़ा। किन्तु बहुत समयतक हम ताप पहुंचानेकी चिकित्साके साथ मूर्खतावश शीतल जल क्रियाओंका प्रयोग करते रहे थे। इसीसे उस रोगीको मेरू दण्ड स्नानकी सम्मति दी थी

दिनोदिन उसको निर्बलता घेरती गयी। अतः उसने हमको समस्त विवरण लिखा और हमने शीतल जल क्रियाओंके दोषोंपर कुछ अधिक विचार करना आरम्भ किया। परन्तु प्रकृतिकी आज्ञा होते हुएभी हम हृदय और नेत्र सम्बन्धी रोगियों-पर अपनी ताप पहुंचानेकी चिकित्साका अनुभव करनेका साहस न करते थे। किन्तु अन्ततः हमने उसको प्रत्येक मेरु दण्ड स्नान लेनेके उपरान्त उष्ण मृत्तिकाके धड़ बन्धनोंका प्रयोग करनेकी सम्मति दी, जिससे उसे बहुत लाभ पहुंचा। उसकी पाचन शक्ति नियमित रूपसे कार्य करने लगी, उसके हृदयकी धड़कन बहुत कम हो गयी, और उसको नवजीवन प्राप्त होना आरम्भ हुआ। अतएव तभीसे हमारे अनेक मिथ्या विचारोंका अन्त हो गया और हमने स्वतन्त्रता पूर्वक उसे मेरु दण्ड स्नानको त्यागने और उनके स्थानमें आध, आध घन्टे छाती और उदरको वस्त्रों द्वारा जल-ताप पहुंचानेकी सम्मति दी, जिससे उसको हमारी कल्पनासे बाहर लाभ हुआ। इस लिए तभीसे हमने प्रत्येक रोगमें तापका पहुंचानाही उचित समझा। परन्तु उस समयभी हमारे मस्तिष्कमें यह बात घुसी हुई थी कि जिस प्रकार एक वृक्षको चैतन्य करनेके लिए शीतल जलादिकी आवश्यकता है उसी प्रकार रोगीको चैतन्य करनेके लिएभी शीतल जल क्रियाओंका होना परमावश्यक है। किन्तु हम यह विचार-नेको असमर्थ थे कि रोगकी दशामें शरीरकी प्रकृति रुग्ण होनेसे उस समय शीतल क्रियाओंका उसपर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है। इसीसे प्रायः सन् १९१७ ई० के निकटतक हम कुछ, कुछ मेरु दण्डके शीतल स्नानोंका प्रयोग कराते रहे। परन्तु सन् १९१८ ई० में श्लेष्मज्वरके फैलनेपर उससे पीड़ित रोगियोंपर शीतल जल क्रियाओंका प्रयोग करनेसे हमने, उनके दोषोंको देखकर और उन्हें रोगियोंकी प्रकृतिके प्रतिकूल जानके, एक ओरसे उनका बहिष्कार कर दिया; और हमको भले प्रकार विदित हो गया कि शीतल जल या वायुका स्नान अथवा सेवन केवल आरोग्य मनु-ष्योंकाही आहार है, किन्तु रोगियोंके निमित्त वह विषसेभी अधिक तीक्ष्ण है। हम समझ-गये कि रोगीके लिए केवल उतनीही शीतलता उपयोगी हो सकती है, जितनी वह बिना कष्टके सहन कर सकता है, और जिससे अनावश्यक उत्तेजनाका ज्ञान नहीं होता। अतः सन् १९१८ ई० से हमें तापकी चिकित्साके अनेक महत्त्व प्रगट हुए और हमको यह अनुभव होगया कि सह्य अर्थात् अनुत्तेजक तापका जितने अधिक कालतक प्रयोग किया जायगा उतनाही अधिक लाभ होगा। यद्यपि यही

बात पहिलेभी हमारे मस्तिष्कमें घुसी थी, और इसीसे ऊष्ण मृत्तिका बन्धनके नीचे हमने चौबीसों घन्टे उसके ऊष्ण तापको रोके रहनेके लिए दुर्तापवाहक ऊनी वस्त्र प्रयोग करनेकी सम्मति दी थी, जिससे शरीरसे मृत्तिका बन्धन खोलनेपर उसकी मिट्टीपर हाथ रखनेसे कुछ न कुछ ऊष्ण प्रतीत होती थी, तथापि हम यह नहीं समझे थे कि उसका ऊष्ण ताप हमारे रोगोंका अन्त करनेको यथेष्ट नहीं था। इसी कारण वश हम बहुत दिनतक जल तापकी अपेक्षा मृत्तिका बन्धनों-को इसलिए अधिक महत्त्व देते रहे कि उनका प्रयोग उसकी अपेक्षा सुलभ था। किन्तु जब हमने देखा कि मृत्तिका बन्धनोंमें समय अधिक नष्ट होनेपरभी इच्छा-नुकूल लाभ नहीं होता तो हमने टब अथवा वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचानेपर अधिक बल दिया। यद्यपि हम कई वर्ष पहिलेसे बहुधा जल तापका प्रयोग करते थे तथापि उसका पूर्ण महत्त्व हमको अधिक तर उपरोक्त हृदय रोगसे पीड़ित रोगीकी चिकित्सा करनेपरही समझमें आया था। परन्तु इसपरभी वह रोगी सन् १९१८ ई० तक हमारी चिकित्सामें वृथाही लटकता रहा। क्योंकि कभी, कभी हमारे मस्तिष्कमें इस लिए मूर्खताके मिथ्या विचारोंकी उत्पत्ति हो जाती थी कि हम यह ध्यान करने लगते थे कि हृदयपर तापसे निश्चय वही प्रभाव होना चाहिये जो फूलकी पंखड़ियोंपर ऊष्ण जलका बिन्दु डालनेसे होता है। अतः हम कभी उस रोगीको ताप करनेकी सम्मति दे देते थे और कभी उसको बन्द करदेनेको लिख देते थे। परन्तु इस बीचमें औरभी अनेक हृदय पीड़ित रोगी, जिनमेंसे एक रोगीकी दशा बहुतही गिरी हुई थी, हमारी चिकित्सामें आये और हमने उनको शीतल जल क्रियाओंकी अपेक्षा प्रतिदिन दो, दो तीन, तीन बार दो-दो, तीन-तीन घन्टे वस्त्रों या टब द्वारा ताप पहुंचाने एवं अति रसीले और अनुत्तेजक फलोंका सेवन तथा बन्धनोंके प्रयोगकी अनुमति दी थी, जिससे उनको बहुत शीघ्र लाभ हो गया था। किन्तु उन रोगियोंमेंसे कोईभी ऐसा सज्जन नहीं था, जो हमको अपने आरोग्य होनेकी सूचना देता। क्योंकि प्राय रोगियोंका यह अनुमान होता है कि यदि किसी चिकित्सकसे लाभ हो जाय तो उसे इस लिए मुंहभी न दिखाना चाहिये कि सम्भव है उससे मिलनेपर लज्जावश उसकी कुछ भेंट करना पड़े। परन्तु अन्तमें धीरे, धीरे हमको सन् १९१७ ई० के अन्ततक उन समस्त रोगियोंके आरोग्य होनेके समाचार मिल गये, और तभीसे हमारे मस्तिष्कसे शीतल जल क्रियाओं द्वारा चिकित्सा करनेके मिथ्या विचार

दूर हो गये। अतः हमने कोटेवाले हृदय रोगसे पीड़ित रोगीको टब द्वारा निरन्तर एक सप्ताहतक ताप लेने और उसके पश्चात् दिनमें दो, दो बार दो, दो घन्टे ताप और उसके उपरान्त बन्धनोंका प्रयोग करने, और फिर क्रमसे जितना लाभ होता जाय उतनाही तापका समय कम कर देनेकी सम्मति दी। अतः चार मासमें उसका हृदय रोगसे छुटकारा हो गया और कुछही दिनमें रसीले फलोंके आहारसे उसके शरीरमें यथेष्ट मांस और रक्तकी उत्पत्ति हो गयी। यद्यपि हमारी भूलसे उसकी चिकित्सामे बहुत विलम्ब हुआ, परन्तु उस विलम्बके कारण हमको अपार लाभ हुआ। क्योंकि फिर हमारा विश्वास अपनी ताप पहुंचानेकी चिकित्सा विधिमें इतना दृढ़ हो गया कि हम बड़े, बड़े भयङ्कर रोगोंमें बिना कुछ विचारे तापका प्रयोग कराने लगे, और कभी, कभी तो आशासे अधिक फल प्राप्त हुआ, प्रत्युत किसी, किसी समय हमारी चिकित्साको प्रायः मनुष्य दैविक शक्ति कहकर सम्बोधन करते रहे हैं। हमारे सब भ्रम नष्ट हो गये और हम भले प्रकार समझ गये कि एक मात्र तापका पहुंचानाही समस्त रोगोंकी निर्विघ्न चिकित्सा है। हमारा विश्वास हो गया कि तापके अतिरिक्त अन्य कोई चिकित्सा शीघ्र लाभ नहीं पहुंचा सकती। इसीसे हम उस रोगीके बहुत ऋणी हैं, जिसने धैर्यके साथ प्राय पांच वर्षतक हमारी चिकित्सा की।

आमाशयिक रोग Stomach diseases.

आमाशय कैसा उपयोगी और आवश्यक अवयव है—इसके कहनेकी तो कोई आवश्यकताही नहीं। क्योंकि भोजन द्वारा हमारे शरीरका पोषण होनेका आधार एक मात्र आमाशयपरही निर्भर है। अतः आमाशयकी क्रियाओंमें विघ्न उपस्थित करना ऐसाही है जैसे किसी वृक्षकी मूलको डीम लगाना। परन्तु इसपरभी हम आमाशयकी ओरसे सदा उपेक्षासेही काम लेते हैं, हम ठूंस, ठूंसकर खानेपरभी सन्तोषसे काम नहीं लेते, हम खाद्य और अखाद्य समस्त पदार्थोंको भट्ठीके समान उदरमें झोंक देते हैं, हम कटु तथा अन्य दूषित, विषैले दुर्गन्धित एवं कृत्रिम पदार्थोंको बुद्धिके होते हुएभी अपनी मूर्खतासे भक्षण कर जाते हैं, और जैसे बड़े, बड़े विशाल नगरोंमें निवास करके हम प्रत्यक्ष रूपसे मल, मूत्रादिसे मिश्रित वायुका सेवन करते हैं, वैसेही अपनी सभ्यता वश हम अपवित्रसे अपवित्र पदार्थोंका आहार करते हैं, जिससे आमाशयको सामर्थ्याधिक

कार्य करना पड़ता है, उसमें घाव और छाले पड़ जाते हैं, दाह होने लगती है, और उसके रसों एवं शक्तियोंका कोष व्यय होनेसे धीरे, धीरे उसकी भींत उसी प्रकार कठोर, निर्जीव और कर्त्तव्यच्युत हो जाती है, जिस प्रकार हाथसे कठोर कार्य करनेपर हस्त-तलकी त्वचा जीवन हीन हो जाती है; और जैसे ज्यों, ज्यों हाथसे कड़ा कार्य करते हैं त्यों, त्यों हस्त-तलका चाम निर्जीव होनेपर उतनेही अधिक तीव्र अस्त्र द्वारा काटनेपर रक्त निकाला जा सकता है वैसेही हम जितने तीक्ष्ण और अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करते हैं उतनाही आमाशयकी भींत कठोर और जीवनसे वञ्चित होनेपर उतनेही अधिक तीक्ष्ण पदार्थ सेवन करके भोजनके पाचनार्थ उससे रसोंके निकालनेकी आवश्यकता होती है; और धीरे, धीरे उससे समस्त जीवन शक्तियोंके विदा होनेपर तीक्ष्णाति तीक्ष्ण पदार्थभी रसोंका स्राव करानेको उसी भांति असमर्थ होते हैं जैसे हाथकी त्त्वचा अधिक निर्जीव हो जानेपर तीक्ष्णाति तीक्ष्ण श्रेणीके सोडेकाभी उसपर दुःख देनेवाला प्रभाव नहीं होता। अपथ्य अभक्ष्य पदार्थोंके सेवनसे आमाशयके कर्त्तव्य हीन हो जानेसे जब भोजनके पाचनार्थ रसोंका स्राव नहीं होता या कम होत है अथवा भोजनकी मात्रा उसकी सामर्थ्यसे अधिक होती है तो भोजन पाचनमें आनेकी अपेक्षा सड़ने लगता है; और उस सड़नसे आमाशयमें शनैः, शनैः ऐसे विषैले और तीक्ष्ण अमल एवं गैस उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे कठोरसे कठोर पदार्थोंका पाचनभी बड़ी सरलतासे हो जाता है। परन्तु इसका परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि अपवित्र पदार्थोंका विषैले पदार्थों द्वारा पाचन होनेपर दिनोदिन हमारा रक्त दूषित होता जाता है, जिससे आमाशयके अतिरिक्त यकृत, फुफ्फुस, वक्ष, मस्तिष्क, वृक्क और अन्त्रादि समस्त अवयव कर्त्तव्य च्युत और अनेक व्याधि युक्त होते चले जाते हैं। संग्रहणी, विशूचिका, अर्श, शिर पीड़ा, जलोदर, पाण्डु, प्रदर, वमन, अतिसार, मुखमें छाले, गठिया, शरीरका फूलना और प्रमेहादि अनेक रोगोंका होना आमाशयिक विकारोंहीपर अवलम्बित है। अतः आमाशय सम्बन्धी समस्त रोगोंमें चिकित्सा करनेसे पूर्व उसी प्रकार रोगीके भोजनोंकी ओर ध्यान देना है, जिस प्रकार फुफ्फुस सम्बन्धी रोगोंमें रोगीके सेवनार्थ स्वच्छ वायुकी ओर दृष्टि पात करना है। क्योंकि सबसे पहिले आमाशयको विश्राम देकर उसे नवजीवित और चैतन्य बनाना है। इसके अतिरिक्त उसके विकारोंको दूर करके स्वच्छ करना

है। अपच्च उसको इस योग्य बनाना है कि वह नियमित रूपसे अपना कर्त्तव्य पालन करसके और उसको बीत शक्तियोंके स्थानमें पुनः शक्तियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि हो जाय। अतः आमाशयको विश्राम देके उसके दोषोंको दूरकरने, उसे चैतन्य और शक्तिशाली बनाने और उससे नियमित रूपसे कर्त्तव्य पालन करानेके निमित्त केवल सूक्ष्म और रसीले फलोंपरही निर्वाह करनेकी आवश्यकता है।

आमाशयिक मन्द रोगोंकी दशामें यदि फुप्फुस आदि सम्बन्धी रोग न हों तो वस्त्रों द्वारा केवल उदरपर ताप और बन्धनोंका प्रयोगही यथेष्ट है। परन्तु फुप्फुसादि रोगोंके होनेपर छाती और उदरपर ताप होना आवश्यक है। यदि आमाशयिक रोगोंमें छातीके भीतरके अवयवोंमें दोष नभी हो तोभी समस्त शरीरको रुव द्वारा या केवल छाती और उदरको वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचाना बहुत लाभप्रद है। एक तापके उपरान्त निरन्तर दूसरे तापके समयतक यदि वक्ष या उदर बन्धनोंका प्रयोग रक्खा जाय तो केवल तापकी अपेक्षा शीघ्र लाभ होता है।

आमाशयिक तीव्र रोगोंमें यथा शक्ति रुव द्वारा समस्त शरीरका अन्यथा न्यूनाति-न्यून छाती और उदरका वस्त्रों द्वारा ताप होना चाहिये। यदि रोग अति तीव्र दशामें हो तो निरन्तर कई घन्टेतक ताप करनेकी आवश्यकता है। इसीसे विशूचिका सरीखे रोगोंमें कभी, कभी रोगीको निरन्तर बारह, चौबीस, अड़तालीस, बहत्तर या उससेभी अधिक घन्टे अर्थात् जबतक रोगी जोखिमसे न निकलले ताप पहुंचानेकी आवश्यकता होती है। अतः जितना तीव्र रोग हो उतनेही अधिक कालतक निरन्तर ताप पहुंचानेकी आवश्यकता है।

आमाशयिक रोगोंसे पीड़ित रोगियोंकी गणना करना बहुतही कठिन है। क्योंकि आज पर्यन्त जितने रोगी हमारे निकट आये हैं उनमेंसे कोईभी ऐसा नहीं था जो आमाशय सम्बन्धी रोगोंसे पीड़ित न हो। इस लिए उनकी चिकित्साका विशेष विवरण उन्हीं रोगोंके साथ देना उचित है जिनका मूल कारण आमाशयका दूषित होना था।

आमाशयिक पीड़ासे क्लेशित एक रोगी हमारी चिकित्सामें सन् १९१३ ई० में राघोगढ़ राज्य (गुना) में आया था। उसकी आयु प्राय तीस वर्षकी थी। उसके आमाशयमें दाहके कारण उसके मुखमें अनेक छाले होगये थे। मुंहसे प्रत्येक समय लार बहती रहती थी। कभी, कभी दाहकी अधिकतासे मूत्रका त्यागन

करते हुएभी वहुत दाह और कष्ट प्रतीत होता था । प्राय शिर पीड़ा और जुकामभी उसे वहुत दुःख देता था। गुदा द्वारा वहुत तीक्षण और दुर्गन्धित गैसोंका प्रवाह होता था, उसकी जिह्वा मलसे श्वेद रहती थी और दांतोंका वर्ण वहुत कुछ स्वच्छ करनेपरभी पीला रहता था। इसके अतिरिक्त तीक्षण गन्धित पदार्थ सेवन करनेपरभी उसके मुखमें वड़ी तीव्र गन्ध प्रतीत होती थी। अतः हमने उसको प्रति दिन दो, दो घन्टे ग्रीवासे उदरतक वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचाने और केवल रसीले और अनुत्तेजक फल सेवन करनेकी सम्मति दी। निदान् दो सप्ताहके भीतरही उसके मुंहसे लार जाना वन्द हो गया, मुखके छाले और घाव लुप्त हो गये, मूत्राशयकी दाहका इति हो गया और मुंहका स्वाद पहिलेकी अपेक्षा वहुत हलका रहने लगा। चौथे सप्ताहतक उसकी शिर पीड़ाओं और जुकामकाभी सदाको अन्त हो गया, और गुदा द्वारा अपवित्र गैसोंका प्रवाहित होना वन्द हो गया। छटे सप्ताहके उपरान्त उसके दांत विना मञ्जन कियेही स्वच्छ रहने लगे और उसके मुखसे दुर्गन्ध प्रतीत होना जाता रहा। किन्तु इसपरभी हमने उसको निरन्तर छः मासतक सपथ्य चिकित्सा करनेकी सम्मति दी थी।

एक रोगीने जो कि आमाशयिक पीड़ासे विकल था सन् १९१७ ई० में, जब कि हम एक इञ्जीनियर महाशयके श्वांस रोगसे पीड़ित पुत्रकी चिकित्सार्थ ववियाल (अम्वाले) गये हुए थे, हमको वुलाया। अतः हमने जाकर देखा तो वह पीड़ाको सहन न कर सकनेके कारण हाय, हायका शब्द कर रहा था। उसको मूत्र रुक गया था और कई दिनसे विष्ठाभी न हुआ था। अम्वाले छावनीके डाक्टरनेभी उसका कष्ट दूर करनेके लिए वृथाही कई दिन प्रयत्न किया था। हमने उसको देखतेही आमाशयको विकारमय जानकर ताप पहुंचानेमें सुविधा न होनेके कारण उसके शरीरपर उष्ण मृत्तिकाके उदर वन्धनका प्रयोग कराया, जिससे उसको वांधनेके उपरान्त तत्क्षण उसका मूत्र और विष्ठा पात हो गया। अतः उसको उसी समय इस लिए निद्रा आगयी कि उसको मल, मूत्रके त्यागनसे पीड़ाके स्थानमें सुख पहुंचा और वह कई दिनका जागा हुआ था। दूसरे दिन जब वह पूर्णतः शयन करके उठा उसे कोई कष्ट न था, परन्तु उसने हमारी आज्ञाके विपरीत अनार या अङ्गूर सरीखे सूक्ष्म, रसीले और अनुत्तेजक फलोंके स्थानमें सेव सरीखा भारी फल सेवन कर लिया। अतएव सेबके लेतेही उसकी अन्त्रमें पीड़ा उठ खड़ी हुई

और मूत्राशयमें विकल करनेवाली दाह उत्पन्न हो गयी। अतः हमसे सम्मति ली गयी, किन्तु हम उसके कुपथ्य वश उसकी चिकित्सा नहीं करना चाहते थे, तथापि उसके क्लेशको देखकर हमको दया आगयी। अतः हमने निरन्तर कई घन्टेतक उसके उदरपर ताप पहुंचवाया, जिससे प्राय आठ घन्टेके उपरान्त उसको विष्ठा होनेसे समस्त पीड़ाका लोप हो गया; और प्रति दिन दो वार मृत्तिका बन्धनोंका उदरपर प्रयोग करनेसे धीरे, धीरे उसकी पाचन शक्तिमेंभी उन्नति होने लगी। किन्तु वह कोई एक सप्ताहही सुख पूर्वक रहा होगा कि उसने हमारी आज्ञाके विपरीत दूध-चावल सेवन कर लिये, जिससे उसके उदरमें कुछ पीड़ा उठ खड़ी हुई और मूत्रभी दाहके साथ आने लगा, परन्तु उसने इस बातका कुछ ध्यान न करके अगले दिन फिर गेंहूका दलिया और दूध सेवन किया। क्योंकि वह मूर्ख यह नहीं समझता था कि आमाशयमें दाह होनेकी दशामे दलिया या चावल क्या हानि पहुंचा सकते हैं; और हमारे कोटि वार समझानेपरभी उसकी समझमें एक न आयी। अतः उसको पीड़ाओंमें अति वृद्धि हो गयी और हमनेभी उसकी चिकित्सासे हाथ खींच लिया।

सन् १९१८ ई० में दिल्लीके स्थानपर एक दिन हमारे पिताको केवल लारके समान जलकी वमनका होना आरम्भ हुआ। उनको दिनके दस बजेसे सायंके तीन बजेतक प्राय आठ, दस वार वमन हो चुकी थी। अन्तमें एक इञ्जीनियर महाशयके कहनेपर उन्होने हमारी चिकित्सा करना अङ्गीकार किया। अतएव हमने उनके उदर और छातीपर प्राय दो घन्टेतक ताप पहुंचाया और उसके उपरान्त उदरपर मृत्तिका बन्धनका प्रयोग किया, जिससे एकैक उनको वमन होना बन्द हो गया। किन्तु आमाशयके दूषित होनेसे उनके मुखका स्वाद विगड़ा हुआ था। इसलिए वह दो दिनभी पथ्यसे न रहने पाये। अतः उनकी फिर वही दशा होने लगी। किन्तु हम उनकी वह दशा देखकर तुरन्त उनको दिल्लीसे काठियावाड़ ले गये, जिससे दिल्लीसे गाड़ीके चलतेही उनको स्वच्छ वायु प्राप्त हुई और उनकी समस्त पीड़ाओंका अन्त हो गया। अतः नगरोंकी दूषित और विषैली वायुमें निवास करनेवालोंके लिए यह एक शिक्षाप्रद घटना है।

विशूचिका cholera.

आमाशय सम्बन्धी समस्त तीव्र रोगोंमें हमारे मतानुसार विशूचिका बहुतही दुष्ट रोग है। क्योंकि इसके संक्रामक होनेसे कुछही सप्ताहमें

घरके घर और नगरके नगर ऊजड़ हो जाते हैं; और जहांतक उसके दूषित कीटोंकी पहूंच होती है वह फैलता जाता है।

विशूचिकाके फैलनेका कारण उस दूषित भोजन, वायु और जलका सेवन करना है जिसमें ऋतु आदिके अनुसार विशूचिकाके कीटोंकी उत्पत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य जीवभी विशूचिका रोगको फैलानेमें सहायक होते हैं। इसीसे विशूचिकाके रोगीकी वमनपर वैठी हुई मक्खी यदि किसीके भोजनपर आ वैठती है तो उसे तत्क्षण विशूचिका हो जाता है। क्योंकि मक्खी वमनको चूंसना आरम्भ करती है और इतना अधिक चूंसती है कि वह उसको पाचनमें लानेसे पूर्व गुदा द्वारा त्याग देती है। अतः विशूचिकाके दूषित कीट, जो किसी रोगीकी वमनमें होते हैं, पाचनमें न आनेके कारण मक्खीके विष्टे द्वारा ज्योंके त्यों उन पदार्थोंपर आजाते हैं जिनपर मक्खी वैठती है, और उनके सेवन करने वालेको तत्क्षण विशूचिका हो जाता है। अपरध्व क्षुधासे अधिक एवं गरिष्ठ पदार्थभी विशूचिकाके हेतु होते हैं।

विशूचिका प्राय उन्हीं स्थानोंमें होता है जिनके नीचाईपर होनेसे सीलनके कारण विशूचिका संवन्धी कीटोंकी उत्पत्ति होनेमें सहायता मिलती है, या जहांकी भूमि पोली अथवा दूषित पदार्थोंसे परिपूर्ण होती है, या जहांपर वानस्पतिके पदार्थ सड़ते रहते हैं। इसके अतिरिक्त सड़े और दूषित फलों, शाकों तथा अन्य पदार्थोंके सेवन, मादिरादिका अधिक पान, अपवित्र रीतिसे निवास और विशूचिकाके रोगि-योंके साथ रहन-सहन करनेसेभी विशूचिकाकी उत्पत्ति होती है।

विशूचिकामें जलके समान वमन और विरेचन होता है, हाथ-पैर कम्पायमान होने लगते हैं, ऊपरसे शरीरका ताप शीतल प्रतीत होने लगता है, नेत्र भीतरको वैठते हुए दीखते है, और रोगके भयङ्कर हो जानेपर दांत और होट नीले हो जाते हैं, कण्ठका स्वर बोलते समय वहुतही वैठा हुआ प्रतीत होता है।

वस्तुतः विशूचिकाके रोगीको वहुत तीव्र ज्वर होता है। इसीसे उसकी ऊष्णता द्वारा आमाशय और अन्नादिके जीवन-कणोंका जलमें परिवर्त्तन हो जाता है, और उसीके कारण वमन, विरेचन होता है। किन्तु ऊपरसे शरीरका ताप इस लिए शीतल प्रतीत होता है कि ज्वरकी अधिकतासे रक्त संचारकी गतिमें वृद्धि होनेसे नाड़ियोंके शिथिल हो जानेपर शरीरकी त्वचातक रक्तका सञ्चार होना वन्द

हो जाता है। अपरञ्च ज्वरसे उत्तेजित होकर नाड़ियोंके अधिक काम करनेपर शरीरका शक्तियोंका बहुतही शीघ्रतासे अन्त हो जाता है। इसीसे विशूचिकासे पीड़ित रोगी बहुतही थोड़े समयमें ऐसी दशाको प्राप्त हो जाता है कि वह उठने, बैठनेकोभी समर्थ नहीं होता।

प्राय चिकित्सक विशूचिकासे पीड़ित रोगियोंको वमन, विरेचन बन्द करनेकी औषधियां देते समय बड़ी भूल करते हैं। क्योंकि विषैले पदार्थोंको अमाशय या अन्त्रादिमें रोकना रोगीके साथ उपकारके स्थानमें अपकार करना है।

विशूचिकासे पीड़ित रोगीकी चिकित्सा करना बहुतही कठिन समस्या है। क्योंकि प्रथमतो वमन, विरेचनसेही परिचारकोंको भय प्रतीत होता है, द्वितीय टब द्वारा ताप पहुंचाना इस लिए कठिन है कि रोगीको टबमें वमन, विरेचन हो जानेसे तुरन्त टबके जलको फेंककर पुनः ऊष्ण जलसे टबको भरनेकी आवश्यकता होती है, और वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचानेसे टबकी अपेक्षा कम लाभ होता है। तथापि यथा शक्ति टबसेही ताप पहुंचानेका प्रयत्न करना चाहिये, और एक बड़े पात्रमें यथेष्ट ऊष्ण जल इस लिए रखना चाहिये कि यदि रोगीके वमन, विरेचनके कारण टबका जल दूषित हो जावे तो पुनः उसमें भर दिया जाय। परन्तु यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो वस्त्रों द्वारा छाती और उदरको शीघ्र, शीघ्र कई, कई घन्टे ताप पहुंचाकर धड़ यन्त्रनोंका प्रयोग करना चाहिये। किन्तु यदि रोग अति तीव्र हो तो निरन्तर बारह, चौबीस, अड़तालीस, बहत्तर या उससेभी अधिक घन्टेतक ताप पहुंचाना चाहिये।

विशूचिकासे पीड़ित रोगियोंको जबतक कि वह जोखिमसे बाहर न होलें कोई आहार देना बुद्धिके विपरीत है। अतः जब रोगीके शरीरसे विशूचिकाके लक्षण दूर होलें और उसको तीव्र क्षुधाका ज्ञान हो तो कई दिनतक केवल अनार खिलाकर उसके बीज थुकवा दिये जावें या अन्य कोई सूक्ष्म, रसीला और अनुत्तेजक फल दिया जाय, तद् उपरान्त क्रमशः धीरे, धीरे अन्य फल दिये जावें।

विशूचिकाका एक रोगी हमको लाहौरके स्थानपर सन् १९१२ ई० के मध्यमें मिला था। उस समय हम एक यवन हकीमके यहां मोची दर्वाजेमें ठहरे हुए थे; और वह रोगी उस हकीमकी चिकित्सामें था, किन्तु वह हकीम उसकी ओरसे हताश हो लिया था. अतः हमने उस रोगीको अपनी चिकित्सामें लेलिया, जिससे उन हकीम देवताके शरीरमें भड़ककर आग लग रही। किन्तु वह हमारे पिताके बहुत पुराने मित्र थे, इस लिए

हमसे कुछ न कह सके। वह रोगी एक अठारह वर्षीय नवयुवक था, उसको विशूचिकासे पीड़ित हुए छत्तीस घन्टे व्यतीत हो चुके थे, उसमें उठने, बैठनेकी किञ्चित मात्रभी शक्ति न थी, उसने बहुत कालसे मूत्रका त्यागन नहीं किया था, उसका शरीर हाथ फेरनेसे शीतल प्रतीत होता था, उसको जलके समान घन्टेमें कई बार वमन, विरेचनका क्लेश भोगना पड़ता था, वह प्याससे बहुत विकल था और उसके ओष्टों, दन्तों एवं नखोंका वर्ण कुछ श्याम प्रतीत होता था। हमने निरन्तर उसको अड़तालीस घन्टेतक ताप पहुंचाया, जिससे उसके शरीरकी आन्तरिक दाहके कम होनेसे नाड़ियोंको यथेष्ट विश्राम मिलनेपर उनकी शिथिलता दूर होनेके कारण रक्त सञ्चारकी गति ठीक होनेपर धीरे, धीरे शरीरके ऊपर ऊष्णताका आना आरम्भ हुआ; दाहसे जो मूत्र जल जाता था, या जिसका बनना बन्द होगया था उसके कम होनेपर चौबीस घन्टेके भीतरही हो गया; वमन विरेचनकी एक घन्टा ताप पहुंचनेपरही बहुत कमी हो गयी थी और चार घन्टेके भीतर उनका होना पूर्णतः बन्द हो गया; छटेसे आठवें घन्टेतक उसकी बढ़ी हुई प्यास सर्वथा लुप्त हो गयी; पाँचवे घन्टेतक उसके होटों आदिके रङ्गमें परिवर्त्तन होनेसे उसके जीवनकी बहुत कुछ आशा प्रतीत होने लगी थी; और ताप करनेसे थोड़ेही कालके उपरान्त उसके कण्ठ, के स्वरसे यह विदित होता था कि उसका जीवन आपत्तिसे बाहर हो लिया है। अड़तालीस घन्टेके उपरान्त उसके शरीरसे कोई विशूचिकाका लक्षण प्रगट नहीं होता था। परन्तु इसपरभी हमारी आज्ञानुसार उसे कई दिन पथ्यसे रक्खकर नित्य प्रति एक घन्टा ताप पहुंचाया जाता था। किन्तु उसको एक सप्ताहके उपरा त फलोंके स्थानमें अन्न दिया जाने लगा, जिससे वह कई मासतक निर्बल रहा।

सन् १९१८ ई० में जब हम सोमना रहते थे, अलीगढ़में विशूचिकाका प्रकोप हुआ। अतः एक युवक अपनी माताकी चिकित्सार्थ हमको अलीगढ़ लेगया। उसको उसी दिन विशूचिकाकी पीड़ा हुई थी और रोगकी भयंकर आकृतिके कारण कुछही घन्टोंमें कई वैद्य और डाक्टरोंकी चिकित्सा होचुकी थी। एक्षाब्रांडीके कारण उसमें उत्तेजना प्रतीत होती थी। परन्तु मुखके देखनेसे वह मृतप्राय जान पड़ती थी; क्योंकि उसके दोनों नेत्र बहुत भीतरको बैठ गये थे और दोनों कपोल पिचके हुए प्रतीत होते थे। उसके शरीरमें विशूचिकाके कई इञ्जेक्शनभी किये जा चुके थे। इसपर भी उसकी दशा नीचेही

गिरती जाती थी। हमकोभी देखकर उसके जीवनकी बहुतही कम आशा होती थी। इसलिए हमनेभी उसकी चिकित्सा करना उचित नहीं समझा। परन्तु उसके पुत्रके बहुत आग्रह करनेपर हमे उसकी चिकित्सा अपने हाथमें लेनी पड़ी। हमने बड़ी शीघ्रतासे उसकी ग्रीवासे उदर पर्यन्त ताप कराना आरम्भ किया; और पल, पलपर उसको प्यासका ज्ञान होता था इस लिए कुछ क्षण तापका जल पीनेको देते रहे। फल यह हुआ कि हमारे सन्मुखही अर्थात् प्राय तीन घन्टेमें हमको उसके प्राण बचनेकी आशा हो गयी। क्योंकि सबसे अच्छा लक्षण तो यह प्रतीत हुआ कि उसकी प्यास कम होने लगी, इसके उपरान्त वमन विरेचनमेंभी कुछ न्यूनता प्रतीत होती थी। अतः हम सायंकी सवाचार बजेकी रेलसे उसकी चिकित्सार्थ उसके पुत्रको सम्मति देकर सोमना चले आये। किन्तु उसको हमारे आनेसे कुछ घन्टेके पीछेही मूत्र हुआ और वह एकैक हलकी हो गयी और ज्यों, ज्यों समय व्यतीत होता जाता था त्यों, त्यों वह अच्छी होती जाती थी, इसीसे उसके पुत्रने फिर हमारा मुख देखनाभी उचित नहीं समझा। उसको कदाचित यही भय होगा कि हम उससे कुछ मांग न बैठें। परन्तु यह उसकी भूलथी। क्योंकि जब हमने बम्बई और लाहौर आदिके बड़े, बड़े सेठोंकी चिकित्साही धर्मार्थ की है तो एक साधारण मनुष्यसे हम क्या प्रश्न करते; किन्तु अनायास एक दिन वह हमको सोमना रेलवे स्टेशनपर मिल गया और उस समय उसने समस्त वृत्तान्त कहा।

नोवेम्बर सन् १९२४ ई० में जब हम श्री सेठ ००००० के साथ उनके भाञ्जेकी चिकित्सार्थ बम्बईसे आगरे जा रहे थे उसी समय उनका एक नवयुवक नौकरभी, जो कई वर्षसे अनेक रोगोंसे पीड़ित था हमारे साथ जा रहा था। यद्यपि उसकी दशा उस समय बम्बईसे जाने योग्य न थी, परन्तु हमारी चिकित्साने उसे दो, एक दिनमेंही रेल यात्रा करनेको समर्थ कर दिया था। अतः हम सबने बाम्बे-देहली एक्सप्रेस द्वारा प्रस्थान किया। किन्तु ज्योंही अगले दिन गाड़ी इटारसीसे आगे बढ़ी त्योंही उस नवयुवकको विशूचिकाने घेर लिया। विशूचिका होनेका ठीक कारण क्या था यह हमको स्मरण नहीं रहा। परन्तु यह निश्चय है कि उसको अजीर्ण होगा और उसके होते हुएही उसने कुछ फल सेवन किये थे। इसके अतिरिक्त वेतनादिके विषयमें रोगी और सेठजीमें कुछ मनमुटाव हो गया था। परन्तु यह हम नहीं कह सकते कि अपराध किसका था। क्योंकि हम किसीकी निजी बातोंमें

पढ़ना और उनपर ध्यान देना उचित नहीं समझते। किन्तु यह हम अवश्य कहेंगे कि चाहे उसमें रोगीकाही दोष हो, परन्तु उस समयके वैमनस्यसे उसके रोगको सहायता मिली। इसीसे विशूचिकाने भयंकर रूप धारण कर लिया, और ऐसा प्रतीत होता था कि सेठजीका हृदय खिन्न हो जानेसे पहिले वहभी उसकी चिकित्सा करना नहीं चाहते थे, परन्तु अन्तमें उनकोही उसकी चिकित्सा करनी पड़ी। हमारे साथ स्टोव और वस्त्र निचोड़नेका यन्त्र तो थाही और जल ऊष्ण करनेके लिए एक पात्र टिफिन कैरियरमेंसे लेलिया गया। अतः सेठजीने वस्त्र निचोड़ने और हमने उसकी छाती और उदरपर फैलानेका काम किया। इस प्रकार कई घन्टेतक उसको ताप पहुंचाया गया। फल यह हुआ कि जिस समयसे उसको ताप पहुंचाया गया उसी समयसे विशूचिका देव उल्टे पैर भाग गये, और वह इस योग्य हो गया कि हम आगरे छावनीके स्टेशनपर उतर गये और वह उसी गाड़ीसे सीधा मथुरा चला गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पहिले सेठजी इसलिए हमारी आंखोंमें कुछ खटके थे कि वह एक साधारण वेतन सम्बन्धी वाद विवादके कारण उसकी चिकित्सा नहीं करना चाहते थे,। और हमारा उद्देश्य यह है कि शत्रुकी चिकित्साभी उसी प्रेमके साथ की जाय जैसे एक परम मित्रकी की जाती है। परन्तु जब सेठजीका क्षणिक क्रोध शान्त हो गया तो हमको यह देखकर बहुतही प्रसन्नता हुई कि हस्त-तलमें छाले उठ आने और जी० आई० पी० रेलवेके इञ्जीनियर्सकी उपेक्षाके कारण गाड़ीमें अनेक दुःखप्रद झटके लगनेपर भी उन्होंने बड़े उत्साह, ध्यान और प्रेमके साथ चिकित्सा करके उसे इस योग्य बना दिया कि वह अकेलाही चला गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य रोगोंसे मुक्त होनेके लिएभी उसे हमारी चिकित्सा करनेकी सम्मति दी। अतएव हमको उसी दिनसे यह विदित हो गया कि उनको केवल क्षणिक क्रोध होता है, किन्तु सदाको उनके उरमें उसका वास नहीं रहता। परन्तु यदि वह ध्यान देकर विचारें तो यहभी ठीक नहीं है। क्योंकि क्रोध करना मनुष्यत्वके विपरीत है।

अतिसार Acute Diarrhœa.

अतिसारकी उत्पत्तिका कारण अजीर्ण, तीव्र ज्वर, अन्त्रके ट्यूबरक्लोसिस, हिस्टेरिया, विष भक्षण, शीतका प्रभाव, उत्तेजक पदार्थोंका आहार या विशूचिकादिकी दशामें विरेचनका रोकना इत्यादि, इत्यादि हो सकता है। इसके

अतिरिक्त यकृतादिके रोगोंमेंभी अतिसारके होनेका भय रहता है । अतिसार कोई साधारण रोग नहीं है; क्योंकि उसके होनेपर अन्त्र क्षय होने लगती हैं । कभी, कभी तो उनसे प्रत्यक्ष रूपमें मल द्वारा श्लेष्म और रक्तादिका प्रवाह होता है । इस प्रकार पहिले अन्त्रमें अतिसारके कारण घाव हो जाते हैं, तत्पश्चात् धीरे, धीरे उसकी भीतके निर्जीव होनेपर उसकी झिल्ली इतनी कठोर हो जाती है कि वह सिकुड़ने और फैलनेकी क्रियासे वञ्चित होकर अपना कर्त्तव्य पालन करना त्याग देती है। अतिसारकी दशामें भोजनके पाचनमें न आनेके कारण अन्त्रमें अनेक विष और दूषित गैस उत्पन्न होते और नाड़ियों द्वारा पहुंचकर समस्त शरीरको विकृत बनाते रहते हैं । अपरञ्च भोजनके पाचनमें न आनेसे वह यथाही शरीरसे गुदा द्वारा बाहर हो जाता है, जिससे शरीरको पोषक पदार्थ न मिलनेके कारण वह दिनोदिन निर्बल होता जाता है। अतिसार होनेसे पूर्व अजीर्ण या तीक्ष्ण पदार्थों द्वारा दाहके कारण अन्त्रादिमें इतनी उग्रता हो जाती है, कि उसकी तीक्ष्णतासे अन्त्रकी झिल्लीके जीवन-कोषोंसे बहुतायतके साथ रसोंका स्राव या अधिक घाव होनेपर रक्त कणोंका नाश होनेपर श्लेष्मकी उत्पत्ति हो जाती है । इसके अतिरिक्त उग्रताके प्रभावसे मलके द्रव रूपमें हो जानेपर वह नियमित समयसे पूर्वही अन्त्रादिसे बाहर होनेको बाध्य होता है । अतिसारकी दशामें प्रायः मूत्रमें खरिया जाने लगती, जिसको बहुधा मूर्ख चिकित्सक वीर्यके अंशके नामसे सम्बोधन करते हैं । परन्तु वास्तवमें वह अन्त्र पीड़ाका संकेत है ।

प्रायः बालकोंको आयुके दूसरे वर्षमें अतिसारकी पीड़ा हो जाती है, उनका उदर बढ़ जाता है और वह परिमाणसे अधिक विष्टेका त्यागन करते हैं । इसीसे रक्तकी उत्पत्तिमें न्यूनताके हेतु उदरके अतिरिक्त उनका समस्त शरीर पिञ्जर समान हो जाता है, मुंहसे लार बहने लगती है, नासिकासे श्लेष्म प्रवाहित रहता है, मल मूत्रमें दुर्गन्ध प्रतीत होती है, और नेत्रोंमें घाव होनेसे कीचड़ आने लगते हैं । अतः हमारी भूलसे बालकोंका बढ़ता शरीर इस लिए अतिसारसे क्षय होने लगता है कि हम उन्हें दूधके स्थानमें अन्नादि पदार्थ देने लगते हैं; और उनकी माताएं कुपथ्यसे रहके उनके पीनेके दूधको दूषित कर देती हैं ।

अधिक कालतक अतिसारको हमारे शरीरमें स्थान मिलना किसी प्रकारभी अच्छा नहीं है । क्योंकि प्रथम तो अतिसारही प्रत्येक समय हमारे शरीरको क्षय

करती रहती है, द्वितीय उसके विषैले कीटोंसे अनेक रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है, तृतीय धीरे, धीरे वह संग्रहणीमें परिवर्त्तित होकर हमारे जीवनका अन्तही कर देती है।

यदि अधिक पीड़ा हो तो अतिसारकी चिकित्सामें ताप पहुंचानेका समय अधिक होना चाहिये। अतिसारसे पीड़ित रोगियोंको केवल उदरपर ताप और वन्धनोंका प्रयोग यथेष्ट होता है। किन्तु यदि आवश्यकता हो या चिकित्सक उचित समझे तो चौबीसों घन्टे टब द्वारा समस्त शरीरको अथवा वस्त्रों द्वारा केवल छाती एवं उदरको ताप और उसके उपरान्त धड़ वन्धनका प्रयोग किया जा सकता है। यदि अतिसारके कारण अन्त्रमें पीड़ा अथवा मूत्राशयादिमें दाह हो तो निरन्तर उस समयतक ताप होना चाहिये जबतक किं उसका अन्त न हो जाय; किन्तु यदि अधिक समयतक ताप पहुंचाना सम्भव न हो तो उसके उपरान्त वन्धनोंका प्रयोग करना आवश्यक है। परन्तु यह स्मरण रक्खने योग्य वात है कि अतिसारही नहीं प्रत्युत प्रत्येक रोगमें यदि प्रत्येक समय ताप पहुंचाया जाय तो उसका अति शीघ्र अन्त होगा, और जितने कम समयतक ताप किया जायगा उतनेही विलम्बसे पीड़ाओंका इति होगा। कारण यह कि जितने समयतक शरीरपर ताप पहुंचता रहता है उतने कालतक विकृत और दूपित कीटोंका वह प्रभाव, जिसके द्वारा वह हमारे जीवन-कणोंका वेधन करके अपने रूपमें परिवर्त्तन करते रहते है, रुक जाता है, किन्तु तापका प्रभाव जातेही दूपित कीट अपना कार्यारम्भ कर देते हैं, जिससे हमारे जीवन-कोषोंका वेधन होनेसे उनका विषैले पदार्थोंमें रूपान्तर होकर हमको पीड़ाका ज्ञान होने लगता है। यद्यपि वन्धनोंका प्रयोगभी इसी लिए किया जाता है कि शरीरका ऊष्ण ताप वन्धनोंसे रुककर फिर शरीरकी ओरको लौटे और दूषित कीटोंके प्रभावको रोके; परन्तु उनका ताप लाभ पहुंचानेमें टब या वस्त्रों द्वारा पहुंचाये हुए जल तापकी समानता नहीं करसकता, प्रत्युत मृत्तिकाके ऊष्ण करनेपरभी उसका प्रभाव इस लिए यथेष्ट नहीं होता कि उसका ताप कुछ कालमें शरीरके स्पर्शसे उसके तापके समानही हो जाता है। इसीसे बन्धनोंकी अपेक्षा जल तापसे कहीं अधिक और शीघ्र लाभ होता है।

संखिये, जमालगोटे या अन्य विषों द्वारा अतिसार होनेपर यथा शक्ति समस्त शरीरको टब द्वारा जल ताप पहुंचाना चाहिये, अन्यथा छाती और उदरपर न्यूनाति

न्यून उस समयतक जबतक कि रोगी ओक्सिजन्से बाहर न हो जाय ताप करना चाहिये।

अतिसारके रोगीके निमित्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म आहार होना चाहिये; क्योंकि अन्त्र और आमाशयादिमें घाव हो जानेसे कठोर पदार्थोंके सेवन द्वारा वह आरोग्य होनेकी अपेक्षा दाहके होनेपर वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं। अतः हमारी सम्मतिमें सबसे सूक्ष्म आहार बेदाना अनारहीका है, किन्तु अनारका दाना (गुठली) थूक देना आवश्यक है। यदि अनार उपलब्ध न हो तो अन्य रसीले और अनुत्तेजक फलोंका रस चूसकर फोक थूक देना चाहिये। आहारके विषयमें बहुतही बुद्धिसे काम लेनेकी आवश्यकता है। उनकी ओरसे उपेक्षा करना मूर्खोंका काम है। जिस कुपथ्यको प्रायः मनुष्य साधारण समझते हैं बहुधा उसीसे रोगीके प्राणोंका अन्त होता है। अतः इस बातसे सावधान रहना चाहिये कि कोई कड़वा, खट्टा अति मीठा, चर्पेरा, स्थूल, अल्पादिष्ट अथवा तीव्र गन्धवाला या किसी प्रकार कोई उत्तेजक फल रोगी-का आहार न होना चाहिये और यथा शक्ति बालकोंके अतिरिक्त अन्य किसी अति-सारके रोगीको दूध न देना चाहिये।

सन् १९०७ ई० के आरम्भमें एक तहसीलदार महाशयने अजनाला ज़िला अमृतसरसे अपनी चिकित्सार्थ बुलानेके निमित्त हमको प्रयागके ठिकानेसे पत्र लिखा था। अतः हमने उनको आने, जानेका रेल भाड़ा, भोजन व्यय और कमसे कम पचीस रुपये प्रति दिनकी दरसे फीस लेनेपर वहां जानेको लिखाथा; जिसपर वह कुछ दिन तो कदाचित अपनी आर्थिक स्थितिके कारण केवल पत्र व्यवहारही करते रहे, किन्तु अन्तमें उन्होंने सेप्टेम्बरमें हमको बुलानेके लिए तार दिया। परन्तु उसी बीचमें डाक्टर जे० एम० कर, एम० बी० ई० एस० की अध्यक्षतामें विद्या मन्दिर हाई स्कूल, प्रयागमें 'प्राकृतिक चिकित्सा' पर हमारा व्याख्यान होनेवाला था; इसलिए हम सेप्टेम्बरके स्थानमें आक्टोबर मासके अन्ततक अजनाले पहुंच पाये। हमने उनको देखा। वह बीस वर्षसे अनेक रोगोंमें ग्रसित थे; अनेक चिकित्सक उनकी चिकित्सा कर चुकेथे; एक सिविल सर्जन महाशयने इंजेक्शन्स द्वारा उनके शरीरको इतना दूषित करदिया था कि उनके मस्तिष्ककी वही दशा हो गयी थी जो एक उन्मादी की होती है; उनके लिए डाक्टर कोहनीकी चिकित्साभी कुछ अधिक उपयोगी सिद्धि न हुई। अतः वह समस्त

चिकित्सा विधियोंसे हताश हो चुके थे; और उनके रोग दिनोदिन वृद्धिको प्राप्त होते जाते थे। परन्तु उनको यह आशा अवश्य थी कि यदि लाभ हो सकता है तो केवल एक मात्र 'प्राकृतिक चिकित्सा' से ही सम्भव है। इस लिए हमको पूर्ण रूपेण यह विश्वास था कि हम उनको लाभ पहुंचा सकेंगे। अतएव हमने उनको प्रति दिन चैतन्यता प्रदान करनेके लिए दो वार शीतल मेरू दण्ड स्नान और उनके पश्चात् रोगका इति करनेके निमित्त दो वार ऊष्ण तापके मृत्तिका उदर वन्धनोंके प्रयोग करने और प्रात एवं सायंके समय टहलनेकी सम्मति दी। फलतः पहिली रात्रिके वन्धनोंसेही उनको लाभ होना आरम्भ हुआ; दो सप्ताहमें उनके अतिसार रोगका अन्त हो गया, एक मासमें उनके उस मूत्रकृच्छ [सोज़ाक] का इति हो गया, जो उनको बीस वर्षसे दुःख दे रहा था, और उनके मस्तिष्क रोगमेंभी वहुत न्यूनता हो गयी। इसके अतिरिक्त शरीरमें दाहके कारण उनके कर्णोंमें शुष्कता हो जानेसे जो कम सुनायी देने लगा था उसकोभी पूर्ण लाभ हो गया। किन्तु घोड़ेपर चढ़ने, अन्नादि सेवन करने एवं हमारी सम्मतिमें कुछ त्रुटि होनेसे उनका शरीर जितना हम चाहते थे उतना उन्नत दशाको प्राप्त न हुआ। इसीसे उन्होंने हमको कुछ दिन उपरान्त लिखा था कि चिकित्साके कारण शरीरकी जो उन्नति पहिले मासमें हुई थी उसका होना वन्द हो गया है। अतः हमको अपनी दी हुई सम्मतिका दोप विदित हो गया। क्यों कि हम समझ गये कि मेरू दण्डका शीतल स्नान लेनेसे उसकी उत्तेजना द्वारा स्नायु जालने सामर्थ्यसे अधिक काम किया, जिससे पहिले मासमें शरीर उसी प्रकार उन्नति करता हुआ प्रतीत हुआ, जिस प्रकार मदिराके मदमें उसकी उत्तेजनासे मनुष्य अपनेको वहुत वलवान समझता है; और उसके उपरान्त शरीर स्नायु जालके अधिक परिश्रमके कारण वैसेही उन्नतिसे वञ्चित प्रत्युत कर्त्तव्यहीन होनेलगा जैसे मदिराका मद उतरनेपर मनुष्य शिथिल प्रतीत होता है। परन्तु हमको यह ज्ञान प्राप्त होनेपरभी हम इस अनुमानसे कि उनका शरीर वहुत दुर्वल है, इस लिए उसको चैतन्य करनेके हेतु शीतल मेरू दण्ड स्नान आवश्यक है और तापके पहुंचानेसे अधिक निर्वल होनेकी सम्भावना है, उनको मेरू दण्डके शीतल स्नानको छोड़ने और ताप लेनेकी सम्मति न दे सके। इसके अतिरिक्त हमने यहभी एक भारी भूल की थी कि फलोंके अतिरिक्त उनको गेंहूके दलिये, चावल, मोटी रोटी, उवले हुए शाक और दूधकीभी सम्मति दे दी थी। वास्तवमें यह हमारा

भारी मूर्खता थी। क्योंकि सैकड़ों रोगियोंपर अनुभव करकेभी हमने उनको ऐसी सम्मति दी। किन्तु सन् १९१८ ई० में हमने उनको मेरु दण्डका शीतल स्नान छोड़ने, यन्त्यानोंका प्रयोग और केवल रसीले फलोंका सेवन करनेको लिख दिया, जिससे उनको बहुत लाभ पहुंचा। किन्तु वह रसीले फलोंपर कुछ कारण वश अधिक दिनतक निर्वाह न करसके। इसके पश्चात् उन्होंने हमको फिर कई बार लिखा, और हमनेभी कुछ दिन उनके साथ रहकर उनकी चिकित्सा करनेका विचार कर लिया। परन्तु आपत्तियोंने हमारा पीछाही नहीं छोड़ा, जो हम उनको लाभ पहुंचानेके निमित्त उनके साथ रह सकते। किन्तु इस बीचमें हम उनसे कई बार मिले और सन् १९२१ ई० के अन्तमें जब उन्होंने हमको अमृतसरके एक इन्कमटेक्स कलेक्टरकी चिकित्सार्थ बुलवाया था तब हमने उनको क्रियात्मक रूपसे ताप पहुंचानेकी विधि और उसके एवं रसीले फलोंके लाभोंका पूर्ण वर्णन कर दिया था। प्रत्युत उनको गठियाके ऐसे रोगीको, जो उठने, बैठनेकोभी समर्थ न था ताप द्वारा सफलता पूर्वक चिकित्साभी करके दिखायी थी। परन्तु उनको हमारी चिकित्सा विधिकी सफलतापर पहिलेसेही बहुत विश्वास था। क्योंकि वह स्वयं ऐसे अनेक रोगियोंको, जिनको जीवनकी आशा न थी, उसके द्वारा लाभ पहुंचा चुके थे। उन्होंने अतिसारसे पीड़ित एक ऐसे नवयुवकके प्राण हमारी चिकित्सा द्वारा बचाये थे, जिसका पिता उसके जीवनसे हताश होकर मोटर लेके सिविल सर्जनको अमृतसरसे लेने जा रहा था। इसके अतिरिक्त श्लेष्म ज्वरके दिनोंमें उन्होंने अनेक रोगियोंके प्राणोंकी रक्षा की थी। किन्तु यह उनका या हमारा आभग्य है कि वह नौकरीके कारण उस समय इस लिए पूर्ण रूपेण अपनी चिकित्सा नहीं कर सके कि यूरोपीय महासमरके हेतु उनको बहुत कालतक छुट्टी नहीं मिली, और अब हमारा उनसे बहुत समयसे इस लिए पत्र व्यवहार नहीं हुआ कि हमने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणके पश्चातही उनको पत्र लिखेंगे। यह प्रतिज्ञा हमने इसी निमित्त की थी कि हमने उनसे 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणार्थ पचास रुपयेकी सहायता चाही थी, किन्तु वह अनेक प्रयत्न करने-परभी पचास रुपये भेजनेको समर्थ न हुए। परन्तु हमको यह ज्ञान नहीं था कि 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणमें तीन वर्ष और लग जावेंगे। क्योंकि हम यह नहीं जानते थे कि 'सद्धर्म प्रचारक प्रेस', दिल्लीके मेनेजिङ्ग प्रोप्राईटर श्रीः

पं० अनन्त राम जी 'प्राकृतिक विज्ञान' का मुद्रण किये विनाही हमारी भार्याके दिये हुए समस्त रुपयोंको योंही हड़प जावेंगे, अन्यथा हम कभी ऐसी प्रतिज्ञा न करते। क्योंकि हमारा उक्त तहसीलदार महाशयसे इतना प्रेम है कि यदि उनके पत्रमें एक सप्ताहकाभी विलम्ब होता था तो हम विकल हो जाते थे। यद्यपि-वह जातिसे यवन हैं, परन्तु वह अपने गुणोंके निमित्त इस जगतमें एकही व्यक्ति हैं। वह पञ्जाब यूनीवर्सिटीके ग्रेजुएट हैं, और वहुतही ऊंचे कुलके पुत्र हैं। हमने वास्तवमें ऐसा सत्यवादी मनुष्य अपने नेत्रोंसे नहीं देखा। इस लिए यह हमारा सौभाग्य है कि हमको एक ऐसा पवित्र हृदय मित्र मिला है। वह सदा मनुष्य मात्रकी भलाईकाही ध्यान रक्खते हैं। इसीसे उनसे हमारे पवित्र उद्देश्यको वहुत कुछ सहायता मिली है; और यदि उनकी सामर्थ्यमें होता तो न जाने अवतक कितनी भाषाओंमें 'प्राकृतिक विज्ञान' का प्रकाशन हुआ होता; और यही कारण है कि हमको उनका कभी विस्मरण नहीं हो सकता। वह सदा अपने शत्रुकेभी हितेच्छु हैं। सारांश यह है कि हमारी दृष्टिमें वह वहुतही उच्च हैं। हम उनके एक पत्रकी प्रति लिपि जो कि उन्होंने चौदह नोवेम्बर सन् १९१८ ई० को हमें लिखा था निम्नमें देते हैं:—

Dear Pandit Sahib,

Thanks for your favour of the 4th. instant......... It is sad to think that diseases are exacting such a heavy toll & the deathroll of the youngs especially is so appalling, but as long as people continue to live on unnatural life they shall have to pay the penalty, particularly when climatic conditions have been revolutionized by the digging of canals & otherwise. Let us, however, not despair of good & continue our humanitarian efforts to extand human happiness & to minimise human pain.

With best wishes.

Yours Sincerely, *K. M.*

सन् १९१८ ई० के मध्यमें लाहौरके एक अतिसारसे पीड़ित रोगीने हमको अपनी चिकित्सार्थ प्रयागसे बुलाया था। वह चार वर्षसे उस रोगसे पीड़ित था; वह अनेक चिकित्सकोंकी चिकित्सा करते, करते थक गया था; उसने डाक्टर कोहनीकी चिकित्साभी की थी, जिससे उसको अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा बहुत लाभ पहुंचा था। परन्तु कुछ दिनके उपरान्त शीतल जलके स्नानोंकी उत्तेजना-से प्रति क्रिया द्वारा नाड़ियोंके अधिक परिश्रम करनेपर उसका शरीर शिथिल एवं निर्बल होने लगा था, और लाभ पहुंचना बन्द हो गया था; वह देखनेमें बहुतही दुर्बल प्रतीत होता था, जो कि वास्तवमें डाक्टर कोहनीकी उत्तेजक शीतल जल चिकित्सा-का प्रसाद था। क्योंकि जितने शीतल जलका शरीरसे स्पर्श होता है उतनी हमारी नाड़ियां अधिक उत्तेजित होकर प्रति क्रिया द्वारा सामर्थ्यसे अधिक परिश्रम करने लगती हैं, और रक्त सञ्चारकी गतिमें वृद्धि हो जानेसे रक्तका अधिक व्यय और शक्तियोंका समयसे पूर्व क्षति होता है; परन्तु वह दिनोदिन अधिक शीतल जलके स्नानोंका इस लिए प्रयोग करता रहा कि डाक्टर कोहनीका कहना है "Cooler is better." अर्थात् जितना शीतल जल होगा उतनाही उपयोगी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिन रोगियोंका शरीर शिथिल हो गया हो पहिली पहिल उनके ऊपर शीतल जलका स्नान अपूर्व चमत्कार दिखाता है। क्योंकि जिस प्रकार मदिरा पान करनेके उपरान्त प्राय शैयासे लगे हुए रोगीभी उठ खड़े होते हैं, वैसेही शीतल जलके स्नानसे शरीरमें प्रति क्रियाके होनेपर निर्बल रोगीभी चैतन्य प्रतीत होने लगते हैं, किन्तु उसका भविष्य बहुतही खेद जनक होता है; उससे रही सही शक्तियोंकाभी व्यय हो जाता है। अतः डाक्टर कोहनीकी चिकित्सा के आरम्भ करतेही शरीरमें प्रति क्रिया होनेके चमत्कारने उसको ऐसा फांसा कि वह कुछही दिन पीछे दुर्बल होनेपरभी उसको कियेही चला गया। अन्तमें जब अधोगतिके अतिरिक्त कोई उन्नतिका मार्ग न देखा तो उसने एक नायब तहसीलदार महाशयकी सम्मतिसे हमारी चिकित्सा करनी चाही। अतएव हमने उसकी समस्त गाथा सुनकर और उसके शरीरका निरीक्षण करके, उसको प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टेमें उदरपर ताप और बन्धनोंका प्रयोग एवं रसीले फलोंके सेवन करनेकी सम्मति दी। फल यह हुआ, कि पहिले सप्ताहमेंही उसको अच्छा लाभ हुआ, परन्तु जैसा हम चाहते

थे वैसा इस लिए न हुआ कि वह प्राय समस्त जातिके रसीले फलोंका सेवन करता था; किन्तु उसके शरीरके अनुकूल केवल वेदाना अनारही था। गन्ना संगतरा, मीठा नीबू इत्यादि सभी उसको हानि पहुंचाये विना न रहते थे। किसी फलमें यदि कुछभी खटाई होतीथी तो उसको हमारी इच्छानुसार लाभ न होता था। इसीसे कन्धारी अनार या संगतरा उसके लिए अधिक उपयोगी न था; और दूध उसके लिए साक्षात विष सिद्ध होता था। अतः समस्त फलोंके गुणोंका अनुभव करके वह इस परिणामको पहुंच गया था कि अन्नकी अपेक्षा फल लाभ प्रद हैं, और फलोंमें रसीले फल अधिक लाभदायक हैं, और रसीले फलोंमेंभी वेदाना अनार सर्वोत्तम है। अतएव उसको अनारके गुणोंका अनुभव होनेसे उसे छः मासमें पूर्ण लाभ होगया था। निम्नमें हम उसके उस पत्रकी प्रति लिपि देते हैं जो उसने दस डेसेम्बर सन् १९१८ ई० को हमको सोमनाके ठिकानेसे लिखा थाः—

श्रीमान् जनाव पण्डितजी महाराज,

नमस्ते अर्ज़ करता हूं। ख़त जनावका मिला था बन्देकी तसल्ली हुई। मैं आपका बहुतही मशकूर हूं, जो जनाव दिलसे मेरे साथ मुहब्बत और तवज्जह फ़र्माते हैं। प्रार्थना है कि ईश्वर आपको आनन्द रक्खे।

अव मैं अपनी हालत अर्ज़ करता हूं। मैं मुतवातिर अब पन्द्रह योमसे रसीले फल, जैसा जनावने फ़र्माया था, इस्तेमाल करता हूं। रसीले फल मुझको मुआफ़िक़ बैठे हैं; और अब एक वक्त़ छः योमसे पायख़ाने जाता हूं। मैं हफ़्तेवार आपको अर्ज़ करता रहूंगा।

फल जो मैं इस्तेमाल करता हूं उनकी तफ़सील अर्ज़ करता हूं। मीठे, माल्टे, अनार क़न्धारी (जो क़दरे तुर्श होता है), अंगूर, गंडीरी (गन्ना), नाशपाती, शल्जम और थोड़ा गाजरकी रस।

अब आप यह तहरीर फ़र्मायं कि मैं तर्बूज़ खा सकता हूं या नहीं? तर्बूज़से मुराद Water melon से है। और सर्सोंका साग मैं उबालकर बग़ैर नमकके खा सकता हूं? नमकसे क़तई पर्हेज़ किया हुआ है। अगर मैं सुबह ताज़ा दूध गायका पावभर लूं तो उसके हमराह फल खा सकता हूं, या कि सिर्फ़ दूधही लूं और फल अल्हदा खाऊं?

मैं तेरह तारीख़की शामको फ़ीरोज़पुर जा रहा हूं; क्योंकि उन्नीसको मैंने काम-

पर हाज़िर होना है । इस वास्ते अव्वल जाकर मकान वगैरा साफ़ करवाना है । पैक मिट्टी (मृत्तिका बन्धन) का सुबह और रातको बराबर लगा रहा हूं और दो बार जिस्मको हरारत (जल ताप) भी पहुंचाता हूं । जैसाकि आपका हुक्म है ।

फ़ीरोज़पुर जाकर मैं जनाबको अपनी हालत अर्ज़ करूंगा, और अपना पता अर्ज़ करूंगा । इस खतका जवाब जनाब पहुंचतेही मुझको लाहौर देवें । क्योंकि तेरह तारीखको मुझको मिल जावेगा । वैसे अहतियातन फ़ीरोज़पुरका पता तहरीर कर छोड़ता हूं ।

"M. R. K.,
Bazar Chhatta,
Ferozepore."

मुझको पूरी तसली है कि मुझको आपके इलाजसे पूरा फ़ायदा होगा । आपका तरीका इलाज लूई कोहनीके तरीकेसे किसी हालतमें कम नहीं है । बल्कि सादा है । सिर्फ़ पैक लगानेका इन्तज़ाम करना पड़ता है; मगर मैंने पार्चात अलहदा बनवा छोड़े हैं; और टबमें लेटकर खामोशीसे हरारतका लेना बहुतही खुशगवार मालूम होता है । दोही चार मिनिट पीछे आरामसे नीन्द आजाती है । जिससे मुझे कोई तकलीफ़ नहीं होती । सिर्फ़ रातको पैक लगानेसे एक दफ़ा पेशाबके वास्ते उठना पड़ता है, सो कुछ हर्ज नहीं है ।

मेरे ख्यालमें मौसिम गर्मामें सिर्फ़ एकही बार हरारत पहुंचाना जारी रखना है ; मौसिम सर्मामें शायद तीन या दो बार हरारत लेनी पड़ेगी । जिस दिन अगर बारिश हो क्या उस दिन रोज़ानाका गुसल करना है और पैकभी लगाना है ? या उस रोज़ गुसल और पैक मुल्तवी करने हैं ?

वालिद साहिब बज़ुर्गवारकी तरफ़से राम, राम पहुंचे अज़ीज़ ०००००की नमस्ते वालिदा साहेबाकी जनाबके घरमें नमस्ते पहुंचे । मेरी दिली ख्वाहिश है कि मैं तन्दुरुस्त होकर बमये बाल-बच्चे जनाबकी खिदमतमें हाज़िर हूं । मेरी तन्दुरुस्तीपर जनाबको फ़ीरोज़पुरसे बहुत जगह इलाजके वास्ते आना पड़ेगा ।

आपका सादिक़ दुआगो,
M. R. K.

यद्यपि हमको उपरोक्त पत्रमें यह लिखा था कि उसे रसीले फल अनुकूल बैठे हैं, परन्तु इसपरभी हम यह जानते थे कि उसको वह बेदाने अनारके समान अनुकूल नहीं बैठे थे। इसीसे हमने एक दिन उसकी लेखनीसे स्वयं लिखवा दिया था कि सर्वोत्तम आहार अनारही है; और सूक्ष्माति सूक्ष्म, रसीले और साधारण उत्तेजक फलभी अतिसारके रोगीके अनुकूल नहीं हैं; प्रत्युत हमारी सम्मातिमें तो किसीभी रोगसे पीड़ित रोगीको अनारके समान कोई रसीला फल लाभ नहीं पहुंचा सकता। उस रोगीने उसी पत्रमें एक स्थानपर हमसे तर्बूज़ खानेकी आज्ञा मांगी थी। परन्तु तर्बूज़ यद्यपी रसीला है तथापि उसके कोमलाति कोमल कणकी त्वचाभी अति कठोर होती है, और उसका रसभी अधिक स्थूल होता है, इस लिए उसके पाचनमें न आनेसे हमने उसको तर्बूज़ सेवन करनेकी आज्ञा नहीं दी थी। किन्तु उसने हमारी आज्ञाके प्रतिकूल उसका अनुभव किया, और अन्तमें उसके दोषोंको देखकर उसे उससे दूर रहनेको बाध्य होना पड़ा। उक्त पत्रसे यहभी सिद्ध होता है कि रसीले फलोंके सेवनसे वह नौकरीपर जानेके योग्य हो गया था। अतः जो मनुष्य यह समझते हैं कि फलोंके आहारसे हमारा शरीर किसी कार्यके करने योग्य नहीं रहता, यह उनके अनुभव शून्य होनेके कारण उनकी भारी मूर्खता है। हमने इस बातको सिद्ध करके दिखा दिया है कि यदि जितने फलोंकी आवश्यकता है, किसीको प्राप्त हो सकें तो आरोग्यता एवं शक्तिमें कोईभी उसकी समानता नहीं कर सकता।

सन् १९१९ ई० के आरम्भमें हमको ज़िले बुलन्दशहरके एक ग्राममें रात्रि व्यतीत करनेका अवसर प्राप्त हुआ। वहां एक नवयुवक जो कई घन्टेसे अतिसारसे पीड़ित था हमारे निकट आया। उसने एक दिन कटु तोरीका रस एक पात्रमें किसी औषधिके बनानेके निमित्त रक्खा था, और उसी दिन उसका रस दूसरे पात्रमें लौट दिया था, किन्तु उस पात्रको स्वच्छ करनेका ध्यान न रहनेसे वह उसमें जल लेकर पी गया, जिससे एकैक आपत्ति आगयी, उसके विषने उसके शरीरके रसोंका जलमें परिवर्तन कर दिया, समस्त शरीरमें अग्नि फूंक दी और वमन, विरेचनका तांता बंध गया। यदि उसको हमारे निकट लानेमें कुछ और विलम्बसे काम लिया जाता तो कदाचित उसके प्राणोंका बचनाही कठिन था। क्योंकि तोरीके तीक्ष्ण विषसे उसके आमाशय और अन्त्रादिमें पल, पलपर घाव गहरे होते चले जाते थे। उसको विष्टेके साथ श्लेष्मके अतिरिक्त कुछ, कुछ रक्तभी आने लगा था। अतः

हमने तत्क्षण तापका प्रवन्ध कराके प्राय चौदह घन्टेतक उसका ताप करवाया। जिस-समयसे तापका होना आरम्भ हुआ उससे आधे घन्टेके पश्चात्‌ही उसकी अन्त्र पीड़ा दूर हो गयी और उसको एक बारभी वमन या विरेचनका कष्ट सहन नहीं करना पड़ा, तीन घन्टे पर्यन्त ताप होनेपर उसको ऐसी निद्रा आयी कि वह निरन्तर बारह घन्टेतक शयन करता रहा। उसके प्राण उस आपत्तिसे बचगये। इसलिए हम दो, एक दिनतक एक, एक घन्टा ताप करने और रसीले फल या उबले हुए बिना नमक, मिर्च और मसाले आदिके पड़े हुए शाक सेवन करनेकी सम्मति देकर वहांसे चलदिये।

सन्‌ १९१९ ई० के मध्यमें दिल्लीके रहने वाले एक जजने अपनी पुत्र-वधुके विषयमें हमारी सम्मति चाही। किन्तु हमने किसी प्रकारकी सम्मति देनेसे पूर्व उसको देखनेकी इच्छा प्रगट की; परन्तु उन्होंने दिल्लीमें सत्याग्रह हो जानेकी गड़बड़से कुछ दिनतक हमको वहां बुलाना उचित नहीं समझा और फिर वह अपनी नौकरीपर दिल्लीसे किसी दूर स्थानपर चले गये। अतः हमने रोगीको बिना देखेही उनके विवरणानुसार प्रति दिन कमसे कम दो बार दो, दो घन्टे उदर, छाती और मस्तकपर ताप और उसके उपरान्त मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग, एवं रसीले फल सेवन करनेको लिख दिया। उस समय उसको अतिसारके दौरे हुआ करते थे और उन्हीं दिनोंमें वह अचेत होकर कभी घन्टोंतक हंसा करती थी, कभी फूट, फूटकर रोती थी, और कभी एक उन्मादीके सदृश कृत्य किया करती थी। चिकित्सकोंका उसके रोगका निदान करनेके विषयमें एक, दूसरेसे भिन्न मत था, और हम उनमेंसे किसीसेभी सह-मत नहीं थे। हमारी सम्मतिमें उसको अतिसारकी पीड़ा हिस्टेरिया (Hysteria) के कारण थी। अतः हमने उसको केवल शरीरकी सामर्थ्यके अनुकूल सुन्दर स्थानोंमें प्रात और सायंके समय टहलनेकी आज्ञा दी थी, अन्यथा हमारी सम्मति यही थी कि वह पूर्ण विश्राम करे। क्योंकि हिस्टेरियाका मूल कारण प्राय सामर्थ्यसे अधिक परिश्रम करनाही होता है। हमने उसके पतिको इस लिए उसका सहवास करनेकी, उस समयतक, आज्ञा नहीं दी थी, जबतक पुनः हमारी सम्मति न हो; क्योंकि प्राय हिस्टेरियाकी उत्पत्ति मैथुनके परिश्रमसेही होती है। इस प्रकार हमारी सम्मतिके अनुसार उसकी चिकित्सा करनेसे अतिसार और वमनका तो दो सप्ताहमेंही इति हो गया, और एक मासके उपरान्त हिस्टेरियाके आक्रमण होनेभी

बन्द हो गये। किन्तु हिस्टेरियाका समूल नाश करनेके लिए एक वर्ष पर्यन्त चिकित्सा करनी पड़ी।

सन् १९२३ ई०के प्रारम्भमें जबकि हम अपनी सुसराल गये हुए थे। एक दीपा नामका खटीक अपनी स्त्रीकी चिकित्सार्थ हमको ग्राममें ले गया। वास्तवमें उसकी स्त्रीको कई दिनसे तीव्र ज्वर और खांसी थी; और उसीके कारण वह अतिसारसे पीड़ित थी। अतः हमने प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे छाती और उदरपर ताप पहुंचाने, धड़ बन्धन प्रयोग करने, और दूध, खर्बूज़ा या कोई रसीला और अनुत्तेजक फल एवं विना नमक, मिर्चे, मसालोंके उबला हुआ घिया, तोरी और टिन्डे सेवन करनेकी सम्मति दी। फल यह हुआ कि तीन दिनके भीतर रोगीको प्यासका ज्ञान और अतिसारकी पीड़ा नहीं रही और एक सप्ताहमें उसकी खांसीकोभी बहुत लाभ पहुंचा। इसके अतिरिक्त वह पहिलेकी अपेक्षा चैतन्य प्रतीत होती थी; और उसके मुंहका स्वादभी बहुत सुधर गया था। किन्तु उसका ज्वर तेईस दिन चिकित्सा करनेके उपरान्त उतरा था। अतः ज्वर उतरनेके एक सप्ताह पीछेतक उसको पथ्यसे रक्खनेपर वह पूर्ण आरोग्य हो गयी। उसके श्वांस रोगको, जिससे वह कई वर्षसे पीड़ित थी, भी बहुत लाभ पहुंचा। परन्तु दुर्भाग्यवश उसने हमारे कहनेपरभी अपने श्वास रोगकी चिकित्सा न की। इस लिए हमको इसका बहुत खेद रहा। किन्तु उस वर्ष उसके हमारी चिकित्सामें आनेसे हमको इतनी प्रसन्नता अवश्य हुई कि उस ग्रामके अनेक रोगियोंने हमारी चिकित्सासे लाभ उठाया।

सन् १९२० ई० के प्रारम्भमें बम्बईके स्थानपर एक रोगी हमसे सम्मति लेनेके लिए आया। उसकी आयु प्राय तीस वर्षकी थी; उसको कभी, कभी अतिसारके दौरे हो जाते थे, किन्तु वास्तवमें उसे नित्यही अतिसार और अजीर्ण रहता था, क्योंकि उसको कभी लेंडी बन्धकर विष्ठेका त्यागन नहीं होता था; उसके मूत्राशयमें प्रत्येक समय दाह और पीड़ा होती रहती थी, और मूत्र त्यागनके समय वह विकल हो जाता था; उसको प्राय स्वप्न-दोष होते रहते थे; उसको प्रत्येक मूत्रके साथ खरिया और एलब्यूमन आदिका पात होता था, उसके उदरमें अनेक रसोलियां प्रतीत होती थी; और प्राय उदरमें मरोड़की पीड़ा दुःख देती थी। किन्तु उसको इस पीड़ाका ज्ञान हुए बहुतही थोड़े दिन हुए थे। इसीसे हमारे अनुमानसे उसका आरोग्य होना सम्भव था। अतःहमने उसको सावधान करके कह दिया कि-

उसको वास्तवमें मुख्य रोग अतिसार या अजीर्ण नहीं है, प्रत्युत उसकी अन्त्रमें टयूबरक्लोसिस हैं, इस लिए उसको शिघ्राति शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये। क्यों कि टयूबरक्लोसिस बहुतही शीघ्र शरीरका क्षति कर देते हैं। अतः हमने उसको प्रति दिन तीन बार दो, दो घन्टे छाती और उदरपर ताप करनेकी सम्मति दी, जिससे दस दिनके भीतर उसके मूत्राशयमें दाहका होना बन्द हो गया, और फिर कभी अतिसारका दौरा नहीं हुआ, अजीर्णमें न्यूनता प्रतीत होने लगी, मूत्रका रङ्गभी लालीसे पीलेपनपर आगया; बीस दिनमें उसकी क्षुधा वृद्धिको प्राप्त होगयी, वह दोनों समय भोजनको पाचनमें लाने योग्य हो गया, उसके मुखका स्वाद पहिलेकी अपेक्षा बहुत सुधरा हुआ रहने लगा, मूत्रमें खरिया और एलब्यूमन आदि पदार्थोंका आनाभी कम हो गया, उदरमें मरोडकी पीडामेंभी न्यूनता प्रतीत होने लगी; एक मासमें उसको पहिलेकी अपेक्षा बहुत बन्धकर विष्ठा होने लगा और उसका परिमाणभी कम हो गया, मूत्रका रङ्ग प्राय श्वेत होने लगा, और उदरमेंभी बिना दबाये पीड़ा न होतीथी; दूसरे मासके उपरान्त उसको कुछ, कुछ लेडी बन्धकर विष्ठा होने लगा, खरिया आदि पदार्थोंका जाना बहुतही कम हो गया और स्वप्न-दोषका होना एक ओरसे बन्द हो गया; चौथे मासके पश्चात् उसको पूर्णतः लेंडी बन्धकर विष्ठा होता था, और खरियाका जाना बन्द हो गया था; किन्तु टयूबरक्लोसिसका अन्त होनेमें प्राय डेढ़ वर्ष लगा था, उसका आहार पहिले दो मासतक केवल मस्कती अनार रहा; तद् उपरान्त तीसरे मासमें अनार मुसम्मी, अंगूर और काशमीरी नाशपाती दी जाती थी; और पांचवें मासके उपरान्त ज्यों, ज्यों उसकी पाचन शक्ति वृद्धिको प्राप्त होती गयी, त्यों, त्यों हम उसको अन्य अनेक सूक्ष्म और रसिले फलोंकी सम्मति देते रहे। उसके शयन करनेके विषयमें हमारी आज्ञा थी कि वह अधिकसे अधिक रात्रिके आठ बजेके उपरान्त न जागे और जबतक उसको निद्रा देवी आज्ञा न दे वह कदापि स्वयं उठनेकी चेष्टा न करे। हमने उसको बम्बईसे बाहर रक्खा था और प्रात एवं सायंके समय उसको पवित्र स्थानोंमें नित्य प्रति सामर्थ्यानुकुल टहलनेकी सम्मति दी थी। वह रोगी वास्तवमें पूर्ण पथ्यसे रहकर हमारी सम्मति-पर चलने वाला था; परन्तु कभी, कभी उसके अधीर हो जानेसे हम निश्चय दुःखी हुआ करते थे।

सन् १९२१ ई० में दिल्लीके स्थानपर एक महाशयने अपनी स्त्रीकी चिकित्सार्थ

हमारी सम्मति चाही। अतः हमने उसको ध्यान पूर्वक देखा और उन दोनोंकी समस्त गाथाको पृथक, पृथक सुना। वह युवती प्राय अट्ठाईस वर्षकी थी; पन्द्रह वर्षकी आयुसे उसको प्रदर रोग था और कुछही दिनमें उसकी जननेन्द्रियसे श्वेत जलका इतना प्रवाह होने लगा था कि जिस स्थानपर वह बैठ जाती थी वही जलसे दूषित हो जाता था; कुछ दिनतक समयसे पूर्व उसको मासिक धर्म होता था और आवश्यकतासे अधिक रक्त जाता था, किन्तु कुछ दिनके उपरान्त अजीर्ण और अतिसारके कारण मूत्र द्वारा एलब्यूमन आदिके जाने तथा मासिक धर्मके समय रक्तके अत्यधिक प्रवाहसे उसके शरीरमें रक्तकी इतनी कमी हो गयी कि उसको कई कई मासतक मासिक धर्म नहीं होता था, और होताभी था तो बहुत कमीके साथ। अतः उसके शरीरमें क्लोरोसिस (Chlorosis) अर्थात् एनेमिया (Anæmia) की स्थापना हो गयी, शिर पीड़ा रहने लगी, कुछही सीढ़ियां चढ़नेपर उसका हृदय धड़केने लगता था, कभी-कभी भोजनके उपरान्त तुरन्तही वमन हो जाती थी, उसके हाथ-पैरोंमें हड़कल और समस्त शरीर शिथिल प्रतीत होता था, उसको कभी किसी भोजनमें रुचि न होती थी। अजीर्ण और अतिसारके अतिरिक्त उसके रोगी होनेका बहुत बड़ा हेतु यह था कि वह सीलनयुक्त अपवित्र स्थानमें निवास करती थी, पर्देकी कुप्रथाके कारण स्वप्नमेंभी स्वच्छ वायुके प्राप्त करने और टहलनेका सौभाग्य न था, सदा चूल्हेके सामने उसका फूल सरीखा वदन झुलसा करता था तथा अग्निके धूएंसे फुप्फुस, नेत्र और त्वचा आदि दूषित होती रहती थी, सामर्थ्यसे अधिक कार्य करना पड़ता था, घरवालोंके अत्याचार सहन करने पड़ते थे और अधिक मैथुन वश अनेक कष्ट भोगने पड़ते थे। हमने चिकित्सा सम्बन्धी अन्य सम्मतिके स्थानमें सबसे पहिले उसके पतिको उसे किसी स्वच्छ स्थानमें रखने, उसे पूर्ण विश्राम देने, उसके साथ मैथुन न करने और नित्यप्रति दोनों समय उसके टहलनेकी व्यवस्था करनेको कहा; और जब वह हमारी आज्ञानुसार उसको एक स्वच्छ, स्थानपर ले गया तो हमने उसे प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे शिर, छाती और उदरपर ताप पहुंचाने और उसके उपरान्त मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग करनेकी सम्मति दी। एक मासतक हमने उसे केवल अनार, अंगूर, मीठा नीबू, मीठा संगतरा, गन्ना और काशमीरी नाशपाती सेवन करनेकी अनुमति दी थी। उपरान्त अन्य रसीले फल सेवन करनेकी आज्ञा देदी थी, और पांचवे मासमें

धारोष्ण दूध सेवन करनेकोभी कह दिया था। अतः हमारी सम्मतिके अनुसार चिकित्सा करनेसे दो सप्ताहमें अतिसार जाता रहा था, ढाई मासमें लेंडी बन्धकर दिशा होने लगा था, चार मासमें अजीर्ण और शिर पीड़ाको पूर्ण लाभ और मूत्रसे एल्ब्यूमनका जाना बन्द हो गया था, पांचवें मासके उपरान्त उसकी योनि और कमरकी पीड़ाका इति और जननेन्द्रियसे श्वेत जलका जाना सर्वथा बन्द हो गया था, और छटे माससे रक्तकी यथेष्ट उत्पत्ति हो जानेके कारण नियमित रूपसे मासिक धर्म होने लगा था। परन्तु हमने उसको फिरभी न्यूनाति न्यून तीन मासतक और चिकित्सा करनेकी सम्मति दी थी।

सन् १९१७ ई० के अन्तमें श्यामलीके स्थानपर हमको एक रोगी मिला, जिसने या तो स्वयं संख्या भक्षण करलिया था या किसीने उसे शत्रुता वश खिला दिया था। उसके आमाशयमें संख्या गये हुए एक घन्टा हो चुका था; उसके मुखमें असंख्य घाव और छाले हो गये थे, उसको शीघ्र, शीघ्र वमनका कष्ट सहन करना पड़ता था और अन्त्रादिके कटनेसे अतिसारकी असह्य पीड़ा दुःख दे रही थी अतः हमने एक साधारण बड़ा टब मंगाकर उसके भीतर चारों ओर कई तहके वस्त्र लगवा दिये और उसमें एक छोटासा खटोला बिछाकर उसपर रोगीको लिटा दिया; तत्पश्चात् टबको जलसे भरवाकर हमने उसको इतनी अग्निपर रक्खवा दिया जिसका उष्ण ताप रोगी सहन कर सके, और रोगीको प्याससेभी अधिक कुछ उष्ण तापका जल इस लिए पान करनेको दिया, जिससे आमाशयादिमें विषका प्रभाव हल्का हो जाय। फल यह हुआ कि चार घन्टेके भीतर यद्यपि उसको वमन, विरेचनका होना बन्द नहीं हुआ था तथापि उसको जो पीड़ाकी वेदना हो रही थी, वह बहुत कम हो गयी थी; और चौबीस घन्टेमें उसकी प्यास पूर्णतः शान्त हो गयी थी। इस प्रकार प्राय छप्पन घन्टेमें रोगी जोखिमसे बाहर हो गया था। किन्तु पूर्णतः उसको एक सप्ताहमें लाभ हो पाया था। हमारी इस रीतिसे उसको लाभ होनेपर एक वैद्य महाशयने हमारी चिकित्साको अपने आयुर्वेद शास्त्रसे निकली हुई कहा; और सुनते हैं कुछ दिनके उपरान्त उन्होंनेभी उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिए भूमिमें एक सात फीट नीचा, तीन फीट चौड़ा और छः फीट लांबा गढ़ा खुदवाकर उसमें कोयले दहका दिये और फिर उनको जलसे बुझाकर तुरन्त उनके भीतर रोगीको दबा दिया; उसने बहुत कुछ उठनेकाभी प्रयत्न किया; परन्तु उसको इतने

चल पूर्वक दवाया गया था कि उसकी सब चेष्टा वृथा रही। उन्होंने निरन्तर चौवीस घन्टेतक उसे गढ़ेमेंही कोयलों द्वारा दवा रहने दिया। क्योंकि वह समझते थे कि अधिक समयतक ताप पहुंचनेसे रोगका शीघ्र अन्त हो जावेगा। अतः चौबीस घन्टेके उपरान्त रोगीको निकाला गया, परन्तु वहां आशाके प्रतिकूल परिणाम हुआ, उसके प्राण सदाको विदा हो गये थे और उसका शरीर भुने हुए आलू या शकर कन्दके समान झुल्सा हुआ हो गया था; जिससे वैद्य राज महाशय घरसे किसी ओषधिके लानेके बहाने ऐसे भागे कि उनका फिर कभी ठिकाना न लगा। वास्तवमें उस रोगीकी मृत्युके अपराधी हमही हैं। क्योंकि हमने उस मूर्ख वैद्यको तापका महत्व बताया था, जिससे उसने इतनी बड़ी भूल की।

संग्रहणी Chronic Diarrhœa.

अजीर्ण और अतिसारके निरन्तर शरीरमें रहनेसे कुछ कालमें उसका संग्रहणीमें परिवर्त्तन हो जाता है, जिससे रोगी दिनोदिन अधोगतिको प्राप्त होता जाता है, कुछही दिनमें उसके प्राणोंके लाले पड़ने लगते हैं, और समस्त औषधियां उसको लाभ पहुंचानेमें निरर्थक सिद्ध होती हैं। हां, कुछ दिनके लिए जो नयी औषधि दी जाती है उसका प्रभाव लाभप्रद प्रतीत होता है, किन्तु कुछही दिनमें उसके अभ्यस्त होनेपर उसके सेवनसे रोगमें कोई न्यूनता नहीं होती। संग्रहणीमें इञ्जेक्शन्स द्वारा उसी प्रकार हमारा शरीर दूषित और निष्कर्म होजाता है, जिस प्रकार किसी विषैले सर्पके दंशने पर हमारा शरीर विषैला हो जाता है। संग्रहणी और क्षयीमें वास्तवमें कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि दोनोंही रोग हमारे शरीरको क्षय करने वाले हैं। संग्रहणीमेंभी उसी प्रकार शरीरके समस्त अवयव दूषित और निवल हो जाते हैं, जिस प्रकार क्षयीकी दशामें हमारे गात्रका प्रत्येक अङ्ग शक्ति हीन और विषैला हो जाता है। अतः संग्रहणीकी चिकित्सा करनेमें बहुतही सावधानीकी आवश्यकता है। संग्रहणी के रोगीको वेदाने अनारके अतिरिक्त अन्य कोईसी आहार उपयोगी नहीं हो सकता। संग्रहणीकी दशामें न्यूनाति न्यून प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे छाती एवं उदरपर ताप पहुंचाना और उदर वन्धनका प्रयोग करना चाहिये; और प्राय एक वर्षतक रोगीको तापकी चिकित्सामें रखकर केवल रसीले फलोंका आहार देना चाहिये, अन्यथा वर्ष, दो वर्षमें पुनः संग्रहणीका आक्रमण हो जाता है।

सन् १९१८ ई० के अन्तमें जब हम सोमना रेलवे स्टेशनपर अपने एक मित्रके

साथ, जो कि उस समय वहां स्टेशन मास्टर थे, ठहरे हुए थे, तो सोमना ग्रामके एक ठाकुर महाशय, जिनकी स्त्री संग्रहणीसे पीड़ित थी और जिसकी ओरसे वहांके समस्त चिकित्सक हताश हो लिये थे, हमको उसे दिखाने ग्राममें लेगये। हमने उसको देखा—उसका शरीर केवल अस्थियोंका पिञ्जर प्रतीत होता था; वह विना किसीकी सहायताके बैठभी नहीं सकती थी; उसको दिनमें कई बार विष्टेका त्यागन करनेको बाध्य होना पड़ता था; उसको ज्वरभी बनाही रहता था, विष्टेमें कभी, कभी श्लेष्मके अतिरिक्त रक्तभी आजाता था; उसके मुखका स्वाद बहुतही बिगड़ा हुआ रहता था; उसको कोईभी पदार्थ पाचनमें नहीं आता था; और कभी, कभी जब अतिसारका दौरा हो जाता था तो वह बहुतही दु:खी होती थी। परन्तु ऐसी दशा होते हुएभी हमने उसकी चिकित्सा अपने हाथमे लेली। हमने उसके लिए केवल अनार या अंगूरके आहार, और ताप पहुंचानेमें असुविधा होनेके कारण केवल उदरपर प्रति दिन तीन बार मृत्तिका बन्धन प्रयोग करनेकी सम्मति दी थी। फल यह हुआ कि पहिले दिनके प्रयोगसेही उसको विष्टा बन्ध कर आया, और दो सप्ताहके भीतरही उसको इतनी शक्ति प्राप्त हो गयी कि वह स्वयं एक घरसे दूसरे घरमें जाने लगी। परन्तु हमारे बहुत कुछ कहनेपरभी उसने धनाभावसे यथेष्ट फलोका सेवन नहीं किया, जिससे वह तीसरे सप्ताहमें दुर्बल होजानेके कारण अचेत होकर गिर पड़ी और उसको बत्तीसी बन्द होगयी। अब क्या था आकाश टूट पड़ा। हमारे समस्त परिश्रमपर पानी पड़ गया। यशके स्थानमें अपयश मिलने लगा। उसके पतिके मंझले भाईकी स्त्रीने शिरपर पहाड़ उठा लिया। उसका कहना था कि अन्न बन्द करनेकाही यह परिणाम है। अतः हम ऐसे अपमान जनक शब्दभी धैर्यके साथ सुनते रह। क्योंकि हमको अपनी चिकित्सापर पूर्ण विश्वास था। अतएव हमने उसको सचेत करनेके निमित्त स्वयं अपने हाथसे रात्रिके आठसे ग्यारह बजेतक उसकी ग्रीवा, छाती, उदर एवं मस्तकपर ताप पहुंचाया, जिससे वह ग्यारह बजेके निकट सचेत हो गयी; और हम शयनार्थ चले गये। अगले दिन एक अन्य ठाकुर देवता उसके घरपर आये और हमको उसे अन्न देनेकी सम्मति देने लगे। परन्तु हमने स्पष्ट कह दिया कि म अपनी जिह्वासे अन्नकी सम्मति नहीं दे सकते, जिसकी इच्छा हो वह चिकित्सा करे या न करे। अन्तमें समस्त ठाकुरोंने यही निश्चय किया कि

रोगीकीभी सम्मति ली जाय। अतः रोगीसे चिकित्सा करने न करनेका प्रश्न किया गया; और उसने स्पष्ट शब्दोंमें अपना यथेष्ट फल सेवन न करने का दोष स्वीकार करते हुए कहदिया—"वह चिकित्सा, जिसने दो सप्ताहमें इतना चमत्कार दिखाया किस प्रकार बन्द की जा सकती है?" अतएव उसके ऐसा कहनेसे हमको बहुतही प्रसन्नता हुई। क्योंकि हमको ऐसा कोई रोगी नहीं मिला था, जो अपने दोषको स्वीकार करले। इसके उपरान्त कोई दो मास पर्यन्त उसकी चिकित्सा और हुई। परन्तु हमारी सम्मति कमसे कम छः मासतक चिकित्सा करनेके लिए थी। यद्यपि ढाई मासकी चिकित्सासेही उसको बहुत कुछ लाभ हो गया था, और उसको जो मासिकधर्म कई माससे बन्द था होने लगा था। परन्तु जैसा हम चाहते थे वैसा नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त हमारी सम्मतिके विपरीत उसको गर्भ धारण करनेके लिए बाध्य किया गया, जिससे सन् १९१९ ई० के अन्तमें उसके बिना किसी आपत्तिके कन्याका जन्म हुआ। अपरञ्च सन् १९२० ई० में उसको अपने भाईके विवाहमें जाना पड़ा, जहां कि वह बहुत कुछ कुपथ्यसे रही। अतः उसको निमोनिया हो गया और उसका दुर्बल शरीर उसका सामना न करसका। अतएव निमोनियाके कारणही उसकी मृत्यु हो गयी। उसको हमारी चिकित्सामें इतना विश्वास था कि वह मरते समयतक हमारे बुलानेकोही कहती रही। वास्तवमें वह साक्षात देवी थी। इसीसे उसके गुणोंकी जो कुछभी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। उसके मरनेके उपरान्त उसके पतिने हमसे अनेक बार सोमना रहनेको कहा, परन्तु उसके बिना हमको वहां रहनेमें दुःखोंके अतिरिक्त कोई सुख न था। इसीसे हमने वहां रहना उचित न समझा।

एक रोगी सन् १९१९ ई० के अन्तमें हमको बम्बईमें मिला था। वह कई वर्षसे संग्रहणीसे पीड़ित था; हरिद्वारके किसी बड़े वैद्यनेभी उसकी निरर्थकही चिकित्सा की थी; उसको कई वैद्योंने केवल छाछ या फलोंपरभी रक्खा था; डाक्टरोंनेभी उसको तीन दर्जनसे अधिक इञ्जेक्शन दिये थे; वह जब उत्तर-भारतमें चला जाता था तभी उसको कुछ लाभ प्रतीत होने लगता था, परन्तु बम्बई पहुंचतेही या कुछ दिन उपरान्त उसको संग्रहणीका दौरा होने लगता था; जिस समय वह हमारी चिकित्सामें आया था उस समय उसको नित्य तीस, चालीस बार शौचको जाना

पड़ता था; उसके उदरमें प्रत्येक समय गुड़, गुड़के शब्द हुआ करते थे; उसके पैरोंपर सूजन आगया था और वह अति दुर्बल था इस लिए हमारे निकटतक बड़ी कठिनतासे आया था; उसके शरीरका रङ्ग रक्तकी न्यूनतासे श्वेत हो गया था; समस्त शरीर अस्थियोंका पिञ्जर दीखता था; उदर कमरसे लगा हुआ तथा रूखा प्रतीत होता था, और हाथसे दवानेपर नाड़ियों और अन्त्रकी कठोरताका ज्ञान होता था; शिर पीड़ाभी प्राय दुःख दिया करती थी; मुखका स्वाद कभी ठीक न रहता था; और डाक्टरोंके इञ्जेक्शन्ससे उसकी वाम भुजामें बहुत पीड़ा और दाह थी। हमने उसको चिकित्सा करनेसे पूर्व कुछ दिनको बम्बई छोड़ देनेको कहा। परन्तु वह एक साधारण वेतनका क्लर्क था। इस लिए उसकी उस समय ऐसी स्थिति नहीं थी कि वह बम्बई छोड़कर अन्यत्र चला जाता। इसपरभी उसने बम्बई नगरसे बाहर किसी सेठके बङ्गलेपर रहनेकी व्यवस्था कराली। अतः वह वहां चला गया और हमारी आज्ञानुसार प्रति दिन तीन वार दो, दो घन्टे छाती, उदर और वाम भुजापर ताप एवं मस्कती अनारका लेना आरम्भ किया, जिससे पहिले सप्ताहमेंही उसको इतना लाभ पहुंचा कि वह प्रति दिन एक वार शौचको जाने लगा, विष्टेके साथ रक्त आना बन्द हो गया, पैरोंका सूजन कम हो गया और वाम भुजाकी दाह और पीड़ा जाती रही; दूसरे सप्ताहके उपरान्त उसके शरीरमें कुछ अधिक चैतन्यता प्रतीत हुई, विष्टेके साथ श्लेष्म जाना बन्द हो गया, मुखका स्वाद पहिलेकी अपेक्षा बहुत अच्छा रहने लगा, और पैरोंपर किञ्चित मात्र सूजन न रहा। अतः दिनोदिन उसको अधिकाधिक लाभ होने लगा। एक मासके उपरान्त वह अनारके अतिरिक्त, विना हमारी आज्ञाके, अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी न होनेसे, मौसम्बी, संगतरा, गन्ना, अङ्गूर, और काश्मीरी नाशपातीभी सेवन करने लगा था। परन्तु उस समय उसकी पाचन शक्ति इस योग्य हो गयी थी कि उक्त फलोंसे उसको कोई कष्ट प्रतीत नहीं हुआ। किन्तु यदि वह कुछ दिन और उसी मस्कती अनारपर निर्वाह करता तो अधिक लाभ और वल प्राप्त होता। दूसरे मासके उपरान्त उसने सर्दा खर्बूज़ा और शरीफ़ा आदिभी लेना आरम्भ कर दिया था; परन्तु इतनी बात अच्छी थी कि वह प्रत्येक फलको यथाशक्ति बहुतही धीरे, और भले प्रकार दांतोंसे चबाकर सेवन किया करता था, प्रत्युत यथा सम्भव वह प्राय फलोंका रस चूंसकर फोक थूक देता था। इसीसे बहुधा स्थूल फलभी

आमाशय और अन्त्रादिमें अपने बोझसे अधिक दाह या पीड़ा उत्पन्न नहीं करते थे। किन्तु यह सब कुछ होते हुएभी यह भारी फलोंके लेनेकाही परिणाम था कि उसको प्रायः डकारें आया करती थीं और छः मास पर्यन्त चिकित्सा करनेपरभी उसके आमाशय और उदरमें दूषित गैसोंकी उत्पत्ति होना वन्द न हुई, जिससे वहुधा उसके उदरमें गुड़, गुड़के शब्द हुआ करते थें। इसके अतिरिक्त उसको गाढ़ा विष्ठा होते हुए-भी लेंडी वन्धकर न आता था। अन्ततः उसने छः मासके उपरान्त फिर अनारपर निर्वाह करना आरम्भ किया, किन्तु उस समय मस्क़ती या वेदाने अनारकी ऋतु न थी इस लिए उसको ढोलके या अहमदाबादके अनार लेनेको वाध्य होना पड़ा। यद्यपि अन्य फलोंकी अपेक्षा उक्त जातिके अनारोंसेभी उसको वहुत लाभ पहुंचा, किन्तु वेदाने या मस्क़ती अनारके समान वह गुणकारी सिद्ध न हुए; प्रत्युत उनकी उत्तेजना और कसांले स्वादसे कभी, कभी उनकी ओरसे घृणा हो जाती थी। उस रोगीको किसी, किसी वातपर ऐसी हट हो जाया करती थी कि वह हमारे वहुत कुछ लिखने परभी उसे स्वीकार नहीं करता था। इसीसे जेन्वेरी सन् १९२० ई० में जव हम वम्वईसे सोमना चले गये तो उसने हमारे वहुत कुछ समझानेपरभी कुछ दिन अनारके स्थानमें इस अनुमानसे केवल गन्ना लेना आरम्भ करदिया कि वहभी रससे परिपूर्ण होनेके कारण सरलता पूर्वक पाचनमें आकर शीघ्र और अधिक रक्तकी उत्पत्ति करेगा। परन्तु उसने यह नहीं विचारा कि गन्ना अनारकी अपेक्षा अधिक मीठा तथा उत्तेजक होनेके अतिरिक्त अधिक स्थूल कणोंसे सङ्गठित होनेके कारण कैसे सुगमता पूर्वक पाचनमें आकर शीघ्र और अधिक रक्तकी उत्पत्ति कर सकता है। अन्ततः गन्नेके सेवनसे जव उसको अधिक डकारें आने लगीं, गैसोंकी उत्पत्तिसे उदरमेंभी अधिक गुड़, गुड़के शब्द होने लगे और विष्टा छाग रूपमें आने लगा, तो उसने हमारी सम्मतिको स्वीकार किया। किन्तु यदि वह आरम्भसेही शीघ्रता या हमारी सम्मतिको काटनेके लिए अपनी वुद्धिका अनुचित व्यय न करता तो उसको अधिक समयतक हमारी चिकित्सामें रहनेकी आवश्यकता न होती। परन्तु फिरभी फलोंकी कृपासे अधिक हानि न होनेके कारण इतना अच्छा था कि चिकित्सा आरम्भ करनेसे तीन मास उपरान्त वह अपनी नौकरीपर जाने योग्य हो गया था; अन्यथा वम्बई सरीखे रूखे नगरमें विना धनके चिकित्सा करना वहुतही कठिन होता। सन् १९२२ई०के अन्ततक कभी, कभी हमको उसकी कुशल मिलती रही थी; प्रत्युत

एक पत्रमें उसने हमको लिखा था—"It is no doubt true, that your system of cure is the gift of Heaven's, and it is not the matter of exaggeration if I say that even the gods of wealth are unable to pay the real value of it–" इसके उपरान्त उसका अन्तिम पत्र सन् १९२३ ई० के आरम्भमें हमको अलीगढ़में मिला था। जो कि उसने उन्नावसे भेजा था। उसके पढ़नेसे ज्ञात होता था कि गत वर्षोंकी अपेक्षा उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, और उसके शरीरमें संग्रहणीका अंश नहीं रहा था।

सन् १९१६ ई० में हम बिजनौरसे एक रोगीकी चिकित्सार्थ मुरादाबाद गये हुए थे, उसी समय एक ब्राह्मण, चपरासीका पुत्र, अपने ज्येष्ठ पुत्रको दिखाने घर ले गया। उसका घर राम-गङ्गा तटपर नवाबपुरेमें था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि उस घरके चारों ओर नीच एवं अपवित्र जातियोंका वास न होता और उस घरके कमरोंकी बनावटमें वायु सञ्चारका ध्यान रक्खा गया होता, तो वह क्षयीके रोगियोंके निमित्त बहुतही सुन्दर स्थान था। परन्तु जिस समय हमने उस रोगीको उस घरमें देखा तो हमको बहुतही दुःख हुआ। क्योंकि उस समय वहांकी वायु बहुतही दूषित थी; और विशेषतः रोगीके कमरेकी वायु तो प्रकाश न पहुंचनेसे आरोग्य मनुष्यकोभी रोगी बना देनेवाली थी। किन्तु खेद है उसके चिकित्सकने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वह रोगी प्राय अठारह वर्षका नवयुवक था, और उसका पिता कुछ दिन हमारे प्रेसमें नौकर रह चुका था। इसके अतिरिक्त वह सजातीयभी था। इसीसे हमारे छोटे चचाने हमसे उसकी ध्यान पूर्वक चिकित्सा करनेको कहा था। परन्तु उसके उत्तरमें हमको स्पष्ट कहना पड़ा—"अब किसी प्रकार उसके प्राण नहीं बच सकते। इस लिए चिकित्सा करके अपने माथे कलङ्क लेना उचित नहीं। क्यों कि जैसा कि मूर्ख चिकित्सक कहते हैं, उसको संग्रहणी नहीं है, प्रत्युत उसकी अन्त्र ट्यूबरक्लोसिसकी रसोलियों और फोड़ोंसे भरी हुई है, जिसके कारण उसको अतिसारकी पीड़ा है, और उसका डाक्टर उसे संग्रहणी समझा हुआ है।" हमारे यह स्पष्ट शब्द उस समय किसीकोभी भले प्रतीत न हुए, हम सबकी दृष्टिमें कण्टकके समान हो गये, प्रत्युत हम उनकी दृष्टिसेही च्युत हो गये। इसके अतिरिक्त रोगीके

पिताने यह समझा कि कदाचित् फ़ीस न देनेसेही चिकित्सा करना नहीं चाहा। अपरञ्च हमारे चचा उसके युवा पुत्रके विषयमें ऐसे शब्द निकालनेपर हमको कुछ कड़ी दृष्टिसे देखकर कहने लगे—"ईश्वरकी लीला ईश्वरही जानता है, तुम्हारा ऐसा कहना सब निर्मूल है। तुम उसके भेदोंको नहीं जान सकते, प्रत्युत ऋषियोंने-भी उसकी लीलाओंका पार नहीं पाया। तुमको ऐसे शब्द कभी प्रयोग न करने चाहियें। क्योंकि 'जबतक श्वांसा तबतक आशा।' अभी कुछ दिन अनुभव प्राप्त करो।"

उक्त शब्दों द्वारा हमारे चचाने केवल हमाराही अपमान नहीं किया, प्रत्युत हमारी विद्याको कलङ्कित करनेका पाप कर्म किया। हमको उस समय उनके वह वचन बहुतही कटु प्रतीत हुए। उन्होंने तनिकभी बुद्धिसे काम नहीं लिया, इसीसे हम यह समझकर मौन हो गये कि:—

बात हक़की जब कही तो, यह नतीजा बस हुआ:
हमभी नज़रोंमें यों उनकी, ख़ार 'कर्नळ' होगये।

किन्तु उस समय हमने इतना अवश्य कह दिया था—"हम फिर कहते हैं कि संसारमें कोई बड़ीसे बड़ी शक्तिभी अब उस रोगीको नहीं बचा सकती, और शीघ्र उसका परिणाम मृत्युही है।" क्योंकि हम यह देख चुके थे कि उसके शरीरमें रक्तका बनना बन्द हो गया था, वह शैयाका दास बन गया था, प्रत्युत अपनी इच्छानुकूल करवटभी नहीं ले सकता था, उसके शरीरमें अस्थियोंके ढांचेके अतिरिक्त कहीं मांस दृष्टिगोचर न होता था, उसका उदर शुष्क होकर कमरमें जा लगा था, उसकी अन्त्रमें विकल करनेवाली वेदनाका ज्ञान होता था, मल द्वारा श्लेष्म और रक्त आया करता था, और शरीरमें ज्वरभी बनाही रहता था। परन्तु इसपरभी उसके अनुभवी डाक्टरका कहना था कि वह आगामी सप्ताहमें उसकी अन्त्रादिको स्वच्छ करके उसको संग्रहणी रोगसे मुक्त करनेका उपाय करेगा। किन्तु अन्त्र स्वच्छ करनेसे पूर्वही रोगी मृत्युको प्राप्त हो गया, और हमारे उस समय कटु प्रतीत होनेवाले वचनोंकी सिद्धि हो गयी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका मरण हो जानेसे मस्तिष्कमें बुद्धि रखने वालोंको हमारे अनुभवका परिचय हो सकता है। परन्तु वास्तवमें हमको उसकी असमय मृत्युसे बहुतही दुःख हुआ। क्योंकि वह अपने पिताका एक होनहार और बहुतही शांत प्रकृतिका पुत्र था, दूसरे मूर्खों और पाखण्डियोंकी क्रूरता वश उसकी स्त्री सदाको विधवा हो गयी।

सन् १९१७ ई० में काशीके एक प्रख्यात वैद्य श्री हरि वल्लभाचार्य बहुत दिनसे क्षयी रोगसे पीड़ित थे। अतः हम अपने ज्येष्ठ भ्राताके आग्रहपर प्रयागसे उनको देखने काशी गये हुए थे। किन्तु उनके दोनों फुप्फुस इतने दूषित हो चुके थे कि हमने उनकी चिकित्सा करना स्वीकार न किया। उसी समय अकस्मात् बाजारमें जाते समय एक युवकने अपनी टोपी हमारे पैरोंमें रक्खदी और न जाने क्या गिड़, गिड़ाने लगा। उसका यह कृत्य देखकर हमभी बहुत घबराये, किन्तु हमने उसको आश्वासन देते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहनोको कहा। अतः वह कुछ काल ठहरकर बोला---" आप वही प्रयाग वाले डाक्टर हैं न, जो प्राकृतिक चिकित्सा करते हैं?" हमारे-हां-करनेपर फिर उसने संक्षेपमें अपनी माताके रोगी होनेकी कथा सुनायी और उसकी चिकित्सा करनेके लिए आग्रह किया। अतएव हमने उसकी माताको जाकर देखा। उसकी आयु प्राय पैंतीस वर्षकी थी; वह कई वर्षसे संग्रहणी रोगसे पीड़ित थी; उन दिनों उसको अतिसारका भारी दौरा हो रहा था; उसके उदरमें मरोड़की पीड़ा होती थी; विष्ठेके साथ कभी, कभी श्लेष्म, या श्लेष्म और रक्त आता था, या केवल झागोंके समान विष्ठा होता था; अतिसारके दौरेके दिनोंमें प्राय विष्ठा त्यागनेके समय उसकी कांच लागभग तीन इञ्च बाहर निकल आती थी; उसकी कांचमें अनेक श्वेत रङ्गके घाव हो रहे थे और घावोंके चारो ओर दाहसे लाली प्रतीत होती थी, जिससे ज्ञात होता था कि उसकी समस्त अन्त्र और आमाशय घावों और दाहसे परिपूर्ण था; उसके मुखमें बहुधा छाले हो जाते थे; उसके विष्ठेमें बहुतही दूषित गन्ध आती थी; उसको श्वेद बहुतही कम आता था; उसकी त्वचा रूखी प्रतीत होती थी; तीन माससे उसको मासिक धर्म नहीं हुआ था, उसके शरीरमें रक्तकी बहुत न्यूनता थी और केवल अस्थियांही दीखती थीं। इसके अतिरिक्त उसको प्रदर रोगभी बहुत दिनसे दुःख दे रहा था। उसको संग्रहणीकी पीड़ा होनेका कारण यह था कि उसके माता-पिताको सदासे अजीर्ण रहा करता था। अतः उसकोभी जन्म कालसेही अजीर्ण रहने लगा और माताके स्तनोंमें दूधकी कमीसे गौऊका दूध अथवा समयसे पूर्व अन्नादि सेवन करनेसे उसको ढाई वर्षकी अवस्थामें ऐसा अतिसारने घेरा कि निरन्तर कई मासतक वह उससे पीड़ित रही; और उससे मुक्त हो जानेपरभी यदा, कदा अतिसारसे दुःख पाती रही, प्रत्युत हमारे अनुमानसे तो उसको सदाही अतिसारकी पीड़ा बनी रही।

क्योंकि उसको कभी लेंडी बन्धकर विष्टा नहीं होता था, उसके मलमें अप्रिय, दूषित गन्ध प्रतीत होती थी, और विष्ठेका परिमाणभी आवश्यकतासे अधिक होता था, उसके मलके श्वेत रङ्गसे यह ज्ञान होता था कि उसका पाचनके समयसे पूर्व अर्थात् विना पाचनमें आयेही त्यागन होता था; और उसको गुदा द्वारा दूषित वायु (गैसों) काभी बहुत त्यागन होता था। इसके अतिरिक्त वह कभी पथ्यसेभी रहना नहीं जानती थी। अपरञ्च वह पाचक चूर्ण एवं अन्य अनेक औषधियां सेवन करते, करते अपनी पाचन शक्तियोंको कर्त्तव्य च्युत कर चुकी थी। इसीसे अनेक औषधियोंकी अभ्यस्त हो जानेपरभी उसे निरन्तर अजीर्ण और अतिसार रहनेके कारण उसके शरीरके समस्त अवयव और रक्त दूषित हो गया था, जिससे वह फूलकर बहुतही भारी होने लगी थी। किन्तु पन्द्रह और बीस वर्षकी अवस्थाके बीचमें उसको चार बार विशूचिकाकी पीड़ा हुई थी, और प्रदर रोगभी अधिक वृद्धिको प्राप्त हो गया था। इसके अतिरिक्त इक्कीसवें वर्षमें वह विधवा हो गयी थी। इसीसे वह एकैक सूखकर कांटा हो गयी; और अपनी आयुके तीसवें वर्षमें वह बद्री नारायणकी यात्राको चली गयी थी। अतः वहां चलनेके परिश्रम और शरीरमें अजीर्णका दूषित अंश होनेसे वहीं उसको संग्रहणीने घेर लिया। अतएव बड़ी कठिनतासे वह वहांसे लौटकर काशी अपने पिताके घरतक पहुंची। उस समय उसके बचनेकी कोई आशा न थी। किन्तु किसी प्रकार वह उस समय बच गयी, परन्तु उसके शरीरसे रोगका अन्त नहीं हुआ था। इसीसे यदा, कदा संग्रहणीके आक्रमण होते रहे; और किसी, किसी समय ऐसे भारी दौरे होते थे कि सब उसके जीवनसे हताश हो जाते थे; और हमारे देखनेके समयभी उसको ऐसाही दौरा हो रहा था। परन्तु उस समयतक हमारी दृष्टिमें उसका रोग साध्य था। अतः हमने उसको प्रति दिन तीन बार दो, दो घन्टे छाती, उदर और गुदापर ताप पहुंचाने और उसके उपरान्त ऐसा उदर बन्धन प्रयोग करने, जो उदरके अतिरिक्त लंगोटीके समान कटा हुआ होनेसे काञ्चकी पीड़ाकी रक्षा कर सके, की सम्मति दी; और आहारके निमित्त हमने न्यूनाति न्यून तीन मासतक उसे केवल अनार लेने, उसके उपरान्त अनारके साथ अंगूर, काशमीरी नाशपाती, संगतरा आदि सेवन करने और तत्पश्चात् जैसी सामर्थ्य हो वैसे, वैसे फलोंपर निर्वाह करनेको कहा था। परन्तु इन सब बातोंसे अधिक बल हमारा इस बातपर था कि उसको काशी सरीखे अपवित्र नगरमें

न रक्खा जाय। जब हम समस्त रूपेण उसकी चिकित्साके निमित्त सम्मति देकर चलने लगे तो रोगीके वृद्ध पिताने ५०) रुपये हमारी भेंट किये। परन्तु हमने उसे लेना इस लिए अस्वीकार किया कि उस समयतक उसकी चिकित्साका प्रारम्भ नहीं हुआ था। अतः दूसरे दिन उसके पिताने हमारे हाथसेही चिकित्साका प्रारम्भ करादिया, रोगीके रहनेकी रामनगरमें व्यवस्था करदी, और उस दिन चलते समय उसने फिर हमको ५०) रुपये भेंट किये। हमने उसमेंसे दो दिनकी फीस अर्थात् केवल १०) रुपये उठाना चाहा, क्योंकि उस समय हम केवल ५) रुपयेही प्रति फीसमें लिया करते थे। हमारे इस व्यवहारसे उसने ८०) रुपयोंके अतिरिक्त १०) रुपये दोनों दिनकी फीस और भेंट की। हम उसके इस अनोखे कृत्यको देखकर बहुतही चकित हुए। उसने कहा—"आपकी चिकित्सा ऐसी है कि यदि कोई बुद्धिसे काम ले तो केवल एक फीस अर्थात् ५) रुपये देकरही अपनी तथा दूसरोंके रोगोंकी चिकित्सा कर सकता है। क्योंकि आपकी चिकित्सा विधिमें सब रोगोंकी चिकित्सा करनेमें एकही क्रिया है, और उसको आप उदारता पूर्वक पहिलेही दिन प्रत्येक रोगीको बता देते हैं; और मान लीजिये कि कोई बहुतही मूर्ख हुआ तो उसको कमसे कम एक मासमें आपकी आवश्यकता होगी, अर्थात् यदि वह आपकी चिकित्सामें अधिकसे अधिक एक वर्ष रहा तो आपको केवल ६०) रुपये प्राप्त हुए। अतः इस प्रकार आप कभीभी सुखसे न रह सकेंगे। इसके अतिरिक्त ऐसे स्वार्थी रोगियोंकी आप कभी हृदयसे चिकित्सा न कर सकेंगे, प्रत्युत रोगियोंकी ओरसे आपका हृदय इतना खिन्न हो जावेगा कि आप उनका हित चाहनेके स्थानमें अहित चाहने लगेंगे। इस लिए मेरी तुच्छ सम्मति यही है कि समर्थ रोगियोंसे फीसके स्थानमें आप किसी नियत धनको लेना निश्चय कर लिया करें और आधा या चौथाई धन अगाऊ लेलें।" इसपर हमारा उसका बहुत तर्क हुआ परन्तु अन्तमें हमको उससे ६०) रुपये लेनेको बाध्य होना पड़ा, और उसके उन रुपयोंसे हमारा बहुतही काम निकला। क्योंकि प्रयागसे चलते समय हमसे, उन लोगोंने, जिनके साथ हम प्रयागमें ठहरे हुए थे, कुछ वस्तुएं काशीसे लानेको कहा था, और हमारी जेबमें आने, जानेका भाड़ाभी बड़ी कठिनतासे था, इसके अतिरिक्त जिन प्रेसवाले महाशयने हमसे कुछ सहायता लेनेके लिए हमको प्रयाग बुलाकर निरन्तर कई मास पर्यन्त हमसे अपने कार्यालयका काम लिया था और हमने

उनके पुत्र एवं पुत्रीकी चिकित्साभी की थी, चलते समय काम निकल जानेपर आने जानेका भाड़ाभी नहीं दिया। अतः यदि उस समय हमारी जेबमें उन लोगोंसे गुप्त रक्खे हुए वह रुपये न होते तो हमको कितनी आपत्तिका सामना करना पड़ता। उस समय हमारे हृदयसे काशीवाले रोगीके लिए अनेक आशीर्वाद निकलते थे, और तनिकभी उसके समाचार मिलनेमें विलम्ब होता था तो हम अधीर हो जाते थे। उसको हमारी चिकित्सा, अनारके आहार; और रामनगरकी जल वायुसे पहिले सप्ताहमेंही अपूर्व लाभ हुआ। उसकी अतिसारकी पीड़ाका अन्त हो गया, वह प्रति दिन पच्चीस, तीसके स्थानमें केवल एक वार शौचकी जाने लगी, उदरकी मरोड़का सदाको अन्त हो गया और विष्ठके साथ श्लेष्म या रक्तका जाना बन्द हो गया; दूसरे सप्ताहमें उसको झागोंके स्थानमें कुछ बंधा हुआ विष्ठा होने लगा, उसके विष्ठेकी गन्धमें बहुत न्यूनता होगयी, गुदा द्वारा दुर्गन्धित वायुके निकलने और उसकी तीक्ष्ण गन्धमेंभी बहुत कमी होगयी, और काचका निकलना एक ओरसे बन्द हो गया; तीसरे सप्ताहमें उसके मुखके छालोंका लोप हो गया, मुखका स्वाद सुधरा हुआ और हलका रहने लगा, शरीरमें कुछ, कुछ चैतन्यता प्रतीत होने लगी; एक मासमें वह शैयासे उठ खड़ी हुई और दस, पांच पग चलने लगी, धीरे, धीरे रक्तकी वृद्धि होना आरम्भ हुई, समस्त शरीरमें श्वेद प्रतीत होने लगा और उसके मूत्रके रङ्गमें हलकापन हो गया; दो मासमें वह एक फर्लाङ्ग विना कष्टके चल सकती थी, प्रदर रोगकाभी उस समय अन्त हो लिया था और उसे कोई कष्ट न था, केवल उदरमें गुड़, गुड़के शब्द हुआ करते थे, लेंडी बन्धकर विष्ठा और मासिक धर्म नहीं होता था; तीसरे मासके तीसरे सप्ताहमें पहिली पहिल उसको पुनः मासिक धर्मका होना आरम्भ हुआ था, परन्तु उस समय उसके बहुतही अल्प मात्रामें रक्त आया था और केवल एकही दिन आकर रुक गया था; चौथे मासके तीसरे सप्ताहमें उसकी हस्त-तल और हाथोंके दसों नख रक्तकी उत्पत्तिके कारण लाल हो गये थे, किन्तु उस मासमें-भी उसको मासिक धर्मके समय यथेष्ट रक्त नहीं आया था, परन्तु उसका मूत्र श्वेत वर्णका हो गया था; पांचवें मासमें उसने कुछ और उन्नति की थी; किन्तु छटे मासके अन्ततक उसको कोई पीड़ा न रही थी,। मासिक धर्म समयपर यथेष्ट मात्रामें होता था, उदरकी गुड़, गुड़ जाती रही थी, विष्ठा लेंडी बन्धकर

होने लगा था और वह आनन्द पूर्वक कई मील टहलने जा सकती थी। कुछ दिन तक, जबतक कि संग्रहणीके कारण उसके मुखका स्वाद ठीक नहीं था, वह अपने परिचारकोंको बहुत तङ्ग किया करती थी। क्योंकि चिरकालतक रोगी रहनेसे एक तो वह चिड़, चिड़े स्वभावकी हो गयी थी, दूसरे उसको सदा उत्तेजक पदार्थोंके सेवन करनेकी लपस्या बनी रहती थी। परन्तु उसके परिचारकोंने बड़ी बुद्धिमत्तासे उस समयको उसे पथ्यसे रखकर निकाल दिया, और उसके निकल जानेपर चिकित्साके प्रभावसे उसकी पाचन क्रियाके ठीक होनेपर मुखकास्वाद ठीक करनेके लिए उसे किसी उत्तेजक पदार्थके सेवन करनेकी इच्छा होनी उसी प्रकार बन्द हो गयी जिस प्रकार अजीर्णके शान्त हो जानेपर प्यासकी इच्छा नहीं रहती। वास्तवमें अजीर्ण या संग्रहणीके रोगीके पथ्यका ध्यान रखनाही एक परमावश्यक बात है। क्योंकि संग्रणीका रोगी प्रथम तो क्षुधा या सामर्थ्यसे अधिक आहार सेवन कर जाता है, द्वितीय उसे प्रत्येक समय इस लिए उत्तेजक पदार्थोंके भक्षण करनेकी इच्छा बनी रहती है कि अजीर्णवश उसके मुखका स्वाद ठीक नहीं होता, तृतीय उसको विष्टेका त्यागन कच्चे रूपमें होनेसे शरीरके अवयवोंको पोषक पदार्थ न मिलनेके कारण आमाशयको क्षुधा बनीही रहती है। अतः अजीर्ण, अतिसार और संग्रहणीके रोगियोंके परिचारकोंको चाहिये कि वह अपने रोगियोको कभी भूलकरभी उनकी सामर्थ्यसे अधिक और कुसमय भोजन न दें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे उक्त रोगीको छः मासमें लाभ होगया था और उसके उपरान्त तीन मासतक वह हमारी चिकित्सामें और रही, जिससे हमको बहुत प्रसन्नता हुई, परन्तु उसके आरोग्य होनेके पांच, छः मास उपरान्त उसके उस उदार पिताकी मृत्यु हो गयी, जिसने हमको अमूल्य उपदेश दिया था। उसके वह शब्द हमको आजभी उसी प्रकार स्मरण हैं; और अनेक उन कृतघ्न रोगियोंके नीच व्यवहारके कारण, जो उन्होंने हमारी सहानुभूति और सेवाओंके स्थानमें किये थे, हमको उस वृद्ध पुरुषके शब्दोंका तत्क्षण स्मरण हो आया, हम अपनी मूर्खतापर पश्चाताप करके एक ठन्डी आह भरकर चुप हो गये; और इतना कहकर सन्तोष करलिया—"दुःखीको दुःख देकर कोई सुखी नहीं हो सकता और अन्यायके साथ किसीके अधिकारोंका नाश करके कोई एक पलभी सन्तोषसे नहीं बैठ सकता।"

अतिरिक्त हमारा तो यही कहना है:—

क्या करें अब आज सामां, उनके मरनेके लिए ?
आहे मज़लूमान हैं बस, उनके मरनेके लिए ।
औरभी जो कुछ सितम हैं, खोलकर दिल वह करें,
हमतो पैदाही हुए हैं, सिर्फ़ मरनेके लिए !
किस ग़ुमांमें वह उदू हैं ? क्या सितम यह ढारहे ?
खुदही सामां यह किये हैं, आप मरनेके लिए ।
है बक़ा दुन्यामें ' कर्नल ', वह उदूके सामने,
जान जिसकी हाथपर हो, आज मरनेके लिए ?
क्या उठाते हैं वह ज़ालिम, आज इस शमशीरको,
बेकसोंपे वार करके, डूब मरनेके लिए ।
मुफ्तकी इन खिदमतोंका, जो सिला हमको मिला,
है वह काफ़ी उम्र भरको, ग़ममें मरनेके लिए ।

इसके अतिरिक्त हमारे परिश्रम और सेवाओंके स्थानमें यदि कोई क्रूरताका परिचय देता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह हमारे भाग्यका रचयिता है । क्योंकि:—

मैटेंगे आज क्या वह, तक़दीरके लिखेको ?
तहरीर यह किसीसे, ' कर्नल ' मिटी नहीं है ।

डेसम्बर सन् १९२३ ई० में एक दलाल जो कि कई वर्षसे संग्रहणी रोगसे पीड़ित था और हरिद्वारादि अनेक स्थानोंपर चिकित्सा करा चुका था, बम्बईके स्थानपर हमारी चिकित्सामें आया। यों तो वह बहुत दिनसे हमारी चिकित्सा करना चाहता था, क्योंकि वह हमारे हाथसे अनेक रोगियोंको लाभ होते देख चुका था, किन्तु किसी कारण वश वह चिकित्सा करनेमें विलम्ब कर रहा था। परन्तु एक दिन उसको अतिसारका दौरा हो गया, और उस दिन प्राय तीस वार उसको जलके समान तरल विष्ठा हुआ, उसका शरीर एकैक गिर गया, उसमें उठने और अधिक बोलनेकीभी शक्ति न रही । अतः उसने हमको टेलीफून किया और हमने उसको बुलाकर उसी दिन उसकी चिकित्सा करना आरम्भ कर दिया । फल यह हुआ कि उसके अतिसारकी पीड़ाको तत्क्षण लाभ पहुंचा, वह उसी दिनसे दो वार शौचको जाने लगा; तीन दिनके

उपरान्त उसमें चलने, फिरनेकी शक्ति आ गयी; एक सप्ताहमें वह एकही समय शौचको जाने लगा, किन्तु उस समयतक उसको विष्ठेमें झाग और श्लेष्म आता था, दूसरे सप्ताहमें उसको विष्ठेके साथ श्लेष्म और झाग जाना बन्द हो गये, उसमें यथेष्ट शक्ति आजानेसे वह भले प्रकार दलालीका कार्य करने लगा, और फिर उसे किसी प्रकार शारीरिक या मानसिक निर्बलताका ज्ञान न होता था। अतः अनेक घटनाओंमेंसे यहभी एक प्रत्यक्ष उदाहरण था कि केवल रसीले फलोंके आहारसे वह रोगी, जिसका शरीर प्राय शिथिल हो गया था, रसों द्वारा शक्तियाँ प्राप्त करके एकही सप्ताहके उपरान्त दलाली सरीखा परिश्रमका काम करने योग्य हो गया। उन मूर्खोंके लिए, जो यह समझते हैं कि फलोंके आहार द्वारा मनुष्य बलहीन और दुर्बल हो जाता है और अन्न सेवन करनेके समान बल प्राप्त नहीं कर सकता, यह एक शिक्षाप्रद घटना है और यही नहीं प्रत्युत हम ऐसी ज्वलन्त उपमाएं दे सकते हैं। हम इस बातको बल पूर्वक कहते हैं कि रसीले, सुपाच्य, अनुत्तेजक और चैतन्य (ताजे) फलोंके सामने अन्नमें, कभीभी वह शक्ति नहीं है। क्योंकि अन्न शुष्क और स्थूल होनेसे वह फलोंके सदृश रक्तकी उत्पत्ति नहीं कर सकता; प्रत्युत उससे रसोंकी अपेक्षा विष्ठेकीही अधिक उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त उसका पाचन करनेमें हमारी आवश्यकतासे अधिक शक्तियोंका व्यय होता है और उसके अनेक दोषोंसे हमारा शरीर विष युक्त, रोगी एवं शिथिल हो जाता है। आजकल फलोंके सेवनसे प्रायः इसी लिए मनुष्य दुर्बल हो जाते हैं कि आर्थिक स्थितिकी निर्बलता अथवा अन्य किसी कारणवश फल यथेष्ट मात्रामें प्राप्त नहीं होते। हम इसका स्वयं अपने शरीरपर अनुभव कर चुके हैं। जब कभी हमने आर्थिक स्थिति अच्छी होनेसे स्वतन्त्रता पूर्वक रसीले और ऊंची जातिके सुपाच्य और अनुत्तेजक फलोंकी यथेष्ट मात्राका सेवन किया है तभी हम बहुत चैतन्य प्रतीत होने लगे हैं। इसके अतिरिक्त गोरीला (Gorilla) नामका वनजीव अर्थात् वन मनुष्य केवल फलोंपरही जीवन निर्वाह करता है, और उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह कई मनुष्योंके प्राण लेनेमें एकही बहुत है। इस लिए यदि उस रोगीको फलों द्वारा एक सप्ताहके उपरान्त चलने, फिरनेकी शक्ति प्राप्त हो गयी तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। वह रोगी यदि निरन्तर फल सेवन किये चला जाता तो बम्बई सरीखे दूषित जल, वायुके नगरमें रहते हुएभी निस्सन्देह वह पहि-

लेकी अपेक्षा बहुत चैतन्य हो जाता । परन्तु जेन्वेरी सन् १९२४ ई० में हमारे आगरे चले जानेपर वह अपनी मूर्खता वश जिह्वाके चटोरपनपर अधिकार न कर सका, और उसने हमारी चिकित्सासे लाभ होते हुएभी उसका परित्याग कर दिया। उसने यह नहीं विचारा कि बड़े, बड़े चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा होनेपरभी उसको नित्य दो, ढाई वर्षसे कमसे कम दो बार शौच को जाना पड़ता था, और हमारी चिकित्सा द्वारा वह एक सप्ताहके उपरान्तही केवल एक बार शौचको जाने लगा था । जिव्हाके चटोरपनके अतिरिक्त हमारी चिकित्साके छोड़नेका कदाचित एक कारण यहभी था कि हमसे चिकित्सा करानेमें उसकी गांठसे कुछ व्यय नहीं हुआ था, और जो पदार्थ विना परिश्रम या टकोंके योंही प्राप्त हो जाते हैं उनको बहुत कम मनुष्य उच्च दृष्टिसे देखते हैं । अतः हमारे अनुभवसे यही सिद्ध होता है कि समर्थ रोगियोंसे विना कुछ लिए उनकी चिकित्सा करना पुण्यके स्थानमें भारी पाप, और यशके स्थानमें अपयश लेना, प्रत्युत अपने चिकित्सा विज्ञानको कलङ्क लगाना है । इसी विचारसे उस रोगीकी ओरसे हमारा चित्त बहुतही खिन्न हो गया; परन्तु इसपरभी हमने उसकी दुःखी दशाको देखकर उसे फिर समझाया । अतः वह पुनः जूलाई माससे हमारी चिकित्सामे आगया । किन्तु इस बीचमें डाक्टरोंने विषैले इञ्जेक्शन्ससे उसके शरीरको पहिलेकी अपेक्षा अधिक दूषित कर दिया था, और वह पहिलेकी अपेक्षा अधिक दुर्बल हो गया था । उस समयभी हमने उसको पहिलेके समानही प्रति दिन कमसे कम दो बार वस्त्रों द्वारा दो, दो घन्टे उदर और छातीपर ताप पहुंचानेकी सम्मति दी थी, और आहारमें यथा शक्ति आनार अन्यथा अन्य रसीले सुपाच्य और अनुत्तेजक फलोंको धीरे, धीरे चूंसकर सेवन करनेकी आज्ञा दी थी। उसको हरिद्वारके एक वैद्यनेभी केवल फल सेवन कराये थे, और उनसे उसको बहुत कुछ लाभभी हुआ था । परन्तु उस समयभी उसको दिनमें दो बारही शौंचको जाना पड़ता था, जिसका कारण उसकी औषधियां और स्थूल एवं उत्तेजक फलोंका सेवन कराना हो सकता है । क्योंकि उसने केवल आम और खर्बूजोंपर उस रोगीको रक्खा था; और यह दोनोंही फल बहुत उत्तेजक और दूषित हैं । इसीसे आमकी चेपकी तीक्ष्णता और खर्बूजेकी गन्धकी उत्तेजना हमारे शरीरपर अपकार किये विना नहीं रह सकती; और यही कारण है कि यह उत्तेजक एवं तीक्ष्ण फल अनार आदिके समान गुणकारी नहीं हो सकते । हां, इतना अवश्य है कि

अन्नकी अपेक्षा वह अनेक दोष रहित और जीवन मय होनेसे बहुत लाभप्रद और चैतन्यता एवं जीवन शक्ति प्रदान करनेवाले हैं। इसीसे अन्य चिकित्सकोंकी अपेक्षा जो उसको अन्नादिका आहार देते रहे थे हरिद्वारवाले वैद्यकी चिकित्साले बहुत लाभ हुआ था। परन्तु वह अपनी जिह्वाके चटोरपनसे यथेष्ठ समयतक पथ्यसे न रहकर अन्न सेवन करने लगा था, जिससे फिर उसके रोगमें वृद्धि हो गयी थी। अतः हमको विश्वास नहीं कि वह पथ्यसे रहकर हमारी चिकित्साको पूर्ण रूपेण निभाकर कर सकेगा। किन्तु यदि वह अन्ततक हमारी सम्मतिका पालन करके नियम पूर्वक पथ्यसे रह कर चिकित्सा कर सका तो हम बल पूर्वक कहते हैं कि उसको, जैसा कि अन्य चिकित्सामें होता है, कभी अतिसारका दौरा नहीं हो सकता। क्योंकि आज पर्यन्त हमारे चिकित्सा कालमें किसी रोगीको अतिसारका दौरा नहीं हुआ है।

यकृत रोग Liver diseases.

हमारे शरीरमें यकृतका अन्य अवयवोंसे इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि किसी अवयवमेंभी विकार होनेसे यकृत रोग हो जाते हैं, और यकृत रोगोंके कारण अन्य अवयव दूषित होकर अपने, अपने अनेक रोगोंके हेतु होते हैं। और किसी कारण वश यकृत द्वारा रसोंके सञ्चारकी गतिमें अन्तर आने, पित्तके रुक जाने, रक्तके एकत्रित होने, उसमें फोड़ा या केन्सर (Cancer) हो जाने, चर्बीले पदार्थोंके भरजाने, और अजीर्ण या अतिसार आदिके होनेपरही यकृत रोग होते हैं। इसके अतिरिक्त मैलेरिया आदि ज्वरोंसे पीड़ित होने और अनेक विषों या गरिष्ठ अथवा रेचक पदार्थोंके सेवन करनेसेभी प्राय शरीरमें यकृत रोगोंकी नीव पड़ जाती है। पाण्डु (Jaundice), जलोदर (Dropsy), पित्त सम्बन्धी रोग, बहु-मूत्र (Diabetes), कोष्ठ-बद्ध (Constipation), अर्श (Piles), भगन्दर (Fistula) आदि रोगोंकाभी बहुत करके यकृतसेही सबन्ध है। अतः यकृत सम्बन्धी समस्त रोगोंकी चिकित्सामें बहुतही सावधानी और धैर्यकी आवश्यकता है। क्योंकि थोड़े दिनतक यकृत रोगोंकी चिकित्सा करके छोड़ देनेपर वह फिर ऐसी तीव्र गतिसे होते हैं कि शरीरका अन्तही करके छोड़ते हैं।

यकृत रोगोंमें पित्तके दोषसे प्राय नेत्र पीले रङ्गके प्रतीत होने लगते हैं, शरीरकी त्वचाका वर्णभी कुछ पीत हो जाता है, जिह्वापर श्वेत वर्णकी तह दीखती है, दाहिने कन्धेमें बहुधा पीड़ाका ज्ञान हुआ करता है, क्षुधाका ज्ञान कम हो जाता है, प्राय पित्तकी वमन हुआ

करती है, कोष्ट-बद्ध रहता है, या थोड़ा, थोड़ा करके दिनमें कई बार विष्टेका त्यागन होता है, रक्त सञ्चारमें बाधा होनेसे जलोदरके लक्षण प्रगट होते हैं, अधिक दाह या फोड़ा अथवा केन्सर होनेसे यकृतमें बहुत पीड़ा होती है, यकृतके कुछ परिवर्तनों वश बहू-मूत्र या बहु-श्वेदका कारण होता है, बहुधा शरीर गिरा हुआ और शिथिल प्रतीत होता है, जल या भोजन सेवन करके चलने या दौड़नेसे प्राय-यकृतमें पीड़ा हुआ करती है, और यकृतके रोगीको बहुधा निरन्तर शिर पीड़ा दुःख दिया करती है, इत्यादि, इत्यादि।

यकृत रोगकी चिकित्सा यही है कि छाती और उदरपर रोगके रोगीकी अवस्थानुसार टब अथवा वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचाया जाय और यदि अधिक समयतक ताप न हो सके, और चिकित्सक आवश्यक समझे तो उदर अथवा धड़ बन्धनोंका प्रयोग किया जाय। यकृत सम्बधी कोईभी रोग सुगमतासे दूर नहीं होते हैं। इस लिए उनकी चिकित्सामें कभी, कभी एक वर्षतक लग जाता है। परन्तु रोगकी तीव्र दशामें कुछ मास या सप्ताहतक चिकित्सा करनेसे लाभ हो जाता है। हमारी सम्मतिमें यकृतके प्रत्येक रोगमें कमसे कम नित्य दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचानेकी आवश्यकता है। किन्तु कुछ रोग ऐसेभी हैं कि उनकी चिकित्साके निमित्त कई दिन या कई सप्ताहतक निरन्तर चौबीसों घन्टे ताप पहुंचानेकी आवश्यकता है।

यकृतके रोगीका आहार बहुतही सूक्ष्म होना चाहिये, और सूक्ष्म आहारमें हमें सबसे प्रिय बेदाना या मस्कती अनारही प्रतीत होता है। क्योंकि उसके सेवनसे दाहमें, जो रोगोंका मूल कारण है, वृद्धि नहीं होती और उसके रसों द्वारा हमारे शरीरका पोषण अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक और अल्प कालमें होता है। इसके अतिरिक्त वह शुद्ध रक्तकी उत्पत्ति करता है। इसीसे हम-बार, बार प्रत्येक रोगमें अनारके आहारकीही सम्मति देते हैं। परन्तु रोगकी दशा भयङ्कर न हो तो चिकित्सक उचित समझनेपर अन्य रसीले, सुपाच्य और अनुत्तेजक फलोंका सेवन करा सकता है। किन्तु फिरभी हमारा यही कथन है कि अनारके समान अन्य फल लाभ नहीं पहुंचा सकते। अतः जो पूर्णतः और शीघ्र आरोग्य होना चाहता है उसे चाहिये कि वह न्यूनाति न्यून कुछ मास पर्यन्त बेदाने या मस्कती अनारपर निर्वाह करे, तदुपरान्त संगतरा, मीठा, माल्टा, मोसम्बी, अनार कन्धारी, अंगूर, गन्ना, शहतूत, लोकाट, काशमीरी नाशपती, लखनवी खर्बूज़ा, अनन्नास, लीची, बलायती आड़, और

उच्च जातिके मेवका आहार करे। यदि दारिद्रता वश अनार, अंगूर या अन्य उच्च जातिके फल पर्याप्त न हों तो विवश हो हमको ऐसी दशामें गन्ने या घिया, तोरी टिन्डे, टोमेटो आदि शाकोंकी सम्मति देनी पड़ती है।

यकृत रोगसे हमारा उस समयसे सम्बन्ध है जब कि हमारी आयु प्राय आठ वर्षकी थी। उस समय हम अपने पिताके साथ कलकत्ते गये हुए थे, और एस० ए० बी० बख्शी एण्ड को० के यहां ठहरे हुए थे। अनायास एक दिन हम म्यूजि. यम देखकर आये और उसी रात्रिको हमे ज्वर हो गया। अतः अगले दिन प्रातः कालको हमारे पिताने हमें एक वृद्ध दिल्लीके यूनानी हकीमको दिखाया। उसने देखतेही यकृत वृद्धि (Enlargement of liver) निदान किया। यह तो हमको ध्यान नहीं कि उसने हमको कोई औषधि दी अथवा नहीं, परन्तु यह भले प्रकार स्मरण है कि उसने हमको भाड़में भुने हुए चावलोंके पर्मल (लाई) सेवन करनेकी सम्मति दी थी; और हमने बहुतही सन्तोषके साथ दो मासतक केवल पर्मलोंका सेवन किया था। क्योंकि भोजनके विषयमे हम मांगना या किसी प्रकारकी अड अथवा रुदन करनाही न जानते थे। इस लिए हम अपने घरभरमें सबसे अधिक पथ्यसे रहनेवाले थे। परन्तु यदि हमको उस समय उस आहारके दोषोंका ज्ञान होता तो हम इतने सीधे होते हुएभी कभी उसका सेवन न करते। प्रत्युत उस हकीमसे उसकी मूर्खताको स्वीकार करवाकर छोड़ते। उसकी यह बड़ी भारी भूल थी कि उसने प्रथम तो हमको अन्न सरीखे गरिष्ठ पदार्थ सेवन करनेकी सम्मति दी, द्वितीय उसने यह नहीं विचारा कि रससे शून्य चावलके पर्मलोंसे शरीरका क्या पोषण होगा? इसमे कोई सन्देह नहीं कि उसने पर्मलोंको हलका आहार समझकरही हमको सेवन करनेकी सम्मति दी थी। परन्तु उसने यह जाननेके लिए कभी अपने मस्तिष्कपर बल नहीं दिया कि जिस पदार्थके रस अग्नि द्वारा जल गये हों वह कैसे सुपाच्य, हलका और रक्तकी उत्पत्ति करनेवाला हो सकता है?

दो मासके उपरान्त हमारे पिता आरा, डुमरांव, मिर्ज़ापुर, काशी, और मुरादाबाद होते हुए हमारी चिकित्सार्थ इस लिए हमको अमरोहे ले गये कि उनको वहांके यूनानी हकीमोंपर बहुत विश्वास था। अतः वहां एक यवन यूनानी हकीम, जो कि हमारे पिताके बड़े स्नेही थे, की चिकित्सा आरम्भ हुई। उनकी ्ड और घृणित औषधियोंभी हम लाभकी आशासे योंही सेवन कर जाते

थे, और प्राय एक मास पर्यन्त पूर्ण पथ्यसे उनकी चिकित्साका पालन किया गया। उन्होंने विना घृतके केवल गेहूंकी रोटी और मूंग या अरहरकी दाल सेवन करनेकी सम्मति दी थी। किन्तु दूध, फल, और शाकादिके सेवनकी आज्ञाही नहीं दी थी। हम नहीं कह सकते कि उनकी बुद्धिको क्या होगया था, जो उन्होंने अमृत समान फलोंके सेवन करनेकीभी आज्ञा नहीं दी थी। कदाचित इसीसे उनकी चिकित्सा द्वारा कोई लाभ नहीं हुआ। इसके उपरान्त वहांके एक सब एसिस्टेन्ट सर्जन, जो कि हमारे पिताके परम मित्र थे, की चिकित्साका प्रारम्भ हुआ। उन्होंने इतनी कृपा की कि भसींडों (कमलकी जड़) और आलूका केवल रस मात्र और कुछ दूध सेवन करनेकी आज्ञा देदी। किन्तु उन्होंनेभी किसी हरे शाक अथवा फल सेवन करनेकी अनुमति नहीं दी, और दूधभी हम इस लिए पान न करसके कि हमारे पिताकी आज्ञा न थी। औषधियोंमें हमारे अनुमानसे वह डाक्टर महाशय हमको गन्धकका अमलादि सेवन करनेको देते थे। हमने उनकी सम्मतिके अनुसार प्राय डेढ़ वर्षतक चिकित्सा की, जिससे यद्यपि हमारे रोगमें इतनी न्यूनता अवश्य हो गयी थी कि हमको यदा, कदा जो ज्वर आजाता था उसका आना बन्द हो गया था, किन्तु जल या भोजन सेवन करके चलने या दौड़नेसे हमारे यकृत और प्लीहामें कई वर्षतक पीड़ा हुआ करती थी। इसके अतिरिक्त इतने दिनतक फलोंके न मिलनेसे हमारे शरीरमें अनक दूषित विष उत्पन्न हो गये थे। अतः हमने यकृतमें पीड़ा होते हुएभी अपने पितासे इस लिए उसका कथन नहीं किया कि किसी प्रकार चिकित्सा बन्द होनेपर हम फलोंका सेवन कर सकें। चिकित्साके बन्द होनेपर धीरे, धीरे हमको फल सेवनार्थ प्राप्त होने लगे। अतएव जब जितनी मात्रामें फल प्राप्त होते थे उसीके अनुसार शरीरमें शक्ति आती हुई प्रतीत होती थी। इसके अतिरिक्त शाकोंके सेवनकोभी हम इतने तरस गये थे कि यदि एक भाग अन्न लेते थे तो तीन भाग शाक खाजाते थे, जिससे वास्तवमें हमको बहुत लाभ पहुंचा, प्रत्युत किसी, किसी जातिके रसीले शाकों और फलोंके सेवन करनेसे तो अद्भुत चमत्कार दीख पड़ा, और यकृत एवं प्लीहा पीड़ाओंकी उस समय हमने यही चिकित्सा की थी कि हम प्रात और सायंके समय एक, एक घन्टे प्लीहा और यकृतको बल पूर्वक दोनों हाथोंसे रगड़ा करते थे, जिससे कभी, कभी छालेभी उठ आते थे। अतः केवल उसी घर्षणके तापकी चिकित्सा द्वाराही उक्त दोनों पीड़ाओंको लाभ

पहुंचा; और उस समय हमको यह ज्ञान हुआ कि पीड़ित स्थानपर हाथ पहुंचानेकी प्रकृति इसीसे आज्ञा देती है कि हाथसे घर्षण करके अथवा दबाकर हम उस पीड़ाका अन्त करदें या उसे आगे बढ़नेसे रोके रहें। किन्तु ज्योंही हमको हाथसे घर्षण करनेपर 'प्राकृतिक चिकित्सा' का ज्ञान हुआ त्योंही एक ओरसे हमारा औषधियोंसे विश्वास उठ गया, परन्तु फिरभी हम इस खोजमें लगे हुए थे कि वास्तवमें औषधियोंमें त्रुटि है या उनके प्रयोग करने वालोंकी भूल है। अतः हमारा यकृत रोग ग्रस्त होना एक प्रकार बहुतही अच्छा था। क्योंकि वास्तवमें प्रकृतिके गूढ़ रहस्योंकी कुञ्जी उस समय हमारे यकृत रोगसे पीड़ित होनेपरही हाथ लगी थी।

यदि हमको स्वतन्त्रता पूर्वक अपने अनुभव और विचार प्रगट करनेका अवसर बाल्यकालसेही दिया जाता तो कदाचित हम अपनी अल्पायुके समयही 'प्राकृतिक चिकित्सा' का आविष्कार करनेमें समर्थ होते। परन्तु वहां तो हमारी इच्छाके प्रतिकूल हमको घोट, घोटकर रक्खा जाता था; हमसे विचित्र रूपसे पथ्य कराया जाता था। क्योंकि हमारे पिता चिकित्सा शास्त्रके पूर्वज विद्वानोंकी सम्मतिमें इतने अन्ध विश्वासी थे कि जिस दिन हम तर्बूज़ खा लेते थे उस दिन सायंकालतक हमको भोजन करनेकी आज्ञा न होती थी, और चावल तो समस्त दिनही नहीं ले सकते थे। इसपरभी हम 'प्राकृतिक चिकित्सा' की खोजमें लगेही रहते थे। इस विषयका यहां कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस लिए सम्भव हुआ तो अन्यत्र अपनी गाथाका कथन करेंगे।

यकृत रोगका एक रोगी सन् १९१५ ई० में हमारी चिकित्सामें आया था। वह प्रायः तीस वर्षकी अवस्थाका था, उसके नेत्र कुछ, कुछ हरियाली लिये हुए पीले रङ्गके थे, उसका शरीर पीला और श्वेत हो रहा था, उसकी त्वचा कुम्हलायी हुई अचैतन्य प्रतीत होती थी और उसमें झुर्रियां पड़ी हुई थीं, उसकी छाती बैठी हुई और उदर उभरा हुआ प्रतीत होता था, यकृतपर हाथ रखनेसे वह पत्थरके समान दीखता था, कुछही दूर चलने या दबानेसे यकृतमें पीड़ा होने लगती थी, उसको शयन करनेमेंभी यकृतके आकारमें वृद्धि होनेसे कष्ट होता था, उसको कभी, कभी भोजनके उपरान्त श्वास लेनेमेंभी अड़चन प्रतीत होती थी, उसको कोष्ठबद्ध और अजीर्ण रहा करता था, और किसी, किसी दिन अजीर्णके होनेपर जबतक उसको भले प्रकार विष्ठा नहीं हो जाता था तबतक उसके दाहिनी ओरके

कन्धे और कभी, कभी भुजामें पीड़ा हुआ करती थी, उसे शिर पीड़ाभी प्राय निरन्तरही घेरे रहती थी, और जहांपर वह बैठ जाता था उसके पैरोंके नीचेकी भूमि श्वेदसे भर जाती थी। इसके अतिरिक्त उसको क्षुधाका ज्ञान बहुतही कम होता था और उस समय उसका आमाशय चावल या दूध आदिकाभी पाचन करनेको असमर्थ था। अपरञ्च वह धनके अभावसे अपनी चिकित्सा सम्बन्धी सामग्री और नित्यका आहार प्राप्त करनेकोभी समर्थ नहीं था। अतः हम उसकी इस दशाको देख कर बहुतही दुःखी थे। परन्तु क्या किया जाय, धनका कार्य धनसेही चल सकता है। अतएव इसी चिन्तामें उसे तीन मास व्यतीत हो गये, किन्तु एक दिन अनायास एक जाट जिमींदर अपने पुत्रकी चिकित्सार्थ हमको अपने ग्राममें ले गया और प्राय एक सप्ताहमें उसका पुत्र जो कि निमोनियासे पीड़ित था आरोग्य हो गया। अतः हम वहांसे चल दिये किन्तु हमने उसकी ईखकी हरी, भरी कृषि देखी थी, इसलिए हमने उस यकृतके रोगीके आहारके प्रबन्ध करनेके लिए उस जाटसे कहा। उसने बड़ी उदारता पूर्वक हमारे प्रस्तावको स्वीकार कर लिया, प्रत्युत उसकी समस्त सेवाओंका भार अपने ऊपर ले लिया। अतएव हमने उस रोगीको उस जाटके निकट उस ग्राममें भेज दिया। वहां केवल ईख और गौऊका धारोष्ण दूध उसका आहार था, और दोनों समय दो, दो घन्टे एक वृद्धा उसको ताप पहुंचाती थी। वह वृद्धा उस जाटकी माता थी। किन्तु वह उस रोगीकी परिचर्या अपनेही पुत्रके समान करती थी, जिससे पहिले सप्ताहमेंही उसके नेत्रोंका रङ्ग हलका होने लगा, उसकी पीड़ामें कुछ, न्यूनता हुई, कोष्ठ-बद्धमेंभी कमी प्रतीत होने लगी, शरीरमें कुछ, कुछ चैतन्यताका ज्ञान होने लगा, अजीर्णमें बहुत बड़ी कमी प्रतीत हुई; दूसरे सप्ताहके अन्तमें उसके नयन निर्मल श्वेत रङ्गके होगये, कोष्ठ-बद्ध सदाको विदा हो गया, जिह्वापर लाली आगयी, यकृतमें बहुतही कम पीड़ा होती थी, शरीरकी त्वचाके रङ्गके पीलेपनमें बहुत कमी हो गयी थी; तीसरे सप्ताहके उपरान्त उसे कई घन्टेतक सुखपूर्वक निद्रा आने लगी, उसकी शिर पीड़ामेंभी बहुत न्यूनता हो गयी, उसको क्षुधाका ज्ञानभी भले प्रकार होने लगा, उसको अजीर्ण या अफरेका कोई कष्ट न रहा; चौथे सप्ताहमें एकैक उसके रोगमें कमी होना आरम्भ हुई, जिससे उसको जो श्वांस लेनेमें अड़चन होती थी वह जाती रही, यकृतकी पीड़ामेंभी इतनी कमी हो गयी कि

उसका बहुतही कम ज्ञान होता था, शिर पीड़ा सदाको लुप्त हो गयी; पांचवें सप्ताहके उपरान्त उसके शरीरकी त्वचाके, रङ्गमें बहुत अन्तर हो गया, वह श्वेत या पीत वर्णके स्थानमें गुलाबी प्रतीत होने लगी, उसके शरीरमें मील, दो मील प्रातकी शीतल समरिमें चलनेकी सामर्थ्य हो गयी; छटे सप्ताहके उपरान्त उसका शरीर देखनेसे उसको कोई रोगी नहीं कह सकता था, किन्तु वास्तवमें उस समय उसके शरीरमें रोग उपस्थित था। केवल वह इतना निवल पड़ गया था कि साधारण दृष्टिसे उसका ज्ञान नहीं होता था; और ऐसी दशामें प्रायः मूर्ख यह समझ कर कि रोग चला गया, कुपथ्य कर बैठते हैं, जिससे बहुधा उनके प्राणोंपरही बनती है। वास्तवमें उस रोगीको पूर्ण लाभ अठारह सप्ताहमें हुआ था; क्योंकि उसके यकृतकी कठोरता और उसकी पीड़ा यद्यपि बहुतही सूक्ष्म रह गयी थी, परन्तु छः माससे पूर्व उसका वीर्य नाश नहीं हुआ था। इस लिए यदि उसको उस समय चिकित्सा बन्द करके अथवा कुपथ्य द्वारा स्वतन्त्र कर दिया जाता तो सम्भव था, फिर रोगकी दशा ज्योंकी त्यों हो जाती। यद्यपि हमने उस रोगीको केवल गन्ने या धारोष्ण दूधके आहारकी आज्ञा दी थी तथापि वह कुछ दिन उपरान्त, जब कि उसकी पाचन शक्ति अच्छी हो गयी थी, शलजम, गाजर, घिया और तोरीके क्षेत्रोंमे घुसकर उन्हें कच्चाही धीरे, धीरे भले प्रकार चाव, चावके सेवन किया करता था, जिससे कुछही दिनमें उसके शरीरके बोझमें प्राय बीस पौंडकी वृद्धि हो गयी थी। पांचवे मासमें उसकी समस्त अस्थियां मांससे छिप गयी थीं, कपोल भर गये थे, छाती उभर गयी थी और उदर नीचेको चला गया था। परन्तु छटे मासमें वह इस लिए कुछ दुर्बल हो गया था कि उस समय उसे रसीले आहारके प्राप्त करनेमें कुछ कमी हो गयी थी; क्योंकि प्राय सब पदार्थोंकी ऋतु जाती रही थी। किन्तु दूधका सहारा उसके लिए अच्छा था। छटे मासके उपरान्त उसने हमारी विना आज्ञाकेही कुछ, कुछ छाछ और अन्नादि सेवन करना आरम्भ कर दिया था। परन्तु फिर उसके शरीरमें पहिले जैसी चैतन्यता एवं सुन्दरता न रही। अतः कुछ दिन अन्न सेवन करनेके उपरान्त उसको फलोंके लाभ और उनका मूल्य जान पड़ा।

सन् १९१६ ई० में एक वैश्य जज महाशयके भाईकी स्त्री बिजनौरके स्थानपर हमारी चिकित्सामें आयी। वह प्राय पैंतालीस वर्षकी थी, उसको बहुत समयसे प्रदरका रोग था, उसके शरीरमें इतनी दाह थी कि वह उसके कारण

विकल रहा करती थी और इसीसे मासिक धर्मके समयपर उसको इतना रक्त और तरल पदार्थ जाया करते थे कि कई, कई फीट भूमि तर हो जाती थी, उसको प्राय वमन होनेका तांता बन्ध जाता था, उसका शरीर इतना फूला हुआ था कि उसको कुछ दूर चलनेमेंभी कठिनाई होती थी, उसको अजीर्ण या कोष्ठ-बद्ध प्राय घेरे रहता था, शिर पीड़ाभी उसको बहुधा दुःख दिया करती थी। अनेक चिकित्सक उसकी चिकित्सा कर चुके थे, किन्तु उसे कोई लाभ न पहुंचा सका था। डाक्टर कोहनीकी चिकित्साका अनुभवभी उसके ऊपर कई मासतक हुआ था, जिससे उसे बहुत कुछ शान्ति पहुंची थी, और पीड़ाओंमेंभी सूक्ष्म आहारके कारण बहुत न्यूनता हो गयी थी। परन्तु हमारी दृष्टिमें उसका दशांश रोगभी नहीं गया था, केवल सूक्ष्म और अनुत्तेजक आहारके कारण उसकी पीड़ाओंमें कमी प्रतीत होती थी। डाक्टर कोहनीकी चिकित्सा प्रणालीके विषयमें उसको सम्मति देनेवाले एक सीखतड़ लंगड़े डाक्टर थे। वह वास्तवमें पैरसेही नहीं प्रत्युत अपनी विद्यामेंभी उस समयतक लंगड़ेही थे। किन्तु वह ढोंग रचना भले प्रकार जानते थे। इसके अतिरिक्त उनकी जिह्वाभी इतनी चलती थी कि कोई सज्जन तो उनसे तर्क करही नहीं सकता था। क्योंकि वह किसी उचित युक्तिकोभी स्वीकार करना न सीखे थे। वह प्राय प्रकृतिके विपरीत अनेक रोगियोंको कच्चे उर्द, गेंहू, मूंग आदि धान्योंका सेवन करानेमेंही अपना महत्त्व समझते थे। वह स्वयंभी कच्चा आटा जलमें घोलकर इसी लिए सेवन कर जाते थे कि देखनेवाले उन्हे उच्च दृष्टिसे देखें। किन्तु यह सब कुछ होते हुएभी वह उस स्त्रीको अपनी चिकित्सासे सन्तुष्ट न कर सके, इस लिए हमको बुलाया गया। उस समय उस स्त्रीके दाहिनी ओरकी भुजा और कन्धेमें विकल कर देनेवाली पीड़ा हो रही थी, और लंगड़े डाक्टरकी सम्मतिके अनुसार पीड़ित स्थानपर शीतल मृत्तिका बन्धन प्रयोग करनेसे उसकी पीड़ामें औरभी वृद्धि होगयी थी। किन्तु ज्योंही हमने यकृत और आमाशयादि एवं पिड़ित स्थानपर ताप पहुंचवाया कि उसकी पीड़ामें न्यूनता होने लगी, और थोड़ेही कालमें एक बार शौच जानेपर उसकी समस्त पीड़ा एक ओरसे लुप्त होगयी, और नियम पूर्वक हमारी चिकित्सा आरम्भ हो जानेसे चिकित्साकालके बीचमें अर्थात् एक सप्ताहके भीतर हमको बुलाकर तीन बार रोगीको दिखाया जा चुका था, किन्तु हमको एक दिनभी फीस नहीं दी गयी थी। इस लिए चौथी बार जब उनका नौकर

हमको बुलाने आया हमने स्पष्ट शब्दोंमें कहदिया कि पहिले हमारी तीन बारकी फीस आजावेगी तब हम जावेंगे । अब क्या था अब तो सेठजीको काला सूंप गया। क्योंकि उनके डाक्टरने बिना फीसके चिकित्सा कर, करके सेठजीका स्वभाव बिगाड़ दिया था। इसीसे उनको गांठसे पैसा निकालते हुए मृत्यु आती थी। अतः वह मौन होकर घर बैठ रहे। इस लिए हमकोभी उस दिनसे उनकी स्त्रीके कोई समाचार नहीं मिले।

सन् १९१७ ई० में एक यवन विधवा स्त्री हमको मेरठ छावनीमें एक चौराहेपर बैठी हुई दृष्टिगोचर हुई। वह क्षुधासे पीड़ित होनेसे वहां बैठी हुई पैसे मांग रही थी। हमभी उसकी इस क्लेशित दशाको देखकर एक आना देकर आगे चलते हुए। किन्तु हमने केवल उसकी क्षुधा पीड़ापरही ध्यान नहीं दिया था, वरन् उसकी शारीरिक पीड़ापरभी दृष्टिपात की थी; और यह जानकर, कि वह यकृत रोगसे पीड़ित है, उसके हाथ-पैरोंपर मांसके स्थानमें केवल अस्थियांही हैं, उदर फूला हुआ है, रात्रिको अफरा होजाता है, और भोजन पाचनमें नहीं आता है, हमने उससे कहा—"हम तीन दिन पश्चात् मुजफ्फरनगरसे लौटकर बिजनौर जावेंगे, और उसी समय तुमको तुम्हारी चिकित्सा करनेके लिए ले चलेंगे। अतः उस दिन तुम हमको यहीं मिलना।" हम उससे ऐसा कहकर चल तो दियेही थे, और प्राय रेलवे स्टेशनके निकट पहुंच गये थे। परन्तु हमारे मस्तिष्कमें उसकी ओरसे अनेक विचार उत्पन्न हो रहे थे। उस समय उस दुखियाके दुःखोंसे विकल होकर हमारी दशा ठीक वही थी जो एक विक्षिप्तकी होती है। किन्तु अन्तमे हमने यही निश्चय किया कि उसको इसी समय अपने साथ ले चलें। क्योंकि लौटते समय हमारा मेरठ उतरना हो या न हो, और यदि उतरनाभी हो तो सम्भव है, हमारे यह विचार रहें या न रहें। अतः हम उसको अपने साथ लेनेके लिए रेलवे स्टेशनके निकट पहुंचनेपरभी उसकी ओरको लौटे। परन्तु उसके समीप पहुंचनेपर वर्षा आगयी। इस लिए हमको बारह आनेमें छावनीसे रेलवे स्टेशनतक टांगा करना पड़ा। अतः हम और वह टांगेमें बैठकर रेलवे स्टेशनपर पहुंच गये। उसने टांगेसे उतरतेही, जो भुने हुए चने उसकी गांठमें बंध थे किसीको दे देनेके स्थानमें सड़क पर फैंक दिये। इसके अतिरिक्त हमने देखा कि मेरठ रेलवे स्टेशनपरही उसने वीमेन कम्पार्टमेन्टमें बैठे हुए एक मिठाई वालेसे हमारे दिये हुए उसी एक

आनेकी जलेबियां लीं। अतः हमको यह बहुतही बुरा प्रतीत हुआ। क्योंकि प्रथम तो उसने उसी अन्न (चनों) को अभिमान पूर्वक फेंक दिया, जिसका एक, एक दाना वह मांग रही थी, द्वितीय हमारे कहनेपरभी उसने कुपथ्य किया। अतएव हमारा चित्त उसकी ओरसे खिन्न हो गया; और हम बड़े अस्मञ्जसमें पड़ गये। हम इसी विचारमें लिप्त थे, और हमको यहभी ज्ञान नहीं था कि हम कितने स्टेशन पहुंच गये। इतनेहीमें हमारे निकट बैठे हुए एक पानीपत ज़िलेके जाट महाशयने हमसे प्रश्न किया—" आप इतने चिन्तित क्यों प्रतीत होते हैं? हमने उनके प्रश्नके उत्तरमें समस्त गाथाका कथन करदिया। अतः उन्होंने कहा—" आप घबराथिये नहीं। मैं उसे पूर्ण पथ्यसे रक्खकर अपने व्ययसे आपकी आज्ञानुसार उसकी चिकित्सा करनेको प्रस्तुत हूं, परन्तु उसको मेरी स्त्री होकर रहना होगा।" हमको उन जाट महाशयकी इस बातसे औरभी चिन्ता बढ़ गयी, और हम एकैक मौन हो गये। इसपर उन्होंने कहा—" आप चुप क्यों हो गये?" हमने उत्तर दिया कि प्रथम तो हमको उसका कोई अधिकार नहीं है, द्वितीय हमारा यह कामभी नहीं है कि हम स्त्री, पुरुषोंके जोड़े मिलाते फिरें, तृतीय वह जातिसे यवन है और आप आर्य हैं, चतुर्थ हमारी सम्मतिमें उस समयतक उसको किसीकी स्त्री बनकर रहनाभी उचित नहीं जबतक कि वह इस दारुण रोगसे पीड़ित है, पञ्चम सम्भव है उसे विधवा होनेके कारण अन्य पुरुषसे सम्बन्ध रक्खना स्वीकार न हो। इसपर उन्होंने कहा—" आप कृपाकर मुझे उसे बता दीजिये। मैं उससे स्वयं निश्चय करलूंगा; और यवन जातिके लिए यह है कि वह शुद्धकी जा सकती है।" अतः हमने उनके इस आग्रहपर केवल इस इच्छासे कि एक असहायाकी चिकित्सा होकर उसके किसी प्रकार प्राणोंकी रक्षा हो जाय मुज़फ्फ़रनगर रेलवे स्टेशनपर उन जाट महाशयको उसे दिखा दिया; और उन्होंने कुछही मिनिट्समें उससे सब निश्चय कर लिया। अतएव हम तो स्टेशनसे उतरकर अपनी सुसराल चले गये, और वह दोनों किसी अन्य स्थानपर ठहर गये। प्रातः कालको वह हमको उस स्त्रीका ध्यान पूर्वक निरीक्षण करने और चिकित्सा सम्बन्धी सम्मति देनेके लिए अपने ठहरनेके स्थानपर ले गये। हमको उस समय देखनेसे ज्ञात हुआ कि वह प्राय वीस वर्षीय युवती थी, उसको आरम्भ कालमें शीतज्वर (Maleria) और अतिसार (Dysentry) हुआ था, और कई मास पर्यन्त वह उक्त ज्वरादिसे पीड़ित रही; और उसीके

ग्रामको चली गयी। वहां पहुंचनेपर उन दोनोंका वैदिक धर्मानुसार परस्पर विवाह हो गया; और उसकी वास्तवमें ठीक उसी रीत्यानुसार चिकित्सा आरम्भ हो गयी जैसी हमने आज्ञा दी थी। अतः पहिले सप्ताहमेंही उसको अफरा होना बन्द हो गया; दूसरे सप्ताहमें उसके पाचनमें क्रमशः उन्नति होना आरम्भ हुई; तीसरे सप्ताहमें उसके होटोंपर जमी हुई पपड़ियोंमें कुछ कमी प्रतीत हुई, उसके मुखका स्वाद पहिलेकी अपेक्षा कुछ सुधरा हुआ रहने लगा, और उसके प्रदर रोगकोभी कुछ लाभ प्रतीत हुआ; चौथे सप्ताहके अन्ततक उसके शरीरमें यथेष्ट चैतन्यता आगयी, वह कुछ गृह कार्यभी करने लगी, उसके मूत्रके रङ्गमें बहुत अन्तर आगया और उसके नेत्र सर्वांश निर्मल प्रतीत होने लगे; दो मासमें उसका प्रदर रोग जाता रहा, उसका उभरा हुआ उदर नीचे चला गया, शरीरमें रक्त एवं मांसकी वृद्धि होने लगी, यकृत और प्लीहाकी पीड़ामें बहुत न्यूनता हो गयी, उसकी त्वचाके वर्णमें बहुत अन्तर आगया, ओष्ठोंपर जमी हुई पपड़ीका लेशभी न रहा, अन्त्र नियमित रूपसे मलत्यागन करने लगी, क्षुधाका ज्ञान भले प्रकार और समयपर होने लगा और वह शिर पीड़ासेभी मुक्त हो गयी; तीसरे मासके अन्तमें उसे कुछ मासिक धर्मभी हो गया, उसका मूत्र एक ओरसे श्वेत हो गया, वह अन्य ग्रामीण स्त्रियोंकी नाईं भले प्रकार गृह कार्य करनेलगी, उसकी समस्त अस्थियां लुप्त हो गयीं और दिनोदिन रोग घटने एवं शरीर उन्नति करने लगा। अतः इसी क्रमसे छः मासमें वह समस्त प्रकारेण स्वस्थ हो गयी। उसके शीघ्र स्वस्थ होनेका कारण उसको पथ्यसे रहनेपर बाध्य होने, और नियम पूर्वक चिकित्सा करनेके अतिरिक्त जङ्गलकी स्वच्छ वायुका प्राप्त होनाभी था। उसको आदिकालमें ग्रामके कारण फल नहीं मिले थे। इस लिए उसके पतिने हमसे सम्मति लेकर उसको घिया, तोरी और टिन्डोंका बिना मसालों आदिकी सहायताके उबला हुआ शाक और गौऊका धारोष्ण दूध दिया था; और प्राय सेप्टेम्बर मासमें उसकी निजकी कृषिमें ईख हो जानेसे उसने उसको केवल गन्नेका आहार दिया था, और उस समय उसने उसको दूध देनाभी बन्द कर दिया था। इसी लिए तभीसे उसने अधिक उन्नति की थी। उसने डेसेम्बरतक केवल गन्ने या यदा कदा शाकोंके आहारपरही अपना जीवन व्यतीत किया था। यद्यपि उसके पतिने उसके आरोग्य हो जानेपर अपने कथनानुसार हमको अपने ग्राममें बुलाकर उसको

नहीं दिखलाया, परन्तु अनायास हमने उसको सन् १९१८ ई० के मध्यमें लाहौरसे लौटते समय थानेश्वरके रेलवे स्टेशनपर खड़े हुए देखा। किन्तु हम उसको पहिचानही न सके। वह उस समय पूरी जाटनी बनी हुई थी। परन्तु उसने हमको तत्क्षण पहिचान लिया और अपने पतिकोभी पुकारकर बुला लिया। उस समय उसके वदनकी आकृति बहुतही सुन्दर थी, वह देखनेसे वास्तवमें सौन्दर्यकी मूर्ति प्रतीत होती थी, और उसकी योवनावस्था अपूर्व शोभा दे रही थी। अतः हम उसे सुखी देखकर बहुतही प्रसन्न हुए। कुछ दिन उपरान्त हमने किसीसे सुना था कि उसे पुत्रभी हुआ था। परन्तु फिर उसके पतिका कोई पत्र नहीं आया।

हमारा और एक बीकानेरी नव युवकका सन् १९१८ ई० में भटिन्डे रेलवे स्टेशनसे साथ हुआ। वह अपनी चिकित्सार्थ दिल्ली जा रहा था और हम उस समय लाहौरसे प्रयाग जा रहे थे। हम अपनी भार्या सहित नीचेकी दोनों बर्थोंपर लेटे हुए थे। और तीसरी बर्थपर कोई वकील महाशय थे। अतः उसने रोगवश ऊपरकी बर्थपर लेटना स्वीकार न किया, और हमसे नीचेकी बर्थके निमित्त आग्रह करने लगा। अतः हम सहर्ष ऊपरकी बर्थपर जानेको प्रस्तुत हो गये। किन्तु उन वकील महाशयने उस समय हमको रात्रिके कारण अपनी भार्याको नीचे छोड़कर ऊपरकी बर्थपर न जाने दिया, और वह स्वयं हमारे स्थानमें चले गये। अतः वह बीकानेरी नवयुवक हमारे समीपही नीचेकी तीसरी बर्थपर लेट गया। वर्षा ऋतु समाप्त होकरही चुकी थी। इस लिए उस समयकी यात्रामें बहुतही आनन्द आ रहा था; और मार्गकी स्वच्छ वायुके कारण उस रोगी नवयुवकके शरीरमेंभी कुछ चैतन्यता आ गयी थी। इसीसे वह बहुत समयतक हमसे वार्त्तालाप करता रहा, प्रत्युत उसने हमारा नाम और ठिकानाभी नोट कर लिया। इसके उपरान्त हम दोनोंको निद्रा आगयी, और प्रातके समय वह एक (हाज़िक़ उल मुल्क) हकीमसे चिकित्सा करानेके निमित्त दिल्ली उतर गया और हम प्रयाग चले गये। किन्तु वह हमसे पत्र व्यवहार करता रहा। अन्तमें उसने हमको अपने साथ बीकानेर रखकर चिकित्सा करानेको लिखा। किन्तु हम प्रयागके एक प्रेसवालोंकी टालमटोल और मिथ्या विश्वासमें फंसे रहे। न उन्होंने 'प्राकृतिक विज्ञान' काही मुद्रण किया और न स्पष्ट उत्तरही दिया। इसीसे हम उस समय बीकानेर न जा सके। अन्तमें

जब 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणके लिए वह नित्य नूतन चाल चलने लगे तो हम दुःखी होकर सोमना चले गये, और वहांसे एक दिन 'प्राकृतिक विज्ञान' का मुद्रण करानेके निमित्त हम 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस, दिल्लीमें गये, जहां कि अनायास घन्टाघरके समीप उसी बीकानेरी नवयुवकसे भेंट हो गयी। वह हमको देख अपनी उस रोगी अवस्थामेंभी एकैक प्रसन्न हो गया। उसके वदनपर आशाकी लहर लहराने लगी, और उसने हमसे अपनी चिकित्सार्थ बीकानेर चलनेके लिए कहा। किन्तु उन दिनों हम 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणकी ओरसे बहुतही चिन्तित थे। इस लिए हम उसके साथ वहां न जा सके; और हमने उसको क्रियात्मक रीतिसे अपनी चिकित्सा विधिका प्रयोग बताकर रसीले फलोंके सेवनकी सम्मति दी। किन्तु साथही हमने उसको यह कह दिया था कि रसीले फल कोमल जीवन-कोषोंसे सङ्गठित, सुपाच्य और अनुत्तेजक होने चाहियें; और कोई फल यदि वह अति रसीला होनेपरभी उत्तेजक स्वाद या गन्ध प्रगट करे, या कुपाच्य हो, अथवा उसके कण कठोर त्वचाके हों तो सेवन न करना चाहिये। यह हमने इस लिए कहा था कि बीकानेरमें मतीरा (तर्बूज़) बहुत होता है, और कदाचित् वह उसे अति रसीला समझकर उसके कठोर त्वचाके कणों और कुपाच्यके दोषोंपर दृष्टिपात न करके उसीको अपना आहार न बनाले, अथवा अन्य दूषित रसीले फलोंको सेवन न करने लगे। हमने उसको प्रति दिन दो या तीन बार छाती और उदरको ताप पहुंचाने और उनके उपरान्त या न्यूनाति न्यून रात्रिको घड़ अथवा उदर बन्धनोंका प्रयोग और क्रमसे अधिकांश अनार, अंगूर, गन्ना, संगतरा, काशमीरी नाशपाती, मीठा नीबू, मालटा, मोसम्बी, शहतूत, तत्पश्चात् लीची, लोकाट, खुर्मानी, लखनवी खर्बूजा आदि सेवन करनेकी सम्मति दी थी। अतः उसने दिल्लीसेही अपनी चिकित्सा आरम्भ कर दी थी, जिसका फल यह हुआ कि उसको पहिले सप्ताहसेही लाभ होना आरम्भ हुआ। जिस समय दिल्लीमें उसकी चिकित्सा आरम्भ हुई थी उसकी आयु प्राय पच्चीस वर्ष थी, उसको प्रत्येक समय कुछ ज्वर प्रतीत होता था, उसके दाहिने कन्धे और पक्वाशयमें दाह अथवा पीड़ा होती थी, उसकी जिह्वापर मल एकत्र रहता था, क्षुधामें बहुत न्यूनता हो गयी थी, शिरमें पीड़ा और निरन्तर कोष्ठबद्ध रहा करता था। परन्तु उस समयतक उसके रोगकी तीव्र दशा थी, और उसकी आयुभी कम होनेसे शरीरके उन्नति करने एवं शीघ्र

आरोग्य होनेकी आशा थी । इसीसे उसको तीन सप्ताहमें ज्वर जाता रहा, दाहिने कन्धे और पक्वाशयमें दाह और पीड़ा होनी बन्द होगयी, शरीरमें यथेष्ट चैतन्यता आगयी और क्षुधामें वृद्धि होने लगी, चौथे सप्ताहके अन्ततक उसकी शिर पीड़ा और कोष्ठ-बद्धका इति होगया, और इसी प्रकार क्रमशः प्राय आठवें सप्ताहके अन्ततक उसके यकृतकी दाह एवं अन्य यकृत सम्बन्धी रोगोंका अन्त हो गया । इसके अतिरिक्त उसके अन्य कई रोगभी उसका पीछा छोड़ गये । किन्तु उसके स्वस्थ होनेके प्राय दो मास उपरान्त उसके ताऊका ज्येष्ठ पुत्रभी कलकत्तेसे यकृत रोगसे पीड़ित होकर बीकानेर पहुंचा । परन्तु उस नये रोगीके और उसके रोगमें बहुत अन्तर था । उसको मन्द यकृत दाह (Chronic inflammation of the liver) का रोग था । इसीसे उसका यकृत स्थायी रूपसे वृद्धिको प्राप्त हो गया था और उसमें निरन्तर पीड़ा होती थी, अन्त्रमें बन्द लग गया था, निद्राके बहुत कम आने और क्षुधाके लगनेसे उसे बहुत कष्ट था, अर्शभी यकृतके कार्यमें बाधक था, शरीरका रङ्ग प्राय एक विशेष ढङ्गका मटीला सरीखा प्रतीत होता था, नेत्रोंके डेले पीत वर्णके दीखते थे, स्वभाव चिड़-चिड़ा हो गया था, और उसकी मानसिक शक्तियांभी प्राय उत्तर दे बैठी थीं । उसकी यह दशा कलकत्तेकी जल-वायु, चिकने, गरिष्ठ एवं उत्तेजक पदार्थोंके आहार, और अफ्यून एवं अधिक मदिरा पान करनेके कारण हुई थी । किन्तु फिरभी इतना अच्छा हुआ कि वह बीकानेर पहुंच गया और उसकी चिकित्साका आरम्भ हो गया । परन्तु जितनी शीघ्रतासे उसके चचाके पुत्रको हमारी चिकित्सासे लाभ हुआ था उसको न हो सका; प्रत्युत जितने समयमें उसके भाईको पूर्ण लाभ हो गया था उसको उतने कालमें दशांश लाभभी बड़ी कठिनतासे हुआ था । अन्ततः तीन मासके उपरान्त उसे हमको दिखाया गया । परन्तु रोगकी जड़ गहरी होनेके कारण हमभी और क्या कर सकते थे ? क्योंकि उसका रोग मन्द होनेके हेतु धीरेही धीरे जा सकता था । अतः हमने स्पष्ट अक्षरोंमें कह दिया कि रोग शरीरमें घर कर चुका है । इस लिए बड़े धैर्यकी आवश्यकता है, कमसे कम दो वर्षमें पूर्ण आरोग्यता प्राप्त हो सकती है; और तनिक भी कुपथ्य करनेसे शरीर ऐसी आपत्तिमें आ जावेगा कि फिर कदाचित कोटि उपाय करनेपरभी प्राणोंका बचना दुर्लभ होगा । हमारे उक्त वचन रोगीके पिताके हृदयाङ्कित हो गये, और तभीसे उसने अपने पुत्रके निकट रहकर निरन्तर दो वर्ष पर्यन्त

उसकी चिकित्सा की। फल यह हुआ कि धीरे, धीरे आठ मासके उपरान्ततक उसका यकृत घटकर अपनी प्राकृतिक आकृतिमें आ गया और उसकी समस्त पीड़ा जाती रही, छटे माससे सातवें मासतक उसकी अन्त्रक बन्द पूर्ण रूपेण खुल गये, निद्रा आने लगी क्षुधाका ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होने लगा, नेत्रोंका पीलापन जाता रहा, और शरीरकी त्वचाके रङ्गमेंभी अधिक अन्तर हो गया; चौदह मासके उपरान्त उसके अर्श रोगकाभी सदाको इति हो गया; और फिर उसका शरीर दिनोदिन उन्नति करने लगा। अतएव चौबीस मासके उपरान्त उसने पूर्णारोग्य होकर हमारी चिकित्सा बन्द करदी: और उसके पिताने अपने उसी भतीजेके द्वारा जिसकी हम पहिले चिकित्सा कर चुके थे कुछ रुपया हमको पुरस्कार रूपसे भेजा। किन्तु वह उनके पदकी दृष्टिसे बहुतही कम था, तथापि वह उन्होंने प्रेम पूर्वक और आदरके साथ भेजा था। इस लिए हमने उसे प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करके धन्यवाद देते हुए लिख दिया था:-

> देंगे हमें जो घोलकर, समभी खुशी, खुशी,
> पीलेंगे आज हम उसे, 'कर्नल' खुशी खुशी।
> आबे-हयात है वही, कातिल जो जहर है,
> देंगे जो अपने दस्तसे, हमको खुशी, खुशी।

यकृतका फोड़ा Abscess of the liver.

प्राय यकृतमें फोड़ेकी उत्पत्तिका कारण अतिसारही होता है। इसीसे बहुधा अतिसारके उपस्थित होने या उससे मुक्त होनेपरही यकृतमें फोड़ा हुआ करता है। किन्तु इसके अतिरिक्त रक्तके विषैले होने या किसी अन्य कारण वश यकृतमें दाह होनेपरभी यकृतमें फोड़ोंकी उत्पत्ति हो सकती है। यकृतके फोड़ेकी प्राय वही दशा होती है, जो किसी अन्य दाहमें होती है। केवल अन्तर इतना होता है कि उसमें पीड़ाका अधिक ज्ञान होता है, और यकृतकी असाधारण आकार वृद्धि हो जाती है। परन्तु हमारी सम्मतिमें छोटेसे बड़े रोगतक सभी दाहसे उत्पन्न होनेपर उनमें दाह अवश्य होती है।

हमारे अनुमानसे यकृतके फोड़ेही नहीं वरन् किसी स्थानकी दाह, पीड़ा, फोड़े या घाव आदिकी तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिये; और यकृतके फोड़ेकी दशामें तो एक क्षणका विलम्ब होनाभी महा पाप करना है। अतः यथा शक्ति यकृतके

फोड़के रोगीका निरन्तर बारह, चौबीस, अड़तालीस, बहत्तर या उससेभी अधिक समय यदि छाती और समस्त उदरका न बनसके तो कमसे कम यकृतका अर्थात् उद-रकी दाहिनी ओर ताप पहुंचाकर उदर बन्धनका प्रयोग करना चाहिये; और जबतक रोग समूल नष्ट न हो जाय प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे छती और उदरपर ताप, एवं धड़ या उदर बन्धनोंका प्रयोग तथा रसीले फल और गुनगुने उष्ण तापके जलका सेवन होना चाहिये।

यकृतके फोड़से पीड़ित एक रोगी हमको सन् १९१८ ई० में लाहोरके स्थान-पर मिला था। उसकी आयु प्राय पचीस वर्षकी थी, और कई दिनसे उसके यकृतमे पीड़ा हो रही थी। एक योग्य डाक्टरने उसके यकृतके स्थानपर उदरमें एक पोली सुई चुभायी थी, जिससे कुछ भूरे और लाल रङ्गकी पीप निकलनेसे, यकृतमें फोड़ा होनेका निदान करके उसने शीघ्राति शीघ्र शल्य क्रिया (Operation) करनेकी सम्मति दी। परन्तु रोगीके ज्येष्ठ भ्राताकी मृत्यु अन्त्र उतर आनेपर शल्य क्रिया द्वाराही कुछ दिन पूर्व हो चुकी थी। इस लिए उसके पिताने डाक्टरकी इस सम्मतिको उचित न समझा; और वह हमारी सम्मतिके निमित्त अपने पुत्रको हमें दिखानेके लिए लाया। हमने रोगीको देखकर उसके पितासे कहा कि हताश होनेकी कोई बात नहीं है। उसको हमारी चिकित्सासे बिना शल्य क्रियाका प्रयोग किये, और बिना किसी आपत्तिके प्राय पन्द्रह, बीस दिनमें पूर्ण लाभ हो जावेगा। अतः उसका पिता हमारी चिकित्सा करनेको प्रस्तुत हो गया; और हमने निरन्तर एक सप्ताहतक प्रति दिन दो बार छः छः घन्टे छाती और उदरपर ताप एवं उसके उपरान्त उदर बन्धनोंका प्रयोग कराया, जिससे उसी सप्ताहमें फोड़के समस्त विकृत पदार्थ उस छिद्र द्वारा, जो सुई चुभानेसे किया गया था, निकल गये, और रोगीकी पीड़ाका इति हो गया। इसके उपरान्त प्राय दस दिन-तक प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने और उदर बन्धनोंके प्रयोग कर-नेका क्रम रक्खा गया। आहारके निमित्त उसको एक सप्ताहतक केवल अनार दिये गये और उसके उपरान्त पन्द्रह दिनतक अनारके अतिरिक्त काश्मीरी नाशपाती, अङ्गूर, मीठा नींबू, संगतरा, माल्टा और गन्ना दिया गया था। पचीस दिनके उपरान्त उसका घाव भरकर कोई पीड़ा न रही थी; और धीरे, धीरे वह शक्तियां प्राप्त करने लगा था।

यकृतमें विकृत रक्तका एकत्र होना Congestion of the Liver.

यकृतमें विकृत रक्तके एकत्र हो जानेके अनेक कारण हो सकते हैं। परन्तु वहुधा या तो यकृतमें दाह होनेके कारण उसके दोषसे रक्त विकृत होकर एकत्र हो जाता है या हृदय और फुफ्फुस रोगोंके कारण रक्त वाहिनी नाड़ीमें दाह होनेसे यकृतकी ओर रक्तका प्रवाह हो जाने और मार्गमें रुकावट होनेके कारण यकृतमें दूषित रक्त एकत्र होने लगता है। अतः निरन्तर यकृतपर ताप पहुंचाकर दूषित रक्त एकत्र होनेसे रोकने, एकत्रित विकृत रक्तको अस्तव्यस्त करने और दाहके दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । परन्तु हृदय और फुफ्फुस रोगोंकी दशामें छाती और उदरपर नित्य प्रति दो, दो घन्टे या जैसी अवस्था हो उतने काल उस समयतक ताप पहुंचाने या उचित हो तो वन्धनोंके प्रयोगकीभी आवश्यकता है जबतक कि उन रोगोंका इति न हो जाय । रोगीको पीड़ाके समयतक रसीले, सुपाच्य और अनुत्तेजक फलोंपरही रखना चाहिये । किन्तु ज्यों, ज्यों रोगी उन्नति करता जाय त्यों, त्यों उसको गूदेवाले अनुत्तेजक रसमय फल दिये जा सकते हैं।

काञ्जेस्टचुन आव दे लिवरका एक रोगी हमको सन् १९२० ई० में अलीगढ़में मिला था। वह एक पटवारीकी पचीस वर्षीय स्त्री थी। उसका यकृत बहुत बढ़ा हुआ था। परन्तु उसमें पीड़ा अधिक न होते हुएभी उसके उदरमें इतना भारीपन और विकलता थी कि उसको स्पर्श करनेसेभी क्लेश होता था। उसका मुख पीत वर्ण था, जिह्वापर श्वेत और भूरा मल एकत्र था, क्षुधा बहुतही न्यून हो गयी थी, बारम्बार पित्तमय वमन होती थी और अन्त्रभी अपना कर्त्तव्य पालन करनेको असमर्थ थीं। इसके आतिरिक्त वह शिर पीड़ासे दुःखी थी, उसका वदन कुम्हलाया हुआ और शरीर शिथिल हो रहा था । अपरञ्च फुफ्फुस और हृदयकी निर्वलावस्था और उनके विकारके कारण यकृतमें दूषित रक्तको एकत्र होनेमें सहायता मिलनेसे उसके रोगकी दशा वहुत विगड़ गयी थी। अतः हमने उसकी चिकित्सार्थ प्रति दिन न्यूनाति न्यून दो, वार दो, दो घन्टे छाती, उदर, ग्रीवा एवं मस्तकपर ताप पहुंचाने, और उसके उपरान्त धड़ वन्धनोंका प्रयोग करने तथा रसीले, सुपाच्य और अनुत्तेजक फलोंके आहारपर रहनेकी सम्मति दी थी, जिसका फल यह हुआ कि पहिले सप्ताहमेंही उसको इतना लाभ हुआ कि उसको वमन होना वन्द हो गया,

उदरके भारीपनमें न्यूनता हो गयी, पहिलेके समान विकलता न रही और क्षुधामें भी कुछ वृद्धि हो गयी; दूसरे सप्ताहमें यकृतमें कुछ न्यूनता प्रतीत हुई, शिर पीड़ा जाती रही और शरीरमें चैतन्यता आने लगी; तीसरे सप्ताहमें कुछ अधिक लाभ हुआ और मुखके पीत वर्णमें बहुत अन्तर होगया; चौथे सप्ताहमें उसके उदरकी विकलता न रही; पांचवें सप्ताहमें उसका यकृत बहुत घट गया, हृदयकी धड़कन जाती रही और फुफ्फुसभी उचित रीतिसे अपना कार्य करने लगे; छटे सप्ताहमें उसका मुख पीत वर्णके स्थानमें गुलाबी होगया, शरीरमें यथेष्ट चैतन्यता आगयी, अन्त्र अपना कर्तव्य पालन करने लगीं और यकृत बहुतही साधारण बढ़ा हुआ रह गया; और आठवें सप्ताहमें उसके शरीरमें सर्व साधारणके अनुमानसे कोई रोग नहीं रहा। परन्तु हमारी दृष्टिमें वह उस समयभी रोगसे मुक्त नहीं हुई थी। क्योंकि उसके हृदय और फुफ्फुसमें चिरकालसे रोगने घर बना लिया था। अतः हमने बड़ी कठिनतासे चार मास उससे और अधिक चिकित्सा और पथ्यका पालन कराया। अन्यथा उसको हमारी सम्मतिमें न्यूनाति न्यून एक वर्षतक चिकित्सा करनी चाहिये थी। उसने दो मासतक केवल गन्नेपर निर्वाह किया था, और एक मास शहतूत एवं लोकाट सेवन किये थे, तद् उपरान्त दो मासतक खर्बूजे और दूधपर दिन व्यतीत किये थे। परन्तु जितना लाभ उसको गन्ने और लाल शहतूतसे हुआ था उतना उसे अन्य पदार्थोंसे नहीं हुआ।

यकृतके चर्बी सम्बन्धी रोग Fatty diseases of the liver.

यकृतमें चर्बी सम्बन्धी रोगोंकी उत्पत्ति बहुधा उसके कणोंमें चर्बी भर जानेसे उनके अनप्रवेशनीय हो जानेपर हुआ करती है, जिसका विशेष कारण चर्बी (घृत या तैल आदि) मय भोजनोंका आहार होता है। इसके अतिरिक्त यकृतके चर्बीले कणोंके नष्ट होनेपरभी यकृतमें चर्बी सम्बन्धी रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है। यकृतमें चर्बी सम्बन्धी रोगोंके उत्पन्न होनेपर यकृत वृद्धिको प्राप्त हो जाता है, और यद्यपि बहुधा वह पीडा शून्य होता है तथापि उसमें विकलता उत्पन्न हो जाती है, और प्राय भोजनके उपरान्त श्वास लेनेमें कठिनता प्रतीत होती है; और जब यकृतमें चर्बी सम्बन्धी रोगोंकी उत्पत्ति आवश्यकतासे अधिक आहार करनेके कारण होती है तो यकृतके अतिरिक्त शरीरके अन्य अवयव प्रत्युत समस्त गात्र वैसे फूल आता है। यकृतमें चर्बी सम्बन्धी रोगके उपस्थित होनेपर निश्चय कुछ न

कुछ अजीर्ण और कोष्ठ-बद्ध रहता है, जिससे रोगीमें रोगोंका सामना करनेकी शक्ति न रहनेसे कोईभी रोग उसको आघेरता है।

यकृतमें चर्वी सम्बन्धी रोगसे पीड़ित एक रोगी सन् १९१६ ई० में अपनी चिकित्सार्थ हमारे निकट लाहौरमें आया था। उसकी आयु प्राय पैंतीस वर्षकी थी, उसका शरीर इतना फूला हुआ था कि वह पन्द्रह मिनिट्समें बड़ी कठिनतासे एक फ़र्लांङ्ग जा सकता था, उसको कुछ वर्ष पूर्व गठिया (Rheumatism) का रोगभी हो चुका था, और उस समय उसको गाऊट (Gout) का रोग दुःख दे रहा था, वह अपने दांत कट, कटानेका बहुत अभ्यस्त था, उसके दोनों हस्त और वाम पगपर सूजन और दाह थी, उसको लाल रङ्गका गादमय मूत्र होता था, उसके मूत्रसे बहुत दुर्गन्ध आया करती थी, शरीरको वाष्प लेनेसे उसको बहुत सुख प्रतीत होता था, उसको कभी, कभी अजीर्ण या अतिसार हो जाया करता था, या निरन्तर कोष्ठ-बद्ध रहता था, उसका यकृत वृद्धिको प्राप्त होगया था, उसके मुखका स्वाद बहुतही बिगड़ा हुआ रहा करता था, घृत, तैल, अण्डे या मछली सेवन करनेसे एकैक उसकी पीड़ामें वृद्धि हो जाती थी, भोजनके उपरान्त कभी लेटे, लेटेभी उसका श्वास घुटने लगता था, उसकी क्षुधामें बहुत न्यूनता हो गयी थी, दिनमें प्रायः वह अच्छा रहता था परन्तु रात्रिमें दो या तीन बजे कभी, कभी ऐसा दौरा होता था कि एक पलकोभी निद्राका आना कठिन हो जाता था, भोजनके उपरान्त कभी, कभी यकृतमें पीड़ा और विकलता होने लगती थी, उसका स्वभाव बहुतही चिड़, चिड़ा हो गया था, उसके हाथ, पैर कभी, कभी ठन्डे प्रतीत होते थे, उसके पैरके अंगूठेमें रात्रिके दो या तीन बजे यदा, कदा ऐसी दुःख देनेवाली पीड़ा उठ खड़ी होती थी कि उसकी निद्रा भङ्ग हो जाती थी और वह ज्वरका अनुभव करने लगता था, और वह शिर पीड़ासेभी क्लेश पाता था। उसको इस रोगके होनेका कारण यह था कि वह बाल्यावस्थासे एक, एक छटांक घृत शकरमें मिलाकर खा जाता था और ज्यों, ज्यों वह बड़ा होता गया त्यों, त्यों उसकी माता उसके घृत सेवनकी मात्रामें वृद्धि करती गयी। इसके अतिरिक्त युवावस्थामें कुसंगति वश वह अधिकताके साथ मांस, अण्डे मछली एवं मदिराका सेवन करने लगा, जिससे प्रथम तो उसके यकृत कणोंमें चर्बी भरजानेसे यकृत वृद्धि हो गयी, तद् उपरान्त पाचन शक्तिके निर्बल होनेपर

आमाशयमें तीक्ष्ण दूषित अमल और गैसोंके उत्पन्न होनेपर यकृतके चर्बीले कण क्षीण होने लगे, समस्त शरीर फूलने लगा और उसमें मूत्रामल (यूरिक ऐसिड) एकत्र होनेसे उसे गाऊट रोग हो गया। हमने उसको अधिकसे अधिक सात वर्ष पर्यन्त और न्यूनाति न्यून दो वर्षतक चिकित्सा करनेको कहा था। परन्तु वह इतने समयका नाम सुनतेही घबरा गया और हमसे कुछ बहाना करके ऐसा गया कि एक वर्षतक फिर उसने हमारा नामभी नहीं लिया; किन्तु खेद है उसने यह नहीं विचारा कि उसका रोग कितना पुराना है और वह शरीरके एक, एक कणमें प्रवेश कर चुका है, इस लिए उससे शरीरको शुद्ध करनेके लिए कितने समयकी आवश्यकता है? इसीसे वह अनेक चिकित्सकोंके यहां व्यर्थ टक्करें खाता रहा; और अन्तमें दुःखी होकर फिर एक वर्षके उपरान्त वह हमारी चिकित्साकी शरणमें आया। हमने उसको नित्य प्रति दिनमें तीन बार दो, दो घन्टे समस्त शरीरको टब द्वारा ताप पहुंचाने और उसके उपरान्त धड़ बन्धनोंका प्रयोग एवं केवल अनार, अङ्गूर, गन्ना, मीठा नीबू, माल्टा, संगतरा सेवन करनेकी आज्ञादी थी। अतः फल यह हुआ कि पहिले मासमेंही उसके मूत्रके रङ्गमें कुछ अन्तर प्रतीत हुआ, उसकी शिर पीड़ा जाती रही, हाथ, पैरोंके सूजन, दाह और पीड़ामें न्यूनताका अनुभव हुआ, अजीर्णमें कमी होगयी, क्षुधामें वृद्धि होने लगी, अतिसारकी पीड़ा जाती रही, शरीरमें चैतन्यता आने लगी, यकृत पीड़ाकोभी कुछ लाभ प्रतीत हुआ और वह पहिलेकी अपेक्षा कुछ अधिक और शीघ्रतासे चलने लगा; दूसरे मासके उपरान्त उसका फूला हुआ शरीर कुछ हलका प्रतीत होने लगा और समस्त पीड़ाओंमें पहिलेकी अपेक्षा न्यूनता होगयी; तीसरे मासके अन्त-तक वह सुगमता पूर्वक भोजनके उपरान्त श्वास ले सकता था, उसको उदरमें किसी प्रकारकी विकलताका अनुभव नहीं होता था, रात्रिके दो, तीन बजे जो उसको गाऊटके कारण पीड़ा हुआ करती थी वह बन्द हो जानेसे उसकी निद्रामेंभी कोई बाधा उपस्थित न होती थी, उसको भले प्रकार क्षुधाका ज्ञान होने लगा था, अजीर्ण प्राय लुप्त हो चुका था, ज्वरकाभी अनुभव नहीं होता था, मूत्रकी दुर्गन्ध और रङ्गमें बहुत न्यूनता हो गयी थी, हाथ, पैरोंका सूजन और पीड़ा बहुतही कम रह गयी थी, वह प्रातः समय एक मील टहलने योग्य हो गया था, उसका दांत कैद, कटानाभी बहुत कम हो गया था और उसकी यकृत पीड़ा एवं यकृत वृद्धिमेंभी बहुत न्यूनता प्रतीत होती थी; चौथे मासके अन्तिम सप्ताहमें उसका फूला हुआ शरीर घटकर उचि

दशामें पहुंच गया था; पांचवें मासके चौथे सप्ताहमें उसका मूत्र निर्मल हो गया था और यकृत पीड़ाका अन्त हो गया था; छटा मास समाप्त होनेपर उसका शरीर नीरोग प्रतीत होने लगा था, शरीरके वर्णमेंभी एक ओरसे परिवर्त्तन हो गया था; प्रत्युत उसकी आकृतिमेंभी इतना अन्तर हो गया था कि एक वर्ष पहिले देखनेवाला मनुष्य कभी, कभी उसको पहिचानही नहीं सकता था, उसके शरीरमें यथेष्ट और निर्मल रक्तकी उत्पत्ति हो गयी थी और उस समय वह आध मीलतक सुगमता पूर्वक दौड़ सकता था। परन्तु इसपरभी हमने उसको पूरे समयतक चिकित्सा करनेको कहा था। किन्तु खेद है उसने एक वर्षसे अधिक चिकित्सा और पथ्यका पालन नहीं किया। इसीसे हमारा विश्वास है कि यद्यपि उसको रोगका अनुभव इस लिए नहीं होता था कि वह वास्तवमें यह जानताही नहीं था कि पूर्ण आरोग्य होनेके क्या लक्षण हैं, तथापि उसका शरीर पूर्णतः शुद्ध नहीं हुआ था। इसीसे उसने हमारे समझानेपर उसका उल्टाही अर्थ निकाला। उसका अनुमान था कि उसने हमको कुछ नहीं दिया था, इस लिए हम उसे झमेलेमें डालकर कुछ प्राप्त करना चाहते थे। यह उसके अश्लील विचार इसी लिए थे कि उसने चिकित्साके आदि कालमें हमको अनेक मिथ्या प्रलोभन देकर मूर्ख वनानेकी चेष्टाकी थी। परन्तु वास्तवमें हम उसके प्रलोभन देनेके समय उसकी इस नीतिको भले प्रकार जानते हुएभी केवल अपनी चिकित्साके प्रचारार्थ उपेक्षा करते रहे। अन्यथा हम इस वातको भले प्रकार जानते थे कि जो चिकित्साके आदि कालमेंही नहीं देना चाहता है वह अन्तमें कब देगा। काम निकलनेपर कोई विरलाही दिया करता है। अच्छा, इसकी कोई चिन्ता नहीं। उसके विचार उसके साथ थे और हमारी सत्यता हमारे साथ है। इसीसे हमारा कहना है कि उसको एक दिन निश्चय अपने पापी हृदयके कारण पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

तीव्र यकृत क्षय Acute yellow atrophy of the liver.

यकृतका तीव्र गीतसे क्षय होना वहुतही भयङ्कर है। क्योंकि कभी, कभी उसके क्षय होनेकी गति इतनी तीव्र होती है कि दो, तीन दिनके भीतरही चौथाई, आधा या पौन यकृत एक ओरसे गलकर क्षय हो जाता है; और देखते, देखते रोगीकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार यकृतका तीव्रतासे क्षय होनेका कारण हमारा अप्राकृतिक आहार-विहारही है। क्योंकि कृत्रिम आहारसे हमारे रक्तमें

कोई फास्फोरसके समान दूषित पदार्थ उत्पन्न होनेपर ऐसे तीक्ष्ण और विषैले कीटोंकी उत्पत्ति हो जाती है, जो कि अति तीव्र गतिके साथ यकृतके कणोंको नष्ट, भ्रष्ट कर देते हैं; इसीसे फास्फोरस आदि विषोंकाभी यकृतपर ठीक ऐसाही प्रभाव होता है। यकृतके क्षय होनेमें उसमें ऐसा पीड़ाका ज्ञान होता है कि रोगीको दौरे होने लगते हैं, वह अचेत हो जाता है, और हृदय अति निर्बल प्रतीत होता है, पाण्डु रोगके लक्षण प्रगट होते हैं, जो कि कुछही दिन प्रतीत होते हैं; किन्तु वह साधारण पाण्डु रोगसे निदान करनेमें सर्वथा भिन्न होते हैं। रोगीकी मृत्युके उपरान्त यकृतकी परीक्षा करनेसे वह गला हुआ प्रतीत होता है, काटनेसे पीले और लाल रङ्गका दीखता है और उसके कण नष्ट, भ्रष्ट हुए, जान पड़ते हैं। यकृतके तीव्रतासे क्षय होनेपर बहुत कुछ सावधानीसे चिकित्सा करनेपरभी बहुतही कम सफलता होती है। क्योंकि जबतक चिकित्साका आरम्भ या प्रभाव होता है तबतक रोगीका यकृत क्षय हो जानेके कारण शरीरका पोषण न हो सकनेसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है। फिरभी इस अनुमानसे रोगीकी चिकित्सा करना, कि कदाचित उसके प्राणोंकी रक्षा हो सके हमारा परम कर्तव्य है। किन्तु यकृतके क्षय हो जानेपर किसीभी रोगीके प्राण नहीं बचाये जा सकते।

यकृतके क्षय होनेका सन्देह होतेही इस लिए रोगीके सर्व शरीरको उस समयतक टब द्वारा ताप पहुंचाना चाहिये जबतक कि उसका जीवन संकटसे बाहर न हो ले, कि रक्तमें जो विषैले कीट समस्त गात्रमें घूम रहे हों उनका प्रभाव होना बन्द हो जाय। शिरपरभी निरन्तर उष्ण जल डालते रहना चाहिये। यदि टबकी व्यवस्था न हो सके तो मस्तक, छाती और उदरपर निरन्तर उसी समयतक वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचाना चाहिये जबतक कि रोगी सर्व प्रकारेण जोखिमसे बाहर न हो ले। हमारी सम्मतिमें एक मिनिटकोभी ताप बन्द करना बड़ी मूर्खता है। कभी, कभी यकृतके क्षय होनेपर दस दिनसेभी अधिक चौबीसों घन्टे ताप पहुंचानेकी आवश्यकता होती है; और शौचादि क्रियासेभी ताप करते, करतेही निवृत्ति प्राप्त करनी पड़ती है। यदि रोगीकी दशा ताप पहुंचानेपर पहिलेसे कुछ, कुछ अच्छी प्रतीत हो तो भूलकर-भी ताप बन्द न किया जाय, और रोगीके जोखिमसे निकल जानेपरभी कई मास पर्यन्त चिकित्सा करनेकी आवश्यकता है। किन्तु उस समय चौबीसों घन्टेके स्थानमें ... दिन दो बार एक, एक घन्टे ताप पहुंचाने और उसके उपरान्त घड़ बन्धन

प्रयोग करने चाहियें; या चिकित्सककी सम्मतिके अनुसार केवल ताप अथवा केवल बन्धनोंका प्रयोगही करना चाहिये।

आहारके निमित्त ऐसे रोगीको केवल बेदाना या मस्कती अनारही देना चाहिये। क्योंकि अनारके अतिरिक्त हमारी दृष्टिमें अन्य कोई ऐसा फल नहीं है जो क्षय हो जाने वाले भागोंकी पूर्ति कर सके, या जिससे यकृतको अनुचित कष्ट न सहन करना पड़े। परन्तु इस बातका ध्यान रहे कि विना क्षुधाके रोगीको कभी आहार न दिया जाय। यदि रोगीको प्यासका ज्ञान हो तो गुन, गुना ऊष्ण तापका जल पान कराया जाय।

यकृत क्षय होनेवाले अनेक रोगियोंमेंसे अबतक हम केवल पांच रोगियोंके प्राणोंकी रक्षा करनेमें सफल हुए हैं। परन्तु हमारी सफलताका कारण यही था कि उनमेंसे किसी रोगीका यकृत क्षय नहीं होने पाया था, और चिकित्सा सम्बन्धी समस्त साधन समयपर उपस्थित थे। इसके अतिरिक्त उनके परिचारक बहुतही सावधान और परिश्रमी थे। उन सभीको प्राय एक सप्ताहसे दस दिनतक ताप पहुंचाया गया था। किन्तु उनकी दशा चिकित्साके पहले दिनसेही सुधरने लगी थीं, और तीसरे दिनतक उनके जीवनकी बहुत कुछ आशा बन्ध गयी थी, और दस दिनके भीतर वह जोखिमसे शून्य हो गये थे। किन्तु उनके शरीरमें यथेष्ट शक्ति और चैतन्यता कई मासमें आयी थीं। प्राय एक सप्ताहतक उनको किञ्चित मात्रभी आहार नहीं दिया गया था। किन्तु उसके उपरान्त एक मासतक केवल अनार और शेष काल-तक अन्य रसीले फल दिये गये थे।

यकृतका केन्सर Cancer of the liver.

यकृतका केन्सर (एक प्रकारका फोड़ा) रोगसे पीड़ित होना कोई असाधारणता नहीं है, परन्तु वास्तवमें यकृतमें केन्सरकी उत्पत्ति बहुतही कम होती है। अन्यथा बहुत करके आमाशय या अन्त्रमें केन्सरके उपस्थित होनेपरही यकृतका केन्सरसे पीड़ित होना निर्भर है। युवावस्थामें यकृतमें केन्सरकी उत्पत्ति बहुतही कम होती है, और अधिकांश वही वृद्ध रोगी केन्सरके लक्ष्य होते हैं, जिनको पित्ताशयके दोषों या निरन्तर पित्ताशयकी पथरीके घर्षण या उत्तेजनासे दुःख होता रहता है। यकृतके केन्सरके बहुधा वही लक्षण होते हैं जो साधारण रीतीसे किसी अन्य स्थानके केन्सरके होते हैं। ज्यों, ज्यों रोगकी वृद्धि होती

जाती है त्यों, त्यों यकृतका मांस ढीला, निर्जीव, कठोर या चर्बी शून्य होता जाता है । केन्सरकी दशामें यकृतकी असाधारण वृद्धि हो जाती है, और उसके सिरे तथा अन्य भाग खुर्दरे और ऊंचे, नीचे हो जाते हैं, जो कि उदरपर दबाकर देखनेसे भले प्रकार प्रतीत होते हैं । केन्सरकी दशामें कभी पीड़ा होती है और कभी नहीं, किन्तु तनाओ, कटाओ, खुजली या दाहका अनुभव हुआ करता है । पित्त नालीपर केन्सरका भार होनेसे पित्तके रुक जानेपर पाण्डुका अनुभव होता है, और वह रोगी कभी पाण्डुसे मुक्त नहीं होता प्रत्युत केन्सरकी वृद्धिके कारण दिनोंदिन उसके नेत्र अधिक पीले होते जाते हैं । पोर्टल वेन (Portal vein) पर केन्सरका भार होनेसे जलोदरका अनुभव होने लगता है । इसके अतिरिक्त केन्सरके रोगीकी पाचन क्रियामें अनेक व्याधियां उपस्थित हो जाती हैं, जिनके कारण क्षुधाका ह्रास जाता रहता है, उबकाइयों (Nausea), वमन और कोष्ठ-बद्धकी पीड़ा दुःख दिया करती है, और अन्तमें अतिसारसे पीड़ित होकर रोगी मृत्युको प्राप्त होता है ।

यकृतके केन्सरके रोगीकी चिकित्सार्थ अति धैर्यके साथ प्रति दिन तीन या दो बार दो, दो घन्टे छाती और उदरपर ताप, या उसके उपरान्त धड़ बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये । किन्तु केन्सरकी पीड़ा एक बहुतही दारुण रोग है, और बहुत कठिनतासे बहुत समयमें दूर होता है । इस लिए यथा शक्ति जितने अधिक कालतक ताप किया जाय उतनाही लाभ प्रद है; और इसीसे यदि चिकित्साके आदि कालमें निरन्तर एक सप्ताहतक चौबीसों घन्टे ताप पहुंचाया जाय और तद् उपरान्त प्रत्येक सप्ताहमें किसी एक नियत दिन निरन्तर बारह या चौबीस घन्टे ताप किया जाय तो बहुत हितकर है ।

आहारके निमित्त हमारी सम्मतिमें अनारही उचित प्रतीत होता है । परन्तु अनारके उपलब्ध न होनेपर अङ्गूर गन्ना, शहतूत, संगतरा, काश्मीरी नाशपाती, लखनवी खर्बूजे दिये जा सकते हैं । किन्तु अच्छा तो यही है कि यदि अनार प्राप्त न हो सके तो उसके स्थानमें केवल गन्नेका आहार दिया जाय ।

यकृतके केन्सरका एक रोगी सन् १९१८ई० में हमको अहमदाबादमें मिला था । उसकी आयु प्राय चालीस वर्षकीथी उसके नेत्रोंका रंग पीला था । उसकी क्षुधा बहुत न्यून हो गयी थी, प्राय उसको वमन हुआ करती थी, किसी समय यकृतमें सुइयोंके

चुभनेके समान पीड़ाका अनुभव होता था और दाहिनी पसलियोंके नीचे चनेके समान कोई वस्तु यकृतपर उभरी हुई प्रतीत होती थी किन्तु शेष समस्त यकृतपर हाथ फेर-नेसे वह उचित दशामें प्रतीत होता था। इस लिए हमारे अनुमानसे अधिकसे अधिक दो मासके भीतर उसके यकृतमें केन्सरकी उत्पत्ति हुई थी; और हमारे इस विचारसे, अन्य कई डाक्टरभी सहमत थे । अतः हमने इस अनुमानसे कि रोग नया है उस रोगीको सावधान रहने और ध्यान पूर्वक चिकित्सा करनेको कह दिया और उसनेभी हमारी सम्मति स्वीकार करली । अतएव उसी दिनसे हमारी चिकित्साका प्रारम्भ होगया । उस समय टबका प्रबन्ध न होनेके कारण हमने निरन्तर एक सप्ताहतक उसको चौवीसों घन्टे ताप पहुँचानेके निमित्त चार परिचारक नियत करवाये, तद् उपरान्त प्रति दिन उसको चार बार एक, एक घन्टे छाती और उदरपर ताप पहुंचाया जाता था, किन्तु प्रत्येक रविवार को उसे चौवीस घन्टे ताप दिया जाता था । आहारमें उसको केवल अनार और गन्ना दिया गया । अतः इस पथ्य और चिकित्साका परिणाम यह हुआ कि पहिले सप्ताहमेंही यकृतकी दाह और वृद्धिमें न्यूनताका अनुभव हुआ; दूसरे सप्ताहके उपरान्त वमन होना वन्द हो गया और कोष्ठबद्धकी पीड़ा जाती रही; तीसरे सप्ताहमें सुइयां चुभनेके समान जो पीड़ा होती थी वह वहुतही कम रह गयी; चौथे सप्ताहमें नेत्रोंके पीले रङ्गमें वहुत कमी हो गयी, पांचवे सप्ताहमें उसकी क्षुधामें यथेष्ट वृद्धि हुई और छटे सप्ताहमें उसके नेत्र निर्मल प्रतीत होने लगे और उसको कोई पीड़ा न रही । किन्तु इसपरभी हमने उसको चार मास पर्यन्त चिकित्सा करनेको वाध्य किया था। उसके रोगका इतने अल्प समयमें अन्त होनेका एक मात्र यही कारण था कि केन्सरकी उत्पत्ति हुए अधिक दिन नहीं हुए थे, अन्यथा केन्सरसे मुक्त होनेके लिए कभी कभी वारह, तेरह माससेभी ऊपर चिकित्सा करनी पड़ती है ।

पाण्डु Jaundice.

पाण्डु रोगकी उत्पत्तिका विशेष कारण यह है कि किसी प्रकार पित्ताशयसे पित्तका अन्त्रमें प्रवाह होना वन्द होनेपर वह रक्तमें प्रवेश हो जाता है; और लिम्फ्-वेसिल्स (Lymph-vessels) तथा अन्य पदार्थ शरीरके अनेक अवयवोंमें एकत्र हो जाते हैं । पित्तके प्रवाहमें यह रुकावट या तो पित्तनालीमें कोई बाधा उपस्थित होनेसे होती है, या यकृतमें किसी ऐसे विकारके

कारण होती है, जिससे यकृत-कण पित्तका इस प्रकार त्यागन करना बन्द कर देते हैं कि वह पित्तनालीमें पहुंचताही नहीं। प्राय पित्त नाली या छोटी अन्त्रकी पित्त-नालीके निकटवाली श्लेष्म झिल्ली (Mucous membrane) में उत्तेजक या कुपाच्य पदार्थोंके आहार अथवा शीतसे सूजन आनेपरभी पित्तका अन्त्रमें प्रवाह बन्द होनेपर पाण्डु रोग हो जाता है। परन्तु वह रोग कुछ सप्ताहसे अधिक नहीं रहता। क्योंकि उत्तेजक या कुपाच्य पदार्थों अथवा शीतका प्रभाव जानेपर रोग स्वमेव दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त पित्ताशयमें पथरी उत्पन्न होनेपर उसके कारण पित्तनालीमें रुकावट होनेसेभी पाण्डु रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। अप-रब गर्भाशयकी अनुचित वृद्धि, यकृतके निकटवर्त्ती किसी अवयवमें फोड़ा, या किसी ग्रन्थीके बड़ा हो जानेसे पित्तनालीमें रुकावट होनपरभी पाण्डु रोग प्रतीत होने लगता है। किन्तु ऐसी दशामें जिन हेतुओंसे पाण्डु उपस्थित होता है उन्हींकी अव-स्थानुसार उसकी उत्पत्ति अधिक होती है। इसीसे यदि गर्भाशय, फोड़े या ग्रन्थियां अधिक भार या रुकावट उपस्थित करती हैं तो रोगकी दशा अधिक भयङ्कर होती है। वृद्धावस्थामें जब पाण्डु रोग यकृतमें केन्सर (Cancer), के कारण होता है तो उसकी दशा बहुत भयङ्कर होती है। सिरोसिस आव दे लिवर Cirrhosis of the liver) के कारणभी पित्तनालीमें बाधा उपस्थित होनेपर पाण्डु रोगकी उत्पत्ति होती है। परन्तु ऐसी दशामें रोगकी बहुधा मन्दावस्था होती है।

यकृतमें विकार होनेपर रक्तमें अनेक विष प्रवेश करने लगते हैं, और यलो फ़ीवर (Yellow fever), शीतज्वर (Malaria), मोती झरा (Typhoid fever) और प्येमिया (Pyæmia) आदिमेंभी पाण्डु रोग हो जाता है। क्योंकि उनसे पीड़ित होनेपर पित्त प्रवाहमें बाधा उपस्थित होकर रक्त दूषित होने लगता है।

पाण्डु रोगमें प्राय सबसे पहिले नेत्रोंके डेले पीत वर्ण होते हैं, तद् उपरान्त समस्त त्वचा पीत वर्ण हो जाती है; और जितना रोग पुराना और वृद्धिको प्राप्त होता जाता है उतनाही पीला रङ्ग गहरा होता जाता है। पाण्डु रोगसे पीड़ित रोगीको वृक्क द्वारा पित्त प्रवाह होनेसे पित्तके रङ्गका मूत्र होता है, पाचन क्रियामें अनेक बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं, जिह्वापर मल एकत्र हो जाता है, क्षुधाका ज्ञान कम हो जाता प्राय रोगका अनुभव होने लगता है, और चिकनाईके पदार्थ सेवन करनेसे रोगकी

दशा दिनोदिन वृद्धिको प्राप्त होती जाती है । अन्त्रमें पित्तके न पहुंचनेके कारण विष्टेका रङ्ग श्वेत या भूरा प्रतीत होता है, और उसीके कारण कोष्ठ-बद्धकी पीड़ा रहने लगती है; किन्तु यदा कदा अतिसारके हो जानेसे कोष्ठ-बद्धकी पीड़ामें दो-चार दिनको न्यूनता हो जाती है, और विष्टेमें बहुतही विषैली और तीक्ष्ण गन्धका अनुभव होता है । पाण्डुके रोगीके मुखका स्वाद प्राय इस लिए कटु होता है कि पित्तामलके क्षारादि उसके मौखिक लार कोषोंमें उपस्थित होते हैं; और उसकी त्वचापर खुजली होनेकाभी यही कारण है कि श्वेदके साथ पित्तामलके क्षारादिका प्रवाह होता है । पाण्डु रोगमें नाड़ीकी गति मन्द हो जाती है, और चिरकालसे पीड़ित रोगियोंको मस्तिष्ककी निर्बलता और आलस्य आदिकाभी अनुभव होने लगता है ।

पाण्डु रोगकी चिकित्सार्थ रोगीकी अवस्थानुसार ताप और बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये । किन्तु कमसे कम प्रति दिन दो बार एक, एक या दो, दो घन्टे तो ताप पहुंचानाही चाहिये । यदि केवल यकृत या पित्ताशयके दोषसे पाण्डु रोगकी उत्पत्ति हुई हो तो उदरपर ताप पहुंचानाही यथेष्ट है, किन्तु यदि उदरके साथ छातीपरभी ताप पहुंचाया जाय तो अति उत्तम है । परन्तु यदि पोर्टल वेन या अन्य किसी छातीके अवयवके दोषसे पाण्डु रोगकी उत्पत्ति हुई हो तो उदरके साथ छातीपर ताप पहुंचाना आवश्यक है । इसके अतिरिक्त यदि पाण्डुका मूल कारण केन्सरका होना हो तो उदर और छातीपर तापके अतिरिक्त धड़ बन्धनोंका प्रयोग करनाभी परमावश्यक है; प्रत्युत ऐसी दशामें बहुतही सावधानीसे चिकित्सा करनी चाहिये, और उसके सम्बन्धमें विशेष बातें जाननेके लिए ' केन्सर आव दे लिवर ' देखना चाहिये ।

पाण्डुके रोगीका अधिकांश आहार अनारही होना चाहिये, या उसकी अवस्थानुसार अन्य रसीले, सुपाच्य और अनुत्तेजक फल दिये जायं ।

पाण्डु रोगकी चिकित्सार्थ सबसे अधिक इस बातपर ध्यान रखना चाहिये कि जिस अन्य रोगवश उसकी उत्पत्ति हुई हो उसीके अनुसार चिकित्सा और पथ्य होना चाहिये । किन्तु यदि इसपर कोई ध्यान न देना चाहे अथवा उसमें इतनी बुद्धि न हो तो छाती और उदरपर ताप एवं धड़ बन्धनोंका प्रयोग और सूक्ष्मातिसूक्ष्म रसीले फलोंका आहार देना चाहिये, जिनमें अनार सर्वोत्तम है ।

पाण्डु रोगका एक रोगी सन् १९१८ ई० में हमको जिले बुलन्दशहरके एक

ग्राममें मिला था; उसकी आयु प्राय पैंतीस वर्षकी थी; वह जातिसे यवन था, किन्तु ग्रामीण होनेके कारण मांसाहारी नहीं था, इसीसे उसकी चिकित्सा करना सुगम था; उसको पाण्डु रोगकी उत्पत्ति धतूरेका विष सेवन करने और अजीर्ण वर्के इस लिए हुई थी, कि अजीर्णके दूषित विकारों और धतूरेके विषसे उसकी अन्त्रके मुख और पित्तनाली आदिमें दाहकी उत्पत्तिके कारण पित्त प्रवाह रुक गया था, उसको प्रायः प्रातके समय उबकाइयां आया करती थीं और मुखसे बहुतही थोड़ी मात्रामें श्वेत लेसदार जलकी वमन हुआ करती थी, एक दिन उसको जलकी वमनके उपरान्त गहरे पीले रङ्गका पित्त ठीक अण्डेकी पिलापीके समान गाढ़ा, गाढ़ा और चिपकता हुआ आया था; उसकी एक मासके भीतर ऐसी शोचनीय दशा हो गयी थी कि उसका कण्ठ शुष्क हो गया था, उसके नेत्रोंके डेले एक ओरसे गहरे पीत वर्ण प्रतीत होते थे, उसको प्रत्येक पदार्थ सेवन करनेके उपरान्त वमन हो जाती थी, उसे क्षुधाका ज्ञान किञ्चित् मात्रभी न रहा था, उसे इतना भारी कोष्ठबद्ध था कि वह दो, दो घन्टे पर्यन्त अपनी गुदामें ऊंगली डालकर शौचसे निवृति प्राप्त करनेकी चेष्टा करता था तब कहीं कठिनतासे ऊंटकी मेंगनियोंके समान गोल, गोल, शुष्क, कठोर और सर्वथा श्वेत रङ्गका विष्ठा होता था, रोगसे पहिले वह बहुतही निडर रहता था, किन्तु रोगकी दशामें वह ऐसा भीरू हो गया था कि रात्रिको स्वप्नमें किसी भयङ्कर दृश्यको देखकर चौंक पड़ता था और आंख खुलनेपरभी जबतक अपनी स्त्रीको न उठालेता था तबतक मुख न उघाड़ता था, उसकी निर्बलताभी इस सीमाको पहुंच गयी थी कि वह कुछ दूर चलनेमेंभी थक जाता था, उसका यकृतभी कुछ वृद्धिको प्राप्त हो गया था और उसमें पीड़ाका ज्ञान होता था, उसके शरीरकी समस्त त्वचा पीतवर्ण होगयी थी, और उसके मुखका स्वाद कटु प्रतीत होता था। अतः हमने उसको दो सप्ताह पर्यन्त प्रति दिन तीन बार दो, दो घन्टे छाती, उदर और ग्रीवापर ताप पहुंचाने और यदि सम्भव हो तो उसके उपरान्त धड़ बन्धनका प्रयोग एवं गन्ने सेवन करनेकी सम्मति दी थी। इसके आगामी दो सप्ताहतक दिनमें दो बार दो, दो घन्टे और फिर अगले दो सप्ताहतक प्रति दिन एक, एक घन्टे ताप पहुंचाने तथा दूध और गन्नेपर निर्वाह करनेकी अनुमति दी थी। अतः फल यह हुआ कि पहिले सप्ताहमें उसकी आंखोंका पीला रङ्ग फीका पड़ने लगा, दूसरे सप्ताहमें नेत्र बहुत कुछ निर्मल हो गये, कोष्ठ-

बढ़ जाता रहा, वमनका होना बन्द हो गया, त्वचाका रङ्गभी धीरे, धीरे उचित स्थितिमें आने लगा, क्षुधामें वृद्धि हो गयी, कण्ठकी शुष्कता जाती रही, मूत्रके रङ्गमें अन्तर हो गया और विष्ठा श्वेतके स्थानमें पीला होने लगा; तीसरे सप्ताहमें यकृतकी पीड़ा और वृद्धिमेंभी कमी हो गयी, नेत्र श्वेत वर्णके हो गये, विष्ठा सुगमता पूर्वक लेंडी बन्धकर आने लगा, त्वचाका रङ्ग आरोग्यताके लक्षण प्रगट करने लगा, क्षुधाका ज्ञान भले प्रकार और नियमित रूपसे प्रतीत होने लगा, और यकृत आदिकीभी कोई पीड़ा न रही । किन्तु हमने दो सप्ताहतक उसको और चिकित्सा करनेके लिए विवश किया, जिससे रोगका सदाको अन्त हो जाय, और उसका शरीरमें वीर्य न रहे ।

जलोदर Dropsy, or hydrops.

यहांपर हम केवल जलोदरकाही कथन नहीं करते हैं, प्रत्युत हम ड्राप्सी (शरीरके किसी स्थानमें जल एकत्र होना) के विषयमें कहना चाहते हैं । क्योंकि जलोदर ड्राप्सीका एक अङ्ग मात्र है ।

ड्राप्सीका वास्तविक अर्थ है—त्वचाके नीचे या शरीरके किसी एक या अनेक पोले स्थानोंमें जलके समान दूषित द्रव पदार्थोंका एकत्र हो जाना । भिन्न, भिन्न अङ्गोंमे जलके एकत्र होनेसे ड्राप्सी रोगके लिए डाक्टरोंने भिन्न, भिन्न नाम दिये हैं । इसीसे त्वचाके नीचे किसी परिमित स्थानमें जल एकत्र होनेवाले ड्राप्सी रोगको ओडेमा (Œdema) और सर्वत्र या भागमें जल आजानेपर एनेसारसा (Anasarca), उदरमें जलके सञ्चित होनेपर एसाइटेस (Ascites), छातीमें हाइड्रो-थारेक्स (Hydro-thorax) और शिरमें हाइड्रोसेफेलस (Hydrocephalus) कहते हैं ।

वस्तुतः ड्राप्सीको कोई स्वतन्त्र रोग समझना बड़ी भूल है । ड्राप्सीका वास्तविक हेतु वृक्क, हृदय या यकृतके कर्तव्य च्युत होने या शारीरिक निर्वलतावश रक्त कणोंके कारण त्वचाका निर्वल होना है । ड्राप्सी उत्पन्न करनेमें निम्न लिखित तीन कारण होते हैं और उनमेंसे दो तो बहुधा उपस्थितही होते हैं:—

१—शरीरके जिस भागमें ड्राप्सी हो उसमें हानि पहुंचने, शरीरके प्राय रोगी रहने रक्त संचारमें बाधा उपस्थित होने और रक्त कणोंके पोषणमें न्यूनता होने या रक्तमें विषैले पदार्थ सम्मिलित होनेसे रक्त कणोंकी त्वचाके निर्वल होनेपर ड्राप्सीकी उत्पत्ति होती है ।

२–शिराओंपर आवश्यकतासे अधिक रक्तका भार होनेपरभी ड्राप्सी प्रगट होती है।

३–रक्तके अधिक तरल और जल मय होनेपर रक्त कणोंकी त्वचासे जल निकलकर एकत्र होनेसे ड्राप्सी प्रतीत होती है।

हृदय रोगके कारण रक्तका शिराओंपर अनावश्यक भार या रक्तमें अशुद्धता उत्पन्न होने, या वृक्कके कर्त्तव्य च्युत होनेसे विषैले पदार्थों और रक्तसे प्राप्त जल त्यागन न कर सकनेके कारण विशेषतः ड्राप्सीकी उत्पत्ति होती है। हृदय रोगमें बहुधा परिश्रमके उपरान्त और वृक्क रोगमें प्रायः विश्रामके पश्चात् ड्राप्सीका अनुभव होता है। अतः वृक्क रोगके कारण होनेवाली ड्राप्सीकी विशेष पहिचान यह है कि वह रात्रिके विश्रामके उपरान्त प्रातके समय प्रतीत होती है और दिनके चढ़नेपर लुप्त हो जाती है। उसमें प्राय नेत्रोंके नीचेकी त्वचा सरीखे कोमल और ढीले स्थानों पर प्रभाव होता है; और हृदय रोगके हेतु उत्पन्न होनेवाली ड्राप्सी दिन भरके परिश्रमके कारण सायंके समय पगोंके समान शरीरके अन्य अवयवोंके आधीन भागों पर प्रगट होती है और रात्रिमेंही लुप्त हो जाती है। हृदय और वृक्क दोनोंके विकारसे ड्राप्सीकी उत्पत्ति होनेपर वह बहुत भयङ्कर होती है।

अनावश्यक परिश्रमके कारण शरीरकी निर्बलावस्था या रक्तकी न्यूनता आदिकी दशामें सायंकालको पैरों और टांगोंपर बहुतही कम ड्राप्सीका अनुभव होता है। जिस ड्राप्सीमें सर्प या ततैयाके दंशने अथवा विषैली मछली सेवन करनेके समान सूजन चलता है, या जिसके कारण त्वचापर लाल पित्ती सरीखे चिन्ह हो जाते हैं, उसकी एक विशेष जाति है। व्हाइट-लेग (White-leg) जो कि मोती झरे (Typhoid fever), क्लोमपाक (Pneumonia) या प्रसव पीड़ा सरीखे तीव्र रोगोंके उपरान्त होता है, बहुधा पीड़ित स्थानकी किसी मुख्य शिरामें बाधा होनेपर होता है। इसीसे उसे स्थानीय ड्राप्सीका नाम दिया है। व्हाइट-लेगके समानही वह ड्राप्सी होती है जिसमें किसी मुख्य शिराका मार्ग किसी फोड़े आदिसे रुक जाता है। सिरोसिस (Cirrhosis), फोड़े (Tumours) या अन्य यकृत रोगोंके कारण रक्त सञ्चारमें बाधा होनेसे पहिले उदरकी ड्राप्सी अर्थात् जलोदरकी उत्पत्ति होती है तद् उपरान्त हाथ-पैरोंके अग्र भागमें जल उतरकर सूजन आता है।

ड्राप्सीकी चिकित्सार्थ जो रोग उसकी उत्पत्तिका हेतु हों उनकी चिकित्सा करनी

चाहिये । किन्तु यदि कोई उन रोगोंका निदान करनेमें असमर्थ हो तो छाती, उदर और सूजे हुए स्थानोंपर कई, कई घन्टे दिनमें कई, कई बार ताप पहुंचाकर धड़ बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये । परन्तु यदि सम्भव हो तो समस्त शरीरको ताप पहुंचानेका प्रयत्न करना चाहिये ।

ड्रप्सीके रोगीके लिए यदि शरीरके किसी कोमल स्थानमें जल उतर आया हो और उसकी उत्पत्तिका वास्तविक कारण हृदय, वृक्क या यकृतका रोग ग्रस्त होना हो तो यथाशक्ति कई मासतक अर्थात् जवतक कि रोगी जोखिमसे बाहर न हो ले केवल अनारहीका आहार दिया जाय तो अच्छा है, अन्यथा अंगूर, गन्ना या अन्य रसीला फल देना चाहिये । किन्तु रोगीके जोखिमसे बाहर होनेपर धीरे, धीरे उसे अन्य फल या दूध देना चाहिये । आहारके परिवर्तनमें कभी भूलकरभी शीघ्रतासे काम न लेना चाहिये ।

जलोदरका एक रोगी सन् १९२० ई०में हमको अलीगढ़में मिला था । वह उस समय वहांके गवर्नमेन्ट हास्पिटेलमें अपनी चिकित्सा कराने आया हुआ था; उसकी आयु प्राय तीस वर्षकी थी, उसके उदरसे दो बार जल निकाला जा चुका था किन्तु तीसरी बार फिर जल एकत्र हो रहा था; उसके हाथ पैरोंपरभी बहुत सूजन था; उसको उदरके तनाओके कारण श्वांस लेनेमेंभी बड़ी कठिनता होती थी; उसको अनेक वैद्योंने रेचक औषधियोंका सेवन कराया था, जिससे कुछ लाभ पहुंचनेकी अपेक्षा वह दिनोदिन निर्बल होता गया; उसकी क्षुधा प्राय लुप्त हो चुकी थी; उसकी अन्त्र कभी नियमित रूपसे कार्य नहीं करती थीं; उसके मटकेके समान फूले हुए उदरपर नीली, नीली शिराओंका जाल बिछा हुआ प्रतीत होता था; उसके मूत्रका रङ्ग एक ओरसे गहरा पीला था; उसके नेत्र हलके पीले और भदमैले रङ्गके थे; उसकी जिह्वापर मल एकत्र था और मुखसे बहुत अप्रिय गन्ध निकलती थी । हमको वास्तवमें उस रोगीके बचनेकी बहुतही कम आशा थी । किन्तु उसकी स्त्री और पुत्रके आग्रहपर चिकित्सा आरम्भ की गयी । टबकी व्यवस्था न हो सकनेके कारण हमने वस्त्रों द्वारा उसकी छाती, उदर और हाथ-पैरोंपर प्रति दिन तीन बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने एवं धड़ बन्धनका प्रयोग करनेकी सम्मति दी; और प्राय चार मासतक केवल अनारपर निर्वाह करनेको कहा । फल यह हुआ कि पहिले सप्ताहमेंही उसके हाथ-पैरोंके सूजनमें कमीका अनुभव हुआ । किन्तु उसकी गति बहुत मन्द होनेसे तीसरे सप्ताहके अन्ततक बड़ी कठिनतासे

उसके हाथ पैरोंका सूजन गया था; तीसरे सप्ताहके उपरान्त उसके उदरमेंभी कमी होने लगी और पाचवें सप्ताहतक उसका उदर पूर्ण रूपेण घट गया, समस्त नीली शिराएं लुप्त हो गयीं, उदरकी तनी हुई त्वचा कोमल पड़ गयी, जिह्वापर मल न रहा, मूत्रके रङ्गमें अन्तर हो चला, और नेत्रभी निर्मल होने लगे। किन्तु उदरके घटजानेपर उसका पत्थरके समान यकृत निकल आया, जिसकी चिकित्सामें प्राय डेढ़ वर्ष लगनेपर बड़ी कठिनतासे रोग दूर हुआ था, और रोग जानेके उपरान्त बड़ी कठिनताईसे शरीरमे बल प्राप्त हुआ था।

सन् १९२३ ई०के मध्यमें हम अपनी सुसराल गये हुए थे उसी समय एक गड़रियेने अपनी पुत्रीके बालकको दिखाया। वह डेढ़ या दो वर्षीय बालक था; वह कई माससे जलोदरसे पीड़ित था; अनेक चिकित्सकोंकी चिकित्साकी परीक्षा हो चुकी थी; उस समय उसका उदर बहुत कुछ फूला हुआ था; किन्तु हाथ-परोंपर सूजन नहीं आया था। हमने रोगीको देखकर उसके नानासे कहा कि कमसे कम उसके आरोग्य होनेमें चार मास लगेंगे। अतः वह हमसे थोड़ी देरमें आनेको कहकर चला गया। परन्तु फिर उसने पन्द्रह दिनतक हमको अपना मुखभी न दिखाया। अनायास दो सप्ताहके उपरान्त रात्रिके समय उसका पुत्र हमारे श्वसुरकी कोठीपर अपने भाईके विवाहके निमित्त कड़ाह मांगने आया, और उसी समय उसने हमसे अपने उसी भांजके विषयमें, जो जलोदरसे पीड़ित था, देखनेको कहा। परन्तु हमने स्पष्ट कह दिया कि अब हम न देखेंगे, क्यों कि उसके पिताने हमको बहुत धोखा दिया इत्यादि, इत्यादि। अतएव उसने यह समस्त वार्ता अपने पितासे जाकर कही और वह दूसरे दिन हमारे निकट आकर उसकी चिकित्सा करनेको आग्रह तथा अपने न आसकनेके अनेक बहाने करने लगा। परन्तु हमने उसके मिथ्या बहानोंपर उसको बहुत फटकारा तो उसने बड़ी कठिनतासे यह स्वीकार किया कि किसी ब्राह्मणने उसे तीन, चार दिनमेंही आरोग्य कर देनेकी बात कही थी, इसीसे वह नहीं आया। अतः हमने उसके अपराध स्वीकार करनेपर पुनः उस बालकको जाकर देखा। उस समय उसमें चैतन्यताका नामभी न था; इसीसे बड़ी कठिनतासे उसे बैठा किया था; उसका उदर फूलकर घड़ेके समान हो रहा था, जिससे श्वास लेनाभी कठिन प्रतीत होता था; उसके हाथ पैरोंपरभी बहुत सूजन आगया था। समस्त उदरमें नीली, नीली नसें प्रतीत होती थीं; उसको विष गहरे

पीले रङ्गका, दुर्गन्धमय और प्राय तरल होता था, क्योंकि उसे निरन्तर अजीर्ण रहता था; मूत्रका रङ्गभी गहरा पीला था; और प्राय उसे ज्वर हो जाया करता था। हमें उसकी यह दशा और उसके नानाकी इस प्रकार उपेक्षा देखकर आशा नहीं थी कि उसके प्राण बचेंगे। किन्तु उसकी माताके आग्रहपर चिकित्सा आरम्भकी गयी; और उस समय हमने यह कह दिया कि यदि एक सप्ताहमें उसको कुछभी किसी प्रकारका लाभ होगा तो वह बच जावेगा अन्यथा उसके उपरान्त चिकित्सा करना व्यर्थ होगा। उसके लिए हमने दिनमें तीन वार उदर छाती और हाथ-पैरोंपर ताप पहुंचाने एवं उदर बन्धका प्रयोग करानेकी सम्मति दी थी। चिकित्सा आरम्भ होनेके उपरान्त एकही सप्ताहमें उसके हाथ-पैरोंके सूजनमें कमी प्रतीत हुई, और हमारा साहस बढ़ गया; दो सप्ताहके उपरान्त उसके हाथ-पैरोंका समस्त सूजन जाता रहा, मूत्रका रङ्ग फीका होने लगा, और वह धीरे, धीरे कुछ रेंगनेभी लगा; तीसरे सप्ताहके उपरान्त उसका उदर पटकना आरम्भ हुआ, और चौथे सप्ताहके अन्ततक उसका समस्त उदर पटक गया, नीली नसें लुप्त हो गयीं, वह खड़ा होने लगा और सारे घरमें घुटनों फिरने लगा और उधर कृषिका समय आजानेसे उसकी चिकित्सामें उपेक्षा होने लगी। जहां हमको दिनमें दो वार उसे दिखाया जाता था कहां वई सप्ताह पीछे दिखाया जाने लगा। इसके अतिरिक्त रसीले फलोंके लानेकी चेष्टा नहीं की जाती थी और उसकी माताको गर्भवती होनेसे दूध नहीं उतरता था। इस लिए उसको हमारी आज्ञाके विपरीत पशुओंका दूध दिया जाने लगा, जिससे उसके रोगको चिकित्सा होते हुएभी सहायता मिलती रहती थी। अपरञ्च उसका यकृत रोग उस समयतक नहीं गया था; और वही जलोदरका मुख्य कारण था। हम केवल उसकी चिकित्सार्थ इस लिए एक मास ठहरे थे कि बालकके प्राण बच जायं तो अच्छा है। परन्तु उसके नाना, मामाकी चिकित्सामें उपेक्षा देखकर हम वहांसे चल दिये। हमारी उपस्थितिमें उसके रोगमें कोई वृद्धि नहीं होने पायी थी। क्योंकि हम यदा कदा उसके नानाको फटकारते रहते थे। किन्तु हमारे चलनेके उपरान्त उसके रोगकी बहुतही भयङ्कर दशा हुई और वह असहाय बालक केवल अपने नाना, मामा आदिकी उपेक्षासे मृत्युको प्राप्त हुआ, जिससे हमको बहुत दुःख हुआ। क्योंकि हमारे समस्त परिश्रमपर जल पड़ गया, और बना, बनाया खेल बिगड़ गया।

पित्ताशयिक रोग Gall-bladder and ducts, diseases of.

हमारे शरीरमें जैसे यकृत, फुफ्फुस और हृदय आदि मुख्य अवयव हैं उसी प्रकार पित्ताशयभी एक विशेष अङ्ग है। पित्ताशयका धर्म है कि वह यकृतके और अमाशयके त्यागे हुए विकृत पदार्थोंको अन्त्र द्वारा शरीरसे बाहर करदे। इसके अतिरिक्त पित्ताशयसे त्यागा हुआ पित्त आमाशयसे अन्त्रमें पहुंचे हुए पदार्थोंसे अन्त्रको पोषक पदार्थ ग्रहण करनेमें सहायक होता है, और अन्त्रमें पदार्थोंके अधिक सड़ंन तथा तीव्र दूषित गन्धकी उत्पत्तिको रोकता है। अपरञ्च शरीरमें हमारे नित्यके काम-काज करने या आहारके दोषोंसे उत्पन्न होनेवाले विषोंकाभी पित्त द्वारा नाश होता रहता है। किन्तु जब पित्ताशय या पित्तकी नालीमें कोई दोष होनेसे पित्त प्रवाह रुक जाता है तो उसके विकृत पदार्थ अन्त्रमें जाकर शरीरसे त्यागे जानेके स्थानमें हमारे रक्तमें सम्मिलित हो समस्त शरीरको दूषित और रोगी करते हैं, जिससे अनेक रोगोंकी उत्पत्ति होती है; प्रत्युत पाण्डु (Jaundice) तो विशेषकर पित्ताशय या पित्त नालीमें दोष होनेसेही होता है। इसके अतिरिक्त अन्त्र बिना पित्तके प्राप्त हुए आमाशयसे त्यागे हुए पदार्थोंमेंसे पोषक पदार्थोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ होती है; और पित्तकी अनुपस्थितिमें अन्त्रमें पहुंचेहुए पदार्थोंमें अधिक सड़न और दूषित गन्ध उत्पन्न हो जाती है। अपरञ्च पित्तके अन्त्रमें न पहुंचनेसे उसका वह भाग जो दूषित कीटों और विषोंका नाश करता है शरीरमें न पहुंच सकनेके कारण अनेक विषोंकी उत्पत्ति होनेपर हमारे गात्रमें अनेक रोगोंका जन्म होजाता है।

हमारे कुपथ्य वश तथा अप्राकृतिक साधनों द्वारा हमारे पित्ताशय एवं पित्त नालीमें अनेक व्याधि उत्पन्न हो जाती हैं; और हमारा शरीर दिनोदिन अधोगतिको प्राप्त होता जाता है। पित्ताशय या पित्त नालीके विकारमय होने पर कभी, कभी कुछही दिनमें हमारा यकृत, फुफ्फुस हृदय, आमाशय और वृक्कादि प्रत्युत समस्त शरीर दूषित और रोग मन्दिर हो जाता है।

पित्ताशयिक रोगोंकी वही चिकित्सा और पथ्य होना चाहिये जो यकृत रोगोंका हो सकता है।

पित्तनालीमें श्लेष्म पीडा Catarrh of the Call-ducts.

शरीरके अन्य अवयवोंकी कोमल झिल्लीमें जिस प्रकार दाहसे श्लेष्म पीड़ाकी उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार पित्तनालीमेंभी भारी एवं गरिष्ठ भोज-

नोंके सेवनसे आमाशयिक विकार होने, या शीत लगनेपर दाहकी उत्पत्तिसे श्लेष्म व्याधि हो जाती है। इस श्लेष्म पीड़ाकी उत्पत्ति या तो स्वयं पित्त नालीमें या पित्त नालीके मुखके निकट छोटी अन्त्रमें होती है; और धीरे, धीरे समस्त अन्त्रमें फैलकर प्राय अतिसार और तीव्र रोगका हेतु होती है। किन्तु यकृतकी सूक्ष्म पित्त नालियोंमें श्लेष्म पीड़ा होनेपर वह प्रायः मन्द व्याधि होती है, और नीचेकी ओर बढ़ती है, और उसीके साथ, साथ पीड़ामेंभी वृद्धि होती जाती है। यकृतकी पित्त नालीमें श्लेष्म पीड़ा होनेका कारण अधिक भोजन करना, आवश्यक व्यायामसे वञ्चित रहना, या आलस्यमें पड़े रहना, अथवा घन्टों पर्यन्त किसी एक स्थानपर बैठे रहना है। अतः यह पीड़ा अधिकांश उन्हीं धनिकोंको होती है जो विना परिश्रम किये अनेक गरिष्ठ पदार्थ सेवन करते हैं, अर्थात हरामकी रोटियां तोड़ते हैं, रात, दिन गद्दे तकियोंपर अजगरके समान लोट लगाते रहते हैं, और यदि वहुत परिश्रम किया तो लिफ्ट (Lift) द्वारा घरसे उतरकर मोटरमें बैठ कुछ दूर घूम आये। स्त्रियोंमें यह रोग बहुधा पुरुषोंसे चार गुणा अधिक होता है। क्योंकि उनका जीवन पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक शिथिल होता है। उन्माद रोगसे पीड़ित रोगियोंको यह रोग बहुतही कम होता हैं। क्योंकि वह उन्मादकी धुनमें कुछ न कुछ परिश्रम करते रहते हैं। यकृतसे अधिक पित्त प्रवाह होनेपर उदरसे कसी हुई पेटी आदि बांधनेके कारण पित्त प्रवाहमें बाधा उपस्थित होनेपरभी इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। पित्त नालीमें किसी प्रकार रुकावट होनेपर पित्ताशय या पित्त नालीके छोटे, छोटे कणोंमें पित्तमें उपस्थित रहनेवाले क्षार और धातुओंके एकत्र होनेपर बालूके कण, और तन्तुमय श्लेष्मके एकत्र होनेपर उनकी उत्तेजना द्वारा श्लेष्म पीड़ामें दिनोदिन वृद्धि होती जाती है। अन्ततः बालूके छोटे, छोटे कण धीरे, धीरे नन्हे, नन्हे पत्थरोंकी आकृति धारण करते हुए पित्त नाली और पित्ताशयमें एकत्र हो जाते हैं; और रासायनिक परिवर्तनों द्वारा पित्ताशय या पित्तनालीका श्लेष्मभी कोलेस्टेरिन (Cholesterin) अर्थात् कचकी आकृतिके पदार्थोंको ढककर उनके ऊपर तहके रूपमें एकत्र हो धीरे, धीरे बहुत मोटी तहका हो जाता है, जिससे अन्तमें पित्ताशयमें पथरी (Gall-stones) उत्पन्न हो जाती है।

पित्ताशय या पित्त नालीमें श्लेष्म पीड़ा होनेपर उसकी चिकित्सामें असावधानीसे काम न लेना चाहिये। क्योंकि जबतक केवल श्लेष्म पीड़ा होती है तबतक उसकी

चिकित्सा सुगमता पूर्वक हो जाती है, किन्तु अधिक समयतक उससे पीड़ित रहने-पर अन्य भयङ्कर रोगोके उत्पन्न होनेसे बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है।

इस रोगकी चिकित्सार्थ टब या वस्त्रों द्वारा छाती और उदर या केवल उदरपर प्रति दिन दो या तीन बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाना और धड़ या उदर बन्धन प्रयोग करने चाहियें, या बन्धनोंका प्रयोग करके केवल तापही पहुंचाना चाहिये। परन्तु इसके लिए रोगकी अवस्थानुसार अपने अनुभव या अपने चिकित्सककी आज्ञानुसार कार्य करना चाहिये। किन्तु यदि किसीको स्वयं इस रोगका अनुभव न हो और उस स्थानपर हमारी चिकित्सा विधिके अनुसार चिकित्सा करनेवाला कोई डाक्टरभी न हो तो आमाशयकी श्लेष्म पीड़ामेंही नहीं प्रत्युत संसारके समस्त रोगोंकी चिकित्सामे यह ध्यान रक्खना चाहिये कि जितना रोग तीव्र हो उतनेही अधिक कालतक ताप पहुंचानेकी आवश्यकता है, और जितना रोग मन्द हो उतनाही कम ताप यथेष्ट हो सकता है। किन्तु यदि मन्द रोगोंमेंभी अधिक समयतक ताप या बन्धनोंका प्रयोग किया जाय तो उससे लाभही है। परन्तु तीव्र रोगोंमें अधिक कालतक और कई, कई बार ताप न पहुंचानेसे रोगपर विजय प्राप्त नहीं हो सकती।

इस रोगसे पीड़ित रोगीका आहार बहुतही सूक्ष्म रसीले, सुपाच्य और अनुत्ते-जक फलोका होना चाहिये। क्योंकि भारी, गरिष्ठ या उत्तेजक फलोंसे पित्त नाली या अन्नादिमे दाह होकर घाव होनेपर श्लेष्म पीड़ामें वृद्धि हो जाती है। इसीसे हमारी सम्मतिमें सर्वोत्तम आहार अनारही है और उसके उपरान्त अन्य रसीले फल हैं।

पित्त नालीकी श्लेष्म पीड़ासे पीड़ित एक रोगी सन् १९१८ ई० में हमको दिल्लीमें मिला था। उसकी आयु प्राय चालीस वर्षकी थी; वह एक बड़े सेठका मुनीम था, और उसको प्रातसे लेकर रात्रिके बारह बजेतक गद्दीपर बैठकर कार्य करना पड़ता था, केवल दिनके दस बजेके समय स्नान और भोजन करनेके हेतु वह एक घन्टेको गद्दीसे उठा करता था, और दो, एक सप्ताह पीछे बड़ी कठिनतासे समय निकाल कर वह एक निकटवर्ती देवालयमें प्रतिमाके दर्शनार्थ जाया करता था; उसका समस्त गात्र फूल गया था; उसको प्राय तीसों दिन अजीर्ण रहा करता था, और इसपरभी वह दोनों समय गरिष्ठ भोजन सेवन करता था; उसके सेवन करनेके शाक, भाजियां मिर्चोंसे लाल और खटाई एवं मसालोंसे परिपूर्ण रहती थीं, जिससे भोजन करनेके उपरान्त प्राय उदरमें दाह होने लगती थी; कभी,

कभी अधिक गरिष्ठ या तीक्ष्ण पदार्थ सेवन करनेसे उसको अतिसारकी पीड़ा हो जाती थी, परन्तु इसपरभी वह प्राय नित्य सोंठके बताशे आदि सेवन किया करता था; बहुधा उसकी दाहिनी ओरकी पस्लियोंके नीचे, अर्थात् यकृत और पित्ताशयके सिरेपर स्पर्श करनेसे पीड़ाका अनुभव होता था; उसकी त्वचा पीत वर्णकी प्रतीत होती थी, और उसके नेत्रोंके देखनेसे पाण्डु रोगका अनुभव होता था; कभी, कभी उसे शिर पीड़ा और पित्तकी वमनके दौरे हो जाया करते थे। यकृतकीभी प्राय विकल कर देनेवाली अवस्था हो जाती थी; और पित्ताशयकी पथरीके कारण कभी, कभी रुक, रुककर बहुत दुःख देनेवाली पीड़ा हुआ करती थी। हमने उसकी चिकित्सा आरम्भ करनेसे पूर्व उसे टेनिस खेलने या प्रात और सायंके समय यथा शक्ति पवित्र स्थानोंमें टहलने और दिल्ली छोड़कर किसी ग्रामके निकट शुद्ध स्थानमें निवास करनेकी सम्मति दी थी। अतः वह दिल्लीके निकटवर्त्ती एक ग्राममें चला गया। तद् उपरान्त हमने उसको दिनमें तीन बार दो, दो घन्टे छाती और उदरपर ताप पहुंचाने और कमसे कम समस्त रात्रि धड़ बन्धनका प्रयोग रक्खने एवं अनार, अंगूर, गन्ना, काशमीरी नाशपाती, मीठा नीबू और संगतरा आदि सेवन करनेकी अनुमति दी। अतः पहिले सप्ताहमेंही उसको बहुत लाभ प्रतीत हुआ, क्योंकि उसके नेत्रों-के रङ्गमें अन्तर हो गया, अजीर्णमे न्यूनताका अनुभव हुआ और तापका करना उसे बहुत सुखकर जान पड़ता था, जिससे वह ताप करते, करते निद्रा ग्रस्त हो जाता था; दूसरे सप्ताहके उपरान्त श्लेष्म व्याधिके कारण यकृतमें होनेवाली पीड़ाका सदाको अन्त हो गया, और शिर पीड़ा और वमनभी फिर कभी नहीं हुई; तीसरे सप्ताहमें उसे शरीरके फूले हुए होने और कभी, कभी पित्ताशयमें उपस्थित पथरीके कारण पीड़ा हो जाती थी, किन्तु ताप पहुंचातेही पथरियोंके इधर, उधर होनेपर पीड़ा लुप्त हो जाती थी; चौथे सप्ताहके उपरान्त उसके पित्ताशयमें पथरीके कारण पीड़ा होनेके अगले दिन हमने एक मलमलके वस्त्रमे उसके विष्ठेको छनवाकर परीक्षा की तो मसूरकी दालके आकारकी तीन पथरियां निकलीं; और उसके उपरान्त प्रत्येक सप्ताहमें दो, तीन पथरी निकलती थीं, और उसका बेडौल शरीर घटकर उचित आकृतिका होता जाता था। किन्तु उस समयके अनुभवसे हमको यह ज्ञात हो गया कि जबतक कमसे कम नित्य निरन्तर आठ, दस घन्टे ताप न पहुंचाया जावेगा तबतक शीघ्र पथरीकी पीड़ासे रोगी मुक्त न होगा। अतः हमने

उसको नित्य दस घन्टेतक ताप लेनेको कहा। किन्तु उसने इसे एक झमेला समझा। क्योंकि उसका विश्वास था कि जैसे श्लेष्म पीड़ा और अजीर्णादि जाते रहे वैसेही शनैः, शनैः पथरीभी दूर हो जायगी। किन्तु हमारे बहुत कुछ कहनेपर उसने प्रत्येक रविवारको बारह, तेरह घन्टे ताप लेना आरम्भ करदिया, जिससे उसे असाधारण लाभ हुआ। किन्तु इसपरभी उसे पथरीसे मुक्त होने और फूले हुए शरीरके कम होनेमें एक वर्ष तो लगही गया।

पित्ताशयमें पकाओ Suppuration of the gall-bladder.

पित्ताशयमे पकाओ होना या पीप (मवाद) की उत्पत्ति बहुतही कम होती है। किन्तु जब कभी मन्द श्लेष्म पीड़ा, मोती झरे आदि संक्रामक ज्वरों या पित्त-पथरीकी उत्तेजना द्वारा पित्ताशयमें पकाओ होना आरम्भ हो जाता है तो रोगकी बहुतही भयानक दशा होती है; और यदि शीघ्र उसके दूर होनेका उपाय न किया जाय तो प्राण संकटमे आजाते हैं। इस व्याधिके कारण श्लेष्म पीड़ाके साथ, साथ शरीरका कम्प, तीव्र ज्वर, और प्रायः मूर्छा हो जाती है।

इस रोगकी चिकित्सार्थ यकृतके ऊपर इतने बड़े वस्त्रो द्वारा, जो यकृतको ढंककर चारों ओर दो, दो इञ्च अधिक बड़े हो, यकृतके स्थानपर निरन्तर उस समयतक ताप पहुंचाना चाहिये जबतक कि रोगी पूर्णतः पीड़ासे मुक्त होकर जोखिमसे शून्य न हो जाय। किन्तु इससेभी अच्छा यह है कि यकृतके साथ समस्त उदरको ताप पहुंचाया जाय, जिससे पित्ताशयसे पीप (मवाद) का प्रवाह होनेपर वह अन्त्रमें घाव या पकाओ न करे, प्रत्युत उचित तो यही है कि उदरके साथ छातीपरभी ताप पहुंचाया जाय, जिससे शरीरके ऊपरके भागमे पहुंचे हुए दोषोंकाभी इति हो जावे।

इस रोगकी दशामें जबतक क्षुधाका ज्ञान न हो कुछ सेवन करनेको न दिया जाय; किन्तु क्षुधा प्रतीत होनेपर कमसे कम दो सप्ताह अर्थात् रोगसे मुक्त होनेके समयतक केवल अनार या अन्य सूक्ष्म फल अथवा नीरोग गौऊका धारोष्ण दूध देना चाहिये।

पित्ताशयमे पकाओ होनेका एक रोगी सन् १९१८ ई० में हमको जिले बुलन्दशहरके एक ग्राममे मिला था। उसकी आयु प्राय पच्चीस वर्षकी थी; उसको श्लेष्मज्वरके उपरान्त यह रोग हुआ था; जिस समय वह हमारी चिकित्सामें आया वह मूर्छा-

वस्थामें था। अतः हमने निरन्तर उसकी छाती और उदरपर बहत्तर घन्टे ताप करवाया, जिससे पीप और विकृत पदार्थोंका विष्टेके साथ प्रवाह होना आरम्भ हो गया। इसके उपरान्त हमने चौबीस घन्टेमें दो, दो घन्टे करके चार बार ताप और उसके उपरान्त एक सप्ताहतक धड़ बन्धनोंका प्रयोग करवाया, जिससे उसके पित्ताशयकी समस्त पीप (मवाद) निचड़ गयी। अतः हमने दूसरे सप्ताहमें घाव भरनेके लिए प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने और उसके उपरान्त उदर बन्धन प्रयोग करनेकी सम्मति दी, जिससे तीन सप्ताहमें वह पूर्ण आरोग्य हो गया। उसको आहारके निमित्त चिकित्साके अन्त कालतक गन्ने और गौऊका धारोष्ण दूध दिया गया था।

पित्त-पथरी Gall-stones.

पित्त-पथरीकी उत्पत्तिका कारण और उसके लक्षण हम पहिलेही श्लेष्म पीड़ाके साथ कहचुके हैं। किन्तु कुछ विशेष बातोंका कथन करना आवश्यक है। अतः निम्न बातोंपर ध्यान देना चाहियेः—

प्राय कई, कई वर्षतक पित्ताशयमें पथरीके उपस्थित रहनेपरभी कोई पीड़ा नहीं होती, परन्तु नियमानुसार उसके होनेपर निम्नके तीन लक्षणोंमेंसे कोई एक प्रतीत होता है।

१—पित्ताशयमें पथरीके उपस्थित होनेसे इतनी अधिक उत्तेजना हो सकती है कि उसके कारण दाहकी उत्पत्ति होनेपर पित्ताशयमें प्रत्यक्ष रूपसे वेदना युक्त पीड़ा प्रतीत होने लगती है; और जब कभी अन्त्रसे बैक्टेरिया (Becteria) जीवको पित्ताशयतक पहुंचनेका मार्ग मिल जाता है तो शरीरका अत्यधिक ताप होनेसे शरीर कम्प, श्वेदका अधिक प्रवाह और प्रायः पित्ताशयमें पकाओ पड़ने लगता है।

२—बहुधा पित्त-पथरीके उपस्थित होनेका तभी ज्ञान होता है जबकि पित्ताशयसे पित्तके साथ उसके कण विष्टेमें अन्त्र द्वारा शरीरसे बाहर आते हैं। यदि पथरीके कण बहुत छोटे होते हैं तो वह हमको विना कोई कष्ट दिये अन्त्रमें पहुंच जाते हैं, और अन्त्रभी सुगमता पूर्वक विना हमको किसी पीड़ाका ज्ञान दिये उनको त्याग देती है। किन्तु किसी, किसी समय भोजनके उपरान्त अवश्य उदरके ऊपरी भागमें कष्ट प्रतीत होता है। परन्तु यदि पथरी दीर्घाकार होती है और विशेषतः कोणाकृति (Angular) होनेपर वह पित्त-नालीमें घुसकर उसका वेधन करके

पहिली जातिके रोगकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक विद्वानोंके अनेक मत हैं। परन्तु हमारी सम्मतिमें यकृत और पैनक्रियाज (Pancreas) में दोष होनेसे भोजनोंमें उपस्थित रहनेवाले मिष्ट पदार्थों (शकर) के रक्तमें लय न होनेके कारण बहु-मूत्र रोगकी उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त अधिक शकर मय, मीठे और स्टार्च (Starch) के पदार्थोंके सेवनसे उनके रक्तमें लय न हो सकने, या बहु-मूत्रके अतिरिक्त अन्य कई रोगोंमेंभी प्रायः शकरकी कुछ मात्रा मूत्रके साथ आया करती है। जिस प्रकार पाचन क्रियाकी सामर्थ्यसे अधिक आहार करनेपर वह शरीरमें लय होनेके स्थानमें अजीर्णके उत्पन्न होनेपर अन्त्र द्वारा विष्टेके रूपमें कच्चाही निकल जाता है उसी प्रकार मीठे पदार्थोंकी अनावश्यक मात्रा सेवन करनेसे वह शरीरमें लय होनेके स्थानमें श्वेद, मूत्र और अश्रुओं आदि द्वारा गात्रसे बाहर निकल जाते हैं। इसके अतिरिक्त आमाशयादिमें विकार होनेपर जैसे संग्रहणीकी दशामें आहारकी अल्प मात्राभी पाचनमें आकर शरीरमें लय नहीं होती वैसेही पेनक्रियाज् और यकृतमें विकार होनेपर मीठे पदार्थ रक्तमें लय नहीं होते।

पहिली जातिके बहु-मूत्र रोग (Diabetes Mellitus) की उत्पत्ति इतने धीरे, धीरे होती है कि चिरकालतक पीड़ाका कष्ट भोगनेके उपरान्त रोगीको चिकित्सा सम्बन्धी सम्मति लेनेका ध्यान होता है। इस रोगके आदि लक्षण यह हैं कि रोगी निर्बल और थका हुआ होता जाता है, उसकी प्यासमें वृद्धि हो जाती है, और अधिक मात्रामें अनेक बार मूत्र त्यागनेको वाध्य होना पड़ता है। कभी, कभी मूत्रका परिमाण पांच, दस और पन्द्रह गुणातक वृद्धि कर जाता है। रोगीका मूत्र बहुधा पीत वर्ण, आरोग्य मनुष्यके मूत्रकी अपेक्षा परिमाणतः भारी, और स्वादमें मधुर होता है, जिससे प्रायः मूत्र-नालीमें उत्तेजनाके कारण दाह होने लगती है। प्यासकी अत्यधिकताका होना बहुतही भयानक लक्षण है क्योंकि उसको दमन करनेमें रोगीके शरीरके अत्यधिक तरल पदार्थोंका व्यय होता है। अपरञ्च प्रायः रोगीको असन्तुष्ट रखनेवाली क्षुधाका ज्ञान होनाभी बहुत बुरा लक्षण है। रोगीका मुख सदा शुष्क रहा करता है और रक्तसे वायुके साथ फुफ्फुस द्वारा एसेटोन (Acetone) और डायसेटिक ऐसिड (Diacetic acid) के निकलनेपर श्वासमें मधुर गन्धका अनुभव होता है। रोगीके अधिक निर्बल हो जानेपर उसके शरीरका ताप कम रहने और दांत क्षीण होने लगते हैं, और अजीर्ण आदि

(Dyspepsia) या कोष्ठ-वद्ध (Coustipation) दुःख दिया करता है।

बहु-मूत्र रोगमें शर्कराकी वृद्धि हो जानेपर श्वेदमें मधुर पदार्थ उपस्थित रहनेके कारण त्वचापर अनेक स्थानोंमें छाजन (Eczema) और खुजली हो जाती है, और अनेक स्थानोंपर फोड़े फूटनेसे इस रोगका ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त मूत्रमें शर्कराकी अधिकताके कारण जननेन्द्रिय और उसके निकटवर्ती स्थानोंमें असह्य खुजली प्रतीत होती है, और शरीरकी त्वचा शुष्क, खुर्दरी और कागजके समान विशेष आकृतिकी हो जाती है।

यह रोग वृद्धावस्थामें वहुतही मन्द गतिसे वृद्धिको प्राप्त होता है। किन्तु युवकोंमें इसकी वृद्धिकी गति बहुतही तीव्र होती है। इस रोगके साथ, साथ अनेक अन्य रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है। अतः प्रायः बहु-मूत्रके रोगीके नेत्रोंमें जाला (Cataract) पड़ जाता है, शरीरका कोई अङ्ग या समस्त गात्रमें शिथिलता (Paralyses) का रोग हो जाता है, नाड़ियोंके शिथिल होने (Neuritis) के लक्षण प्रगट होते हैं, वृक्क रोगकी उत्पत्ति हो जाती है, छातीमे दाह होने लगती है, और विशेषत. क्षयी (Pulmonary consumption) रोगकी उत्पत्ति हो जाती है, जो कि बहु-मूत्र रोगकी दशामे बहुतही भयङ्कर लक्षण है। कभी अनायास शक्तियोंका इति हो जानेपर रोगीकी मृत्यु हो जाती है, या शरीरमें इस रोगके कारण विकृत पदार्थों- (Oxybutyric acid etc.) के एकत्र हो जानेपर किसी विशेष रीतिसे रोगी मूर्छित हो जाता है, उसके श्वासकी गति मन्द हो जाती है, और वह कुछ घन्टे या दिवसमें मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

अनेक रोगी वर्षों पर्यन्त बहु-मूत्र रोगसे पीड़ित रहनेपर शारीरिक दुर्दशाको प्राप्त नहीं होते; और प्राय, परन्तु बहुत कम, उदाहरण ऐसेभी मिलते हैं कि इस रोगका स्वमेव अन्त हो जाता है। किन्तु उसका वास्तविक कारण आहारकी अनुकूलता और पवित्र स्थानोंका निवास आदि है, जिससे प्रकृतिका पेनक्रियाज़ और यकृतके दोष दूर करके उनसे नियमित रूपसे अपना कर्त्तव्य पालन करानेमें सहायता मिलती है। यह रोग विशेषतः युवावस्थामें या जवकि छाती तथा अन्य अवयवोंके रोगोंके साथ होता है और मुख्यतः जवकि मूत्रादिसे अधिक शर्कराका त्यागन आहारमें परिवर्तन करनेपरभी कम न हो तथा रोगीके शरीरमें मांस और शक्तियां शीघ्रतासे न्यून होने लगें, बहुत भयङ्कर होता है।

प्राय वाष्प द्वारा उड़ानेपर वहु-मूत्रके रोगीके मूत्रसे शकरके कण प्राप्त किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य उपायों द्वाराभी मूत्रमें शकरका ज्ञान किया जा सकता है।

दूसरे प्रकारकी वहु-मूत्र पीड़ा (Diabetes insipidus) में यद्यपि मूत्रका त्यागन आरोग्य मनुष्यकी अपेक्षा परिमाणतः अधिक और कई वार होता है, परन्तु उसमें किसी पदार्थकी अनुचित मात्रा सम्मिलित नहीं होती; उसकी गति वहुत मन्द होती है, और उसकी मृत्युकी सम्भावना वहुतही कम होती है। किन्तु उससेभी शरीर दिनोदिन क्षीण होता रहता है, और हमको वही हानि हो सकती है जो पहिली जातिकी वहु-मूत्र पीड़ा (Diabetes mellitus) से होती है, और उसके द्वारा शरीरके निर्वल हो जानेपर कभी, कभी भयङ्कर परिणामभी हो जाते हैं। उसकी उत्पत्तिका कारणभी वही है जो पहिली जातिकी वहु-मूत्र पीड़ाका है।

वहु-मूत्र पीड़ाकी चिकित्सार्थ प्रति दिन कमसे कम दो वार दो, दो घन्टे छाती, उदर और पीठपर ताप पहुंचाना चाहिये और हो सके तो उसके उपरान्त उदर, या धड़ वन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये। किन्तु सवसे आवश्यक यह है कि रोगीको सूक्ष्माति सूक्ष्म रसीले, सुपाच्य और अनुत्तेजक फल सेवन करने चाहियें, उत्तेजक अधिक मीठे और भारी फल हितकी अपेक्षा अहितही करते हैं। हमारी सम्मतिमें एक वहु-मूत्रही ऐसा रोग है, जिसमें वेदाने अनारके अतिरिक्त अन्य समस्त फल प्रतिकूल वैठते हैं। क्योंकि अन्य फलोंका रस अनारसे भारी होता है, और उनमें शकरभी अधिक होती है। विशेषतः गन्ना इस रोगमें वहुत हानिप्रद होता है। यदि अनार उपलब्ध न हो तो रोगीके लिए वह फल जिनमें कम मिठास हो देने चाहियें, या घिया (कद्दू), तोरी, टिन्डे, चचेंडे, टॉमेटो आदि शाक वाष्प द्वारा उवालकर देने चाहियें।

वहु-मूत्रका एक रोगी सन् १९१७ ई० में हमको लाहौरमें मिला था। उसकी आयु प्राय पचास वर्षकी थी; उसको नौ वर्षसे वहु-मूत्रकी पीड़ा और तेरह वर्षसे अर्श रोग था; विष्टेका त्यागन करते समय उसकी कान्च वाहर निकल आती थी; वह दिनमें तीन वार शौचको जाता था; और प्रत्येक वार कमसे कम एक घन्टा लगता था। इस परभी उसकी अन्त्र भारी रहती थी। अतः जिस दिन वह

उपरान्त उसका गुदा द्वारा वायु त्यागना और काचका निकलना वन्द हो गया था, अर्श पीड़ामेंभी वहुत कमी प्रतीत होती थी, और उस समय उसको अपने क्रूर रोगोंसे मुक्त होनेका पूर्ण विश्वास हो गया था। क्यों कि उसने लिखा था:—

"Ofcourse the activity blessed in the early period of life is out of question. But, undoubtedly, your treatment is proved a reviving medium of Nature; and it is sure to me that sooner or later I shall get rid of all these long-standing diseases."

उस रोगीको पूर्ण लाभ प्राय डेढ़ वर्षमें हुआ था, और उस समय उसकी मुखाकृतिसे आरोग्यताका दिग्दर्शन होता था। यद्यपि उसका यह लिखना ठीकही था कि अव वह शक्तियां और चैतन्यता लौटकर नहीं आसकती। परन्तु फलोंके पुष्कल आहारने उसकी शारीरिक अवस्थाको आजकलके युवकोंसे कहीं अच्छा कर दिया था। उसका शरीर शुद्ध और अधिक रक्तकी उत्पत्तिके कारण वहुतही सुन्दर प्रतीत होता था। उसके मस्तककी समस्त झुर्रियां लुप्त हो गयी थीं, और कपोल भर आये थे। जो त्वचा छाजनके कारण वहुत भद्दी और खुर्दरी दीखती थी वह वहुतही सुन्दर और चिकनी हो गयी थी। केवल श्वेत वालोंके रङ्गमें अन्तर नहीं हुआ था।

सिरोसिस Cirrhosis of the liver.

बहुधा यकृतमें सिरोसिस पीड़ाकी उत्पत्तिका कारण अधिक मदिरा पान करना है। किन्तु मदिरा पानके अतिरिक्त अन्य उत्तेजक पदार्थोंके सेवन करने, और कभी, कभी शीतज्वर या उपदंश पीड़ासेभी सिरोसिसकी उत्पत्ति हो जाती है।

एक प्रकारके सिरोसिसमें यकृतके वहुत सिकुड़ जानेपर उसके रक्त कणोंके दवाओके कारण ड्राप्सीकी उत्पत्ति हो जाती है, और दूसरी जातिके सिरोसिसमें यकृत असाधारण वृद्धिको प्राप्त हो जाता है और पाण्डू रोग प्रकट हो जाता है।

वास्तवमें यह रोग वहुतही भयङ्कर है। क्योंकि इस रोगके कारण यकृतकी नाड़ियां नष्ट हो जाती हैं; और शरीरके जो पदार्थ समूल नष्ट हो जाते हैं उनकी पुन उत्पत्ति न होनेसे अनेक अवयव अपना यथोचित कर्तव्य पालन न करसकनेके कारण रोगका हेतु होते हैं, जिससे कभी शरीरका उन रोगोंसे छुटकारा नहीं होता।

इस रोगकी चिकित्सा और आहार वही होना चाहिये जो यकृतके ड्राप्सी आदि रोगोंका हो सकता है।

अन्त्र रोग Intestine, diseases of.

अन्त्र सम्बन्धी कई रोगोंका हम इससे पूर्व वर्णन कर चुके हैं। किन्तु उनके विषयमें कुछ विशेष कथनकी आवश्यकता है। क्योंकि अन्त्र और आमाशयकी साधारण पीड़ाभी हमारे शरीरका शीघ्र नाश और उसको दूषित करनेवाली होती है। अन्त्र व्याधिमें कभी, कभी असह्य वेदनाका अनुभव होता है, किसी, किसी समय वमन, अनियमित रूपसे मल त्यागन, अर्थात् कभी मलका रुक जाना और कभी अपिरिमित रूपसे प्रवाह होना, और उदरके किसी स्थानमे पीड़ाका अनुभव होता है। अन्त्र सम्बन्धी अनेक रोगोंका कथन हमने भिन्न, भिन्न शीर्षक लेखोंमें दिया है। अतः उसके लिए अपेन्डीसाइटिस (Appendicitis), विशूचिका (Cholera) कान्क्रेशन्स (Concretions), कोष्ठ-बद्ध (Constipation) अतिसार (Diarrhœa), विरेचन (Dysentery) अन्त्र उतरना (Hernia) पेरेसाइटेस (Parasites), पेरीटोनाइटिस (Peritonitis), अर्श (Piles), रेक्टम सम्बन्धी रोग (Rectum, diseases of), मोती झरा (Typhoid fever) शीर्ष लेखोंको देखना चाहिए। परन्तु वास्तवमें अन्त्र सम्बन्धी रोगही नहीं प्रत्युत संसारकी समस्त व्याधियोंकी हमारे मतानुसार एक मात्र यही चिकित्सा है कि शरीरको टब या वस्त्रों द्वारा अथवा बन्धनोंकी सहायतासे ताप पहुंचाया जाय, और रोगीको उसके रोगकी अवस्थानुसार रसीले, सुपाच्य, अनुत्तेजक और सूक्ष्म फलोंका आहार देना चाहिये। केवल इतनाही विचारनेकी आवश्यकता है कि उन तीव्र रोगोंमें जिनसे रोगीके शरीरमें अधिक पीड़ा या दाहका अनुभव होता है या प्राण जोखिममें होते हैं अधिक कालतक अथवा निरन्तर अधिक समयतक, अर्थात् जबतक पीड़ा या दाहका इति या उसमें न्यूनता न होले, या जीवन संकटसे बाहर न हो जाय, ताप या तापके उपरान्त बन्धनोका प्रयोग करना चाहिये।

अन्त्रमें छिद्र होना Perforation of the bowel.

अन्त्रमें छिद्र होनेका कारण किसी प्रकारका प्रहार या किसी भयङ्कर रोगका होना है। किसी तीव्र अस्त्र अथवा अन्य रूपसे किसी ऐसे

घावके होनेपर जो उदरको चीर दे अन्त्रमें छिद्र होनेकी अधिक सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त किसी प्रहार या चोटसे ऐसाभी होता है कि वाह्य भागमें घाव न होते हुएभी अन्त्र अपनी कोमलताके कारण फट जाती है। मोती झरे (Typhoid fever) में या बहुत कम क्षयी (Consumption) रोगमें घाव (Ulcer) या फोड़ा (Abscess) होनेपरभी अन्त्रकी झिल्लीमें छिद्र हो जाता है; और अन्त्रमें रुकावटके कारण सूजन हो जानेसे मलके रुक-नेपर उसके विकारसे नासूरकी उत्पत्ति हो जाती है, जिससे साधारणतः अन्त्रके फैलने तथा सिकुड़नेके हेतु उसमें छिद्र हो जाता है। परन्तु अन्त्रमें छिद्र होनेका चाहे कुछभी कारण हो किन्तु सबके लक्षण एकही हैं।

अन्त्रके फट जानेपर उसमें उपस्थित मल पेरीटोनियल केविटी (Perito-neal cavity) अर्थात् उदरकी वह झिल्ली जिसमें अन्त्रादि रहती हैं, में होकर अन्त्रके लपेटों (Coils) के मध्यमें पहुंच पेरटिोनाइटिस (Peritonitis) रो-गकी उत्पत्ति करता है, जिससे उदरमें पीड़ाका अनुभव होता है, और कुछही घन्टों-में यह दशा हो जाती है कि उदरको स्पर्शभी नहीं किया जाता, वमन आरम्भ हो जाती है, मूर्छा आने लगती है, और पेरीटोनियल केविटीमें वायु (Gas) के प्रवेशसे विशेषतः उदरके ऊपरके भागमे सूजन हो जाता है। इस लिए यदि दो या तीन दिनतक बहुत सावधानीसे चिकित्सा न की जाय तो रोगी बहुत कष्ट स-हन करके मृत्युको प्राप्त होता है। किन्तु प्रायः अन्त्रमें छिद्र होनेसे पूर्व पेरीटोनाइटिस होनेसे नासूरके निकट वर्ती स्थानोंमें शूल होता है, और ज्योंही अन्त्र फटती है कि पूर्ण पेरीटोनाइटस होनेके स्थानमें स्थानीय फोड़ा प्रगट होता है, और रोगी अधिक जोखिममें नहीं रहता।

अन्त्रमें छिद्र होनेपर सबसे आवश्यक बात यह है कि रोगीको कई दिनतक कोई आहार न देना चाहिये। क्योंकि ऐसी दशामें आहार देनेसे या तो वमन हो जाती है, जिससे अन्त्रपर भार पड़नेसे उसके अधिक फटनेकी सम्भावना रहती है, या सेवन किये हुए पदार्थ अन्त्रके फटे हुए स्थानमें होकर पेरीटोनियल केविटीमें चले जाते हैं। किन्तु प्यास दमन करने, पेरीटोनियल केविटीको मलके विषैले प्रभावसे बचाने और घावको शीघ्र भरनेमें सहायक होनेके निमित्त ऊष्ण गुनगुना जल यथा शक्ति भले प्रकार पान कराना और रोगीका उठना बैठना बद कर देना चाहिये। चिकि-

मुक्त हो गया था । केवल निर्वलताका अनुभव होता था । हमने प्राय सवा मासके उपरान्त उसको उठने बैठनेकी आज्ञा दी थी । सबसे अच्छी और आशा जनक बात यह थी कि उसको एक दिनके अतिरिक्त नित्य सुगमता पूर्वक विष्टे और मूत्र-का त्यागन होता रहा उसके मल मूत्र त्यागनकी ऐसी व्यवस्था कर दी गयी थी कि वह लेटे, लेटेही शौचादिसे निवृत्ति प्राप्तकर सकता था ।

अन्त्र-दाह Inflammation of the bowel.

यों तो संसारके समस्त रोगोके साथ दाहका होना आवश्यक है, और कदाचित इसीसे डाक्टर कोहनीने समस्त रोगोंकी उत्पत्तिका हेतु ज्वर कहा है, परन्तु आजकलके प्रमाणिक डाक्टरोंके मतसे अन्त्र-दाह कोई विशेष रोग है । उनकी सम्मतिके अनुसार अन्त्र-दाहसे अन्त्रकी वाह्य या अन्तरिक भींतपर प्रभाव होता है । अन्त्रकी वाह्य भींत पेरीटोनियम (Peritoneum) से ढकी होती है । अतःअन्त्रकी वाह्य भींतमें दाह होनेसे पेरीटोनाइटिस (Peritonits) सरीखे भयङ्कर रोगकी उत्पत्ति होती है । अन्त्रकी आन्तरिक भींतमें दाह होनेको वहुधा एन्टेराइटिस (Enteritis) कहते हैं; और मुख्य स्थानोंमें दाह होनेको कोलीटिस (Colitis), एपेन्डीसाइटिस (Appendicitis) इत्यादि कहते हैं । एन्टेराइटिसकी दशामें मोती झरा (Typhoid fever), विशूचिका (Cholera), अतिसार या विरेचन (Dysentery) सरीखे रोगोंकी उत्पत्ति भिन्न, भिन्न संक्रामक रोगोंके कीटाणुओं द्वारा होती है; और वह किसी विशेप जातिके कीटाणुसे सम्बन्ध न रखते हुएभी तीव्र गतिको प्राप्त हो जाता है, किन्तु जब उसकी वहुत भयानक दशा होती है तो प्रायः वह छोटे वालकोंकोही हुआ करता है; और उसका अति-सार (Diarrhœa) में परिवर्त्तन हो जानेपर वह अति भयङ्कर रूप धारण किया करता है । एन्टेराइटिसके मन्द होनेपर विशेपतः विरेचन (Dysentery) का रोग होनेसे वहुत कष्टका अनुभव होता है, परन्तु वह तीव्र एन्टेराइटिसकी अपेक्षा कम भयानक होता है । कच्चे फलों, उत्तेजक तथा कृत्रिम आहारसेही मन्द या तीव्र एन्टेराइटिसकी उत्पत्ति होती है, और विषैले पदार्थ सेवन करनेसे वह भयङ्कर रूप धारण कर लेता है । प्रायः अन्त्र या आमाशयमें शीत या सीलनसेभी दाह हो जाती है, किन्तु अधिकांश उससे शीत (जुकाम) शिर पीड़ा और ब्रोन्काइटिस (Bronchitis) अर्थात श्वांस नालीकी पीड़ाकी उत्पत्ति होती है ।

इस रोगमे अतिसार (Diarrhœa) को मुख्य लक्षण समझना चाहिये, और रोगकी मन्दावस्थामें तो बहुधा एक मात्र अतिसारही विशेष लक्षण होता है; किन्तु केवल छोटी अन्त्रके प्रभावित होनेपर अतिसारकी अपेक्षा कोष्ठ बद्ध अधिक होता है। अन्त्र-दाहसे पीड़ित होनेपर रुक, रुककर मसोसनेवाली पीड़ाका अनुभव होता है; तीव्र देशामें शरीरका ताप बढ़नेसे विकलता और मूर्छा प्रतीत होती है, और यदि अतिसारकी गतिमें अधिक तीव्रता होती है, तो शीघ्र, शीघ्र दौरे होते हैं।

अन्त्र-दाहकी पीड़ामें यथा शक्ति रोगीको आहारकी मात्रा कम देनी चाहिये; और यदि वास्तविक क्षुधा न हो तो आहारकी सूक्ष्म मात्राभी विषका काम करती है। इसके अतिरिक्त भूल करभी रोगीको उत्तेजक, गरिष्ठ, कुपाच्य, और रस हीन पदार्थ न देने चाहियें। उस समय रोगीका सर्वोत्तम आहार केवल वेदाना या मस्कती अनारही हो सकता है, किन्तु यदि अनार उपलब्ध न हो तो काश्मीरी नाशपातीके समान कोमल फलोंका रस चुसवाकर रोगीसे फोक थुकवा देना चाहिये।

अन्त्र-दाहकी पीडाकी चिकित्सार्थ उदर या उदर और छातीपर ताप या सेंकके उपरान्त घड़ अथवा उदर बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये। किन्तु यदि साथमें शिर और शीत पीड़ा (जुकाम) हो तो शिर और ग्रीवापरभी ताप पहुंचाना चाहिये। रोगकी तीव्र दशामे पीड़ाके अन्ततक या अधिक समय ताप करना चाहिये, और मन्द रूपमें प्रति दिन दो या तीन वार दो, दो घन्टे ताप पहुंचना चाहिये। इससे अधिक जानना हो तो अतिसार शीर्षक लेख देखना चाहिये।

अन्त्र-घाव Ulceration of the bowels.

अन्त्रमेंभी उसी रीतिसे घावोंकी उत्पत्ति होती है जैसे हमारे शरीरकी त्वचापर होती है। किन्तु आन्तरिक घाव बाह्य घावोंकी अपेक्षा इस लिए बहुत शीघ्र आरोग्य होते हैं कि उनतक वायुका सीधा सम्बन्ध नहीं होता और शरीरकी आन्तरिक ऊष्णतासे उनको ताप पहुंचता रहता है। उनकी उत्पत्तिके अनेक कारण होते हैं। इसीसे वह स्थूल, कठोर और तीक्ष्ण पदार्थोंके निगलनेके उपरान्त उनके द्वारा अन्त्रकी झिल्लीके सुर्चे जानेपर, या किसी अन्य प्रहारसे उत्पन्न हो जाते हैं; और उनके कारण अन्त्रकी भीतको हानि पहुंचनेसे शरीरमें उपस्थित पाचक रसोंकी सहायताने उनकी वृद्धि होती है। ऐसे घावोंकी उत्पत्ति प्रायः आमाशयके नीचेके

मार्गके निकट ड्यूडेनम (Duodenum) अर्थात् अन्त्रके पहिले भागमें आमाशयिक घावोंसे समानता रक्खती हुई होती है। मोतीझरे (Typhoid fever) के कारण उत्पन्न होनेवाले घावोंकी उत्पत्ति लिम्फ़ेटिक तन्तुओं (Lymphatic tissues) के समूहोंमें बहुधा छोटी अन्त्रके निम्न भागमें होती है। ट्यूबरक्युलर घाव (Tubercular ulcers) क्षयी रोगमें कुछ विलम्बसे होते हैं; और उनके द्वारा अतिसार (Diarrhœa) होनेसे बहुधा प्रत्युत सदा उसका परिणाम मृत्युही होता है।

वास्तवमें अन्त्र-घाव और अन्त्र-दाह (Enteritis) के रोगमें कोई अन्तर नहीं है; प्रत्युत एन्टेराइटिसकी उन्नतावस्थाही अन्त्र घाव है। केवल अन्त्र-घावमें इतनी बात अधिक होती है कि उससे रक्त प्रवाह हुआ करता है। यदि अन्त्र-घाव अन्त्रके उच्च भागमें होता है तो उससे श्याम अथवा भूरे रङ्गका रक्त आता है, और यदि अन्त्रके निम्न भागमें होता है तो लाल और अपरिवर्तित रक्त निकलता है। मोतीझरेसे उत्पादित घावोंके अतिरिक्त अन्य घावोंके आरोग्य होनेपर उनके स्थानमें ऐसे चिन्ह (Scars) हो जाते हैं जिनकी अपूर्ण रचनाके कारण तन्तुओंमें तनाओ और खिचाओ हो जानेसे अन्त्रके सिकुड़नेपर उसमें रुकावट हो जाती है। ट्यूबरक्युलर घावोंमें इस लिए विशेषतः अन्त्र अधिक सिकुड़ जाती है, क्योंकि घावोंके वह चिन्ह अन्त्रम चारों ओर होते हैं।

इस रोगकी चिकित्सा और पथ्य वही होना चाहिये जो अन्त्र दाहका हो सकत है। किन्तु इसकी चिकित्सामें अन्त्र-दाहकी अपेक्षा अधिक समय और धैर्यकी आवश्यकता है। ट्यूबरक्युलर घावोंकी अवस्थामें क्षयी रोगकी चिकित्सा करना मुख्य बात है। परन्तु अन्त्रमें ट्यूबरक्युलर घाव प्रगट होनेपर किसी विरले रोगीकेही प्राण बचा करते हैं। किन्तु ट्यूबरक्युलर घावके प्रगट होनेसे पूर्व चिकित्सा करनेसे बहुधा अनेक रोगियोंके धैर्यसे काम लेनेपर प्राण बच सकते हैं।

अन्त्र-बाधा Obstruction of the bowels.

अन्त्रमें बाधा अर्ध पाचनमें आये हुए पदार्थोंके अतिरिक्त अन्त्रके भीतर जानेवाले मार्गमें किसी उदर व्याधि या अन्त्रकी भींतमें किसी ग्रन्थ्यादि अथवा अन्त्रमें अन्त्र उतर आनेके कारण हो जाती है। पिछले कारणसे अन्त्र-बाधाके विषयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हर्निया (Hernia)

शीर्षक लेख देखना चाहिये । एकैक रोगके भयङ्कर होनेपर अन्त्र-बाधाकी तीव्रा-वस्था होती है, और शनैः,शनैः रुकावटके कारण उपस्थित होने या धीरे, धीरे अन्त्रके सिकुड़कर मन्द हो जानेपर उसकी मन्द दशा हो जाती है। किन्तु कभी, कभी ऐसाभी होता है कि अन्त्रमें मन्द गतिसे बाधा होनेपरभी कुछ दिनों उसका तीव्र रूप हो जाता है। रोगकी मन्दावस्थामेंभी प्राय वही लक्षण होते हैं जो तीव्र दशामें होते हैं। केवल अन्तर इतनाही है कि इसकी चेष्टा कम भयानक प्रतीत होती है।

अन्त्र बाधाकी उत्पत्तिका कारण अन्त्रके बाहर किसी निकटवर्ती अवयवमें फोड़ा होनेसे उसका दबाओ पड़ना या पेरीटोनाइटिसके हेतु अन्त्रमें लपेट होना या स्वयं अन्त्रके परस्पर लिपट जानेसे उसमें बल पड़ जाना, या अन्त्रके भीतर फोड़ा या पुराने घावका तन्तुओंको खींचनेवाला चिन्ह (Scar) होना, या कसे हुए ग्लोव (दस्ताना) मेंसे हाथ खिंचनेपर जैसे उंगलियोंपरसे ग्लोव (Glove) लौट जाता है उसके समान बड़ी अन्त्र छोटी अन्त्रपर लौट जाने अर्थात् इन्टस्स-सकेपशन (Intussusception)का होना, या किसी कठोर पदार्थ, या फलकी गुठली अथवा विटका शुष्क हो कठोर होनेपर अन्त्रके भीतर अटककर उसके मार्गको रोकना होता है।

पीड़ा (Pain), वमन (Vomiting), कोष्ट-बद्ध (Constipation), और उदरपर सूजन(Swelling of the abdomen) इस रोगके विशेष लक्षण हैं; और यदि यह चारों लक्षण एक साथ उपस्थित हों तो एक पलकाभी चिकित्सा में विलम्ब न करना चाहिये । इस रोगमें मरोरने और रुक, रुककर होनेवाली ऐसी पीड़ाका अनुभव होता है जो कभी अधिक और कभी न्यून हो जाती है । जबकि अन्त्र बाधा छोटी अन्त्रमें होती है तो बहुधा नाभिके चारों ओर पीड़ाका ज्ञान होता है; और बड़ी अन्त्रमें ठीक अन्त्र बाधाके स्थानमेंही पीड़ा प्रतीत होती है । इस रोगकी तीव्र दशामें उदरके स्पर्श मात्रसे पीड़ाका अनुभव होता है, और पहिले पीड़ाके साथ आमाशयमें उपस्थित पदार्थ एक विशेष रूपकी वमन द्वारा बाहर आ-ते हैं, तदुपरान्त पीत वर्ण और कटु स्वादके पदार्थ पित्तकी अधिक मात्राके साथ निकलते हैं, और कुछ घन्टे व्यतीत होनेपर वमनका रङ्ग भूरा हो जाता है और उसमें अन्त्रके बहुत भीतरके पदार्थोंकी गन्धका अनुभव होता है । इस प्रकारकी वमनको फेकेल वोमिटिङ्ग (Fæcal vomiting) अर्थात् विष्टा वमन कहते हैं ।

तीव्र दशामें एकैक कोष्ठ-बद्ध हो जाता है, किन्तु रोगकी मन्दावस्थामें कोष्ठ-बद्ध और अतिसार दोनों एकके पीछे दूसरा होता रहता है, या दोनोंमेंसे किसी एकहीके होनेपर कई, कई मासतक धीरे, धीरे विष्टेकी लेंडीका आकार छोटा होता जाता है। बड़ी अन्त्रमें उपस्थित रोगकी मन्द दशामें रोगीको वारम्वार शौच जानेकी इच्छा होती है, और अन्त्रमें भार और किंचनेवाली पीड़ा प्रतीत होती है, किन्तु शौच जानेपर विष्टेका त्यागन नहीं होता। किसी, किसी दशामें, विशेषतः इन्टस्ससकेपशन होनेपर, कोष्ठ-बद्धके होते हुएभी, अधिक किंचनेपर बहुत कुछ श्लेष्म और रक्तमय झिल्ली विष्टेके रूपमें आती है। रोगकी तीव्र दशामें उदर वायु (Gas) से फूल जाता है, जिससे बहुत पीड़ा होती है; मन्दावस्थामें अन्त्रके उस स्थानपर जहांकि उसकी भींत मोटी प्रतीत होती है कभी, कभी नला तनकर उभरनेपर प्रत्यक्ष दीखने लगता है, और अन्त्रमें रुके हुए पदार्थोंको निकलनेको वाध्य करता है, किन्तु छोटी अन्त्रमें वाधा होनेसे नलोंके प्रभावित होनेपर वह एक दूसरेके ऊपर तन कर उभर आते हैं, और बड़ी अन्त्रके निम्न भागमें होनेपर उदरके उच्च भागमें और इधर उधर उभार हो जाता है। इसके अतिरिक्त रोगके बढ़ जानेपर दौरे होने लगते हैं और तीनसे छः दिनतक, यदि सपरिश्रम चिकित्सा न की जाय तो रोगीकी मृत्यु हो जाती है किन्तु रोगी अन्त समयतक सचेत रहता है।

अन्त्र वाधाकी दशामें कभी, कभी रोगीकी चिकित्सा करना बहुतही कठिन हो जाता है। परन्तु समयपर सपरिश्रम चिकित्सा करनेसे रोगीके प्राण-संकटसे बचाये जा सकते हैं। अतः रोगकी तीव्र दशामें निरन्तर रोगीके रोगकी अवस्थानुसार उसके आपत्तिसे निकलनेके समयतक निरन्तर चौबीसों घन्टे कई दिनतक और मन्दावस्थामें प्रति दिन दो या तीन बार दो, दो घन्टे उदर और छातीपर ताप पहुंचाना चाहिये और उसके उपरान्त यदि आवश्यक समझा जाय तो धड़ या उदर बन्धन प्रयोग किये जायं।

आहारके निमित्त केवल अनार या किसी सूक्ष्म फलका रस चुंसवाकर फोक थुकवा देना चाहिये। किन्तु यदि विष्टेका त्यागन किंचित मात्रभी न होता हो और रोगीको क्षुधाका ज्ञानभी न हो तो आहारकी कोई मात्रा न दी जाय। परन्तु गुनगुने उष्ण जलकी जितनी मात्रा रोगीको सेवन करायी जाय उतनाही अच्छा है।

अन्त्र बाधासे पीड़ित एक रोगी सन् १९१७ ई० में अपनी चिकित्सार्थ दिल्लीमें आया था। उसकी अवस्था प्रायः बीस वर्षकी थी, उसको एक सप्ताहसे विष्ठा और चौवीस घन्टेसे मूत्र नहीं हुआ था, उसकी नाभिके चारों ओर ऐसी पीड़ाथी कि उदरपर हाथभी नहीं रक्खा जाता था, उसके नले उभर आये थे। उसको ऐसी पीड़ा कई वर्षसे कभी, कभी हो जाया करती थी। किन्तु हींग आदिके लेप या नलों आदिके मलने अथवा अन्य किसी उपायसे उसकी पीड़ा दूर हो जाया करती थी। परन्तु कुछ दिनसे ऐसा कोई मास न जाता था कि उसको अन्त्र बाधाकी पीड़ा दुःख न देती हो। उसको प्रायः कोष्ट-बद्ध रहा करता था; किन्तु कभी, कभी एकैक अतिसारके दौरे हो जाते थे। वह इस पीड़ासे दुःखी होकर एक वैद्य महाशयकी सम्मतिसे हुक्का पीने लगा था। परन्तु इससे उसको लाभ पहुंचनेकी अपेक्षा वह इस दुर्व्यसनसेभी क्लेशित था। क्योंकि हुक्केने उसको अपना दास बना लिया था। कुछ दिनसे वह एक डाक्टरकी सम्मतिसे इनेमा डुश (Enema douche) अर्थात् अन्त्रमें पिचकारी द्वारा जलभी लेने लगा था, जिससे उसकी रही, सही स्वतंत्रताभी जाती रही। क्योंकि फिर उसको विना इनेमाके विष्ठेका त्यागनही नहीं होता था, प्रत्युत कुछ समयके पश्चात् दिनमें कई, कई बार इनेमा लेनेपरभी कोई प्रभाव न होता था; और रेचकाति रेचक पदार्थभी उसकी अन्त्रपर अपना कार्य करनेमें व्यर्थ सिद्ध होते थे, और उनकी तीक्ष्णतासे शरीरको औरभी दुःख होता था। उसने एक योग्य डाक्टरकी आज्ञानुसार अनेक प्रकारकी व्यायामकाभी बहुत दिनतक अनुभव किया। किन्तु प्रत्येक साधन और चिकित्सासे उसकी दशा गिरतीही गयी। हां, डाक्टर कोहनीकी चिकित्सासे अवश्य उसे बहुत कुछ लाभ पहुंचा था। किन्तु एक मासके उपरान्त उस चिकित्सानेभी अधिक लाभ पहुंचाना बन्द कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने पूर्ण रूपेण डाक्टर कोहनीकी चिकित्साका अवलम्बनभी नहीं किया था अन्यथा उसके रोगकी ऐसी भयानक दशा कभी न होती। वास्तवमें आहारके विषयमें कोई, कोई बात डाक्टर कोहनीकी बहुतही गूढ़ हैं, और यदि उनपर चलकर चिकित्सा नभी की जाय तो अनेक रोग स्वयं दूर हो सकते हैं। परन्तु उनका मर्म जाननेवाले इस जगत्में विरलेही मनुष्य हैं। हम डाक्टर कोहनीकी चिकित्साकी अपेक्षा उनके आहारके सिद्धान्तोंकोही अधिक श्रेय देते हैं; और

उनके कारणही उनकी चिकित्साको सफलता प्राप्त होती है। किन्तु जो उनके निश्चित आहारपर न चलकर अन्नादि या गरिष्ठ पदार्थ सेवन करके चिकित्सा करते हैं उनको लाभकी अपेक्षा अधिक हानि और निर्बलता होती है। इसीसे उस रोगीने भी अधिक निर्बल होनेपर उनकी जल चिकित्साका परित्याग कर दिया था; और निर्बल होनेका, शीतल क्रियाओंसे प्रति क्रिया द्वारा शक्तियोंके व्यय होनेके अतिरिक्त, अधिक कारण यह था कि वह गेहूंका दलिया, चावल और आलू आदि सेवन करता रहा था। अतः हमने उसकी इस गाथाको सुनकर उसकी चिकित्सा करना इस लिए अस्वीकार किया कि जब उसने डाक्टर कोहनीकी चिकित्साकाही पथ्यसे अवलम्बन न किया तो हमारी आज्ञानुसारही पथ्यसे कब रहता। परन्तु उसने अपने इस उत्तरसे हमें सन्तुष्ट कर दिया—"यदि दलिये और आलू आदिके सेवनकी आज्ञा नहीं है तो डाक्टर कोहनीने उनके बनाने और अनेक रोगियोंको सेवन करानेके विषयमें क्यों लिखा था?" हमने उसके इन शब्दोंसे समझ लिया कि न वह स्वयं डाक्टर कोहनीके गूढ़ उपदेशको समझ सका, और न उसका चिकित्सकही समझा सका; और इसीसे वह पूर्ण रूपेण पथ्यका पालन करनेमें असमर्थ रहा। अतः हमने उसकी चिकित्सा अपने हाथमें ली और निरन्तर अड़तालीस घन्टेतक उदर और छातीपर ताप करवाया, जिससे उसको प्राय पैंतीस घन्टेमें बहुत शुष्क विष्टा हुआ और उसकी पीड़ामें बहुत न्यूनता हो गयी। इसके उपरान्त एक मासतक हमने उसे प्रति दिन तीन बार और उसके पश्चात् दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने; और छः मासतक प्रति दिन एक घन्टा या जितने काल उचित हो ताप करके सूक्ष्म रसीले फल सेवन करनेकी सम्मति दी, जिससे दो सप्ताहके उपरान्त उसको कोष्ठ-बद्धकी पीड़ा किंचित मात्रभी न रही और अतिसारका दौरा तो चिकित्सा कालसे हुआही नहीं। उसका धीरे, धीरे दो मासके उपरान्त समस्त पीड़ाओंसे छुटकारा हो गया था। परन्तु इसपरभी वह हमारी आज्ञानुसार निरन्तर छः मासतक फलही सेवन करता रहा।

अन्त्र-पुच्छल रोग Appendicitis.

अबतक प्राय समस्त शरीर वैज्ञानिकोंका यही मत है कि अन्त्र-पुच्छल अर्थात् अपेन्डिक्स वर्मीफारमिस (Appendix vermiformis) शरीरमें केवल एक व्यर्थ अवयव है या कदाचित उससे पाचनमें बहुतही कम सहायता मिलती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि चाहे वह व्यर्थ हो अथवा कुछ कार्य

करती हो, किन्तु उसमें दाह होनेपर रोगकी भयङ्कर दशा हो जाती है। बहुधा अन्त्र-पुन्छलमें स्वमेव दाह नहीं होती, यद्यपि रोगकी उत्पत्ति उसीसे होती है। जबतक केवल अन्त्र-पुन्छलपर रोगका प्रभाव होता है भारीपनके अतिरिक्त किसी वास्तविक पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। तीव्र पीड़ा उसी समय होती है, जब कि पेरीटोनियम (Peritonium) अर्थात् अन्त्रको ढकनेवाली झिल्ली उस स्थानपर प्रदाहित हो जाती है जिससे वह अन्त्र-पुन्छलके वाह्य भागको ढके होती है।

इस रोगकी तीव्र दशामें पेरीटोनियममें स्थानीय दाह होती है, और वह दो सप्ताह या उसीके लगभग समयमें दूर हो जाती है। किन्तु उससे अन्त्र-पुन्छल गलाओ (Gangrenous appendicitis), जिसमें अन्त्र-पुन्छलके गलनेपर अन्त्र और पेरीटोनियम एक होजाते हैं अर्थात् अन्त्रके पदार्थोंको पेरीटोनियममें जानेके लिए मार्ग हो जाता है, और अन्त्र पुन्छल फोड़ा (Suppurative appendicitis), जिसमें अन्त्र-पुन्छल फोड़ेका स्थान होती है, यह दो भयङ्कर रोग हो जाते हैं; और मन्दावस्थामें छोटी अन्त्रके निम्न भागमें (Iliac region) रुक, रुककर साधारण पीड़ाके दौरे होते हैं, जो कि क्लेशका कारण होते हुएभी कदाचित साधारण कार्य करनेमें बाधक नहीं होते, या एक विशेष रूपसे निर्वलता और उस स्थानपर भारीपनका अनुभव होता है। इसका कारण या तो वह प्रदाहित अन्त्र-पुन्छल होती है, जिसने उस समयतक पेरीटोनियमके उस भागपर जो कि उसे ढके रहता है प्रभाव नहीं किया है; या वह पेरीटोनाइटिसका दौरा होता है, जो कि आरोग्य होनेके उपरान्त रोगका मूल हेतु न जानेसे पुनः हो जाता है, या वह मन्द फोड़ा होता है, जोकि पिछले दौरेके निमित्त उभर आता है।

अन्त्र पुन्छल रोगकी उत्पत्तिका कारण कोष्ट-बद्ध, या बड़ी अन्त्रके उस छोर, जिससे कुछ इञ्च ऊपर छोटी अन्त्रका मुख खुलता है (Cæcum), में पाचनमें न आया हुआ भोजन एकत्र होने, और आवश्यकतासे अधिक आहार करनाभी है; और आजकलके चाय और मांसादि सेवन करनेके दुर्व्यसन कोष्ट-बद्धकी उत्पत्तिमें विशेष भाग लेते हैं। जब कि अन्त्र-पुन्छल या उसके निकट सम्बन्धी अवयवोंमें रक्त सञ्चारमें बाधा या दाहका कारण बेक्टेरिया (Bacteria) दूषित कीटाणुओंके कारण होती है तो रोगकी भयङ्करता बेक्टरियाकी प्रकृतिपर निर्भर ...ा है। बहुधा वैज्ञानिकोंका यह मत रहा है कि माल्ट या किसी कठोर पदार्थके

कण अथवा अङ्गूर या सेव आदिके बीज अन्त्र-पुन्छलमें पहुंचकर रोगका कारण होते हैं। परन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। हां, कभी अनायास ऐसे पदार्थ अन्त्र पुन्छलमें पाये अवश्य जाते हैं। किन्तु उनसे अन्त्र-पुन्छलका कोई रोग नहीं होता। समयपर आहार न करने, समार्थ्यसे अधिक बोझ उठाने, अधिक दूरतक साइकिलपर जाने और उदरमें चोट लगनेसे बहुत दिनतक अन्त्र-पुन्छलमें मन्द दाह रहनेसे वह पेरीटोनाइटिस (Peritonitis) रोग उत्पन्न करनेको प्रस्तुत रहती है।

अन्त्र-पुन्छल रोग पूर्वमें विना किसी प्रकारकी निर्बलताका ज्ञान हुए एकैक बहुत तीव्र दशामें प्रगट होता है। सबसे पहिले अन्त्र-पुन्छलके स्थानमें उदरमें बड़ी तीव्र पीड़ाका ज्ञान होता है, किन्तु एक, दो दिनमें छोटी अन्त्रके निम्न भागमें पीड़ा स्थिर हो जाती है। वास्तवमें उस पीड़ासे रोगी विकल होकर निरन्तर कमरके सहारे दाहिनी टांग सिकोड़े पड़ा रहता है। रोगीको बहुधा एक, दो दिनतक अजीर्ण, वमन, कोष्ठ-बद्ध, क्षुधामें न्यूनता और उबकाइयों (Nausea) का कष्ट भोगना पड़ता है। छोटी अन्त्रके निम्न भागके निकट स्पर्श करनेसे अति पीड़ाका अनुभव होता है, और बहुधा उस पीड़ाके शूल मेरु दण्डके निकट जाते हुए प्रतीत होते हैं। ज्वरभी प्राय १०२° का रहता है। इसके अतिरिक्त बहुधा दो, तीन दिनके उपरान्त छोटी अन्त्रके निम्न भागके दाहिनी ओर सूजनभी हो जाता है। साधारणतः रोगीके शरीरमें उपरोक्त लक्षण एक, आध सप्ताह रहकर घटने आरम्भ होते हैं; और दो सप्ताहके अन्ततक रोगी आरोग्य हो जाता है। किन्तु अन्त्र-पुन्छलके गलाओ (Gangrenous appendicitis) की दशामें रोगके लक्षण बहुत भयङ्कर होते हैं। ज्वरका ताप अति उच्च श्रेणीका होता है और यदि समयपर चिकित्सा न की जाय तो अति शीघ्र मृत्यु हो जाती है। अन्त्र-पुन्छलमें फोड़े (Suppurative appendicitis) की उत्पत्ति बहुतही कम होती है। परन्तु उसके लिएभी सावधानीसे चिकित्सा करनेकी आवश्यकता है।

अन्त्र-पुन्छल रोगकी चिकित्सार्थ उदर और कमरपर या केवल उदरपर ताप पहुंचानेकी आवश्यकता है। यदि रोग तीव्र हो तो उसकी अवस्थानुसार अधिक ताप पहुंचाना चाहिये, और मन्द दशामें प्रति दिन दो या तीन बार दो, दो घन्टे ताप करना चाहिये। किन्तु यदि वमन होती हो तो उदरके साथ छातीपरभी ताप

करना चाहिये। रोगीका आहार यथा शक्ति अनार या अन्य रसीले फल अथवा गौऊका धारोष्ण दूध होना चाहिये।

सन् १९१७ ई० के मध्यमें एक रोगी हमको अलीगढ़में मिला था। उसको गाज़ियाबादसे अलीगढ़तक साइकिलपर आनेसे अन्त्र-पुच्छलकी पीड़ा हो गयी थी। यद्यपि पीड़ाने भयङ्कर रूप धारण कर लिया था, किन्तु वह रोगी हमको अगलेही दिन दिखलाया गया। अतः हमने उस दिन दो, दो घन्टे उपरान्त निरन्तर चार, चार घन्टेतक ताप पहुंचवाया, जिससे उसे तत्क्षण लाभ होना आरम्भ हुआ, और तीन घन्टेतक पहिला ताप होनेपर उसे निद्रा आने लगी, परन्तु कभी, कभी आंख उचट जाती थी। किन्तु चार घन्टे उपरान्त उसको अच्छी निद्रा आगयी। दूसरे दिन हमने उसे भोजनार्थ एक अनार दिया और चार, चार घन्टेके उपरान्त दो, दो घन्टे ताप पहुंचवाया, जिससे पीड़ाका अन्त हो गया। अतएव तीसरे दिन केवल दो बार दो, दो घन्टे ताप किया गया और पांचवें दिन ताप बन्द कर दिया।

पथरी, या शरीरमें स्थूल पदार्थ एकत्र होना Concretions.

शरीरमें अनेक स्थूल पदार्थ अर्थात् चूनेके क्षार (Lime-salts) आदि क्षति पूर्ण और प्रहारित अङ्गोंमें उसी प्रकार एकत्र हो जाते हैं जैसे भारी जलको किसी पात्रमे पकानेपर उसमें स्थूल पदार्थ रह जाते हैं। हमारे अवयवोंमें क्षारोंके एकत्र होनेका कारण यह है कि किसी कारण वश उनके शिथिल हो जाने पर स्थूल पदार्थोंको द्रव रूपमें रखकर शरीरसे बाहर करनेके लिए यथेष्ट कार्बोनिक ऐसिड गैसकी उत्पत्ति नहीं होती; और भारी जलके पकानेपरभी पात्रमें इसी स्थूल पदार्थ एकत्र हो जाते हैं कि उष्णताके प्रभावसे उक्त गैस निकल जाता है यह क्षारादि फुफ्फुसके उस पीड़ित भागके आरोग्य होनेपर जहां कि ट्यूबरक्लोसिस होते हैं, या शरीर सम्बन्धी अथवा विजातीय कीटाणुओंके मृत शरीर रह जाते हैं, या क्षतिपूर्ण रक्त-कण होते हैं, या फोड़े अथवा घावोंके आरोग्य होनेपर उनके चिन्ह होते हैं, एकत्र हो जाते हैं। दांतोंका टार्टर (Tartar) और मूत्राशय पित्ताशय, लार कोषों और अन्त्र-पुच्छलकी पथरीकी उत्पत्ति उपरोक्त रीति शरीरके अङ्गोंमें क्षारोंके एकत्र होनेपरही होती है। इसके अतिरिक्त गाऊट (Gout) आदिमें अनेक स्थानोंपर स्थूल पदार्थोंके एकत्र होनेसे ग्रन्थियां तथा सूजन होनेका भी वही कारण है जो अन्य स्थानोंपर पथरी होनेका है।

शरीरके त्यागे हुए अनेक तरल पदार्थोंसेभी धीरे, धीरे उनमें उपस्थित स्थूल पदार्थोंके एकत्र होनेपर पथरी हो जाती है। इसीसे प्राय शनैः, शनैः कानका मल बहुत कठोर होकर अति क्लेशका कारण होता है; और ऐसेही श्वांस नाली आदिमें श्लेष्मके स्थूल पदार्थोंसे अनेक कठोर पदार्थ उत्पन्न होकर दुःखका कारण होते हैं।

. प्रायः वह पुरुष जो अपनी मूंछें दांतोंसे चबानेके अभ्यस्त हैं या जो अपने नखोंको कुतर, कुतरकर सेवन करते रहते हैं उनके आमाशयमें उसी प्रकार पथरी पड़ जाती है, जैसे पशुओंके आमाशयमें उनके अपने शरीरको चाटनेके अभ्याससे पथरी हो जाती है। इसके अतिरिक्त लवण सेवनभी पथरीका हेतु होता है।

पथरीकी चिकित्सामें बहुत धैर्य और समयकी आवश्यकता है। क्योंकि जैसे उसके बननेमें अधिक समय लगता है वैसेही उसके टूटनेमेंभी कुछ काल चाहिये। किन्तु यदि पथरीका आकार छोटा होता है तो वह शीघ्र निकल जाती है।

गाऊटके अतिरिक्त अन्य पथरी सम्बन्धी रोगोंमें केवल स्थानीय या छाती अथवा उदरका ताप, और रोगकी अवस्थानुसार रसीले फलोंका आहार होना चाहिये। किन्तु गाऊटकी दशामें समस्त शरीरका ताप होना आवश्यक है।

पथरीका एक रोगी हमको सन् १९१६ ई०में लाहौरमें मिला था, उसकी आयु प्राय पचास वर्षकी थी; उसके मूत्राशयमें अन्त्र और आमाशयकी ऐसिडिटी (Acidity) के कारण स्थूल पदार्थोंके एकत्र होनेपर बहुत दिनसे पथरी हो गयी थी; उसने उसकी अनेक चिकित्साएं की थीं; परन्तु इसके अतिरिक्त उसे कोई लाभ नहीं पहुंचा था कि उसका जो मूत्र त्यागन रुक जाता था वह फिर होने लगता था; उसकी चिकित्साके विषयमें समस्त डाक्टरोंका एक ओरसे यही मत था कि शल्य क्रिया द्वारा पथरी निकालदी जाय, किन्तु उसे यह स्वीकार न था; कभी, कभी उसको पथरीके कारण मूत्राशयमें इतनी दाह और पीड़ाका अनुभव होता था कि वह विकल हो जाता था, और जब कभी उसका मूत्र रुक जाता था। तब तो प्राणोंपर बीतती थी; मूत्राशयकी पथरीके अतिरिक्त उसका समस्त शरीर ऐसिडिटीके हेतु रोग मन्दिर बना हुआ था; जिस समय वह हमारे समीप आया था उस समय उसको नित्य मूत्राशयमें नली डालकर मूत्र कराया जाता था। हमने उस रोगीको दो सप्ताहतक तीन बार तीन, तीन घन्टे मूत्राशयसे लेकर ग्रीवा पर्यन्त ताप पहुंचाया, और जिस दिन वह हमारी चिकित्सामें आया था, उसका निरन्तर चौबीस

घन्टेतक ताप किया गया था; इसके उपरान्त तीन मासतक प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे, उसके पश्चात् चार मास पर्यन्त दो, दो घन्टेके स्थानमें एक, एक घन्टे ताप किया गया था, और उसके पीछे एक मासतक केवल धड़ बन्धनोंका प्रयोग हुआ था। उसको आहारके निमित्त दो मासतक केवल अनार दिया गया था; उसके उपरान्त अङ्गूर, संगतरा, काशमीरी नाशपाती और फिर धीरे, धीरे शरीफ़ा, लोकाट, शहतूत, लीची, उच्च कोटिकी खुमानी आदि दिये गये थे। इस प्रकार चिकित्सा और पथ्यके कारण दो सप्ताहके भीतर उसके मूत्राशयकी दाह और पीड़ा एक ओरसे लुप्त हो गयी थी, उसको मूत्र त्यागनमें लेश मात्रभी पीड़ाका अनुभव न होता था, उसके मूत्रमें पथरीके टूटनेके कारण अति सूक्ष्म टुकड़े आने लगे थे; एक मासके उपरान्त उसने कुछ और उन्नति की थी, और धीरे, धीरे नित्यही उसका स्वास्थ्य उन्नत दशाको प्राप्त होता जाता था। परन्तु पूर्ण रूपेण उसका शरीर शुद्ध होने और पथरीका हति होनेमें इस लिए आठ मास लगे थे कि उसको बहुत पुराना अजीर्ण और अन्त्र व्याधि थी, और उसके समस्त शरीरमें दूषित एवं स्थूल पदार्थ एकत्र हो गये थे।

कोष्ठ-बद्ध Constipation or costiveness.

कोष्ठ-बद्धकी दशामें अन्त्रके नियमित रूपसे कर्तव्य पालन न करनेके कारण विष्टेके त्यागनमें कठिनता होती है, प्रत्युत कई, कई दिनतक मल त्यागन होताही नहीं, और होताभी है तो पूर्ण रूपेण शौचसे निवृति प्राप्त नहीं होती। किन्तु जैसे कुछ मनुष्योंकी नित्य एक या दो बार शौच जानेकी प्रकृति होती है, वैसेही प्राय ऐसे मनुष्यभी होते हैं, जिनको कोष्ठ-बद्ध न होते हुए भी, दो या उससे अधिक दिनमें शौच जाना प्राकृतिक प्रतीत होता है। परन्तु वास्तवमें ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। कोष्ठ-बद्ध अन्त्र और आमाशयिकादि रोगकी मन्दावस्थाका परिणाम है। इस लिए कोष्ठ-बद्ध और अन्त्र-बाधा (Obstruction of the bowels) रोग, जो कि, अति भयङ्कर दशामें प्रगट होता है, में बहुत अन्तर है। उस स्वस्थ मनुष्यका, जिसको यथेष्ट क्षुधाका ज्ञान होता हो, विष्टा हल्के मटीले रङ्गका, प्राय पांच ओंस भारी और लगभग पांच इञ्च लांबा एक या दो लेंडीमें होता है। इसके अतिरिक्त वह इतना हलका है कि जलमें तैरता रहता है। परन्तु ऐसा विष्टा केवल उन्हीं मनुष्योंको होता

है जो सूक्ष्म (रसीले), और स्थूल (गूदेवाले) फल तथा शुष्क फल सेवन करते हैं, किन्तु जो केवल सूक्ष्म (रसीले) फलोंका आहार करते हैं उनका विष्टा कभी, कभी एक औंससे अधिक नहीं होता, और प्राय दूसरे या तीसरे दिनभी होता है। किन्तु इसपरभी उदरमें भारीपन या कोई पीड़ा अथवा अन्य कोई शारीरिक रोग नहीं होता।

विष्टेका कची दशामें त्यागन होना पाचन शक्तिके दोषका परिणाम है। इसीसे प्राय गरिष्ठ पदार्थोंके स्थानमें सुपाच्य पदार्थ सेवन करनेसे कोष्ठ वद्धमें न्यूनता हो जाती है। यकृतके किसी दोषसे पित्तके विकृत होनेपर जो कोष्ठ-वद्ध होता है वह ज्यों, ज्यों यकृतका विकार कम होता जाता है त्यों, त्यों दूर होता जाता है। प्रायः अनेक रोगियोंकी पाचन शक्ति उचित दशामें होनेपरभी किसी कारण वश अपक्क पदार्थोंके मार्गमें बाधा उपस्थित हो जाती है।

कोष्ठ-वद्ध होनेके अनेक कारण हैं। इसीसे कुछ मनुष्योंको तो शारीरिक और मानसिक क्रियाओंके करनेमें आलस्य करनेसे उनका शरीर आरोग्य और बुद्धि तीव्र हुएभी कोष्ठ-वद्ध हो जाता है; अनेक उन मनुष्योंको जो चैतन्यतासे जीवन निर्वाह करते हैं केवल एक या दो दिन नियमित व्यायामसे वञ्चित रहने और विशेषतः किसी एक स्थानपर बैठे रहनेसे तुरन्त कोष्ठ वद्धकी पीड़ा होने लगती है; कुछ मनुष्योंको रेल या गाड़ी द्वारा लम्बी यात्रा करनेसे उनकी अन्त्र अपना नियमित कार्य करना त्याग देती हैं; प्राय मनुष्योंको प्रातके समय अधिक शयन करनेसे अन्त्रके कर्तव्य चुत और शिथिल हो जानेका हेतु होता है; बहुधा अति भारी या अति हल्का-जल सेवन करनेसे चूनेके अधिक क्षारके कारण, या नल अथवा पात्रकी धातुका जलमें मिश्रण हो जानेपर उसको पान करनेसे कोष्ठ वद्धकी व्याधि हो जाती है; अधिकांश मनुष्योंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जलके परिवर्तनसे कोष्ठ-वद्ध हो जाता है; और कुछको बहु-मूत्र (Diabetes) एवं रक्ताभाव (Chlorosis) आदि रोगोंमेंभी कोष्ठ-वद्ध हो जाता है।

कोष्ठ-वद्ध होनेके स्थानीय कारण यह हैं कि प्रायः दीर्घ अन्त्रको अपना कर्तव्य पालन करनेमें विलम्ब होना या अन्त्रमें फोड़ा आदि होनेसे या गर्भावस्थामें जननेन्द्रियपर-सूजन आदिके कारण या उदर सम्बन्धी अवयवोंमे उथल पुथल हो जानेके हेतु या पिछले रोगों अथवा घावोंके चिन्हों (Scars) से मार्गके सिकुड़ जानेके निमित्त या चिरकालीन कोष्ठ-वद्धसे मलके शुष्क और कठोर हो जानेपर उसका

मार्ग एक ओरसे रुक जाने या अन्त्रके निम्न भागके शक्ति हीन होने या कुसमय शौचको जानेसे अन्त्र सिकुड़ने और फैलनेके कर्त्तव्यसे वञ्चित होनेपर मलको- दबाकर बाहर निकालनेमें असमर्थ होने या अर्शादिकी पीड़ा या तीक्ष्ण रेचक पदार्थोंका सेवन करने, या क्षुधाका ज्ञान होनेपर भोजन न करने, या किसी स्त्रीका स्वास्थ्य ठीक न होनेपर कई बालक होने, या शरीरकी नाड़ियोंके निर्बल होने, या डूश (Douche) का प्रयोग करने इत्यादि, इत्यादि ।

कोष्ठ-बद्धके होनेपर बहुधा विष्ठा कठोर मैला और बड़े दुःखसे त्यागा जानेवाला होता है ।प्रायः कोष्ठ-बद्धके होनेपर मलके एत्रक होनेके कारण उदरपर सूजन हो जाता है । साधारणतः कोष्ठ-बद्धकी उपस्थितिमें पीड़ाका अनुभव होता है जिसका विशेष कारण पेरीटोनाइटिस या अन्त्र-पुच्छल रोगका होना है । कोष्ठ-बद्धकी दशामें शरीरमें चैतन्यताके स्थानमें आलस्य रहने लगता है, उदर भारी और कठोर प्रतीत होता है, जिह्वापर मल एकत्र हो जाता है, श्वासमें बाधा उपस्थित होती है, मुखका स्वाद बिगड़ जाता है, क्षुधाका ज्ञान नहीं रहता, और बहुधा शिर पीड़ाका अनुभव होता है । इसके अतिरिक्त शरीरमें रक्तका अभाव और निर्बलता हो जाती है, और रोगीकी स्मरण शक्तिमें कमी या उसको उन्माद सरीखा कोई रोग हो जाता है । कोष्ठ-बद्धकी भयङ्कर दशामें अन्त्रमें अधिक दाह होनेके कारण विष्ठेकी लेंडीका आकार बहुत छोटा होता है और उसके ऊपर श्लेष्म लगा होता है ।

कोष्ठ-बद्धकी चिकित्सार्थ उदरपर ताप और बन्धनोंका रोगकी अवस्थानुसार प्रयोग होना चाहिये । इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोष्ठ-बद्ध एक बहुतही दारुण रोग है और जिसके शरीरमें यह व्याधि कुछ अधिक समयतक स्थान पा जाती है उसका बहुतही कठिनतासे पीछा छोड़ती है । परन्तु हमें इस बातका अभिमान है कि जिस दिनसे हमारी चिकित्सा और सूक्ष्म फलोंका आहार प्रारम्भ होता है उसके एक, दो दिन उपरान्त उसी प्रकार कोष्ठ-बद्धसे रोगी कष्ट नहीं पाता जैसे संग्रहणीके रोगीको अतिसारका दौरा नहीं होता, किन्तु फिरभी इतनी बात है कि यदि यथेष्ट समयतक चिकित्सा और प्राकृतिक आहारका क्रम नहीं रक्खा जाय तो पुनः कोष्ठ-बद्ध अपनी वही दशा धारण कर लेता है । अतः कोष्ठ-बद्धके रोगीको निरन्तर उस समयतक सूक्ष्म रसीले फलोंपर निर्वाह करके चिकित्सा करना आव- श्यक है जबतक कि रोगका पूर्णतः हति न हो जाय ।

अवतक हमारी चिकित्सामें अगणित कोष्ठ-बद्धके रोगी आचुके हैं। परन्तु आज पर्यन्त ऐसा कोईभी रोगी नहीं है जिसको हमारी चिकित्सासे पहिलेही सप्ताहमें लाभ न पहुंचा हो। क्योंकि सूक्ष्म फलोंके आहारसे पुरानेसे पुराना कोष्ठ-बद्धभी अति शीघ्र दूर होने लगता है। हमको भयङ्करातिभयङ्कर कोष्ठ-बद्धकी दशामेंभी जैसे डाक्टर कोहनी ने नीबू या दानेदार बालूके प्रयोगकी सम्मति दी है, किसी रेचक औषधिकी शरण नहीं लेनी पड़ी। हमारे उन रोगियोंकोभी जो तीव्र ज्वरके कारण निमोनिया या मोतीझरेकी दशामें मलके शुष्क हो जानेसे ऐसे भारी कोष्ठ बद्धमें ग्रसित थे कि रेचकातिरेचक औषधियेंभी उनकी अन्त्रसे विष्ठेका त्यागन न करासकीं, फलोंका सेवन और ताप करतेही उस पीड़ा (कोष्ठ बद्ध) से मुक्त होने लगे। इसके अतिरिक्त हमारी एकही चिकित्सासे कोष्ठ-बद्धके रोगीको तो शौचसे निवृति प्राप्त न होनेकी पीड़ाका दुःख नहीं होता और अतिसारके रोगीको अनेक बार शौच जानेका क्लेश नहीं रहता। इसके अतिरिक्त हमारी चिकित्सासे [illegible]बद्धके रोगीको रेचक औषधियोंके समान कई बार शौचको जाने और तरल रूपका विष्ठा त्यागन करनेका दुःखभी नहीं भोगना पड़ता।

वास्तवमें सबसे पहिले हमारा डाक्टर कोहनीका मतभेद कोष्ठ-बद्धके कारणही हुआ था। क्योंकि उन्होंने अपनी एक पुस्तक 'साइन्स आव फेशियल एक्सप्रेशन' में एक स्थानपर एक कोष्ठ-बद्धके रोगीको नीबू और समुद्रका बालू देनेका कथन किया है, जिसका यही अर्थ नहीं है कि उन्होंने उस रोगीको पूर्ण रूपेण विष्ठा न होनेपर औषधियोंकी शरण ली, प्रत्युत उन्होंने बुद्धिके विपरीत काम किया; क्योंकि बालू, मिट्टी या पत्थर आदिमेंसे कोईभी पदार्थ मनुष्यका आहार नहीं है। इसके अतिरिक्त बालू सेवन करनेसे हमारे आमाशय और अन्त्रादिपर जो घाव करनेवाला प्रभाव हो सकता है उसका वह मनुष्य भले प्रकार अनुभव कर सकते हैं, जिनके हाथ कुछ समयतक बालूका स्पर्श करनेसे छिल जाते हैं, या जिनका शरीर बालूमें लेटनेसे फट जाता है।

यदि डाक्टर कोहनी कोष्ठ-बद्धमें नीबू और बालू सरीखे अप्राकृतिक पदार्थोंकी सम्मति न देते तो कदाचित हम बहुत समयतक उनकी चिकित्साको उपयोगी समझकर उस भ्रममें पड़े रहते। किन्तु यह हमारा सौभाग्य था कि हमको यह बात खटकी कि नीबू हमारे दांतोंको खट्टा प्रतीत होनेसे हमारी

प्रकृति उसके सेवन करनेकी आज्ञा नहीं देती, और बाल्द हमारे दांतोंको किर्किरा और मसूड़ोंको छीलता हुआ दीखता है; इस लिए प्रकृति उसके दोषोंसेभी हमें सावधान करती है। इसके उपरान्त जब एक बातमें हमारा डाक्टर कोहनीसे मत-भेद हो गया तो धीरे, धीरे अन्य बातोंमेंभी अन्तर होने लगा। क्योंकि फिर हमको डाक्टर कोहनीकी चिकित्सामें विश्वास न रहनेके कारण हमने अपनी बुद्धिसे 'प्राकृतिक चिकित्सा' और 'प्राकृतिक आहार' की खोज करना आरम्भ करदी।

कोष्ठ-बद्धके अनेक रोगियोंका अन्य रोगोंके साथ कथन हो चुका है, इस लिए यहांपर किसी रोगीका विवरण लिखना व्यर्थ है। परन्तु फिरभी हम कुछ कथन करतेही हैं।

सन् १९२२ ई०के अन्तमें बम्बईके स्थानपर हमारी चिकित्सामें एक सेठजी आये थे। उनकी शिर पिड़ाके विषयमें हम १८८ पृष्ठपर कथन कर चुके हैं। उस शिर पीड़ाका वास्तविक कारण उनका कोष्ट-बद्धसे पीड़ित होना था। इस लिए हम चाहते थे कि उनकी चिकित्सा नियम पूर्वक की जाय; किन्तु उन्होंने उस दिनके उपरान्त, [illegible] दिन कि स्टोवका तैल समाप्त होजानेपर उनको ताप पहुंचाना बन्द कर दिया गया था प्राय एक मासतक ज्वर, शीत (जुकाम), शिर पीड़ा और कोष्ट-बद्धसे अति दु:ख पाते हुएभी हमारी सम्मतिपर ध्यान न देकर चिकित्सा नहीं की। अतः हमनेभी कुछ कहना छोड़ दिया। अन्तमें जब वह बहुत दुःखी होगये और उन्होंने हमारी चिकित्सासे कई रोगी आरोग्य होते देख लिये तो डेसेम्बर सन् १९२२ ई० में हमारी चिकित्सा आरम्भ की, जिससे उनकी समस्त व्याधियां दूर हो गयीं, और उनको हमारी चिकित्सामें इतना विश्वास हो गया कि वह पहिली जन्वेरी सन १९२४ ई० को अपनी उस गृहणीकी चिकित्सार्थ आगरे ले गये, जिसका कथन हमने २१० पृष्ठपर किया है। किन्तु हमें खेद यह है कि उन्होंने रोगका बीज नाश होनेसे पूर्व आगरे पहुंचकर अर्थात केवल पचीस दिन चिकित्सा करके छोड़दी। इसीसे यद्यपि उन्हें उस समय कोई दु:ख नहीं था, परन्तु चार मासके उपरान्त बम्बई पहुंचनेपर कुछ पीड़ाका अनुभव होने लगा। किन्तु फिरभी हमको यह जानकर सन्तोष है कि वह हमारी चिकित्सामें पूर्ण विश्वास रखते हैं। इसके अतिरिक्त यद्यपि हम २११ पृष्ठपर उनके उस व्यवहारकी निन्दा कर चुके हैं जो कि उन्होंने हमारे आगरेसे चलते . ।५ रेलका भाड़ा न देकर किया था, तथापि हम इस लिए सन्तुष्ट हैं कि उन्होंने

हमारे एक मित्रके कहनेपर कुछ दिन उपरान्त रेल भाड़ाही नहीं दिया था, प्रत्युत कुछ भेंटभी की थी, और निरन्तर हमारा मान करते रहे; जब कि एक अन्य महाशय द्वारा जो कि हमारे एक मित्रके स्नेही थे, जिनके छाजन और नेत्र रोगके अतिरिक्त उनकी स्त्रीके हिस्टेरिया रोगके दूर करनेके प्रसादमें कृतज्ञताके साथ धन या मानके स्थानमें गालियोंका पुरस्कार दिया गया था। इसीसे जबसे हमने अपनी स्वार्थ रहित सेवाके स्थानमें उन महाशयका यह नीच व्यवहार देखा तभीसे हमारी आंखें खुलीं और हम उन्हीं सेठजीको, जिनसे आगरेसे चलते समय रेलका भाड़ा न प्राप्त होनेपर हमारा हृदय खिन्न हो गया था, बहुत उच्च दृष्टिसे देखने लगे। क्योंकि यद्यपि उनसे उस समय रेलका भाड़ा नहीं प्राप्त हुआ था तो वह कमसे कम हमारा आदर तो करतेही थे; और यही कारण है कि हम पुनः उनकी हृदयसे सेवा करनेको प्रस्तुत हो गये, और उन महाशयके लिए हमको निम्न कविता लिखनी पड़ी:—

चश्म उसके मिटगये क्या, देख माली जाहको ?
है जो समझा वह मसावी, कोह और यक काहको।
करके पंसगोत्रत हमारी, क्या करेगा वह उदू ?
पीठ पीछे गालियां, देते हैं बुज़दिल शाहको।
भूलकर अहसां हमारे, वह कमीना आज दिन,
जा रहा है बांकपनसे, क्या यह तिर्छी राहको ?
कश्तिये ऐमाल उसकी, गर्क़ होगी बीचमें,
ताकता रह जायगा वह, दूर बन्दरगाह को।
होके ज़र्रा खाकका, मग़रूर 'कर्नल' क्या हुआ ?
देता है इल्ज़ाम जो वह, आज शम्शो माहको।

डिसेन्ट्री Dysentery.

डिसेन्ट्रीका दूसरा नाम रक्त प्रवाह (Bloody flux) भी है; और वह एक संक्रामक रोग है, जो कि अन्त्रके निम्न भागमें दाह अथवा घावके रूपमें किसी स्थानीय घावके साथ होता है।

डिसेन्ट्रीकी उत्पत्ति निस्सन्देह प्रत्येक स्थानपर हो सकती है। परन्तु उसके होनेके अनेक कारण हैं; और कभी वह केवल किसी विशेष व्यक्तिहीको होती है, और कभी

यह अन्य संक्रामक रोगोंके समान फैलती है। भोजन नालीमें साधारण किसी तीक्ष्ण पदार्थ या हेतुसे श्लेष्म और घाव हो जानेपर धीरे, धीरे डिसेन्ट्री हो जाती है। एक विशेष जातिकी डिसेन्ट्री किसि, किसी स्थानके वायु मण्डलमें एक विशेष जातिके परमाणुओंके उपस्थित होनेका कारण होती है। इसके अतिरिक्त जन्तु वर्ग तथा वनस्पति वर्गके कीट शरीरमें पहुंचनेका परिणाम डिसेन्ट्री होता है। प्रायः शीत-ज्वरकी दशामें बारीसे आनेवाले ज्वर (Intermittent fever) के साथ डिसेन्ट्रीके होनेके विषयमें अनेक विद्वानोंके अनेक मत हैं। परन्तु हमारे अनुमानसे प्रत्येक तीव्र ज्वरमें उसकी तीक्ष्णता वश भोजन नालीमें घाव होनेसे दूषित पदार्थोंका संसर्ग होनेपर डिसेन्ट्री हो सकती है। इसीसे तीव्र ज्वरसे पीड़ित रोगियोंके ऐसे ज्वलन्त उदाहरण मिलेंगे, जिनको ज्वरके साथ अति-सार अर्थात् डिसेन्ट्री उपस्थित होती है। प्रायः कुछ विशेष कोमल अथवा दूषित शरीरके मनुष्यको वायु मण्डल और पृथ्वीके तीक्ष्ण तापसेभी डिसेन्ट्री हो जाती है, किन्तु उक्त कारणसे कभी डिसेन्ट्री संक्रामक रूपसे नहीं फैलती है। डिसेन्ट्रीका समुदाय विशेषमें फैलनेका कारण अस्वच्छ जल-वायु, अनुचित और क्षुधाकी पूर्ति न करनेवाला भोजन, अपक्व फल, मदिरापानकी अधिकता और ऊष्णकालमें शीत लगना या कोष्ठ-बद्ध अथवा अन्य किसी अन्त्र व्याधिसे पीड़ित होना अथवा रक्तका दूषित होना है।

विशूचिकाके दिनोंमें प्राय विशूचिकाके रोगियोंके साथ रहनेसे यदि विशूचिका नहीं होता है तो डिसेन्ट्रीके होनेकी सम्भावना हो सकती है और डिसेन्ट्रीका प्रभाव होनेपर उससे किसी समय विशूचिकाभी हो सकता है।

डिसेन्ट्रीकी अनेक जातियां हैं। इसीसे शीतज्वरके साथ होनेवाली डिसेन्ट्रीको मेलेरियल डिसेन्ट्री, रक्तके दूषित अर्थात् स्कर्वी (Scurvy) रोगके कारण होने-वाली डिसेन्ट्रीको स्कारव्यूटिक डिसेन्ट्री (Scorbutic dysentery), और डिसेन्ट्रीके समस्त लक्षण उपस्थित होनेपर उसे मेलिगनेन्ट डिसेन्ट्री (Malignant dysentery) कहते हैं।

स्कारव्यूटिक डिसेन्ट्रीमें कभी, कभी शौचके साथ आपत्ति जनक रक्त प्रवाह हो जाता है, किन्तु मेलिगनेन्ट डिसेन्ट्री उससेभी अधिक भयानक है।

प्रायःशौच जानेपर विष्ठे द्वारा निकलनेपर डिसेन्ट्रीके विषोंमें कमी होनेसे पीड़ामें

न्यूनता हो जाती है; और कभी, कभी कुछ दिनमें ऐसा प्रतीत होता है कि डिसेन्ट्री स्वमेव जाती रहती है, प्रत्युत जातीभी रहती है; किन्तु यदि उसका कुछभी अंश उपस्थित होता है तो कुपथ्यसे या अन्य किसी कारण वश वह प्रगट हो जाती है, वरन् किसी, किसी समय ऐसे रूपमें प्रतीत होती है कि अपनी दाहकी तीक्षणतासे वह भोजन नालीकी समस्त भींतको खा जाती है जिससे अन्त्रमें छिद्र हो जाता है और पेरीटोनियमकी दाह होनेसे भयङ्कर रूपसे रक्त प्रवाह होने लगता है। डिसेन्ट्रीके दूर होनेपर प्राय अन्त्रके आरोग्य हुए, हुए घावोंके कारण अन्त्रमें वाधा उपस्थित हो जाती है। डिसेन्ट्रीके कारण यकृतका फोड़ा वहुतही कम होता है।

डिसेन्ट्री अनेक भयङ्कर श्रेणियोंमें होनेसे उसके लक्षण प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं किन्तु विशेप लक्षण यह हैं कि रोगीके शरीरमें शिथिलता, क्षुधामें अत्यधिक न्यूनता और अतिसारके, दौरोंके साथ रोगका प्रारम्भ होता है, और धीरे, धीरे अतिसार भयङ्कर रूप धारण करता जाता है, और उदरमें मसोसनेवाली पीड़ा (Tormina) का अनुभव होता है। रोगीकी अन्त्र अपने नियमित कर्तव्यका पालन करना त्याग देती है, जिससे निम्न भागमें पीड़ाका ज्ञान होते हुए इतना अधिक भार (Tenesmus) प्रतीत होता है कि रोगीको निरन्तर वारम्वार शौच जानेकी इच्छा होती है। किन्तु शौच जानेपर निवृत्ति प्राप्त नहीं होती, क्योकि रोगके आदि कालमें अतिसारमें आनेवाले मलके समान विष्टा होता है और धीरे, धीरे दाहकी वृद्धि होनेपर विष्टेका आकार छोटा होता जाता है और उसके साथ श्लेष्म आने लगता है, और उसके पश्चात् दाहके अत्यधिक हो जानेपर विष्टेके स्थानमें केवल रक्त या अन्त्रकी झिल्ली कठ, कटकर आने लगती है। रोगीके विष्टेमें एक विशेष रूपकी दुर्गन्धका अनुभव होता है। यद्यपि रोगके आरम्भ कालमें शारीरिक वाधाएं बहुत न्यून होती हैं, परन्तु ज्यों; ज्यों रोगकी वृद्धि होती जाती है त्यों, त्यों वह वढ़ती जाती हैं, और ज्वरके लक्षण प्रतीत होनेके साथ, साथ अधिक प्यास तथा मूत्र त्यागनमें कमी और पीड़ा होने लगती है। इसके अतिरिक्त नाड़ियां शिथिल हो जाती हैं और रोगी अपने जीवनसे हताश होनेके कारण दिनोदिन अधोगतिको प्राप्त होता जाता है; और ऐसी दशामें यदि वढ़ते हुए रोगकी चिकित्सा न की जाय तो कभी, कभी एकसे तीन सप्ताहतकमें रोगीकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु प्रायः अनेक औषधियों द्वारा रोगकी भयङ्कराकृति दूर होनेपर वह मन्द रूप धारण कर लेता है, जिससे घुल, घुलकर अति

पीड़ाको सहन करते हुए रोगी वर्षोंमें मृत्युको प्राप्त होता है । वास्तवमें डिसेन्ट्री और अतिसारमें बहुतही थोड़ा अन्तर है । इसलिए डिसेन्ट्रीकीभी अतिसारके समानही चिकित्सा होनी चाहिये । केवल इतनी बात अधिक है कि डिसेन्ट्रीके रोगीकी गुदा और पेड़ूपरभी ताप पहुंचानेकी आवश्यकता है ।

डिसेन्ट्रीकी दशामें यदि क्षुधाका ज्ञान हो तो केवल अनार या अन्य सूक्ष्म, अनुत्तेजक और रसीले फल देने चाहियें; और प्यासके लगनेपर गुनगुना उष्ण जल देना चाहिये ।

अन्त्र उतरना Hernia or rupture.

हर्नियाका वास्तविक अर्थ किसी अवयव या उसका कोई भाग उस शून्य स्थानमें जो उसको रोके हुए है उसकी भीतमें घुस जाना है। अतःखोपड़ीमें भारी चोट लगनेसे यह रोग मस्तिष्कमें (Hernia of the brain) हो जाता है, और छातीमें चोट लगनेसे यह पीड़ा (Hernia of the lung) फुप्फुसमें हो जाती है । परन्तु उक्त पीड़ाओंके बहुत कम होनेसे हर्निया शब्दका प्रयोग अन्त्र उतरने-(Hernia of the bowel) के लिएही होता है ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कदाचित यकृत (Liver) और पेनक्रियाज-(Pancreas) के अतिरिक्त आमाशय, वृक्क, योनि, मूत्राशय और गर्भाशय आदि उदर सम्बन्धी समस्त अवयव किसी शून्य स्थानमें उतरकर हर्नियाके हेतु हो सकते हैं, परन्तु अधिकांश अन्त्र उतरनेपरही हर्निया रोग हुआ करता है ।

अन्त्र उतरनेवाले हर्निया रोगकीभी अनेक जातियां हैं । किन्तु उनमेंसे इनगुइनेल हर्निया (Inguinal hernia) और फेमोरेल हर्निया (Femoral hernia) विशेष जातिमेंसे हैं । इसके अतिरिक्त अनायास उदरमें किसी ऐसे घावके चिन्ह-(Scar), जो शल्य क्रियाके प्रयोगसे होता है, के फटनेपर हर्निया होनसे, उसे वेन्ट्रेल हर्निया (Ventral hernia), और बहुत कमीके साथ ओबटयूरेटर हर्निया (Obturator hernia) होता है । अपरञ्च छोटे और प्रायःनिर्बल बालकोंको अम्बिलीकल हर्निया (Umbilical hernia) हो जाता है; और कुछ मनुष्योंको जन्मकालसेही हर्निया होता है, जिसे कोनजेनीटेल हर्निया (Congenital) कहते हैं ।

हर्निया होनेके दो विशेष कारण हैं । प्रथम तो यह कि उदरकी भीतमें कोई

दोष उपस्थित होना या किसी प्रकारकी चोट लगना; द्वितीय शून्य मार्गोंके भीतकी ओरको अधिक दवाओ होना। क्योंकि उदरके निम्न भागमें दोनों ओर कुछ ऐसे प्राकृतिक मार्ग होते हैं, जिनमें प्रायः कुपथ्यवश या सामर्थ्यसे अधिक कार्य करनेपर भारी दवाओके कारण अन्त्र उतर जाती है। इन प्राकृतिक मार्गोंमेंसे एकका नाम इनगुइनेल केनाल (नाली) और दूसरेका क्रूरेल केनाल (Crural canal) । इनगुइनेल केनाल वह प्राकृतिक नाली है, जिसमें होकर जन्मकालसे पूर्व अण्ड कोष उतरते हैं, और क्रूरेल केनाल वह नैसर्गिक मार्ग है जो कि उदरसे जङ्घाओंकी अस्थियोंमेंको जाता है। अतः इनगुइनेल केनालमें अन्त्र उतरनेसे इनगुइनेल हर्निया होता है और क्रूरेल केनालमें अन्त्रका उतरना फेमोरेल हर्नियाका कारण होता है।

कुपथ्यादिके अतिरिक्त इनगुइनेल या फेमोरेल हर्नियाके होनेका यहभी कारण है कि उनके मार्ग अर्थात् इनगुइनेल केनाल आदि उस समय जब कि अण्ड कोष उतरते हैं पूर्णतः बन्द नहीं होते।

अम्बिलीकल हर्नियाके होनेका विशेष कारण यह है, नाभि, अर्थात् जिस मार्गसे जन्मकालसे पहिले नाल जाता है, में कुछ दोष उपस्थित होनेसे अधिक रुदनादि करनेपर उस मार्गमें प्रवेश करनेको अन्त्र वाध्य होती है; और कोनजेनीटेल हर्निया जोकि नाभि या उदरके निम्न भागमें होती है, प्रायः गर्भाशयके दोषसे सन्तानको होती है।

इनगुइनेल हर्निया स्त्रियोंकी अपेक्षा इस लिए पुरुषोंको अधिक होती है कि पुरुषोंके अधिक परिश्रमके कारण दवाओ पड़नेपर अन्त्र इनगुइनेल केनालमें होकर अण्डकोषोंके रहने वाले स्थान-(Scrotum) में चली जाती है; और फेमोरेल हर्निया पुरुषोंके स्थानमें इस कारण स्त्रियोंको अधिक होती है कि उनको उदरके नीचेकी अस्थियोंकी आकृतिमें कुछ विशेषतः होनेसे क्रूरेल केनालमें किसी भारके पड़नेपर अन्त्र सरलतासे प्रवेश करसकती है।

अधिक बालक जनने या चर्बीमें न्यूनता होनेसे उदरकी भीतके जीर्ण होने अथवा अधिक खांसने, शौचके समय प्रायः कोष्ठ-बद्धकी दशामें, किंखने, निरन्तर झटके या चोट लगने या किसी अन्य परिश्रमके करनेसे किसी प्रकारकी हर्निया होसकती है।

हर्नियाका जाति भेद करनेमें सबसे विशेष और महत्त्वकी बात यह है कि प्रत्येक प्रकारकी हर्नियाकी चार जातियां और हैं, जिनमेंसे एक रिड्यूसिबिल हर्निया

(Reducible hernia), दूसरी इर्रिड्यूसिबिल हर्निया (Irreducible hernia), तीसरी ओब्सट्रक्टेड (Obstructed hernia), और चौथी स्ट्रेंगूलेटेड हर्निया (Strangulated hernia) है।

रिड्यूसिबिल हर्नियाकी दशामें जिस शून्य स्थानमें अन्त्र उतरती है उसको दबानेपर फिर अन्त्र उदरमें लौट जाती है, किन्तु यदि उसका मार्ग न रोका जाय तो वह पुनः उतर आती है; इर्रिड्यूसिबिल हर्नियाके होनेपर अन्त्रके किसी शून्य स्थानमें उतरनेपर उसमें पहुंच कर या तो उसके वृद्धिको प्राप्त हो जाने या उसमें बहुतायतसे चर्बीके एकत्र हो जाने, या चारोंओरकी भीतसे उसके जुड़ जानेपर होती है; ओब्सट्रक्टेड हर्नियाके होनेका कारण यह है कि किसी शून्य स्थानमें उतरी हुई अन्त्रमे उपस्थित विष्ठा उस स्थानपर अटक जानेसे कुछ समयतक बाहर नहीं निकलता है और उस स्थानमें कोष्ठ-बद्धकी पीड़ा होती है; और स्ट्रेंगूलेटेड हर्निया वह है, जिसमें अन्त्रके किसी शून्य स्थानमें उतरनेके उपरान्त या तो अन्त्रके वृद्धिको प्राप्त होने या उस शून्य स्थानका मुख सिकुड़नेके कारण अथवा अन्त्र या उस स्थानमें दाहके हेतु सूजन आजानेसे उतरी हुई अन्त्र उस शून्य स्थानके किनारोंसे खिंचनेपर फटने लगती है और रक्त सञ्चारमें बाधा उपस्थित हो जाती है, इस लिए इस प्रकारका हर्निया होनेपर अन्त्रका उतरा हुआ भाग मृत प्राय (Gangrenous) हो जानेसे बहुधा यदि समयपर चिकित्सा न हो तो कुछही दिनमें रोगी मृत्युको प्राप्त होता है।

हर्नियाके अधिकांश लक्षण तबतक नहीं जाने जासकते जबतक कि यह ज्ञान न हो कि कौनसा अवयव कौनसे शून्य स्थान में उतरा है और उस शून्य स्थानका मुख कितना बड़ा है। रिड्यूसिबिल हर्नियाकी दशामें प्रायः किसी अधिक भारके उठानेपर हर्निया होनेवाले व्यक्तिको किसी कड़कनेवाले शब्दका अनुभव होता है, जिससे यह समझना चाहिये कि किसी शून्य स्थानका मुख खुल गया है, परन्तु ऐसी दशामें पीड़ाका अधिक ज्ञान नहीं होता है। बहुधा हर्निया धीरे, धीरे हुआ करती है और प्रत्यक्ष रूपसे प्रगट नहीं होती है, इसीसे उस समयतक उसका ज्ञान नहीं होता जबतक कि वह पूर्णतः वृद्धिको प्राप्त न हो जाय। हर्नियाकी उपस्थितिमें एक विशेष प्रकारकी निर्बलता और यदा कदा पीड़ाका अनुभव होता है, और बलपूर्वक खांसने, शौचके समय किन्थने और सामर्थ्यसे अधिक भार उठानेपर हर्नियाके स्थानपर सूजन हो जाता है और गुड़गुड़ाहटका ज्ञान होता है। किन्तु रोगीके

लेटनेपर शरीरके अन्य अवयवोंका दवाओ पड़नेसे इस प्रकारकी गुड़गुड़ाहट बन्द हो जाती है। यदि अन्त्र अधिक नीचे उतरी हुई नहीं होती है तो सूजनके स्थानपर हाथ रखनेसे खांसनेवाले रोगीकी खांसीका एक विशेष रूपसे अनुभव होता है। साधारणसे साधारण हर्नियाकी उपस्थितिमेंभी पाचनमें विकार और कोष्ठ-बद्ध रहने लगता है। इर्रिडयूसिविल हर्नियाकी दशामें कोई अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता है। केवल उतरी हुई अन्त्रके दबानेसेभी उसके उदरमेंको न लौटनेपर उसका ज्ञान होता है। स्ट्रेंगूलेटेड हर्नियाके लक्षण बहुतही प्रत्यक्ष होते हैं। क्योंकि उसकी उपस्थितिमें रक्त सञ्चारके रुकनेपर हर्नियाके स्थानपर सूजन बढ़ता रहता है और कुछ घन्टेतक असह्य पीड़ाका ज्ञान होनेपर अन्त्रका वह भाग मृत प्राय होनेके अर्थसे पेरीटोनाइटिसका हेतु होता हुआ मृत्युका कारण होता है। इसके अतिरिक्त अन्त्रमें विष्टा निकलनेका समस्त मार्ग रुक जानेसे मल प्रतिकूल दिशामें अर्थात् आमाशयकी ओरको लौटने लगता है, जिससे विष्टेकी वमन होने लगती है। अतः एकैक उदरमें शूल होना, अन्त्रका मार्ग रुक जाना और वमन होना हर्निया होनेके विशेष चिन्ह हैं। किन्तु यदि हर्निया नभी हो तो उक्त तीनों लक्षणोंके उपस्थित होनेपर रोगीको उपेक्षासे काम न लेना चाहिये।

हर्नियाकी चिकित्सामें बहुतही धैर्य और समयके अतिरिक्त इस बातकी आवश्यकता है कि रोगीको पूर्ण विश्राम दिया जाय। प्रत्युत यथा शक्ति उसको अधिक समय लेटेही रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त रिडयूसिविल हर्नियाकी दशामें ट्रूस (Truss) अर्थात् पेटीका लगाना उस समयतक आवश्यक है जबतक कि पूर्ण रूपेण रोग दूर न होले। किन्तु इर्रिडयूसिविल हर्नियाकी उपस्थितिमें उस समय ट्रूस प्रयोग करनेकी आवश्यकता है जबकि वह चिकित्सा द्वारा अन्त्रके घट जाने या उसकी चर्बी घट जानेपर रिडयूसिविल हो जाय। उदर सम्बन्धी हर्नियाकी चिकित्सार्थ उदर और अन्त्र उतरनेके स्थानपर साधारणतः नित्य दो बार एक एक घन्टे ताप पहुंचाना यथेष्ट होता है, किन्तु ओब्सट्रक्टेड या स्ट्रेंगूलेटेड अथवा अन्य किसी प्रकारकी तीव्र हर्नियाकी दशामें रोगकी तीव्रावस्थानुसार दाह और पीड़ाका इति करनेके लिए अधिक समयतक और कई बार रोगीको ताप पहुंचाना चाहिये।

उतरी हुई अन्त्र शून्य स्थानको दबाकर लौटानेपर यदि ट्रूस द्वारा रोक दी जाय और रोगी पूर्ण विश्राम और पथ्यके साथ सूक्ष्म रसीले फलोंके आहारपर निर्वाह

करे तो धीरे, धीरे उस शून्य स्थानका मुख सिकुड़कर अपनी प्राकृतिक आकृति धारण कर लेता है, जिससे पूर्ण रूपेण उसी प्रकार हर्नियाका इति हो जाता है जैसे अधिक समयतक बालियां न पहनेके कारण छेदे हुए कानोंके छिद्र बन्द या छोटे हो जाते हैं। किन्तु विश्राम न लेने और गरिष्ठ पदार्थ सेवन करनेसे निरन्तर अन्त्रका भार शून्य स्थानके मुखपर रहनेसे उसे उसी प्रकार सिकुड़ने या बन्द होनेका अवकाश नहीं मिलता जैसे कानके छेदे हुए छिद्र निरन्तर बालियां या तृणके पहनेसे बन्द या छोटे होनेको असमर्थ होते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हर्नियाकी प्रत्येक जातिके रोगीको विश्राम और पथ्यसे रहनेपर पूर्ण लाभ होसकता है। किन्तु जब अधिक अन्त्र उतर आती है तो शून्य स्थानोंके मुख इतने खुल जाते हैं कि उनके सिकुड़नेके लिए कई वर्ष चाहियें। इसीसे केवल वही रोगी हमारी चिकित्सासे लाभ उठा सकते हैं, जो धैर्यके साथ पूर्ण विश्राम लेते हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म, रसीले सुपाच्य और अनुत्तेजक फलोंपर वर्षों निर्वाह कर सकते हैं। किन्तु हर्नियाके आरम्भ कालमें चिकित्सा करनेसे कभी, कभी हमारी चिकित्सासे इतनी शीघ्रतासे लाभ होता है कि रोगी चकित हो जाता है।

हर्नियाके रोगीको दौड़ना, उछलना, कूदना, बलपूर्वक चिल्लाना, हंसना गाना, घोड़ेपर चढ़ना, मैथुन करना, अधिक समय बैठना या खड़े रहना अथवा अन्य कोई कड़ा कार्य करना सर्वथा वर्जित है।

हर्नियाका एक रोगी सन् १९१८ ई० में हमें दिल्लीमें मिलाथा। वह एक बीस वर्षीय कालिजका विद्यार्थी था। उसके दाहिने अण्ड-कोषमें हस्त-मैथुन करनेके कारण इनगुइनेल केनालके मुखपर चोट लगनेसे अन्त्र का कुछ भाग उतरनेके कारण इनगुइनेल केनालपर सूजन और दबानेपर पीड़ाका अनुभव होता था। इसके अतिरिक्त उसका वह अण्ड-कोष कुछ वृद्धिकोभी प्राप्त होगया था। अतः हमने प्रति दिन दो बार डेढ़, डेढ़ घन्टे प्रदाहित स्थानपर ताप पहुंचाने और एक. सप्ताहतक शय्यापर विश्राम करनेकी सम्मति दी, जिससे केवल तीन दिनमें उसकी पीड़ा लुप्त हो गयी और प्राय पांच दिनमें अण्ड-कोष अपनी उचित दशामे आगया। उस रोगीको आहारके निमित्त हमने केवल अनार दिये थे।

एक हर्नियाका रोगी सन् १९१६ ई० में हमको लखनऊमें मिला था। उसकी

आयु प्राय तीस वर्षकी थी, उसको प्राय दो वर्षसे रिड्यूसिविल हर्नियां हो गया था। किन्तु वास्तवमें रोगका मूल कारण मांसादि सरीखे गरिष्ठ पदार्थोंके आहारसे कोष्ठ-बद्धसे पीड़ित रहना था। हमने उस रोगीको नित्य दो वार एक, एक घन्टे उदर और हर्नियाके स्थानपर ताप पहुंचाने, चौवीसों घन्टे ट्रस प्रयोग करने, यथा शक्ति विश्राम लेने और सूक्ष्म रसीले फल सेवन करनेकी सम्मति दी थी। फलतः छः मासमें उसको वहुत कुछ लाभ हो चुका था और एक वर्षमें पूर्ण लाभ हो जाने-पर उसने ट्रसका प्रयोग वन्द कर दिया था। हम उस रोगीके उस पत्रकी प्रति लिपि जो उसने हमको छः मास चिकित्सा करनेके उपरान्त लिखा था निम्नमें देते हैं:—

जनावे वाला आदाव अर्ज,

आपका शफक़त नामा मोसूल हुआ लेकिन ताखीरे जवावका वाइस यह है कि करीव एक हफ्तेके हुआ कि मैं एक मौजअमें वगरज तहसील वावत फसल खरीफ गया हुआ था पस मुआफीका ख्वास्तगार हूँ। इसमें कोई शक नहीं कि अभी मेरे मर्ज़में क़रीवन निस्फके इफ़ाका हो चला है, मगर अभी कुल्ली सेहत होनेमें जरूर कुछ देर है। लेकिन चाहेभी कुछ हो मुझे यक़ीन कामिल है कि जरूर आपके तरीकए इलाजसे एक दिन यह मूजी मर्ज़ दफा होगा। क्योंकि मैं मुख्तलिफ अमराज़के कई मरीजोंपर आपके तरीकए इलाजकी आज़मा-यश कर चुका हूं। वाकई जिस तरह पारससे आशना होनेपर आहनभी कुन्दन में तवदील हो जाता है उसी तरह आपके तरीक़ए इलाजसे वाक़फियत होनेपर ज़ुज़ा-मीभी अपने मर्जसे निजात हासिल करके आरामसे जिन्दगी वसर करता है। हकीक़तन अगर मेरे दिलसे दर्याफ्त किया जाय तो मैं आपके तरीक़ए इलाजको पारससे कहीं वेश कीमत तसव्वुर करता हूं क्योंकि पारससे महज़ लोहाही कुन्दन हुआ करता है और आपके उसूले इलाजसे हर मर्जमें मुव्तला मरीज़को फायदा पहुंचता है। इसके अलावा तन्दुरुस्तीकी कीमतसे कोई शै मुक़ावला नहीं कर सकती।

आपने जो 'प्राकृतिक विज्ञान-'में तवअ होनेके लिए मुझे अपनी नीज जिस, जिस मरीज़का मैंने आपके तरीक़ेसे इलाज किया है उसका मुख्तसर: हाल तहरीर करनेको इर्शाद किया है, उसके वारेमें मअद्वाना इल्तमास यह है कि आजकल वः वाइस तहसील करने वक़ायाके मैं इस क़दर अदीमुलफुर्सत हूं कि अपना इलाजभी वड़ी

मुश्किलसे जारी रक्ख सका हूं। पस इन ऐयामके गुजर जानेपर मैं आपकी खिदमत-में तमाम रिपोर्ट तहरीर करके इर्साल कर दूंगा।

कारे लायक़ासे बिला तकल्लुफ़ याद फ़र्मायिये।

आपका ताबअदार,

N. A. J.

त्वचा एवं अन्त्र-कीट Parasites.

पेरेसाइटका वास्तविक अर्थ उन कीटाणुओंसे है जिनका निर्वाह हमारे शरीर द्वारा होता है; और जिनसे हानिके अतिरिक्त कोई लाभ नहीं होता। पेरेसाइट नामके कीटाणुओंकी अनेक जातियां होती हैं; जिनमेंसे कुछ हमारे शरीरके ऊपर और कुछ भीतर होती हैं। शरीरके ऊपर होनेवाले पेरेसाइट खुजली आदिके अति-रिक्त अन्य कोई विशेष हानि नहीं पहुंचाते हैं, परन्तु शरीरके भीतर होनेवाले पेरे-साइट विशेष कर अन्त्र-कीट कभी, कभी बहुत भयानक रूप धारण करते हैं। इसीसे हम यहांपर त्वचापर होनेवाले कीटाणुओंकी अपेक्षा अन्त्र-कीटको अधिक महत्व देते हैं।

त्वचाके पेरेसाइट बहुधा स्नान करने, अपवित्र वस्त्र धारण करके त्वचाको अस्वच्छ रक्खने, अस्वच्छ मनुष्योंसे संसर्ग करने या आवश्यकतानुसार त्वचाको स्वच्छ न कर-नेसेही होते हैं। इसके अतिरिक्त शरीरसे तैल लगानेसेभी इनकी उत्पत्तिमें इस लिए सहायता मिलती है कि तैलके कारण वायुमें उड़नेवाले विकृत पदार्थ त्वचापर जम जाते हैं। अपरञ्च दूषित पदार्थोंका आहार करनेसे अत्यधिक दूषित श्वेदके निकल-नेपर त्वचाके अस्वच्छ हो जानेके कारणभी त्वचा-कीटोंकी उत्पत्ति हो जाती है।

त्वचापर उत्पन्न होनेवाले कीट त्वचाके लोम कोपोंमें अपना घर बनाते और अण्डे देकर वृद्धिको प्राप्त हुआ करते हैं, जिससे त्वचापर दाद, छाजन और खुज-लीके रोगोंका अनुभव होता है। यह त्वचा-कीट इतने सूक्ष्म होते हैं कि विना अणु-वीक्षण यन्त्रके नग्न नेत्रसे दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु कुछ त्वचा-कीट ऐसेभी होते हैं, जिनको हम विना किसी यन्त्रकी सहायताके नग्न नेत्रोंसे देख सकते हैं। ऐसे त्वचा-कीट जूं या जम-जूं आदिकी जातियोंमें से होते हैं।

जूं आदि तो केवल शरीरको उष्ण जलसे भले प्रकार स्वच्छ करदेने या

दो, एक बार शिरपर दो, दो घन्टे निरन्तर वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचानेपर दूर हो जाती है। किन्तु जमजूं या दाद, छाजन, खुजली, गञ्ज अथवा अन्य त्वचा सम्बन्धी रोगोंकी दशामें रोगके दूर होनेके समयतक, शरीरके जिस स्थानपर त्वचा-कीटों द्वारा पीड़ाका अनुभव हो दिनमें दो बार निरन्तर दो, दो घन्टे ताप पहुंचाना चाहिये। इसके अतिरिक्त दाद, छाजन, खुजली और गञ्जकी दशामें पीड़ित स्थानोंको खुला न रक्खनेके निमित्त, जिससे वायुके संसर्ग द्वारा रोगकी वृद्धि हो, ताप पहुचानाके उपरान्त उष्ण मृत्तिकाके बन्धनोंका प्रयोग करना आवश्यक है। किन्तु जिस समय मृत्तिका शुष्क हो जाय तुरन्तु सूखी हुई मिट्टी खोलकर पुनः दूसरी मिट्टी उष्ण करके बन्धनका प्रयोग करना चाहिये। ये बन्धन केवल उष्ण जल-ताप देते समयही त्वचापर न होने चाहियें। अर्थात् ताप देनेके समयको छोड़कर प्रत्येक समय त्वचापर जलयुक्त उष्ण मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग होना चाहिये।

त्वचाके उन रोगोंमें जिनकी उत्पत्ति दूषित आहारके कारण होती है, पीड़ित स्थानोंके अतिरिक्त उदर एवं छातीपर ताप पहुंचाने और रोगीको फलोंके आहारपर रक्खनेकीभी आवश्यकता है।

अन्त्रमें कीटाणुओंके जन्म लेनेके उपरान्त कभी, कभी रोगीको बहुत कष्ट होता है और प्राणोंपर बन जाती है। क्योंकि कुछ अन्त्र-कीट ऐसी दुष्ट प्रकृतिके होते हैं कि अन्त्रमें गहरे घाव कर देते हैं और निरन्तर अन्त्र-छेदन करते रहते हैं। अन्त्र-कीटकी कोई, कोई जाति एक, एक फुट लम्बे आकारकी होती है; और कुछ जातियां बहुत छोटे आकारकी होती हुईभी नग्न नेत्रोंसे देखी जा सकती हैं। किन्तु अनेक जातियां ऐसे सूक्ष्माकारकोंभी हैं, जिनको बिना सूक्ष्म-दर्शक यन्त्रकी सहायताके नग्न नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता।

अन्त्र-कीटोंके साधारण छेदनसे जो पीड़ा होती है उसका हमको उसी प्रकार ज्ञान नहीं होता, जिस प्रकार मिर्चोंकी साधारण मात्रा सेवन करनेसे, कण्ठसे नीचे उतरनेके उपरान्त आमाश्य और अन्त्रमें उनके तीक्ष्ण प्रभावका अनुभव नहीं होता; किन्तु विष्ठा त्यागनेके समय जैसे फिर उन्ही मिर्चोंकी तीक्षणता गुदा द्वारपर प्रतीत होती है वैसेही श्वेत वर्ण अन्त्र-कीट जब गुदा द्वारपर आजाते है तो उनके छेदनसे होनेवाली पीड़ाका अनुभव हुआ करता है। इसीसे यह रोग बालकोंको बहुधा इस लिए बहुत दुःख देता है कि उनके गुदा-द्वारकी त्वचा बहुत कोमल होती है।

अन्त्र-कीटकी उत्पत्ति होनेपर दिनमें दो या तीन वार दो, दो घन्टे निरन्तर, या जैसी आवश्यकता हो रोगीके उदरपर ताप पहुंचाना चाहिये; और रोगीको केवल रसीले फलोंपर रखना चाहिये। क्योंकि अन्त्रकीटकी उत्पत्ति बहुधा दूषित आहार और अजीर्णादिसे हुआ करती है। यदि आवश्यकता हो तो उदरके साथ, साथ गुदा-द्वारपरभी ताप पहुंचाना अच्छा है, और विशेषकर उन वाल-रोगियोंकी दशामें, जिनको गुदामें, अन्त्र कीट छेदन क्रियासे दुःख दे रहे हों। वालकोंकी चिकित्सामें, यदि उनका आहार केवल माताका दूध हो, माताकोभी उदर ताप देना और रसीले फलोंपर निर्वाह कराना आवश्यक हो जाता है।

जम-जुओंसे पीड़ित एक रोगी सन् १९१७ ई० में हमको मुजफ्फरनगरमें मिला था। उसके नेत्रोंके पलकों, भवों, मूछों, वगलों, शिशनेन्द्रियके चारों ओर और शरीरके अन्य स्थानोंपर जम-जुएं तथा वहु संख्यक उनके अण्डे दृष्टिगोचर होते थे। वह अनेक वार शरीरके लोम मुंडा चुका था; और अनेक तीक्षण औषधियांभी प्रयोग करते, करते थक गया था। अन्तमें उसने हमारी सम्मति चाही। हमने उसको प्रति दिन दो वार टवमें बैठकर वाष्प निकलते हुए उष्ण जलसे निरन्तर दो, दो घन्टे स्नान और त्वचाको रगड़कर शुद्ध करने, और इस लिए कि उसके श्वेदमे वहुत अप्रिय गन्ध आती थी रसीले फलोंके सेवन करनेकी सम्मति दी, जिससे प्राय एक सप्ताहमें उसका जम जुओंसे पीछा छूट गया।

छाजनका एक रोगी नोवेम्वर सन् १९२२ ई० को हमको वम्बईमें मिला था। उसके हाथके ऊपर निरन्तर छः वर्षसे छाजन थी। वह उसकी चिकित्सा करते, करते दुःखी होगया था। किन्तु उसने कभी उसके विषयमें हमसे नहीं कहा था। परन्तु अना-यास उसके हाथपर हमारी दृष्टि गयी और हमने उसपर पीले रङ्गकी चिकनी औषधि लगी देखकर उससे उसका कारण पूछा। अतःउसने समस्त गाथा कह डाली और हमनेभी गर्वपूर्वक उसको उस दुष्ट रोगसे पीछा छुड़ानेके लिए प्राकृतिक चिकित्सा करनेके लिए कहा। उसने हमारी यह वात स्वीकार करली। किन्तु उसने फलोंपर निर्वाह करना न स्वीकार किया। परन्तु छाजन केवल त्वचा रोग है। इस लिए इसपरभी हमने उसकी चिकित्सा करना आरम्भ करदिया। किन्तु यदि वह फलोंपर निर्वाह करके पूर्ण रूपेण अपनी चिकित्सा करता तो वह अपने चिरकालसे पीड़ा देने-वाले उपदंश रोगसेभी सदाको मुक्त हो जाता। वह हमारे एक सेठ मित्रका प्रेमी

था। इस लिए प्रात और सायंके समय हम स्वयं उसके घर जाकर प्रति दिन एक, एक घण्टा अपने हाथसे ताप पहुंचाकर वन्धनोंका प्रयोग करते थे। इस प्रकार छः दिन निरन्तर ताप पहुंचाने और मृत्तिकाके उष्ण वन्धनोंका प्रयोग करनेसे उसके हाथसे सदाको छाजन दूर हो गयी।

डेसेम्वर सन् १९२३ ई० के मध्यमें वम्वईमें एक किरानेका व्यापार करनेवाले वड़े भारी सेटने, जो कि कई उदर व्याधियोंसे पीड़ित था, हमारे एक मित्रके कहनेपर हमारी चिकित्सा प्रारम्भ की। किन्तु वह अधिक समयतक फलोंपर निर्वाह न कर सका। इस लिए डेसेम्वरके भीतरही भीतर हमारी चिकित्साभी वन्द हो गयी। परन्तु दस, ग्यारह दिनमेंही उदरपर ताप करनेसे उसके वीस वर्षके ऐसे भैंसिया दाद जो उसको वहुत दुःख दे रहे थे और समस्त उदरपर छाये हुए थे सदाको विदा हो गये। परन्तु हमें खेद यही है कि हमने विना कुछ लियेही उसकी चिकित्सा की इस परभी उसने उससे दादोंका नाश करनेके अतिरिक्त विशेष लाभ नहीं उठाया। उसके उदरपर प्रति दिन दो वार दो, दो घन्टे तीक्ष्ण (जो कि उसकी मूर्खता थी) उष्ण ताप दिया जाता था। इसीसे उसके उदरसे दादोंके विदा होनेके अतिरिक्त उदरकी त्वचा जल जानेके कारण कृष्ण वर्ण हो गयी थी।

लाहौरमें सन् १९१५ ई० के नोवेम्वर मासके अन्तमें एक रोगी, जो कि एस० पी० रेल्वेके एक डी० टी० एस० आफिसमें००००था, हमको मिला। वह तीस वर्षसे त्वचा सम्वन्धी रोगोंमें ग्रसित था। उसके शिरमें यद्यपि लोम नष्ट नहीं हुए थे तथापि गञ्ज प्रतीत होता था। क्योंकि वालोंकी जड़ोंमें नित्य खुरण्ड जम जाता था, और प्रत्येक समय खुजली होती रहती थी। माथा और गाल देखनेमें पहाड़ी देश प्रतीत होता था और वहां, गर्दनपर, तथा कोहनियों और घुटनोंकी उल्टी ओर और उदर-पर ऐसी खुजली होती थी कि वह दुःखी हो जाता था। वास्तवमें उसको त्वचा रोगके अतिरिक्त एक प्रकारका कुष्ट था। इसीसे उसको रोगसे मुक्त होनेमें तीन वर्ष लगे थे। उसके शिर, उदर और छातीपर नित्य दो वार दो, दो घण्टे ताप पहुंचाया जाता था और रात्रिको उसके समस्त मुख (केवल नेत्र, मुख और नासिकाको छोड़) शिर और अन्य उन स्थानोंपर जहां खुजली होती थी उष्ण मृत्तिका वन्धनोंका प्रयोग किया जाता था; और प्रति रविवारको उसे निरन्तर दो घण्टे उष्ण जलसे भरे हुए टवमें स्नान कराया जाता था। उसको आहारमें केवल

रसील फलही बतलाये गये थे। परन्तु वह बहुत कृपण था, इस लिए यदा कदा वह गेहूंका उवला हुआ दलियाभी दूधके साथ सेवन करलिया करता था। इसके अतिरिक्त उसने तम्बाकू पीनाभी नहीं छोड़ा था। इसीसे उसको इतने समयमेंभी जैसा हम चाहते थे लाभ नहीं पहुंचा। हमारी सम्मतिमें प्रति दिन तीन वार दो, दो घन्टे उसके समस्त शरीरको ताप पहुंचानेके उपरान्त गञ्ज और खुजली होनेके स्थानोंपर मृत्तिका वन्धनोंका प्रयोग होना चाहिए था, जिससे त्वचाके नम रहनेके कारण वायु द्वारा त्वचाके घावोंमें दूषित जीव न पहुंचें। इसके अतिरिक्त तम्बाकू का पीना और अन्नका सेवन करनाभी हमारी सम्मतिके विपरीत था। फिरभी उसको बहुतही शीघ्र आशासे अधिक लाभ पहुंचा। पहिले मासमेंही उसके शरीरका रङ्ग निखर गया, दूसरे माससे चौथे मासतक उसको खुजलीका विशेष कष्ट न रहा, छटे माससे उसके मुखकी आकृति जो कि पहाड़ी देशके समान ऊंची-नीची थी आठवें मासतक एक समान होगयी, ग्यारहवें मासमे उसकी खुजली और गुञ्जका इति हो गया। किन्तु फिरभी रक्तके शुद्ध होनेमें उसको प्राय तीन वर्ष लग गये। हम यहांपर उसके एक पत्रकी प्रति लिपि निम्नमें देते हैं:—

Bhatinda
9/9/16

My dear doctor sahib,

Jai Sri Radha Krishna ki. Day by day I am improving towards health. The hilly tract of country is totally changed to an even piece of land, and the troubles of itching are almost over. Besides, now I find the colour of my body so fair and nearly free from red and black, and itchy spots. But till now the matter comes out now and then, for I can not apply the clay poultice in the day time, and sometimes it is out of question to receive the jucy fruits here. But this I dare say that your treatment is a miraculas one, and so natural. Because not in my case only but in a dozen of cases it is well proved.

At the time of your departaure how laxmi was suffering from insanity. But according to your expressed desire we gave her the fomentations and kept her on the carrots and pompkins only; and she was cured magically within the period of five days. I am sure that on your coming back you will have good many wealthy patients, who are tired of doctors. I, therefore, beg to request you to come over here for a fortnight. For when you left the place many men came to take your advice.

Wishing you healthy.

I beg to remain
Sir
Your most obdient patient,
A. R.

सन १९१५ ई० के नोवेम्बर मासमें जम्मूमें हमको एक ओवरसियर महाशय मिले, उनका तीन वर्षीय वालक अन्त्रकीटकी पीड़ासे वहुत दुःखी था। क्योंकि वायु निकलनेके साथ, साथ अन्त्र-कीटभी निकलकर गुदा द्वारपर आजाते थे, और वह प्रत्येक समय अपनी छेदन क्रियासे उस वालकको दुःख देते रहेते थे। उसके माता-पिता, जव वहुत कष्ट होता था, गुदा द्वारपर तम्वाकू या कोई अन्य तीक्ष्ण पदार्थ मल देते थे, जिससे वहां आये हुए कीटाणुओंका नाश हो जानेसे कुछ कालके लिए शान्ति होजाती थी। परन्तु कुछही समयके उपरान्त फिर वायु द्वारा अन्त्रमेंसे कीटाणुओंके निकल आनेपर वालकको उसी कष्टका अनुभव होने लगता था। इसके अतिरिक्त वालकको प्रायः ज्वर, खांसी और अजीर्णभी कष्ट दिया करती थी। उसके माता-पिता उन रोगोंके निमित्तभी अनेक चिकित्सकोंके यहां टक्करें मार चुके थे। क्योंकि उनके कई वालक तीन वर्षकी आयुके भीतरही मृत्युको प्राप्त हो गये थे। अतः उन्होंने हमारी सम्मतिभी चाही। किन्तु हमारी सम्मतिके अनुसार वालककी चिकित्सा करना उन्हें वहुतही कठिन प्रतीत हुआ। इस लिए उस समय उन्होंने हमारी चिकित्सा नहीं की। किन्तु अन्तमें दिनोदिन अजीर्णके वढ़नेपर वालककी अन्त्रमें कई

जातियोंके पेरेसाइटकी उत्पत्ति हो गयी, जिससे कभी, कभी उसके उदरमें असह्य वेदना युक्त पीड़ाका अनुभव होता था। विष्टेके साथ, तीक्ष्ण औषधियोंके प्रयोगसे, कई वार प्राय एक फुट लम्बे कीट उसके उदरसे निकले थे। उस समय उसके शरीरका वर्ण रक्त-हीन दीखता था। उदरका आकार अनावश्यक वृद्धिको प्राप्त हो गया था। उस समय हम बिजनौरमें थे। इस लिए न तो उस बालकके पिता महाशय इतनी दूर पहुंच सकते थे, और न वह हमकोही बुलानेको समर्थ थे। अतः केवल पत्र व्यवहारसेही उसकी चिकित्साका प्रारम्भ हुआ। हमने उसको दिनमें तीन बार एक, एक घन्टे निरन्तर उदर, छाती और गुदापर ताप देनेकी आज्ञा की। आहारमें अनुत्तेजक रसीले फलोंपर रक्खनेको लिखा गया और पीनेको उष्ण (रक्तके तापका) जल बताया गया था। किन्तु एक मास व्यतीत होनेपर हमने गायके दूधकी आज्ञा देदी थी। फल यह हुआ कि पहिले सप्ताहमेंही वह नियमित रूपसे विष्टेका त्यागन करने लगा, उदरकी वेदनायुक्त पीड़ा तीन दिनके भीतरही लुप्त हो गयी, और गुदा द्वारपर जो अन्त्र-कीटोंके काटनेसे पीड़ा होती थी वह पहिलेही दिन जाती रही, धीरे, धीरे दूसरे सप्ताहमें उसका अजीर्ण रोग न्यून होने लगा, चौथे सप्ताहमें उसकी त्वचाके वर्णमें परिवर्तन होने आरम्भ हो गये, पांचवें सप्ताहमें उसका उदर उचित आकारका हो गया और भले प्रकार भोजन पाचनमें आने लगा। इसी प्रकार प्राय चार मासमें वह पूर्ण आरोग्य हो गया।

अर्श-रोग Piles or Hæmorhoids.

मनुष्य शरीरमें अर्श-रोग एक बहुतही दुःखप्रद पीड़ा है। इसके उत्पन्न होनेके अनेक हेतु हैं, परन्तु विशेष कारण यकृतका उचित रीतिसे काम न करना, निरन्तर कोष्ट-बद्धसे पीड़ित रहना और अधिक बैठा रहना है। वैज्ञानिकोंने अर्श-रोगकी तीन जातियां कही हैं। क्योंकि इन हेतुओंसे रक्त सञ्चारमें बाधा होनेपर वह एकत्र होकर अर्शका रूप धारण कर लेता है। बाह्य-अर्श External Piles, आन्तरिक-अर्श Internal Piles और मिश्रित अर्श Mixed Piles. बाह्य-अर्श रोगमे गुदाके बाहर ग्रन्थियां होती हैं, आन्तरिक अर्शमें अन्त्रके भीतर ग्रन्थियां पायी जाती हैं और मिश्रित अर्शमें भीतर और बाहर दोनों स्थानपर ग्रन्थियां होती हैं। प्रायः शीतल पदार्थोंपर बैठनेसे अर्श प्रदाहित होकर सूज जाते हैं या शुष्क विष्टेके त्यागनसे उनमें दाह हो जाती है, जिससे बहुधा रक्त आने लगता है। अर्श रोगमें अन्त्र-

शूल या डिसेन्ट्रीके समान विष्टेमें मिला हुआ रक्त नहीं आता है, प्रत्युत रक्त विष्टेकी लेण्डीपर लगा होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्शसे एकैक मृत्यु नहीं होती है, परन्तु प्राय अर्शसे पीड़ित रोगियोंके शरीरमें रक्तकी मात्रा दिनोदिन न्यून होते रहनेसे समयसे पूर्व मृत्यु होती है। इस लिए इस दुष्ट रोगसे मुक्त होनेके लिए बड़ी सावधानीसे चिकित्सा करनी चाहिये।

बाह्य अर्श वर्षों पर्यन्त दुःखप्रद नहीं होते। किन्तु यदाकदा गुदा द्वारा विष्टेकी अधिक शुष्क लेंडीका त्यागन करनेसे साधारण जलन या कटनकी पीड़ाका ज्ञान होता रहता है। परन्तु शीत लग जानेपर वह तुरन्त प्रदाहित होकर असह्य पीड़ाका हेतु होते हैं। इसके अतिरिक्त वह इतने पीड़ा युक्त होते हैं कि जंघाओं या वस्त्रोंसे स्पर्श होनेपर रोगीके प्राणोंपरही बना करती है। इस लिए न रोगी चलने योग्य रहता है और न वह बैठही सकता है। अर्श जंघाओं आदिके घर्षणसे फूलकर लाल हो जाते हैं, और उनसे रक्तके धब्बे लगा करते हैं। कभी, कभी वह इतने अधिक प्रदाहित हो जाते हैं कि उनसे मवाद (Pus) आने लगता है, जिससे प्रायः कुछ दिनको पीड़ा जाती रहती है, या रक्तके एकत्र हो जानेसे ग्रन्थियोंके निर्जीव और कठोर हो जानेपर उस समयतक पीड़ाका ज्ञान नहीं होता जबतक कि उनमें पुनः जीवन आनेपर शीतका संसर्ग नहीं होता है। अर्श पीड़ाका दौरा बहुधा एक सप्ताहतकही रहा करता है।

आन्तरिक अर्शका, इसके अतिरिक्त कि कभी, कभी कुछ ओंस कृष्ण, वर्णका रक्त आता रहे या विष्टेपर रक्तकी रेखाओंका अनुभव हो, बहुत दिनतक कोई ज्ञान नहीं होता। उनसे प्रायः निरन्तर श्लेष्म मिश्रित रक्तभी आता रहता है, परन्तु जबतक रोग भयङ्कर दशामें न हो पीड़ा नहीं होती है। जब शीघ्र, शीघ्र और अधिकाधिक परिमाणमें रक्त प्रवाह होने लगता है तो भयानक न होते हुएभी स्वास्थ्यके लिए अति हानिप्रद होता है। परन्तु जिन रोगियोंके शरीरमें रक्तकी अधिकता होती है, और उनको अधिक आहार करनेका व्यसन होनेसे उन्माद या गठिया रोगके होनेकी सम्भावना होती है तो अर्श रोग उसे रोकनेमें सहायक होता है। इसके अतिरिक्त हृदय सम्बन्धी रोगोंकोभी यथा सम्भव दमन करता रहता है। आन्तरिक अर्श आकारके बड़े होनेपर अन्त्रकी क्रियाओंसे बाहर निकल आते हैं; और फिर यदा कदा बाह्य अर्शके समान दुःख देते रहते हैं।

अर्शसे पीड़ित रोगियोंको हमारी चिकित्सासे पहिले दिनसेही लाभ पहुंचना आरम्भ हो जाता है। क्योंकि उनकी पीड़ामें न्यूनता होने लगती है। किन्तु वास्तवमें रोगका अन्त होनेके निमित्त बहुत धैर्यकी आवश्यकता है। कारण यह कि अर्श रोगकी उत्पत्तिमें वर्षों लगते हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थियोंके कठोर और निर्जीव और यकृत तथा अन्त्रादिके दूषित हो जानेके कारण शरीरको आरोग्य होने में बहुत समय लगता है।

किसी प्रकारकी अर्श पीड़ामें उदर अथवा उदर एवं छाती और गुदा द्वारपर नित्य प्रति दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाना चाहिये। किन्तु यदि रोगीको अधिक पीड़ाका अनुभव होता हो तो दिनमें तीन, चार या जितनी बार और जितने समयतक आवश्यकता हो ताप पहुंचना चाहिये। यदि अर्शकी ग्रन्थियां अधिक प्रदाहित हों, या उनमें घाव हो गये हों, या उनमें कटन अथवा जलनका अनुभव होता हो तो प्रत्येक समय गुदा द्वारपर मृत्तिकाके उष्ण बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये, और रोगीको उष्ण (रक्तके तापका) जल पीनेको देना चाहिये। इसके अतिरिक्त शौच जानेके उपरान्त रोगीके गुदा स्वच्छ करनेके निमित्त सदा उष्ण तापका जल प्रयोग करना चाहिये। यदि रोगीको कोष्ट-निबन्धके कारण विष्टेका त्यागन न हुआ हो तो जितने अधिक तापका उष्ण जल रोगी बिना जिह्वाके जले पान कर सकता हो पिलाना चाहिये। यदि रोगीको अधिक कष्ट हो तो जबतक पीड़ाका अन्त न होले केवल रसीले फल या शाक देने चाहियें। किन्तु पीड़ा न रहनेपर अन्य कोमल फलादिभी दिये जा सकते हैं। परन्तु उचित तो यही है कि रोगीको बहुत समयतक केवल रसीले फलोंपरही रक्खा जाय। क्योंकि ठोस पदार्थोंसे अर्शकी ग्रन्थियोंसे घर्षण होनेपर पीड़ामें न्यूनता होनेकी अपेक्षा वृद्धि होती रहती है।

अर्शसे पीड़ित रोगियोंको कभी, कभी इस दुष्ट रोगसे मुक्त होनेके हेतु बारह मास या इससेभी अधिक समय लग जाता है। किन्तु इतनी बात अवश्य है कि रोगीको यथेष्ट ताप पहुंचाया जाय तो अर्श रोगकी तीव्रातितीव्र दशामें, जिस पीड़ाका ज्ञान होता है वह एक सप्ताहके भीतर न्यून होते, होते ऐसी लोप हो जाती है कि फिर उसका कभी दौरा नहीं होता। किन्तु कभी, कभी साधारण असावधानीसे रोगके दूर होते, होतेभी बीच, बीचमें पीड़ाके दौरे हो जाते हैं। इस लिए यदि कोई रोगी चाहता है कि एक बार पीड़ाका अन्त होनेपर फिर कभी दौरा न हो तो आहार और चिकित्सामें पूरी सावधानीसे काम ले।

अर्श रोगसे पीड़ित रोगी सन् १९१५ ई० के डेसेम्बर मासमें लाहौरमें हमसे सम्मति लेने आया था। वह वारह वर्षसे अर्श रोगसे दुःख पा रहा था। उसने अनेक चतुर चिकित्सकोंसे चिकित्सा करायी थी। इसके अतिरिक्त दो वार वह अर्शका आपरेशनभी करा चुका था, जिससे कुछ वर्षोतक तो उसको कुछ शान्ति रही, परन्तु अन्तमें उसके पुनः अर्शकी ग्रन्थियां उभर आयीं, और ऐसा भयङ्कर रूप धारण किया कि रोगी पीड़ाके कारण एक पलकोभी शयन नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त ग्रन्थियोंके वाहर निकल आनेके हेतु उसको कुछ पग चलना या तनिक काल वैठनाभी असह्य होता था। कई, कई दिनतक उसकी गुदासे श्याम वर्णके रक्तका अधिकाधिक प्रवाह रहता था, और कभी, कभी उस रक्तके साथ श्लेष्म अथवा मवादभी आता था। प्रथम तो उसे सदाही कोष्ठ-वद्ध रहता था, और यदि दो, चार दिनके उपरान्त वह विष्ठेका त्यागनभी करता था तो असह्य पीड़ाका अनुभव होता था। उसकी आयु उस समय प्राय चालीस वर्ष थी, और सन्तानकी इच्छासे दो विवाह करनेपरभी उसके कोई वालक न हुआ था। वह मिश्रित अर्श-(Mixed piles) से पीड़ित था। उसको दस वर्षकी आयुमें यकृत रोग हुआ था, और हमारे अनुमानसे उसके शरीरमें अर्श रोगकी नींव उसी समयसे पड़ी थी; प्रत्युत उससेभी पूर्व उसके वाल्यकालमेंही उसकी माताने उसके रुदन करनेकी शक्तिका दमन करनेके लिए अफ्यून दे, देकर उसके गात्रमें अर्श रोगकी स्थापना कर दी थी। इसके अतिरिक्त उसे वाल्य कालसेही ऐसे व्यवसायमें डाल दिया गया था कि उसे अधिक निरन्तर वैठे रहनेकाही स्वभाव होगया था। अपरञ्च वह अपने आलस्यमय स्वभावके कारणभी वाल्यावस्थासेही अर्श-रोगकी उत्पत्ति कर रहा था। क्योंकि वह सदा इच्छा होनेपरभी मल-मूत्रादिका त्यागन नहीं करता था; और सर्वदा ऐसे गरिष्ठ पकवानादि पदार्थोंका सेवन करता था, जिससे वह निरन्तर कोष्ठ-वद्धसे पीड़ित रहता था। मूर्ख चिकित्सकोंने उसे रेचक औषधियां देकर उसकी अन्त्र क्रियाओंको वहुतही शिथिल कर दिया था, जिससे उसे कोष्ठ-वद्ध औरभी दुःख देने लगा था; और उन्हीं समस्त कारणोंसे अन्तमें उसे अर्श पीड़ाका अनुभव हुआ था। हमने उसको टब द्वारा ताप पहुंचानेकी सम्मति दी थी, परन्तु उस समय टबकी व्यवस्था न हो सकनेके कारण पहिले सप्ताहमें प्रति दिन वारह घण्टे निरन्तर और अर्ध रात्रिके

समय दो घण्टे छाती उदर और गुदापर ताप पहुंचानेकी आज्ञा दी थी। इसके उपरान्त चार मास पर्यन्त प्रति दिन तीन बार (प्रात, मध्यान और सायंके समय) दो, दो घण्टे ताप पहुंचानेकी सम्मति दी थी, और चार मासके पश्चात् उसको केवल दो बार प्रति दिन ताप पहुंचानेके लिए कहा था। ताप पहुंचानेके अतिरिक्त उसको गुदापर मृत्तिकाके उष्ण बन्धनोंके प्रयोग करनेकीभी आज्ञा दी थी; और आहारके निमित्त पहिले एक मासतक केवल अनार एवं संगतरे और तत्पश्चात् अन्य रसीले फलोंकी अनुमति दी थी। फलतः पहिले सप्ताहके अन्तमेंही उसकी पीड़ामें बहुत न्यूनता हो गयी थी, और दो मासके भीतर उसकी पीड़ाका सर्वथा अन्त हो गया था। दूसरे मास के उपरान्त उसकी क्षुधामें वृद्धि होने लगी थी और पांचवें मास-तक वह नियमित रूपसे मलका त्यागन करने लगा था। छठे मासमें कुछ साधारण कुपथ्यसे उसे कुछ कष्ट हो गया था, किन्तु तुरन्तही ताप अधिक समय-तक पहुंचानेसे वह कष्ट दूर हो गया था, और उसके उपरान्त फिर उसे कोई दुःख नहीं हुआ। परन्तु अर्शका अन्त होनेके निमित्त उसको डेढ़ वर्ष निरन्तर चिकित्सा करनी पड़ी थी। उस समयसे फिर कभी उसे अर्शकी पीड़ाका ज्ञान नहीं हुआ, और अर्शकी ग्रन्थियां स्वतःही धीरे, धीरे लुप्त हो गयीं। इसके अतिरिक्त उसकी दोनों स्त्रियोंसे एक, एक सन्तानकाभी जन्म हुआ।

पेरीटोनाइटिस Peritonitis.

उदरकी वह झिल्ली, जिसमें अन्त्रादि उसी प्रकार रक्खी रहती हैं जिस प्रकार किसी थैले में कोई सामग्री भरी रहती है; पेरीटोनियम (Peritoneum) कहलाती है और पेरीटोनाइटिसका अर्थ पेरीटोनियममें दाह होना है। पेरीटोनाइटिसकी दो जातियां हैं। एक तीव्र और दूसरी मन्द।

इस रोगकी उत्पत्ति कभी, कभी गठियाकी प्रकृतिके मनुष्योंमेंभी हो जाया करती है। किन्तु अधिकांश इस रोगके होनेका कारण उदरकी झिल्ली-(Peritoneum) में विषैले और अदृश्य कीटाणुओंके प्रवेश करनेपर होती है। इसके अतिरिक्त आमाशय, अन्त्र, और मूत्राशय आदिके फट जानेके हेतु विकृत पदार्थोंके उदरकी झिल्लीमें प्रवेश करनेसे यह रोग बड़ी भयङ्कर दशा धारण करलेता है। अपरञ्च, अन्त्रादिमें फोड़े या किसी प्रकारकी बाधा होने, पथरी पड़ने या हर्नियाके कारणभी यह रोग तीव्र दशामें हो जाता है। इसी प्रकार उदरकी झिल्लीके निकट

सम्बन्धी अन्य अवयवोंमें फोड़े आदि होनेपरभी यह रोग हो जाता है। परन्तु इन सबमें एपेन्डीसाइटिस या गर्भाशय अथवा डिम्ब कोष (Ovary) और डिम्ब नालिकाओं—(Fallopian tubes) में फोड़े होनेपर पेरीटोनाइटिसकी अति भयङ्कर दशा होती है। इस रोगकी मन्द दशाका कारण अन्त्रमें ट्यूवरक्ल या ट्यूवरक्लोसिस सम्बन्धी अन्य रोगोंका होना है। किन्तु इसके अतिरिक्त आमाशयादिमें अधिक समयतक दाह रहनेसेभी रोग मन्दावस्थाको प्राप्त हो जाता है; और ऐसी दशामें रोग अधिक भयङ्कर नहीं होता है। क्योंकि अधिक समयतक दाह रहनेके कारण झिल्लिकी भीत अधिक मोटी और निर्जीव हो जाती है, जिससे एपेन्डीसाइटिसका भय वहुत कम रहता है।

रोगकी तीव्र दशामें उदरमें स्पर्श करनेसे असह्य वेदनायुक्त पीड़ाका ज्ञान होता है, रोगीको वमन होती रहती है, श्वांसकी गति तीव्र और अधूरी होती है और रोगी केवल छातीसेही श्वांस लेता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि उदरकी पीड़ा और कठोरताके कारण उदरका सिकुड़ना और फैलना वन्द हो जाता है, अन्त्रमें वायुका वेग हो जानेसे उदर फूलनेपर रोगीके कष्टमें वृद्धि हो जाती है, कोष्ठ-वद्ध निरंतर दुःख देता रहता है, रोगी कमरके सहारे घुटने उपरको उठाये हुए लेटा रहता है, क्योंकि रोगी पीड़ाके कारण टांग फैलानेको असमर्थ होता है, त्वचाका ताप १०४° या १०५° तक हो जाता है, किन्तु कभी, कभी श्वेद आता रहता है, नाड़ीकी गति मन्द और कठोर होती है और मूत्रका त्यागन पीड़ाके साथ और वहुत न्यून मात्रामें होता है। रोगके यह लक्षण केवल एक दो दिनही रहते हैं। किन्तु यदि अधिक समयतक रहें तो यद्यपि त्वचाका ताप कम हो जाता है परन्तु नाड़ीकी गति तीव्र और निर्वल हो जाती है, मुखसे भूरे या रक्त-वर्णका वमन होता है और उदरका शोथ और पीड़ा लुप्त हो जाती है, और शीघ्र रोगी मृत्युको प्राप्त हो जाता है। कभी, कभी रोगीकी मृत्यु होनेमें एक सप्ताहतक लग जाता है। किन्तु कोई, कोई रोगी चौवीस घण्टेमेंही समाप्त हो जाते हैं।

ट्यूवरक्यूलर पेरीटोनाइटिसकी दशामें उदर-पीड़ा और अफरेका अनुभव होता है, और मल-त्यागन क्रियाओंमें कोष्ठ-वद्ध या अतिसारके कारण वाधाएं उपस्थित रहती हैं, और इसके साथ, साथ ज्वर और क्षुधामें कमी रहती है। वहुधा उदर-पीड़ा वहु-

तही साधारण होती है; किन्तु पीड़ाके न्यून होनेपर उदर भरा हुआ और भारी प्रतीत होनेसे अशान्तिका अनुभव होता है।

पेरीटोनाइटिसकी मन्दावस्थामें यदा कदा तीव्र पीड़ाका उदरमें शूलके समान अनुभव होता है, और उदरकी झिल्ली इतनी मोटी हो जाती है कि कभी, कभी रसूमर(Tumor) का धोका हो जाता है।

पेरीटोनाइटिसकी दशामें चाहे वह मन्द हो अथवा तीव्र बड़ी सावधानी और धैर्यके साथ चिकित्सा करनी चाहिये। किन्तु रोगके तीव्र होनेपर चिकित्सा करनेमें एक पलका विलम्ब करनाभी उचित नहीं है। क्योंकि रोगकी इतनी तीव्र गति होती है कि वह अति शीघ्र शरीरका नाश करके भयानक रूप धारण कर लेता है; और फिर चिकित्सा करना निरर्थक सिद्ध होता है। अतः यदि तनिकभी लक्षणोंसे पेरी-टोनाइटिसका सन्देह हो तो निरन्तर उस समयतक रोगीको उदर और छातीपर ताप पहुंचाना चाहिये जबतककि रोगी जोखिमसे बाहर न हो जाय। कभी, कभी रोगीको निरन्तर अड़तालीस या इससेभी अधिक घन्टे ताप पहुंचानेकी आवश्यकता होती है। रोगकी भयानक दशा निकल जानेपर प्रति दिन दो या तीन बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचानेकी आवश्यकता रहती है। किन्तु रोगकी मन्द दशामें प्रति दिन केवल दो या तीन बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाना आवश्यक होता है। परन्तु मन्द रोगकी अपेक्षा तीव्र रोग शीघ्र चिकित्सासे दूर हो जाता है।

रोगकी तीव्रावस्थामें उचित तो यही है कि रोगीको कोई आहार न दिया जाय। क्योंकि उस समय रोगीको भोजनकी इच्छाही नहीं होती है। किन्तु यदि रोगीको आहारकी इच्छा हो तो केवल अनारही दिया जाय। परन्तु रोगकी मन्द दशामें अनारके अतिरिक्त अन्य कोमल अनुत्तेजक और रसयुक्त फलभी दिये जा सकते हैं। रोगीको यदि प्यासका अनुभव हो तो केवल साधारण तापका उष्ण जल देना चाहिये।

तीव्र पेरीटोनाइटिसका एक रोगी डेसेम्बर सन् १९२१ ई० में हमको दिल्लीमें मिला था। उसको पल, पलपर वमन होता था, उदरमें वेदना युक्त शूलके समान पीड़ा होती थी, उदरमें अफरा था, टांगें सिकोड़कर घुटने उठाये हुए वह कमरके सहारे लेटा हुआ था, श्वांस लेते समय केवल छातीही सिकुड़ती और फैलती हुई प्रतीत होती थी और उदर सिकुड़ने एवं फैलनेकी क्रिया नहीं कर रहा था, मूत्र अल्प मात्रामें और कष्टके साथ आता था, विष्टेके त्यागनेकी इच्छा होते हुएभी नहीं होता

था, प्रत्युत वायुका प्रवाहभी बन्द था, जिससे रोगीको बड़ी अशान्ति थी और रोगीको ज्वरभी प्रतीत होता था। किन्तु कभी, कभी पीड़ासे विकल होनेपर रोगीकी त्वचापर स्वेद प्रतीत होने लगता था। हमने उस रोगीको निरन्तर छब्बीस घन्टेतक उदर एवं छातीपर ताप पहुंचाया था, और इसके उपरान्त एक सप्ताहतक प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचानेकी आज्ञा दी थी। फलतः चार घन्टे ताप पहुंचानेपरही उसके वमन और पीड़ामें न्यूनता होनी आरम्भ हो गयी थी, आठ घन्टेके पश्चात उसे विष्ठा होगया था, मूत्र त्यागनेकी पीड़ाभी न्यून होगयी थी, और गुदा द्वारा वायु-प्रवाह आरम्भ होगया था, और इसी प्रकार धीरे, धीरे छब्बीस घन्टेतक ताप पहुंचानेपर वह यद्यपि पूर्ण रूपेण पीड़ासे मुक्त नहीं हुआ था, परन्तु प्रसन्न वदन प्रतीत होता था। इसके उपरान्त शनैः, शनैः एक सप्ताहतक चिकित्सा करने और केवल अनारपर रहनेसे वह पूर्ण आरोग्य होगया।

गुदाके निकटवर्त्ती रोग Rectum diseases.

अर्श (piles) और भगन्दर-(Fistula) के अतिरिक्त गुदा या गुदा नालीमें अनेक रोग हो जाते हैं, जिनके कारण गुदा या गुदानालीमें, खुजली, पीड़ा, दाह या शोथका अनुभव होता है। गुदा सम्बन्धी विशेष रोग खुजली (Itching), पीड़ा (Pain), भगन्दर अर्थात् नासूर (Fistula or ulceration), फोड़ा (Abscess), कांच निकलना (Proplase or protrusion), ट्यूमर, एक विशेष जातिका फोड़ा (Tumor), और केन्सर, एक विशेष जातिका फोड़ा (Cancer), आदि होते है।

गुदामें खुजली होना प्रायः अजीर्ण रहनेका कारण है। क्योंकि अजीर्णसे श्वेत कीटाणु (Thread warm) या अन्य किसी जातिके विषैले जीव उत्पन्न होनेपर दाहको प्रगट करनेवाला खुजलीका लक्षण प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त शीतादि लगने या शौच जानेके उपरान्त दूषित और विषैला जल प्रयोग करनेसेभी दाहके होनेपर खुजली होने लगती है। अपरञ्च गुदा मैथुनभी खुजलीका हेतु होता है।

बहुधा किसी नासूर या घावके होने या अर्शकी उपस्थितिमें गुदामें मल त्यागनके समय पीड़ा हुआ करती है। परन्तु इस प्रकारकी पीड़ा शीघ्रही लुप्त हो जाती है। किन्तु किसी फोड़े आदिके होनेपर जबतक फोड़ेका अन्त नहीं पीड़ा नहीं जाती।

नासूर (Ulceration) वहुधा अतिसार, अन्त्रमें ट्यूवरक्यूलर रोग या कोष्ठ-बद्धसेही हुआ करता है। गुदाके नासूरमें वहुधा मवाद आया करता है और कभी, कभी विष्टेमें मिली हुई रक्तकी धारियां प्रतीत होती हैं। यदि नासूर अधिक समय-तक रहता है तो अन्त्र-नालीको तङ्ग और उसमें वाधा उपस्थित करनेका हेतु होता है।

गुदाके निकट कई प्रकारके फोड़े हो जाते हैं, जिनमेंसे एक इशियो-रेक्टेल एबसेस (Ischio-rectal abscess) कहलाता है, जो कि वहुधा क्षयी रोगके अन्तिम दिनोंमें प्रतीत होता है, और उस समय रोगसे मुक्त होनेकी वहुतही कम आशा रहती है। इस प्रकारका फोड़ा चोट या शीत आदिके कारण अन्य स्थानोंमें-भी हो सकता है, और किसीभी दशामें वह भगन्दर-(Fistula) का कारण हो सकता है।

भगन्दर (Fistula) अर्थात् फ़िस्तुलाका वास्तविक अर्थ नाली-(pipe) का है। अतः प्रत्येक ऐसे नासूरके लिए जिसके द्वारा एक थैलेसे दुसरे थैलेमें जानेको कृत्रिम और तङ्ग मार्ग हो फ़िस्तुला कह सकते हैं। इसीसे मूत्राशयसे अन्त्रको इस प्रकारका कोई कृत्रिम मार्ग हो जाय तो उसे फ़िस्तुला कहेंगे, और यदि वैसाही मार्ग किसी अन्य दो पोले अवयवोंके वीचमें हो जाय तो उसेभी फ़िस्तुलाके नामसेही सम्बोधित करेंगे। फ़िस्तुलाके होनेके कई कारण है। परन्तु प्रधान हेतु यही है कि किसी तीक्षण पदार्थ द्वारा किसी पोले अवयवमें छिद्र होते, होते इतना लम्बा हो जाय कि वह अन्य किसी पोले अवयवको फाड़कर पार हो जाय। छिद्र होनेकी यह क्रिया जिस प्रकार एक तीक्षण अस्त्रसे हो सकती है उसी प्रकार किसी फोड़े, या प्रदाहित स्थानमें किसीभी जातिके उत्पादित कीटाणुओं द्वाराभी होती है। इसीसे पुराने फोड़ों घावों या किसी एक अवयवका हर्नियाके समान अन्य अवयवपर बोझ पड़नेका परिणाम फ़िस्तुला होता है। कुछ बालकोंको माताके कुपथ्यसे शरीरके अपूर्ण रहनेके कारण जन्मकालसेही फ़िस्तुला होता है। कभी, कभी तीक्षण प्रकृतिके आहार या पिन अथवा कंच निगल जानेसे-भी फ़िस्तुला हो जाता है और ट्यूवरक्यूलर रोगके उपस्थित होनेपरभी फ़िस्तुलाकी सम्भावना रहती है।

फ़िस्तुलाके होनेपर कभी, कभी रोगीको वहुत दुःख होता है, और वहुधा मार्गसे पूय (मवाद), या विकृत जल आता रहता है।

प्रायः निर्बलताके कारण बालकोंकी कांच बाहर निकल आया करती है। परन्तु बहुधा उन्हीं बालकोंको यह रोग हुआ करता है, जिनकी गुदामें श्वेत कीटाणु या अतिसार अथवा कोष्ठ-बद्धके कारण खुजली, जलन या कटनका अनुभव होता है; अर्थात् इस रोगका मूल कारण अजीर्ण और दूषित आहारही है।

गुदामें ट्युमर या केन्सरका होना बहुतही भयानक है ट्यूमरकी दशामें गुदापर त्वचासे उभरी हुई ग्रन्थियां, जिनके ऊपर कभी, कभी असाधारण शोथ होता है, प्रतीत होती हैं और दिनों दिन रोग और पीड़ामें वृद्धि होती जाती है; और साथ, साथ खुजलीका अनुभव होते हुए गुदासे जल प्रवाह होता रहता है। कभी, कभी ट्यूमर या पालीपस (Polypus) गुदाके भीतरभी हो जाता है। परन्तु ऐसी अवस्थामें इसके अतिरिक्त कि यदा कंदा रक्त आता रहे किसी पीड़ाका अनुभव नहीं होता। गुदा केन्सरके लिए एक विशेष स्थान है। परन्तु गुदाका केन्सर बहुधा प्रौढ़ावस्थामेंही हुआ करता है। केन्सरकी दशामें श्यामवर्णकी ग्रन्थियां उभरती हुई प्रतीत होती हैं और शीघ्रही धीरे, धीरे उनमें घाव होने लगता है, जिससे बहुतही कम मात्रामें मवाद आया करता है। किन्तु जल प्रत्येक समय रिसता रहता है, और पल, पलपर रक्तके निकलनेकी सम्भावना रहती है। पीड़ाभी बहुत बढ़ती घटती रहती है। यदा कदा अतिसार या कोष्ठ-बद्धभी दुःख देताही रहता है। ट्यूमर और केन्सर ऐसे दुष्ट रोग हैं कि कई, कई बार आपरेशन करने एवं एक्सरेज (X-Rays) और रेडियम-(Radium) से चिकित्सा करनेपरभी फिर हो जाते हैं और अन्तमें रोगीके प्राणोंको लेकर जाते हैं। गुदामेंही नहीं प्रत्युत शरीरमें जहां कहीं-भी यह रोग हो जाते हैं वहां दिनो दिन वृद्धिको प्राप्त हों, होकर एक दिन रोगीके शरीरका अन्त कर देते हैं। इस लिए इन दोनोंमेंसे किसी रोगके होतेही तुरन्त चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिये।

गुदा सम्बन्धी समस्त रोगोंमें गुदा एवं उदरपर ताप पहुँचाना चाहिये और यदि घाव हों तो उनपर तापके अतिरिक्त उष्ण मृत्तिका बन्धनोंकाभी प्रयोग करना चाहिये। किन्तु यदि रोगका सम्बन्ध उदरसे न हो अर्थात् केवल स्थानीय और बाह्य रोग हो तो केवल गुदापर ताप करनाही यथेष्ट है।

अर्शके अतिरिक्त गुदा सम्बन्धी रोगोंमें भगन्दर (Fistula), नासूर (Ulceration), ट्यूमर (Tumor) और केन्सर (Cancer) बड़े दुष्ट रोग

हैं। इसीसे भगन्दर और नासूर पूर्णतः रसीले फलोंका आहार और गुदा एवं उदर-पर अधिक ताप तथा आवश्यकता हो तो वन्धनोंका प्रयोग करनेसे बहुत कालमें दूर होते हैं; और यदि ताप इतना यथेष्ठ नहीं होता है जो नासूरके समस्त मार्गमें पहुँच सके तो उससे लाभ पहुंचनेकी आशा रखना व्यर्थ है। अतः भगन्दर या *किसी नासूरसे, जो गुदामेंही नहीं प्रत्युत शरीरके किसी भागमें हो,* मुक्त होनेके लिए नासूरके चारों ओर इतना ताप पहुंचाना चाहिये जो नासूरके समस्त भागमें प्रभाव कर सके। और टयूमर और केन्सरकोभी चाहे वह शरीरके किसी स्थानमें हो यथेष्ठ ताप पहुंचाने एवं वन्धनोंका प्रयोग करनेकी आवश्यकता है। क्योंकि साधारण तापका टयूमर या केन्सरपर कोई प्रभाव न होनेसे रोग घटनेकी अपेक्षा बढ़ने लगता है। इसीसे एक नेत्रके टयूमरका रोगी, जो कि नोवेम्बर सन् १९२५ ई० में हमारी चिकित्सामें आगरेके स्थानपर आया था, दो मासके भीतर समस्त पीड़ा और शोथके चले जानेपरभी इस लिए एकैक पुनः शोथ और पीड़ाका अनुभव करने लगा कि जिन ऊनी वस्त्रोंसे उसे जल-ताप पहुंचाया जाता था वह इतने जीर्ण हो गये थे कि वह नवीन वस्त्रोंके समान रोगको नष्ट करनेके लिए यथेष्ट ताप पहुंचानेको असमर्थ थे। अतः टयूमर या केन्सरकी दशामें यथेष्ट ताप और प्रत्येक समय वन्धन करनेके अतिरिक्त केवल रसीले फलका आहार होना चाहिये।

बालकोंकी कांच निकालनेके रोगमें सबसे पहिले उसमें शक्ति बढ़ाने और अन्त्रको आहारके अनुचित भारसे बचानेके निमित्त केवल रसीले फलोंका आहारही देना चाहिये; और रोगको दूर करनेके लिए उदर एवं गुदापर आरोग्य होनेके समयतक नित्य प्रति ताप पहुंचाना चाहिये। इसके अतिरिक्त यथा शक्ति बालकोंको विश्राम करने और उछलने कूदनेसे बचनेकीभी आवश्यकता है। अपरञ्च मल त्यागनेके उपरान्त गुदासे निकली हुई कांचको उष्ण जलसे स्वच्छ करके भीतर लौटा देना चाहिये।

कभी, कभी जन्म कालसेही कोई, कोई बालक ऐसे होते हैं कि मल त्यागनेके निमित्त गुदा द्वार नहीं होता। ऐसे बालक जन्म लेनेके कुछही दिन पश्चात् मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। इस लिए यदि उनको जीवित रखना है तो उनकी एक मात्र प्राकृतिक चिकित्सा यही है कि शल्य क्रिया (Operation) द्वारा उनके गुदा मार्ग बना दिया जाय।

मार्च सन् १९१५ ई० में जब कि हम बिजनौर जा रहे थे हमको मुरादाबादमे एक कायस्थका लड़का मिला, जिसकी गुदामें किसी उपदन्श पीड़ित मनुष्यसे मैथुन करानेपर दाह हो जानेसे खुजली हो गयी थी। उससे मिलनेपर पहिले तो हमको उसके ऐसे आचरणोंसे बहुतही घृणा हुई, और हमने उसकी चिकित्सा करना स्वीकार-ही न किया। किन्तु जब वह हमारे पैरोंपर गिरकर बहुतही दुःखी होके गिड़गिड़ाने लगा तो हमको दया आगयी। इसके अतिरिक्त उसमें हमाराभी यह स्वार्थ था कि हमको उपदन्श रोगपर अपनी चिकित्साका अनुभव करना था। अतः हमने एक दिनके लिए बिजनौर जाना स्थगित कर दिया। हमने उस रोगी को केवल उष्ण मृत्तिका बन्धनोंका गुदापर दिनमें कई बार प्रयोग करना बताया था; और ताप देनेकी आज्ञा इस लिए नहीं दी थी कि उसे अपने पितासे इस रोगको छिपाना था। उसको प्राय एक मासतक बन्धनोंका प्रयोग करना पड़ा था। किन्तु यदि उसको तापभी पहुंचाया जाता तो कदाचित एक सप्ताहसे अधिक समय न लगता। क्योंकि उसको यह रोग हमसे मिलनेके तीन, चार दिन पहिलेही हुआ था हमने यद्यपि उसको फलही सेवन करनेको कहा था। परन्तु चोरीसे चिकित्सा करनेके कारण उसे कभी, कभी अन्य पदार्थभी सेवन करने पड़ते थे। फिरभी वह यथा शक्ति फलोंपरही निर्वाह करता था।

कांच निकलनेवाला एक रोगी बालक सन् १९१८ ई० के फेब्रुएरी मासमें काठिया-वाड़के एक स्थानपर हमारी चिकित्सामें लाया गया था। उस समय उसकी आयु तीन वर्षकी थी। मल त्यागनेके समय उसकी कांच प्राय डेढ़ इञ्च बाहर निकल आती थी। इसके अतिरिक्त श्वेत कीटाणुओंके कारण उसकी गुदामें प्रत्येक समय कुछ न कुछ खुजली चलती रहती थी। हमने उसको प्रति दिन दो बार उदर और गुदापर दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने और रसीले फल एवं गायके दूधमें उतानाही जितना कि दूध हो जल मिश्रण करके देनेकी आज्ञा दी थी। फलतः खुजली तो पहिले दिनसेही कम होने लगी और पांच दिनके भीतर पूर्णतः लुप्त हो गयी, किन्तु कांच निकालनेका रोग बड़ी कठिनतासे एक मासके उपरान्त गया था।

भगन्दरका एक रोगी हमको मार्च सन् १९११ ई० में दिल्लीमें मिला था। उस समय उसकी आयु प्राय पैंतीस वर्षकी थी; और वह एक बड़ा व्यापारी था। प्रत्येक समय बड़े, बड़े डाक्टर उसके यहां आते जातेही रहते थे। दो बार उसका आपरे-

गलभी हो चुका था। परन्तु इसपरभी वह पीड़ासे विकलही रहता था। अतः डाक्टरोंका अनुरोध फिर आपरेशन करानेकी सम्मति दे रहा था। किन्तु वह अनेक प्रकारकी चिकित्साएं करते, करते थक गया था, और आपरेशनसेभी डरता गया था। अतएव उसने हमको अपनी चिकित्सार्थ बुलाया। किन्तु हमको एक रोगीको देखनेके कारण उसके घर पहुंचनेमें प्रायः दो घन्टेका विलम्ब होगया; और इसी बीचमें वहां एक सन्यासी देवता पहुंच गये। उन्होंने अपनी योग क्रियाओं द्वारा चिकित्सा करनेकी स्वयं, अपनी प्रशंसा करते हुए केवल तीन दिनमें रोगको समूल नष्ट कर देनेका विश्वास दिलाया; और उस धनिक रोगीको मूर्खतावश वैसेही विश्वास हो गया जैसे बहुधा लक्ष्मी-पात्र लोगोंपर विश्वास करलेते हैं। अतएव उन्होंने उस सन्यासीकी चिकित्सा करनी आरम्भ करदी; और उनको ५) रु. फ़ीस देकर विदा कर दिया। किन्तु उस सन्यासीकी चिकित्सासे तीन दिन तो क्या पन्द्रह दिनमेंभी कुछ लाभ न हुआ। फलतः पन्द्रह दिनके उपरान्त न जाने किस प्रकार सेठजी—(रोगी) को फिर हमारा स्मरण हुआ, और उन्होंने हमको बुलानेके लिए एक मनुष्यको भेजा। वह पहिले आकर बैठ गया और इधर, उधरकी बातें करने लगा, तदुपरान्त उसने अपने सेठजीकी चिकित्साके विषयमें बात चीत करते हुए एक किसी अन्य व्यक्तिका नाम लेकर कहा कि यदि आपको जो कुछ सेठजीसे धन लाभ हो उसमेंसे आप उसे अर्ध भाग दें तो आपकी चिकित्सा हो सकती है। हमको उसके ऐसे शब्दोंसे एकदम क्रोध हो आया, किन्तु हमने क्रोधको रोककर केवल इतनाही कहा कि कृपाकर हमें और हमारी चिकित्साको क्षमा कीजिये। हमें आपके सेठजी या संसारके किसी भी लक्ष्मी-पात्रकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'पात्र' शब्दका अर्थ वाहन है, और लक्ष्मीका वाहन उल्लूही कहा गया है। अतः उनके लोभमें उल्लूसे सम्बन्ध करना उचित नहीं है। हम यह कहही रहे थे कि इतनेमेंही उन्हीं सेठजीके कोई निकट सम्बन्धीभी आगये। उन्होंने हमारे पहुंचनेमें विलम्बका कारण जानना चाहा इसपर सब भेद खुल गया, और वह मनुष्य सेठजीके यहांसे निकाल दिया गया, और हमारी चिकित्सा आरम्भ हो गयी। किन्तु चिकित्सा कालके बीचमें, यद्यपि दिनो दिन सेठजीकी पीड़ामें कुछ न कुछ न्यूनताही होती जाती थी, तोभी कुछ दुष्ट और लोभी मनुष्य रोगीके विचारमें परिवर्तन कर देते थे। परन्तु उनके मामा उनको धैर्य बन्धाते और उन दुष्टोंसे बचाते रहते थे। उस रोगीको हमने उष्ण गायका जल पीने, अनार एवं संगतरा सेवन करने और गुदा तथा छाती सहित

उदरपर प्रति दीन तीन वार दो, दो घन्टे ताप पहुंचानेकी सम्मति दी थी, जिससे प्रथम सप्ताहमेंही उसकी पीड़ामें वहुत कुछ न्यूनता हो गयी थी। उसको धीरे, धीरे निरन्तर चार मासतक फलोंपर निर्वाह करके चिकित्सा करनेसे पूर्ण रूपेण लाभ हुआ था। परन्तु उसने सम्पत्ति शाली होते हुएभी हमारे साथ वही व्यवहार किया जो आजकलके स्वार्थी धनिक किया करते हैं।

सन् १९१८ ई० के जेन्वेरी मासमें गुदाके ट्यूमरका एक रोगी हमको वांकानेर राज्यमें मिला था। उसकी आयु प्राय पचास वर्ष थी। वह एक वड़ा धनिक था; और इसीसे वह उसके कई आपरेशन तथा एक्स-रेज़की चिकित्साभी करा चुका था। परन्तु उसको किसीभी चिकित्सासे कोई लाभ न हुआ था। केवल एक्स-रेज़की चिकित्सासे कुछ दिनके लिए पीड़ा लुप्त हो गयी थी, और ट्यूमरकी ग्रन्थियां एवं शोथ जाता रहा था। किन्तु उसके दो मास उपरान्त फिर रोगने ऐसा विकट रूप धारण किया कि एक्स-रेज़ चिकित्साभी निरर्थक सिद्ध हुई। अतः उसने हमारी सम्मति चाही और हमने उसको पूर्णतः स्वस्थ हो जानेका विश्वास दिलाया। अतएव उसी दिनसे हमारी चिकित्सा आरम्भ हो गयी। हमने उसको अनार, खर्बूज़ा, संगतरा, काशमीरी नाशपाती और सर्दा सेवन करने, उष्ण तापका जल पान करने, प्रति दिन दो वार चार, चार घन्टे उदर एवं गुदापर ताप पहुंचाने और घावपर उष्ण मृत्तिका वन्धनोंका ताप कालके अतिरिक्त प्रत्येक समय प्रयोग करनेकी आज्ञा दी थी। फलतः पहिले सप्ताहमेंही उसके शोथ और पीड़ामें न्यूनता होने लगी और डेढ़ मासके भीतर समस्त पीड़ा और शोथ जाता रहा और वह ट्यूमरकी ग्रन्थियां जो उस समय शोथके कारण ढकी हुई होनेसे दृष्टिगोचर नहीं होती थीं स्पष्ट रूपसे दीखने लगीं। इसके अतिरिक्त वह उस समय नियमित रूपसे मल त्यागन करने लगा था और क्षुधामें असाधारण वृद्धि हो गयी थी। यद्यपि दो मास चिकित्सा करनेके उपरान्त उसे शरीरमें कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता था तथापि उसके रोगका मूलसे इति अर्थात् ग्रन्थियां लुप्त होनेमें दस माससेभी अधिक लगे थे।

एप्रिल सन् १९१८ ई० में फ़ीरोज़पुरके निकट एक ग्राममें हमको एक ज़िमीदार अपने भाईकी चिकित्सार्थ ले गया था। उसके भाईको तीन माससे गुदाके स्थानपर केन्सरका रोग था, जिससे उसे वहुत पीड़ा थी, और प्रायः केन्सरसे रक्त आया करता था। उस रोगीकी चालीस वर्षकी आयु थी। परन्तु उस समय वह वहुतही

निर्बल हो गया था। हमने उसको प्रति दिन चार चार दो, दो घन्टे उदर एवं गुदापर ताप पहुंचाने और उसके उपरान्त प्रत्येक समय केन्सरपर उष्ण मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग तथा रसीले फल सेवन करनेकी सम्मति दी थी। किन्तु उस ग्रामके रेल और फ़ीरोज़पुरसे दूर होनेके कारण अन्य फलोंका प्रबन्ध न हो सकनेके हेतु उस रोगीने दो मास केवल गन्नेके आहारपर व्यतीत किये, तदुपरान्त गर्बूज़ों-परही निर्वाह किया और अन्तमें रसीले शाकोंको ग्रहण किया। यद्यपि उसकी पीड़ामें चिकित्सा करनेके पहिले दिनसेही न्यूनताका अनुभव हुआ। परन्तु पूर्ण रूपेण चार मासमें उसकी पीड़ा लुप्त हुई थी, और तभी वह इस योग्य हुआ था कि समस्त रात्रि सुखसे शयन कर सके। किन्तु केन्सरका कठोरपन जानेमें उसे एक वर्षसेभी अधिक समय लगा था। उस रोगीको कभी, कभी साधारण असावधानीसे बीच, बीचमें पीड़ा बढ़ जाया करती थी, और रक्तभी आने लगता था। अंततः ऐसे समयके लिए हमारी बारह, बारह घन्टे निरन्तर ताप देनेकी आज्ञा हुआ करती थी: प्रत्युत एक बार तो हमने उसे निरन्तर बाइस घन्टे ताप पहुंचाया था। उस रोगीको जो यदा कदा रक्त आया करता था उसको रोकनेमें मलमलमें छनी हुई चिकनी मिट्टीके उष्ण बन्धनोंके प्रयोगसे बड़ी सहायता मिलती थी। किन्तु मिट्टीके सूखनेसे घावके चट-कनेपर रक्त आने लगता था। इस लिए शीघ्र, शीघ्र दूसरे बन्धन प्रयोग करने पड़ते थे।

वृक्क रोग Kidney diseases.

उदरमें वृक्कके बहुत भीतर होनेके कारण उसके अधिक रोगी होनेपरभी बहुत कम ज्ञान होता है। परन्तु अन्य लक्षणोंसे उसके रोगी होनेका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः भिन्न, भिन्न वृक्क सम्बन्धी रोगोंके लक्षण निम्नमें दिये जाते हैं:—

कमरके ऊपरी भागमें निरन्तर रहनेवाली पीड़ाका होना बहुधा वृक्कोंमें दाह होनेकी सूचना देता है, किन्तु नीचेके भागमें पीड़ा होनेसे वृक्क पीड़ाका बहुत कम ज्ञान होता है। क्योंकि अनेक अन्य रोगोंमें कमरके निम्न भागमें पीड़ाका अनुभव हुआ करता है, और बहुधा वृक्कके भयानक रोगोंमें उस स्थानपर पीड़ा नहीं होती है। मूत्र नालीमें पथरी उपस्थित होनेपर एक अपूर्व पीड़ाका अनुभव होता है। इस पीड़ाको रीनेल कालिक (Renal Colic) कहते हैं। इस प्रकारकी पीड़ा जंघाओं और उदरके बीचमें एकेक उठ बैठती है; और इतनी तीव्र एवं असह्य होती है कि वेद-

नाशुक्त शूलोंका अनुभव होनेसे रोगी विकल हो जाता है। और जब वृक्क अनस्थिर होकर उदरकी ओर आ जाता है तो उसके भारसे विशेष रूपकी ऐसी पीड़ाका, जो अन्य पीड़ाओंसे भिन्न होती है, अनुभव होता है।

शरीरके क्षय होने और अस्वस्थ रहनेसे बहुधा वृक्क रोगका अनुभव होता है। क्योंकि ऐसी दशामें वृक्कभी क्षय होता रहता है। कभी, कभी शरीरका अधिक अस्वस्थ होना ऐसे मन्द वृक्क रोगोंकी उन्नतावस्थाका परिणाम होता है जोकि बड़ी सूक्ष्मतासे परीक्षा करनेपर प्रतीत होते हैं; और ऐसी दशामें पाचन शक्तिके बिगड़ जानेपर अन्य अनेक रोग हो जाते हैं, जिससे शरीर अत्यंत निर्बल हो जानेके हेतु रोगोंका सामना करनेको असमर्थ होनेके कारण आरोग्य मनुष्योंके शरीरकी अपेक्षा संक्रामक रोगोंका अधिक और सरलतासे आखेट हो जाता है।

वृक्क रोगोंमें सदा मूत्रमें परिवर्त्तन होते रहते हैं। रोगकी तीव्र दशामें मूत्रके परिमाणमें न्यूनता हो जाती है, और बहुधा एलब्यूमिन-(Albumin) से मिश्रित और रक्तवर्णका मूत्र होता है। जब मूत्रमें विजातीय पदार्थ उपस्थित होते हैं तो सूक्ष्म रूपसे परीक्षा करनेपर उनका ज्ञान हो जाता है। इसीसे मूत्रमे पूय (मवाद) सम्मिलित होनेपर हमको यह ज्ञान होता है कि मूत्राशयके किसी स्थानमें घाव है; और पथरीके होनेपर हमें जांच करनेसे मूत्रमें उसके अणु (Crystalline deposite) प्राप्त होते हैं। मन्द ब्राइट्'स रोग-(Bright's disease) में बहुधा मूत्रकी मात्रामें वृद्धि हो जाती है, मूत्र पीतवर्णका होता है, और उसमें न्यूनाधिक एलब्यूमिनका मिश्रण होता है।

यद्यपि ब्राईट्'स रोगकी अपेक्षा अन्य अनेक रोगोंमेंभी ड्राप्सी हो जाता है, परन्तु, वृक्क पीड़ामें ड्राप्सीका होना एक विशेष चिन्ह है। यदि वृक्क रोगके कारण ड्राप्सी होता है तो बहुधा प्रातके समय अर्थात् निद्राके पश्चात् नेत्रोंके नीचे या हाथोंके ऊपर सरीखे ढीली मांस पेशियोंके अवयवोंपर शोथ आजाता है और वह फूल जाते हैं।

मन्द वृक्क रोगकी अवस्थामें रक्त सञ्चारकी गतिमें परिवर्त्तन हो जाता है। धमनियों और हृदयकी भीतके भारी हो जानेसे चिकित्सकको ब्राइट्'स रोगकी उपस्थिति और भयङ्करतासे परिचित होनेमें बहुत सहायता मिलती है। रक्त वाहिनी नाड़ियों आदिके भारी होनेपर छातीमें पीड़ाका अनुभव होता है, मानासिक शक्तियोंका पतन होने लगता है; दृष्टिमें न्यूनताका अनुभव होता है और बहुधा एपालेप्सी हो जाता है।

वृक्कके कर्तव्य हीन होनेपर यूरेमिया (Uræmia) हो जाता है। यूरेमियाकी दशामें रक्तोको स्वच्छ करनेके लिए जिन विषैले पदार्थोंका मूत्रके साथ त्यागन होता है उनको रोग वश वृक्क त्यागना वन्द कर देता है।

सबसे भयङ्कर वृक्क रोग वह होता है जिसमें वृक्क सम्बन्धी अन्य पीड़ाओंके साथ, साथ ब्राइट्'स रोग होता है और ऐसी दशामें मूत्रके साथ एलब्यूमिन आता रहता है और ड्राप्सीभी उपस्थित होता है।

ट्यूबरक्लोसिस प्रायः अण्डकोष या मूत्राशयके ट्यूबरक्यूलर रोगका प्रधान कारण होता है, और रोगके बहुत कम चिन्ह प्रगट होते हुए रोगकी शनैः शनै वृद्धि होती है।

वृक्कके अस्थिर होनेपर उसका भार उदरके अन्य अवयवोंको सहन करना पड़ता है, जिससे बहुधा उदर पीड़ा, अतिसार या कोष्ठ-बद्धका अनुभव होता है। यह रोग पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें अधिक पाया जाता है।

वृक्कके प्रहारित होनेपर बहुधा रोगियोकी मृत्यु हो जाती है। कभी, कभी कमरपर साधारण प्रहार या गाड़ी आदिसे कुचले जानेपर वृक्क फट जाता है, जिससे भीतर-रक्त प्रवाहित होनेपर रोगी मृत्युको प्राप्त होता है।

वृक्कमें ट्यूमरकी उत्पत्ति बहुत कम होती है; और ट्यूमरके होनेपर जबतक उसका आकार अधिक न हो तबतक या तो पीड़ाका अनुभवही नहीं होता और यदि होताभी है तो बहुत कम। मूत्र-नालीके निकट ट्यूमर होनेपर यदा, कदा मूत्रके साथ रक्त आया करता है, किन्तु वृक्क रोग सम्बन्धी अन्य कोई लक्षण या पीड़ा नहीं होती है।

वृक्क सम्बन्धी समस्त रोगोंकी चिकित्सार्थ कमर एवं उदर या उदरके साथ, साथ छातीको रोगकी अवस्थानुसार दो, तीन या जितनी बार और जितने समयतक आवश्यकता हो ताप पहुंचाना और आरोग्य होनेके समयतक रसयुक्त फलोंका आहार देना चाहिये।

वृक्क रोग कोई साधारण व्याधि नहीं है। इसीसे वृक्क रोगसे पीड़ित रोगी रोगके बढ़ जानेपर अधिकांश मृत्युकोही प्राप्त होते देखे गये हैं। क्योंकि वृक्क शरीरको उससे मूत्र द्वारा विषोंका त्यागन कराके शुद्ध करनेवाला एक विशेष अवयव है, और उसके कर्त्तव्यच्युत या रोगी हो जानेपर शरीरसे विषैले पदार्थोंका त्यागन न हो सकनेके

कारण रक्तके दूषित हो जानेपर शरीर निश्चय मृत्युको प्राप्त होता है और वृक्क रोगकी साधारण दशामेंभी इसलिए रोगीकी असमय मृत्यु होती है कि धीरे, धीरे शरीरमें विषोंके एकत्र होनेसे नित्य प्रति रोगीके जीवनकी मात्रा न्यून होती जाती है। अतः उचित तो यही है कि ऐसे उपाय किये जायं, जिससे वृक्क रोगकी शरीरमें उत्पत्तिही न हो, किन्तु यदि वृक्क रोगके किसी प्रकार लक्षण प्रगट होने लगें तो तत्क्षण बड़े ध्यान और धैर्यके साथ उस समयतक पूर्ण पथ्यसे रहकर चिकित्सा करनी चाहिये जबतक कि रोगका इति होकर शरीर पुष्ट न हो जाय। वृक्क व्याधिके हो जानेपर उसकी चिकित्सार्थ छः माससे बारह मासतकका समय लगना तो एक साधारण बात है। इस लिए कभी, कभी दो, तीन या इससेभी अधिक वर्ष लग जाते हैं। इस विषयमें केवल इतनाही बताना यथेष्ट है कि तीव्र रोगोंको उस समयतक शीघ्र लाभ होता है जबतक कि कोई अधिक हानि नहीं पहुंची हो और मन्द रोगोंमें उनकी अवस्थानुसार उतनेही विलम्बमें रोगका इति होता है; किन्तु रोगकी भयानक दशा होनेपर फिर मृत्युके अतिरिक्त और कोई परिणाम नहीं होता। वृक्क रोगोंमेंसे कुछ विशेष जातियोंकी व्याधियोंका कथन करना आवश्यक है। इस लिए एलब्यूमीन्यूरिया (Albuminuria), यूरेमिया (Uræmia), ब्राइट्'स रोग (Bright's Disease), मूत्राशयके रोग (Bladder, Diseases of,) शीर्षक लेख देखने चाहिये।

एलब्यूमिन्यूरिया Albuminuria.

एलब्यूमिन्यूरिया उस रोगको कहते हैं, जिससे पीड़ित होनेपर मूत्रमें एलब्यूमिनका अंश रहता है। यह रोग इस लिए बहुत ध्यान देने योग्य है कि इससे शरीरका क्षय होनेपर स्वास्थ्यकी दशा दिनोदिन अधोगतिको प्राप्त होती रहती है, और प्राय वृक्क या हृदय सम्बन्धी भयङ्कर रोगोंके लक्षण प्रगट होते हैं।

एलब्यूमिन्यूरियाकी दो जातियां हैं; एक ट्रयू एलब्यूमिन्यूरिया, (True albuminuria) जिसमें वृक्क द्वारा एलब्यूमिनका प्रवाह होनेपर शरीरका क्षय होता रहता है, और दूसरी फ़ाल्स एलब्यूमिन्यूरिया (False albuminuria) जिसकी दशामें एलब्यूमिन वृक्कके अतिरिक्त मूत्रमें अन्य किसी प्रकार आता है। और ट्रयू एलब्यूमिन्यूरियाकीभी दो जातियां है, जिनमेंसे एक तो फंक्शनल एलब्यू-

मिन्यूरिया (Functional albuminuria) है, जिसमें वृक्कके अतिरिक्त अन्य किसी अवयवके कारण वृक्कके दूषित होनेपर, वृक्कके साथ एलव्यूमिन आता है, और स्पष्ट रूपसे वृक्क रोगका अनुभव नहीं होता; और दूसरी एलव्यूमिन आव ब्राइट्'स डिजीज् आव दे किडनीज् (Albumin of Bright's disease of the kidneys) है, जिसका कथन ब्राइट्'स रोग-(Bright's disease) में मिलेगा।

यद्यपि फंक्शनल एलव्यूमिन्यूरियाका प्रत्यक्षमें किसी वृक्क रोगके साथ सम्बन्ध नहीं होता है तथापि नित्य प्रति एलव्यूमिनका प्रवाह होनेसे स्वास्थ्यका पतन होता रहता है, और यदि अधिक कालतक यह रोग दूर न किया जाय तो ब्राइट्'स रोग प्रगट हो जाता है। इस लिए यह रोग बहुतही भयंकर है। प्रायः समस्त जातिके ज्वरोसे पीड़ित होने, अधिक समयतक तीक्ष्ण सूर्यतापमें परिश्रम करने, चूल्हेके सन्मुख बैठने या किसी प्रकार शरीरमें अधिक दाह होनेसे मूत्रमें एलव्यूमिन आने लगता है। किन्तु इस प्रकार मूत्रमें आनेवाला एलव्यूमिन ज्वरका इति होने या सूर्यके तापादिसे सुरक्षित रहनेपर स्वयं बन्द हो जाता है। स्कर्वी (Scurvy), एनेमिया (Anæmia), ल्यूकेमिया (Leucæmia) सरीखे रक्त-विकारके रोगों और लेड (Lead) या मर्करी-(Mercury) से रक्तके दूषित होने या कदाचित रक्तमें परिवर्त्तन होनेके कारण स्त्रीको गर्भ होनेपर एलव्यूमिन आने लगता है। किन्तु इस प्रकार एलव्यूमिनका आना रक्तके शुद्ध हो जाने और गर्भिणीको कुछ मास व्यतीत हो जानेपर स्वयं बन्द हो जाता है। किन्तु यदि गर्भिणीको एलव्यूमिन आने लगे तो बड़ी सावधानीसे चिकित्सा करनी चाहिये अन्यथा रोग भयङ्कर दशा-धारण कर लेता है। हृदय रोगमें वृक्कमें रक्त एकत्र होजानेसे एलव्यूमिन्यूरियाके कारण शरीर अधिक क्षय होता रहता है; और इपीलेप्सी-(Epilepsy) की दशा मेंभी यह रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त अधिक परिश्रम या शीतल स्नानोंके कारण दाह होनेपर इस रोगकी उत्पत्ति हो जाती है। कुछ रोगियोंको, जोकि देखनेसे स्वस्थ प्रतीत होते हैं, केवल प्रातके समय या भोजन करनेके उपरान्त मूत्रके साथ एलव्यूमिन आया करता है। परन्तु अधिकांश इस रोगकी उत्पत्ति उन्हीं मनुष्योंके शरीरमें होती है, जो मांस, चर्बी, घृत, तेल, मच्छली और अण्डों आदि-(Animal diet) पर अधिक जीवन निर्वाह करते हैं।

फाल्स एलव्यूमिन्यूरियाकी दशामें पाचन और शोषण शक्तियोंके बिगड़ जाने

या कुछ भयङ्कर रोगोंसे पीड़ित होनेपर मूत्रके साथ एलब्यूमोसेज् (Albumoses) और पेप्टोन्स (Peptones) आते हैं। अधिक अण्डे सेवन करनेसे पाचन शक्तिमें दोष हो जानेके कारण मूत्रके साथ अण्डोंका एलब्यूमिन-(Egg-albumin) भी आने लगता है। मूत्र-नालोंके अन्य भागों जैसे मूत्राशय-(Bladder) की दाह या स्पर्मेटोरिया-(Spermatorrhœa) मेंभी मूत्रके साथ एलब्यूमिन आसकता है।

इस रोगकी दशामें यदा, कदा एलब्यूमिन आया करता है; और रोगके अधिक समयतक शरीरमें रहनेपर रक्तकी न्यूनता (Anæmia), निर्वलता और अस्वस्थताके लक्षण प्रगट होते हैं। पहिला लक्षण रक्त-कोषोंकी गतिमें बाधा होना सिद्ध करता है और इसके उपरान्त उसका एलब्यूमिन्यूरियामें परिवर्तन हो जाता है, जिससे नेत्रों और गट्टोंकी निकटवर्ती त्वचा फूल जाती है, शरीरका वर्ण फीका हो जाता है, त्वचा रूखी प्रतीत होती है, पाचन क्रिया विगड़ने लगती है, हृदय-धड़कनमें वृद्धि हो जाती है, अस्थिर पीड़ाओंका अनुभव होता है, शिर पीड़ा और दुर्बलता दुःख दिया करती है और साधारण परिश्रमसे थकनका ज्ञान होता है।

किसी प्रकारके एलब्यूमिन्यूरियाकी अवस्थामें केवल अनार सरीखे कोमल रसीले और अनुत्तेजक आहारपर रखकर रोगीको प्रति दिन आवश्यकतानुसार छातीसे उदर पर्यन्त और कमरपर दो, दो घन्टे ताप पहुंचाना चाहिये; और यदि रोगीकी सामर्थ्यमें हो तो यथा शक्ति स्वच्छ वायुमें प्रात और सायंके समय उस को टहलाना चाहिये।

एलब्यूमिन्यूरिया बहुतही भयङ्कर रोग है, इसलिए वह बहुत कालमें और बड़ी कठिनतासे पूर्ण पथ्यसे रहनेपर दूर होता है; और यदि रोगी पथ्यसे न रहे तो यह रोग प्राणोंके साथही जाता है।

इस रोगमें पाचन शक्ति बहुतही विगड़ जाती है और शरीर बहुतही निर्बल हो जाता है। इस लिए केवल रसीले फलोंपर रोगीके निर्वाह न करनेपर न तो उसकी पाचन क्रियामेंही सुधार होता है और न आवश्यकतानुसार रक्तकी उत्पत्ति होकर उसके शरीरको शक्तिही प्राप्त होती है। अतः रोगीको चाहिये कि क्षुधाके अनुसार रसीले अनुत्तेजक और चैतन्य फलोंका सेवन करके शीघ्र अपनी पाचन शक्तिको ठीक करे और शरीरमें रक्त बढ़ाकर बलकी वृद्धि करे।

एलब्यूमिन्यूरियाका एक रोगी सेप्टेम्बर सन् १९१५ ई० में हमको लाहौरमें मिला था। उसकी आयु तैंतालीस वर्ष थी, और अनेक बार मूत्रकी परीक्षा होनेसे उसके मूत्रमें एलब्यूमिन आना सिद्ध हो गया था। हमने उसको उसी समय केवल रसीले फलों, अर्थात् आरम्भ कालमें अनार, संगतरा और माल्टा तत्पश्चात् उक्त फलोंके साथ, साथ खुर्मानी, काश्मीरी नाशपाती, लोकाट और शहतूत आदि सेवन करने और दिनमें दो बार उदरसे छाती पर्यन्त एवं कमरपर दो, दो घन्टे ताप पहुंचानेकी सम्मति दी थी। परन्तु उस समय उसने हमारी सम्मतिपर कोईभी ध्यान नहीं दिया। क्योंकि उसे फलोंपर जीवन निर्वाह करना स्वीकार न था। अतः दिनो दिन, यद्यपि बहुत धीरे, धीरे, उसका रोग वृद्धिको प्राप्त होता गया; और शरीरकी यह दशा हो गयी कि वह साधारण परिश्रमसेही थक जाता था, प्रत्युत किसी कार्यके करनेको उसका मनही नहीं करता था, बहुधा शिर और कमरमें पीड़ाका अनुभव होता था, पाचन शक्ति दिनोदिन बिगड़ती जाती थी और समस्त रूपेण शरीर रोगी प्रतीत होता था। अतएव जब हम आगस्ट सन १९१८ ई० में लाहौर गये तो उसने फिर हमसे चिकित्सा करनेकी प्रार्थना की। क्योंकि वह अनेक प्रकारकी चिकित्साएं करते, करते दुःखी होगया था, और उस समय एलोपेथिक डाक्टर्सकीभी यही सम्मति थी कि वह केवल फलों या शाकोंपरही रहे। अतः हमने उसे चिकित्साके आरम्भ कालमें चार मास पर्यन्त केवल वेदाना या मस्कती अनार, संगतरा और माल्टाही सेवन करनेकी आज्ञा दी। इसके उपरान्त धीरे, धीरे अन्य रसीले और अनुत्तेजक फलोंके सेवन करनेकी सम्मति देते रहे। किन्तु वह एक सम्पत्ति शाली पुरुष होते हुएभी बहुत लोभी था। इस लिए वह प्रायः मध्यम श्रेणीके फल या कम मूल्यमें प्राप्त होनेवाले शाकोंकी आज्ञा देनेके लिए बहुत आग्रह किया करता था। क्योंकि वह क्षुधामें वृद्धि हो जानेके कारण ४),५) रुपयेके फल नित्य खाता हुआभी बहुतही झींका करता था। उसके इस प्रकार नित्य प्रति झींकनेके कारण हमको विवश हो उसे कद्दू (लौका), तोरी, टिन्डे, चचेंड़े, टोमेटो और अन्य कोमल शाक उबालकर सेवन करनेकी आज्ञा देनी पड़ी थी। हमने प्राय दो मासतक उसको दिनमें तीन बार दो, दो घण्टे उदरसे छाती पर्यन्त और कमरपर ताप पहुंचानेकी सम्मति दी थी। इसके उपरान्त हमने उसको प्रति दिन दो बार ताप पहुंचानेको लिखा था। अतएव

फल यह हुआ कि चार मासके उपरान्त मूत्र परीक्षा होनेसे यह सिद्ध हुआ कि मूत्रमें एलव्यूमिनका अंश नहीं है, उसकी क्षुधामें असाधारण वृद्धि हो गयी, शरीर चैतन्य दीखने लगा, गात्रमें किसी प्रकारकी पीड़ा न रही और दिनोंदिन बल-वृद्धि होने लगी। यद्यपि केवल चारही मासमें उसको आशासे अधिक लाभ हुआ, तथापि हमारी सम्मतिके अनुसार उसको एक वर्षसेभी अधिक चिकित्साके नियमोंका पालन करना पड़ा।

ब्राइट्'स रोग Bright's disease.

पश्चिमी विद्वानोंमें सबसे पूर्व सन् १८२७ ई० में डॉक्टर रिचर्ड ब्राईट (Dr. Richard Bright) ने ब्राइट्'स रोगका खोज किया है, इसीसे उस रोगका नाम ब्राइट्'स डिज़ीज़ पड़ा है। वास्तवमें ब्राइट्'स रोग और एलव्युमिन्यूरिया एकही रोग हैं। अन्तर केवल इतनाही है कि इस रोगमें एलव्यूमिन्यूरियाकी अपेक्षा वृक्ककी दशा अधिक बिगड़ जाती है, जिससे प्रायः ड्राप्सीके लक्षण प्रगट हो जाते हैं, मूत्र न्यूनताके साथ आता है, वमन होने लगती है, मूत्रके साथ अधिक एलव्यूमिन तथा वृक्कके क्षय होनेके कारण अन्य पदार्थ आने लगते हैं, मूत्रका वर्ण मटमैला, धुएं या रक्तके समान होता है, शरीरका क्षय होना प्रतीत होता है, कमरमें पीड़ा और श्वांस क्रियामें घबराहट प्रतीत होती है। इस रोगके होनेपर शरीरके निर्बल हो जानेके कारण बहुधा अन्य रोगोंकीभी उत्पत्ति हो जाती है। बहुधा रोगियोंके लिए यह रोग कालही होता है। क्योंकि इस दुष्ट रोगको दूर करनेके लिए रोगी पूर्ण पथ्यसे रहकर पूर्ण रूपेण चिकित्साके नियमोंका पालन करनेमें अपनी आर्थिक स्थिति या चिड़चिड़े स्वभावके कारण बहुत कम समर्थ होते हैं।

इस रोगकी उत्पत्तिका मूल कारण वही है जो एलव्यूमिन्यूरियाका है। यह रोग बहुधा शीत लगने, किसी विषके सेवन करने या तीव्र जातिके ज्वरों या अन्य रोगोंसे पीड़ित होनेपर वृक्कमें रक्तके एकत्र होकर दूषित होनेपर तीव्र रूप धारण कर लेता है, जो कि बहुतही भयङ्कर होनेसे प्रायः रोगीकी मृत्युका कारण होता है या रोगकी मन्दावस्थामें परिवर्तित हो जाता है।

इस रोगकी वही चिकित्सा और पथ्य है जो एलव्यूमिन्यूरियामें होती है। किन्तु भयङ्कर दशामें रोगीको अधिकाधिक उष्ण तापका जल पान कराना चाहिये, जिससे

एकत्रित रक्त अपनी गति करने लगे, अधिक मूत्रका त्यागन होनेसे वृक्कादिसे शीघ्र दूषित पदार्थ निकल जायं और अन्त्र नियमित रूपसे कार्य करके शरीरको स्वच्छ करती रहें। इसके अतिरिक्त यथा शक्ति उदरसे छाती पर्यन्त और कमरपर ताप पहुंचावें, जिससे वृक्कादिमें रक्त एकत्र न हो, प्रत्युत उचित तो यही है कि जबतक रोगका भय अधिक हो समस्त शरीरको टब द्वारा ताप पहुंचाया जाय; और यदि यहभी न हो सके तो ताप पहुंचानेके उपरान्त मृत्तिकाके उष्ण धड़ बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये, और चारपाईके नीचे कोयले जलाकर रोगीको सह्य ताप पहुंचाया जाय। रोगीके शय्यनागारमें वायुका यथेष्ट सञ्चार रहे, और रोगीके ओढ़ने-बिछानेके वस्त्र ऊनी और स्वच्छ होने चाहियें।

यों तो शरीरमें होनेवाले समस्त रोगोंमेंही ताप पहुंचानेके उपरान्त मृत्तिकाके उष्ण बन्धनोंका प्रयोग करना अत्योत्तम है, परन्तु एलव्यूमिन्यूरिया और विशेषकर ब्राइट्'स डिजीज़में यदि चौबीसों घन्टे टब द्वारा ताप पहुंचाना सम्भव न हो तो कमसे कम उष्ण मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग करना इस लिए आवश्यक है कि वृक्कादिमें एकत्रित रक्त-कण छिन्न-भिन्न होते रहें, और रक्त सञ्चारमें बाधा न हो, तथा शरीरमें उपस्थित दाहवश विकृत पदार्थ शुद्ध होकर चिपक न जावें, और दूषित पदार्थोंके निकलनेमें उसी प्रकार सरलता हो, जिस प्रकार उष्ण जलसे त्वचाका मल फूलकर सुगमतापूर्वक छूट जाता है। प्रत्युत हमारी सम्मतिमें शरीरके प्रत्येक दुष्ट या दारुण रोगसे पीड़ित रोगीको यदि टब द्वारा प्रत्येक समय ताप पहुंचाना सम्भव या आवश्यक न हो तो ताप पहुंचानेके उपरान्त प्रत्येक समय जिस स्थानपर आवश्यकता हो बन्धनों द्वारा ताप पहुंचाना चाहिये; वास्तवमें बन्धनों, जिनमें विशेष रूपसे धड़-बन्धन है, की महिमा अपूर्व है। इसकी प्रशंसामें जो कुछभी कहा जाय वह थोड़ा है। किन्तु अनेक रोगी मिट्टीके बन्धनोंका प्रयोग करना कष्ट जनक समझते हैं। इसके अतिरिक्त शीतकालमें शीतके भयसेभी उनका प्रयोग करना नहीं चाहते। परन्तु ऐसी अवस्थामें बन्धनोंका प्रयोग करनेके लिए चारपाईके नीचे दहकते हुए। धुंएसे रहित कोयलोंकी जितनी अग्निका ताप शरीरको सह्य और सुख प्रद अनुभव हो रखकर पहुंचाया जा सकता है, और उससे बहुत कुछ लाभ होता है। क्योंकि बन्धनोंके कारण त्वचा, फुफ्फुस, हृदय, यकृत, वृक्क, आमाशय, मूत्राशय और अन्त्रादि समस्त अवयव नियमित रूपसे अपने कर्तव्योंका पालन

करके शरीरकी रक्षा करते हैं। केवल उसी समय बन्धनोंका प्रयोग शरीरको हानिकारक होता है जबकि मृत्तिका जल हीन अर्थात् शुष्क हो जाती है। अतएव मृत्तिकाके शुष्क होनेसे पूर्व पहिला बन्धन खोलकर दूसरा बन्धन लगा देना चाहिये। इसके अतिरिक्त अपवित्र स्थानोंकी मृत्तिकाभी लाभकी अपेक्षा हानिही पहुंचाती है। अतः सदा पवित्राति पवित्र स्थानकी स्वच्छ और चिकनी मृत्तिकाही इस कार्यके लिए प्रयोग करनी चाहिये। शरीरसे रोगका इति होनेपर जिस प्रकार ताप पहुंचानेसे हानि पहुंचती है उसी प्रकार बन्धनोंका प्रयोग करनेसे त्वचा एवं शरीरके अन्य अवयवोंको हानि पहुंचती है। इस लिए रोगमें जितनी, जितनी न्यूनता होती जाय उसी क्रमसे बन्धनोंकी संख्या या तापके समयमेंभी न्यूनता करते जाना चाहिये।

एप्रिल सन् १९२२ ई० में मेरठसे एक रोगी, जो कि ब्राइट्'स डिज़ीज़से पीड़ित था, हमारी सम्मति लेने दिल्ली आया। उसकी आयु पचास वर्ष थी, और कई वर्षसे उसके मूत्रमें एलब्यूमिन आता था। परन्तु उस समय उसके रोगने अति भयङ्कर रूप धारण कर लिया था। उसकी अन्त्र एनिमाका प्रयोग करते, करते इतनी कर्तव्य च्युत हो गयीं थीं कि किसी ऐसे रेचक पदार्थका, जिससे शरीरको अधिक हानि न हो, कोई प्रभाव न होता था। इस लिए उसके डाक्टर प्रत्येक तीसरे दिन उसके एनिमा लगवाकर मल त्यागन करवाया करते थे। कभी, कभी मल त्यागनेके उपरान्त उसकी दशा बहुत कुछ सुधर जाती थी। परन्तु वह ऐसा मूर्ख और चटोरा था कि तनिकभी दशा सुधरनेपर वह गाड़ीमें बैठ वायु सेवनके बहाने सीधा बाज़ार पहुंचता था; और वहां जाकर मनमाने दूषित चाटके उत्तेजक पदार्थ स्वयं भक्षण करता था और अपने साथ जानेवाले कर्मचारियोंकोभी इस लिए भले प्रकार चखाता था, जिससे वह लोग घर आकर न कहें; किन्तु किसी न किसी प्रकार यह भेद खुलही जाता था। अतएव उसके इस कुपथ्य और औषधियोंकी कृपासे दिनो दिन रोग बढ़ताही गया। उसको कभी स्वच्छ वर्णका मूत्र नहीं होता था। उसके समस्त शरीरमें पीड़ाका अनुभव हुआ करता था, और पीड़ा एवं अजीर्ण या अन्य कारण वश दाहकी वृद्धि होनेपर रक्त वर्णका मूत्रभी आने लगता था। इसके अतिरिक्त मूत्रमें अन्य अनेक पदार्थोंकाभी अनुभव होता था। उसकी क्षुधामें बहुत न्यूनता हो गयी थी और शरीर नित्य प्रति क्षय हो रहा था। हमने

उसके भाईसे उसकी समस्त गाथा सुनकर इसलिए चिकित्सा करना स्वीकार न किया कि हमारी दृष्टिमें उसके नियमानुकूल पथ्यसे न रहनेपर उसको लाभ पहुंचना सम्भव न था। किन्तु उसके भाईके बहुत कुछ विश्वास दिलाने और आग्रह करनेपर हमने उसकी चिकित्सा करना आरम्भ किया। हमने निरन्तर तीन मास-तक उस रोगीको दिल्लीके समीप रहनेकी आज्ञा दी। हमने उसको प्रतिदिन दो बार दो, दो घन्टे कमर और छातीसे उदर पर्यन्त ताप पहुंचाने, तापके अतिरिक्त समयमें उष्ण धड़-बन्धनोंका प्रयोग करने, सूर्यके सहन तापमें बहुधा बैठने, सायं एवं प्रातके समय यथा शक्ति टहलने और प्रति रविवारको टबमें बैठकर एक घन्टे-तक सब उष्ण तापके जलसे स्नान करने, और कुछ मासतक केवल बेदाने अनार एवं संगतरेपर निर्वाह करनेकी सम्मति दी थी। फलतः पहिले सप्ताहमेंही उसके शरीरमें चैतन्यताके दर्शन हुए, दूसरे सप्ताहमें मल त्यागनमें जो कष्ट होता था जाता रहा, प्रत्युत सदाको एनिमाकी दासत्वसे पीछा छूट गया, एक मास चिकित्सा करनेके उपरान्त उसके मूत्रमें एलब्यूमिन आनेकी मात्रा बहुतही न्यून हो गयी, जिससे दिनो दिन मूत्र स्वच्छ होने लगा। धीरे, धीरे उसके समस्त शरीरकी पीड़ाओंका इति हो गया और मूत्र पूर्ण रूपेण निर्मल दीखने लगा। ज्योंही वह नियमानुकूल मल त्यागन करनेमें समर्थ हुआ त्योंही उसकी क्षुधामें वृद्धि होनेके कारण शरीर पुष्ट होने लगा। उस रोगीको पूर्णतया लाभ होने में तीन वर्ष लगे थे, फिरभी कुछही दिन चिकित्सा करनेके उपरान्त उसकी जिव्हा-से चटोरपनका दुर्व्यसन जाता रहा। क्योंकि शीघ्रही अजीर्णका इति होनेसे उसके मुखका स्वाद, जो कि अजीर्ण वश प्रत्येक समय बिगड़ा हुआ रहता था, ठीक रहने लगा, और फिर किसी उत्तेजक (जायकेवाले) पदार्थोंके सेवनकी इच्छा न रही। इसके अतिरिक्त उसको ऐसे स्थानपर रक्खा गया था कि जहां दूषित पदार्थोंके दर्शन तो क्या नाममी न सुनायी दे।

मूत्राशयके रोग Diseases of the Bladder.

मूत्राशय सम्बन्धी रोग प्रायःवृक्कके कर्त्तव्य च्युत होने, आमाशयमें दूषित पदार्थोंकी उत्पत्तिसे विषैले और स्थूल पदार्थोंके एकत्र होने, नाड़ियोंके निर्बल होने, समयपर मूत्रका त्यागन न करने, ट्यूमर या किसी अन्य फोड़े अथवा घावके होने, या प्रहार,अथवा किसी अन्य कारणसे मूत्राशयमें दाह और

शोथ होनेसे होते है, जिससे या तो मूत्राशयमें पथरी हो जाती है, या मूत्रके त्याग-नमें बाधा उपस्थित होती है, या मेरुदण्ड सम्बन्धी व्याधियां हो जाती हैं, या गठिया (Rheumatism), एवं गाउट (Gout) आदि सरीखे अन्य रोगोकी उत्पत्ति हो जाती है।

मूत्राशय सम्बन्धी समस्त रोगोंमें वही चिकित्सा और पथ्य होना चाहिये जो वृक्क-रोगमें होता है।

अश्लील रोग

उपदन्श रोग Syphilis.

उपदन्श रोग मानव जातिका नाश करनेके निमित्त बहुतही भयङ्कर और संक्रामक है। यह रोग उपदन्श पीड़ित रोगीके साथ मैथुन करनेसेही नहीं, प्रत्युत उपदन्शके घावोंसे संसर्ग होनेसेभी हो जाता है। अपरञ्च उपदन्श पीड़ित रोगीके पात्र या वस्त्र प्रयोग करनेवालेकोभी हो जाता है, परन्तु यह प्रसन्नताकी बात है, कि अधिकांश इस प्रकार उपदन्शके होनेपर उसका शीघ्र इति-भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त माता-पितामेंसे किसीके उपदन्श ग्रस्त होनेपर सन्तानको संसारमें आनेसे पूर्वही उपदन्श रोग हो जाता है; और वह उपदन्शकी समस्त जातियोंमें सबसे अधिक भयङ्कर और संक्रामक होता है। इसकी दशामें अधिकांश बालक तो उपदन्शसे पीड़ित होनेके कारण समयसे पूर्व गर्भपात होनेपर मृत्युको प्राप्त होते है, और जो उस समय किसी प्रकार बच जाते हैं वह संसारमें रोगी बनकर आनेके कारण शीघ्र कालके गालमें पहुँच जाते है, किन्तु यदि किसी भांति वह मृत्युसे बच जाते हैं तो जीवन पर्यन्त उपदन्श पीड़ासे दुःख भोगते है; और यदि उनके सन्तान होती है तो वहभी उन्हींके समान नारकीय जीवन भोगती है। माताके गर्भसेही उपदन्शसे पीड़ित बालकोंके मुख एवं नासिकामें दाहका अनु-भव होता है, जिससे वह स्थान रक्त-वर्ण दीखते हैं, या उनमें छाले प्रतीत होते हैं।

उपदन्श रोगकी उत्पत्ति कहांसे हुई? इस विषयमें समस्त विद्वानोंके भिन्न, भिन्न मत हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि सबसे पहिले सन् १४९४ ई० में, जब फ्रेञ्च सेनामें उपदन्श रोग फैला था, तभी जनताका ध्यान इस रोगकी ओर गया था। किन्तु इससे पहिले कुछ विद्वानोंका मत है कि अमेरिकाकी अपवित्र जातियों द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई, कुछका कहना है कि एशियासेही इसकी उत्पत्ति है। परन्तु

इन कल्पनाओंमेंसे कोईभी किसी प्रमाणके आधारपर नहीं है। इस लिए जबसे फ्रेञ्च सेनामें उपदन्श रोगकी उत्पत्ति हुई है प्रत्यक्ष रूपमें तभीसे इसका पता चलता है। इससे पहिले पाश्चात्य विद्वानोंको सिफ़िलिसका ज्ञान नहीं था। कदाचित वह उपदन्शकी गणना ट्यूबरक्यूलोसिस और कुष्ट रोगमेंही करते थे। किन्तु फ्रेञ्च सैनिकोंमें जब उपदन्श भयङ्कर रूपसे फैला तो इसका नाम फ्रेञ्च पाक्स या ग्रेट पाक्स रक्खा गया, तदुपरान्त सोलहवीं ईसा शताब्दीमें इसको सिफ़िलिसका नाम दिया गया।

पाश्चात्य विद्वानोंने उपदन्शकी तीन श्रेणी रक्खी हैं, जिनमेंसे उनके कथनानुसार प्रथम श्रेणीमें तो रोगीको उपदन्शका ज्ञानही नहीं होता, और दूसरी श्रेणीमें उपदन्शके घाव या धब्बे, प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं और तीसरी श्रेणीमें रोग इतना भयङ्कर हो जाता है कि बहुधा रोगीकी मृत्यु हो जाती है, या उपदन्शसे ट्यूबरक्यूलोसिस होनेपर क्षयी रोगकी उत्पत्ति हो जाती है, या कुष्टका जन्म हो जाता है, या अन्य अनेक रोग हो जाते हैं।

उपदन्श एक बहुतही दुष्ट रोग है, यह धोखा दे, देकर आक्रमण करता है इसीसे कभी, कभी रोगी यह समझता है कि उपदन्शसे उसका पीछा छूट गया और फिर कुछ मास या वर्षके उपरान्त अपनेको उपदन्श ग्रस्त पाता है। सारांश यह है प्राय सभी वह चिकित्साएं जो औषधियोंके आधारपर स्थिर हैं उपदन्शको समूल नष्ट करनेमें व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। हां, यह अवश्य है कि औषधियों द्वारा उपदन्शका रूपान्तर होकर उसका अन्य रोगोंमें परिवर्त्तन हो जाता है, और इस बातको रोगी नहीं समझता। इसीसे वह समझता है कि उपदन्शका इति हो गया।

पक्षाघात, उन्माद, क्षयी, कुष्ट, रक्त वाहिनी नालियों एवं स्नायुका शिथिल होना, अनेक प्रकारके घाव हो जाना और अन्य अनेक रोगोंकी उत्पत्तिका कारण उपदन्श हो जाता है। अतः उपदन्शकी पथ्यके साथ उस समयतक चिकित्सा करनी चाहिये जबतक कि उसका पूर्ण रूपेण इति न हो जावे।

उचित तो यही है कि उपदन्शके रोगीको शिरसे पैरतक समस्त शरीरपर जल द्वारा टबमें लिटाकर ताप पहुंचाया जाय, और प्रदाहित स्थानों या घावों आदिपर ताप पहुंचानेके उपरान्त उष्ण मृतिका बन्धनोंका प्रयोग होना चाहिये। किन्तु यदि टब द्वारा ताप न पहुंचाया जा सके तो छाती और उदरपर उष्ण जल द्वारा निचोड़े

हुए ऊनी वस्त्रोंसे ताप पहुंचाना चाहिये। परन्तु वस्त्रों द्वारा ताप पहुंचानेमें प्रदाहित स्थानोंपरभी ताप पहुंचाया जाय। इसके अतिरिक्त प्रदाहित स्थानोंके साथ, साथ धड़परभी उष्ण मृत्तिका बन्धन प्रयोग करने आवश्य हैं।

रोगीके परिवारकको यह ध्यान रहे कि रोगीके शरीरपर प्रयोग किये हुए बन्धनोंकी मृत्तिका ऐसे स्थानपर न फेंकी जाय जो किसी अन्य व्यक्तिके शरीरसे स्पर्श होकर उसकोभी यह रोग हो जाय; प्रत्युत हो सके तो उपदन्शके रोगीको सभीसे पृथक रक्खा जाय। उसकी कोईभी वस्तु किसीके प्रयोगमें न लायी जाय।

हमारे देशमें जिस प्रकार हुक्केकी घृणित प्रणाली अन्य व्याधियोंके वीर्य-कणोंको एक शरीरसे दूसरे शरीरमें पहुंचा कर अनेक रोगोंकी कृपि करती है वैसेही उपदन्श रोगभी हुक्के द्वारा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें पहुंच जाता है। परन्तु खेद है इसपरभी अनेक मूर्ख झूठा हुक्का पान करनेमेंही गर्व करते हैं। हमारी सम्मतिमें यदि मनुष्य यह चाहता है कि उसके शरीरमें दूसरे रोगियोंके रोगोंके वीर्य-कण प्रवेश न करें तो उसको चाहिये कि वह किसी अन्य व्यक्तिका हुक्काही क्या किसी पदार्थकोभी प्रयोग न करे। यहांतक कि हो सके तो दूसरोंकी चारपायी और कुर्सीभी अपने काममें न लावे।

उपदन्शके रोगीको यथा शक्ति अनुत्तेजक और रसीले फलोंपर निर्वाह करना चाहिये, जिससे आमाशयको सुख प्राप्त होनेसे पाचन शक्तिमें वृद्धि हो, शुद्ध रक्तके उत्पन्न होनेपर समस्त शरीरको शक्तियां प्राप्त हों और रोगके कीटाणुओंको अनुकूल साधन न मिलनेपर शीघ्र उनका इति हो जाय। रसीले फलोंमें अनार एवं संगतरा बहुतही उपयुक्त है। यदि निरन्तर सात वर्षतक रोगी स्वच्छ वायुके स्थानमें रहे और केवल रसीले एवं अनुत्तेजक फलोंपर निर्वाह करे और आवश्यकता हो तो शरीरको तापभी पहुंचाता रहे तो यह बात निश्चय है कि उसके शरीरसे केवल उपदन्शहीका इति न हो जाय, प्रत्युत समस्त रोगोंसे मुक्ति पाकर शरीरका कल्प हो जाय।

जो माता-पिता उपदन्शसे पीड़ित हों उन्हें उस समयतक जबतक कि वह उपदन्शसे मुक्त न हो जायं कभी स्वप्नमेंभी सन्तानोत्पत्तिकी लालसा न करनी चाहिये, किन्तु यदि दुर्भाग्यसे उपदन्श पीड़ित माता-पिता अपनी मूर्खतावश गर्भाधान करचुके हों तो तत्क्षण माताको नित्य प्रति रसीले फलोंपर निर्वाह करते

हुए उदर एवं छातीपर ताप और उष्ण मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये, जिससे बालकका समयसे पूर्व गर्भसे पतन न हो जाय, और जिस समय वह संसारमें आय नीरोग हो। बालकके जन्म लेनेके उपरान्त माताको उस समयतक अपने शरीरको ताप पहुंचाना चाहिये जबतक बालक दुग्ध पान करे अन्यथा बालकको दूध पिलानेके निमित्त किसी अन्य धायका प्रबन्ध कर दिया जाय, और बालकको भी यथेष्ट समय ताप पहुंचाना चाहिये।

उपदन्शसे पीड़ित एक रोगिनी सन् १९१६ ई० के अन्तमें नगीने (बिजनौर)के स्थानपर हमसे चिकित्सा कराने आयी थी। उसका पति एक साधारण दूकानदार था, किन्तु फिरभी वह अनेक चिकित्सकों द्वारा उसकी चिकित्सा करा चुका था। अन्तमें वह बिजनौर आयी; किन्तु हम उसी दिन दिल्लीको जा रहे थे, इस लिए शीघ्रताके कारण हम उसे भले प्रकार देखभी न सके फिरभी हमने [illegible] भाप बन्धनके साथ, साथ प्रदाहित स्थानों और घावोंपर बन्धनोंका प्रयोग [illegible] गीले फल सेवन करनेकी सम्मति दी। किन्तु धनाभावसे वह फलोंपर निर्वाह न कर सकी। इस लिए विवश हो उसे गेहूंका दलिया और दूध सेवन करनेकी आज्ञा देनी पड़ी। परन्तु यह हमारी भारी भूल थी। क्योंकि अनुभवसे यह सिद्ध हो चुका है कि उपदन्शही नहीं प्रत्युत कोईभी रोग, जिसका रक्तसे सम्बन्ध है अन्न सेवन करते रहनेपर समूल नष्ट नहीं होते! किन्तु यह सब कुछ जानतेहुएभी इस लिए हमको ऐसा करना पड़ा था कि रोगिनीका हमारे पहिले श्वसुरालयसे कोई दूरका सम्बन्ध होनेसे हमारे सालेकी स्त्रीने हमें उसकी चिकित्सा करनेको बाध्य किया था। जिस समय हमने चिकित्सा करना प्रारम्भ किया था रोगिनीकी आयु प्राय तीस वर्ष थी, उसकी दोनों टांगे नीचेसे ऊपरतक उपदन्शके गहरे घावोंसे सड़ रही थीं, और समस्त शरीर थका हुआ था। मृत्तिकाके उष्ण बन्धनोंका प्रयोग करनेके एक मास उपरान्त टांगोंके समस्त घाव भरकर आरोग्य हो गये थे और प्रत्यक्ष रूपसे रोगिनीको उपदन्शके लक्षण प्रतीत नहीं होते थे। अतः उसने कुछही दिनके उपरान्त बन्धनोंका प्रयोग बन्द कर दिया, जिससे कोई एक वर्षके उपरान्त फिर उपदन्शका साधारण आक्रमण हुआ, किन्तु फिर हमारा बिजनौर जाना नहीं हुआ। इस लिए हमको इसके पश्चात् कोई ज्ञान नहीं। हमने इस रोगिनीको जल द्वारा ताप पहुंचानेकी इस भयसे सम्मति नहीं दी थी कि

विजनौर और मुरादावादमें डाक्टर कोहनीकी चिकित्साका अधिक प्रचार होनेसे वहां कुछ बुद्धिके शत्रु ऐसे जल चिकित्सकोंकीभी कमी नहीं है जो डाक्टर कोहनीके अतिरिक्त अन्य विद्वानोंके मतानुसारभी चिकित्सा करते, और उस चिकित्सापर अपने आविष्कारकी छाप लगानेमें तनिकभी लज्जा और संकोच नहीं करते हैं, कहीं हमारी चिकित्सा विधिकोभी अपनी आविष्कृत विधा न वना बैठें। क्योंकि हमने कई वार इस वातका अनुभव किया है कि दो मुरादावादके और एक विजनौरके महाशयने हमारी चिकित्सा विधिको अपना कहकर उससे कई रोगियोंकी चिकित्सा की। इसीसे हमने विजनौर, मुरादावाद और उनके निकटवर्त्ती स्थानोंमें उस समयतक जवतक कि प्राकृतिक विज्ञानका प्रकाशन न हो जाय अपनी चिकित्सा विधिका प्रचार करना स्थगित कर दिया। किन्तु वास्तवमें यहभी हमारी भूलही थी। क्योंकि

चित्र यह अङ्कित कहा करेतू, नेकहु प्राकृत नाहिं वनेगो।
कोटि उपाय करे जो 'कर्नल,' फेरहू चित्रको चित्र रहेगो॥

उपदन्शके एक रोगीने मार्च सन् १९१८ ई० में मिस्टर खान मो० खां, तहसीलदार अजनाला, द्वारा हमको जस्सड़ जिला स्यालकोटमें वुलवाया था। वह एक अच्छा धनिक था, उसकी आयु प्राय पैंतीस वर्षकी थी और चिरकालसे उपदन्श ग्रस्त था, और अनेक किकित्साएं करते, करते दुःखी होगया था, उसके नेत्र प्रत्येक समय लाल रहते थे, शरीरमें स्थान, स्थानपर उपदन्शके चकत्ते थे, और वह अपने जीवनसे वहुत दुःखी था। अतः हमने उसे मृत्तिका वन्धनोंके प्रयोग करने एवं अनुत्तेजक और रसीले आहारकी सम्मति दी थी, जिससे उसे वहुत कुछ लाभ पहुंचा किन्तु जिस दिन हम उसको उष्ण जल द्वारा ताप लेनेकी सम्मति देना चाहते थे, उसी दिन उसकी वातोंसे यह भास हुआ कि वह हमारी फ़ीस देनेकोभी प्रस्तुत नहीं है। अतः हमनेभी उसे कोई उचित सम्मति देना नीति विरुद्ध समझा और वहांसे प्रस्थान कर दिया। फलतः उसके रोगका समूल नाश न हुआ; प्रत्युत कुछ दिन उपरान्त उसको पक्षाघात हो गया। इसके उपरान्त हमको उसके कोई समाचार नहीं मिले।

उपदन्श पीड़ित एक रोगी हमको सन् १९२२ ई० में अजमेरमें मिला था। वह एक ऐसे सम्प्रदायका साधु था, जिसमें छोटे, छोटे वालक मोल लेकर साधु वनाये जाते हैं, जिसमें हरे फलों या शाकोंका सेवन करना एवं अग्निका

प्रयोग करना धार्मिक दृष्टिसे निषेध है। अतएव हमको उसकी चिकित्सा करना असम्भव प्रतीत हुआ। क्योंकि यदि अग्निका प्रयोग न किया जाय तो ताप किस प्रकार पहुंचाया जाय और यदि फलोंका आहार न हो तो रक्तकी शुद्धि आदि कैसे हो। अतः हमने उसकी चिकित्सा करना अस्वीकार किया। निदान् उसने अपने उस स्वधु वेशका परित्याग करके पूरे पथ्य और परिश्रमसे आबूमें रहकर अपनी चिकित्सा की। वह हमारी सम्मत्यानुसार प्रति दिन तीन वार दो, दो घन्टे टब द्वारा समस्त शरीरको ताप पहुंचाता था। इसके उपरान्त प्रत्येक समय धड़ एवं घावोंके स्थानपर उष्ण मृत्तिका वन्धनोंका प्रयोग करता था। क्योंकि उसकी आयु पच्चीस वर्षसे अधिक नहीं थी और धनकीभी कोई कमभी न थी, इस लिए उसके समस्त शरीरके घाव वहुतही शीघ्र आरोग्य हो गये। किन्तु इसपरभी रोगका इति होनेमें ढाई वर्ष लगे थे।

साफ्ट सोर Soft Sore.

साफ्ट सोर उपदन्शके भाई बन्धुओंमेंसेही है। केवल अन्तर यही है कि इसकी उत्पत्ति जिन ग्रन्थियोंमें होती है उनके घाव आदि उन्हींतक परिमित रहते हैं, और यह उपदन्शके समान भयङ्कर नहीं होता है। किन्तु यह सम्भव है कि इसके साथ, साथ उपदन्शकी उत्पत्तिभी हो जाय या उपदन्शके साथ इसकी उत्पत्ति हो जाय।

साफ्ट सोरकी वही चिकित्सा और पथ्य होना चाहिये जो उपदन्शमें होता है।

मूत्र-कृच्छ्र Gonorrhœa.

मूत्र-कृच्छ्रभी एक बड़ा दुष्ट और संक्रामक रोग है। इसके कीटाणु बड़ेही विषले और तीक्ष्ण होते हैं। इसीसे मूत्र कृच्छ्रके रोगीकी धोती, तौलिया और स्पोंज प्रयोग करतेही मूत्र-कृच्छ्रके होनेका भय रहता है। मूत्र-कृच्छ्रकी उत्पत्ति वास्तवमें एक विशेष जातिके विषैले कीटाणुओं द्वारा मूत्राशयमें श्लेष्मकी झिल्लीमें होती है, और रोग उसी झिल्लीतक परिमित रहता है। यह दूसरी वात है कि रोगकी दशा तीव्रसे मन्दावस्थाको प्राप्त हो जाती है, जिससे मूत्र नालीका मार्ग तङ्ग हो जाता है। इसके अतिरिक्त मूत्र-कृच्छ्रके कीटाणु नेत्रोंसे संसर्ग होनेपर नेत्रोंमें भारी पीड़ाके कारण

होते हैं। मूत्र कृच्छकी उपस्थितिमें मूत्र नालीसे पूय (मवाद) आया करता है, मूत्र त्यागनमें दुःख होता है, इसीसे थोड़ा, थोड़ा मूत्र बड़ी दाहके साथ आया करता है, मूत्र नाली एवं मूत्राशय तथा अन्य निकट सम्बन्धी अवयवोंमें दाह हुआ करती है, अधिकांश मूत्र रक्तवर्णका होता है। मूत्र-कृच्छके अधिक समयतक शरीरमें रहनेके कारण एक प्रकारकी गठिया (Gonorrhœal rheumatism) हो जाती है, जो कि मनुष्यको पङ्गु बना देती है। इसके अतिरिक्त मूत्र कृच्छसे अन्य अनेक रोगोंकी उत्पत्तिभी हो जाती है।

मूत्र-कृच्छकी दशामें जनेन्द्रिय और मूत्राशयके साथ, साथ उदर एवं छातीपर प्रतिदिन न्यूनातिन्यून दो वार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाना और उदरपर मृत्तिका बन्धनोंका प्रयोग करना चाहिये। किन्तु यदि मूत्रनाली तङ्ग हो जाय या जुड़ जाय तो सलाई (Catheter) का प्रयोग करना परमावश्यक है। परन्तु यह कार्य किसी ऐसे चतुर चिकित्सकके हाथसे होना चाहिये, जो शरीर विज्ञानमें दक्ष हो, और जिसका हाथ सधा हुआ हो; अन्यथा कभी, कभी कठोर सलाई प्रवेश करनेमें बहुत कुछ हानि हो जाती है। यदि सम्भव हो तो नित्य प्रति उष्ण जलकी डूश (पिचकारी) द्वारा मूत्राशय एवं मूत्र नालीको स्वच्छ कर दिया जाय। मूत्र-कृच्छके साथ यदि गठियाका रोग हो तो शरीरके सन्धिके स्थानोंपरभी ताप एवं बन्धनोंका प्रयोग होना चाहिये, और रोगीको पूर्ण विश्राम लेना चाहिये।

साधारण मूत्र-कृच्छसे पीड़ित होनेपर प्रायः अनेक जातियोंके अनुत्तेजक और अधिक रसीले फल सेवन किये जा सकते हैं, किन्तु रोगके मन्दावस्थाको प्राप्त होने या गठियाके हो जानेपर यथा शक्ति केवल अनार और संगतरेपर निर्वाह करना चाहिये।

मूत्र-कृच्छका एक रोगी सन् १९२१ ई० के अन्तमें हमको वटालेमें मिला था। उसकी आयु प्राय तीस वर्षकी थी, वह प्राय नौ वर्षसे मूत्र-कृच्छसे कष्ट पारहा था, उसने अनेक चिकित्सकोंके टक्करें मारी थीं, किन्तु इसके अतिरिक्त कि कुछ दिनोंको उसकी पीड़ामें न्यूनता हो जाय उसे अन्य कोई लाभ नहीं हुआ था। उसको कुछ चिकित्सकोंने अधिक मूत्र करानेकी औषधियांभी दीं थीं, जिनसे आरम्भ कालमें तो सुख प्राप्त होता दीखता था, किन्तु कुछही दिनके उपरान्त

उनका प्रयोग केवल व्यर्थही सिद्ध नहीं होता था, प्रत्युत हानिप्रद प्रमाणित होता था। अनेक औषधियों द्वारा उसकी मूत्र नालीमें दाहकी न्यूनताका अनुभव होता था, परन्तु पूय-(मवाद) का आना किसीसे बन्द नहीं होता था। इसीसे प्रत्येक समय उसकी धोतीमें पूयके धब्बे लगेही रहते थे। हमने उसको एक मासतक प्रतिदिन तीन वार दो, दो घन्टे उदर मूत्र नाली एवं अण्डकोषोंपर ताप पहुंचाने और केवल अनारपर निर्वाह करनेकी सम्मति दी थी, जिसका उसने पूर्ण रूपेण पालन किया। फलतः पन्द्रह दिनके भीतरही उसकी मूत्र नालीकी वह दाह जो कई वर्षसे एक पलकोभी बन्द नहीं हुई थी सदाको विदा हो गयी, इसके अतिरिक्त अण्ड कोषोंका शोथ लुप्त हो गया और मूत्र निर्मल वर्णका हो गया। इसके उपरान्त उसने रोगसे मुक्त होनेके निमित्त छः मासतक दो वार नित्य उदर, मूत्राशय एवं मूत्र नालीको दो, दो घन्टे ताप पहुंचाता रहा और अनार, अंगूर, संगतरा, माल्टा, काशमीरी नाशपाती एवं गन्ने आदिपर निर्वाह करता था।

कुछ विशेष रोगियोंका विवरण

एक हिस्टेरिया-(Hysteria) से पीड़ित रोगिनी जिसे चार दिनसे निरन्तर दिनमें दो, तीन वार छः-छः सात-सात घन्टेतक दौरे होते थे, मार्च सन् १९२६ ई० में, जब कि हम ब्रह्मा देशकी यात्राको गये हुए थे, रात्रिके समय हेरीसन रोड, कलकत्तेमें दिखायी गयी। जिस समय हम उस रोगिनीको देखने गये थे वह दौरेके कारण अचेत पड़ी हुई थी और दो मनुष्य उसे बल पूर्वक पकड़े हुए थे। इसपरभी वह उनके वशमें न आती थी। अतएव हमने उसी समय उसको वस्त्रों द्वारा उदर, छाती और मस्तकपर ताप पहुंचवाया, जिससे बहुतही शीघ्र उसको चेत हो गया। किन्तु अगले दिन परिवारकोंकी उपेक्षासे फिर उसे दौरा हो गया, परन्तु वह तीन मिनिटसे अधिक समयतक न रहा; और इसके पश्चात् उसको कोई दौरा नहीं हुआ। उसको प्रतिदिन दो वार दो, दो घन्टे ताप देने और रसीले फलोंपर निर्वाह करनेकी आज्ञा दी गयी थी। उस रोगिनीकी आयु प्राय बीस वर्ष थी, उसको हिस्टेरिया रोग बहुत दिनसे दुःख दे रहा था, और कलकत्ते जैसे नगरमें जहां बड़े, बड़े डाक्टर एवं वैद्योंका निवास है किसी [illegible] द्वारा उसको तनिकभी लाभ नहीं पहुंचा था। परन्तु हमारी चिकित्साने-

तत्क्षण अपना प्रभाव दिखाया। उस रोगिनीके पतिने हमको रङ्गूनके पतेसे एक पत्रभी लिखा था, जिसकी प्रतिलिपि हम निम्नमें देते हैं:—

Calcutta
25-3-26

श्रीयुत डाक्टर साहब,

नमस्कार,

हमें खेद है कि आपसे हम रंगूनके लिये चलते समय न मिल सके यद्यपि करीब ७॥ बजे हम कटरे गये थे। रोगीका हाल ठीक है, तबसे एकभी दौरा फिर नहीं आया है, आपकी आज्ञानुसार चिकित्सा चल रही है—Press (वस्त्र निचोड़नेका यन्त्र) अभीतक नहीं मिला है परन्तु फोमेनटेशन (ताप) बराबर हो रहा है। रोगी अन्नके लिए बहुत व्यग्र है और केवल फल पर साधना असम्भव दिखलायी देता है। नित्य इसके लिए हठ होता है—अतएव आप लिखियेगा कि क्या हम खिला सकते हैं—शेष कुशल है—कृपा बनाये रखियेगा—पत्रोत्तर दीजियेगा।

भवदीय
S. S. Chaturvedi.

एक गठियाका तीस वर्षीय रोगी नोवेम्बर सन् १९२३ ई० में हमको आगरेमें मिला था। वह हमारे एक सेठ मित्रकी बहिनका पुत्र था। सात वर्षसे गठियासे पीड़ित था, और साथही साथ उपदन्श रोगभी उसके शरीरमें विद्यमान था। वह बड़ी कठिनतासे लकड़ी टेकता, टेकता हमतक आया था। वह प्रत्येक समय गठियाकी पीड़ासे दुःखी रहता था और किसी चिकित्सासे उसे इसके अतिरिक्त कि कुछ पीड़ामें न्यूनता हो जाय कभी पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं हुआ। अतः हमने सफलताके लक्षण देखकर उसकी चिकित्सा आरम्भ करदी। उसको हमने प्रतिदिन दो बार उदर, छाती एवं सन्धियोंके शोथके प्रदाहित स्थानोंपर दो, दो घन्टे ताप तथा धड़ बन्धनके प्रयोग करने और केवल रसीले फलोंपर निर्वाह करनेकी सम्मति दी थी। परन्तु वह आवश्यकतासे अधिक लोभी था। इस लिए हमको उसे अनेक शाक सेवन करनेकीभी सम्मति देनी पड़ी। यही कारण था कि जितना उसे लाभ पहुंचना चाहिये था नहीं पहुंचा। हमारी सम्मितसे न्यूनाति न्यून उसे तीन वर्ष निरन्तर केवल अनुत्तेजक रसीले फलोंपरही जीवन निर्वाह करना चाहिये था। इसमें

कोई सन्देह नहीं कि उसके शरीरसे गठियाका क्षति हो गया है । परन्तु अभी उसका शरीर बहुत दूषित है । इसीसे कभी, कभी उसके हाथ-पैरोंमें घाव होजाते हैं, डाढ़ोंकी पीड़ासे वह प्राय दुःख पाताही करता है और उसके शरीरकी त्वचासेभी वह रोगी प्रतीत होता है । हमने उससे इस विषयमें कई वार कथन किया । परन्तु उसने इसपर यही उत्तर दिया कि उसके मामाने फलोंके स्थानमें चावल सेवन करनेको लिखा था इसीसे उसने चिकित्सामें बहुत कुछ विश्वास होते हुएभी उसका परित्याग कर दिया । किन्तु यह हमको अनुभवसे सिद्ध हो गया कि उस रोगी और उसकी माताको हमारी चिकित्सामें इतना विश्वास हो गया है कि उनके घरमें केवल उसके लघु भ्राताके अतिरिक्त जब कोई रोग ग्रस्त होता है तो हमारी विधिसेही उसकी चिकित्सा की जाती है ।

नोवेम्बर सन् १९२५ ई० में आगरेमें हमको एक नेत्रोंके ट्यूमरका रोगी मिला था । वह मथुरा, लखनऊ, कानपुर और कलकत्तेके नेत्र विशेषज्ञोंसे चिकित्सा करा चुका था; प्रत्युत कानपुरके डाक्टर महाशयने तो उसका एक नेत्रभी निकाल दिया था, और फिरभी रोगमें न्यूनता होनेकी अपेक्षा वृद्धिही होती गयी । इसके उपरान्त वह दो बार रांची रेडियमसे चिकित्सा कराने गया, परन्तु वहांभी प्रथम वार कुछ लाभ होता प्रतीत हुआ किन्तु द्वितीय वार कुछ लाभ न होनेपर हताश होकर लौटना पड़ा । इसके पश्चात् वह आगरे आया और उसने एक डाक्टरसे चिकित्सा कराना आरम्भ किया, जिसका फल यह हुआ, उसके दूसरे नेत्रसेभी दीखना बन्द हो गया । अन्तमें वह हमारी चिकित्सामें आया । हमने उसको पन्द्रह दिनतक आगरेही रहनेकी सम्मति देते हुए प्रति दिन तीन वार दो, दो घन्टे उदर, छाती, नेत्रों, ट्यूमरके प्रदाहित शोथके स्थानों और उसको अर्श व्याधिभी होनेसे गुदापर ताप एवं नेत्रों और ट्यूमरपर मृत्तिका बन्धनोंके प्रयोग करने तथा केवल रसीले फल सेवन करनेकी आज्ञा दी । फलतः पन्द्रह दिनमेंही उसके ट्यूमरके शोथ और पीड़ामें बहुत न्यूनता हो गयी और पन्द्रहवें दिन वह अपने घर चला गया । इसके उपरान्त दिनोदिन वह उन्नति करता गया । यहांतक कि बहुतही शीघ्र उसके ट्यूमरका समस्त शोथ और पीड़ा जाती रहनेसे उसको पूर्णतः निद्रा आने लगी, नासिकासे जो दुर्गन्ध आतीथी वहभी लुप्त हो गयी,

क्षुधामें वृद्धि हो गयी और उस नेत्रसे दीखनेभी लगा। किन्तु उसके परिचारकभी पूरे लोभी थे। इसीसे उन्होंने बहुत कालतक ताप देनेके वस्त्रोंमें परिवर्तन नहीं किया, जिससे वस्त्रोंके जीर्ण हो जानेके कारण यथेष्ट ताप न पहुंचनेसे ट्यूमरकी ग्रन्थियोंपर पुनः शोथ और शिरमें पीड़ा हो गयी। अतएव वस्त्रोंमें परिवर्तन कर देनेसे फिर पीड़ा और शोथ लुप्त हो गया। किन्तु इसके अतिरिक्त उसके परिचारकोंने एक यह मूर्खता की थी कि हमारी आज्ञानुसार उन्होंने उसके अर्श रोगकी चिकित्सा नहीं की थी, जिससे एकेक उसपर अर्श रोगका आक्रमण हुआ, और उसकी गुदासे रक्त प्रवाहित हो जानेके कारण वह बहुत निर्बल हो गया। इसपर वहांके किसी मूर्ख चिकित्सकने ऐसी औषधि देदी कि फिर उसका संभलना बहुत कठिन हो गया। अतः हमने रोगीके भाईको लिखा कि यदि वह हमारे रहनेका प्रबन्ध कर सके तो हम रोगीकी चिकित्सार्थ एक मास पर्यन्त बिना किसी फ़ीसके रह सकते हैं। परन्तु उसने अन्य समस्त बातोंका तो उत्तर दिया किन्तु इस बातका कोई उत्तर नहीं दिया। अतः हमनेभी उसकी ओरसे मौन धारण कर लिया। क्योंकि उसके रोगकी स्थिति ऐसी भयङ्कर हो गयी थी कि दूर बैठे हम उसकी चिकित्सा करनेमें सफल नहीं हो सकते थे। परन्तु हमें खेद यह है कि उसके सम्पत्तिशाली होते हुएभी निरन्तर अर्द्ध मासतक हमने प्रति दिन दो बार रोगीको उसके निवासस्थानपर बिना किसी फ़ीसके जाकर देखा और दो, तीन बार उसके ग्राममेंभी बिना किसी फ़ीसके गये, फिरभी उसके भाईने हमको बिना फ़ीस रक्खकर चिकित्सा कराना स्वीकार न किया। वास्तवमें यह हमारी भूल है जो हम धनिकोंसे फ़ीस मांगनेमें संकोच कर जाते हैं। निम्नमें हम उस रोगीके भाईके एक पत्रकी प्रतिलिपि देते हैं:—

श्रीरामजी

जनाब डाक्टर साहबको योग्य लिखी रजौरा से म०० ला०, म०० ला० की राम २ के बाद चरण छूना पहुंचे। आप जबसे यहांसे गये हैं तबसे अ०० प्र०० की तबियत ठीक हैगी दस्तभी हो जाता है और कुछ रोसनीभी आंखमें आती जाती है तबियत ठीक है आपकी कृपासे जवाब ज़रूर देना हमारा पता मुकाम रजौरा डाकखाना मदनपुर इस्टेसन् शिकोहाबाद पास म०० ला० म०० ला० के तारीख ११।१२।२५ ई०

एक कमरकी पीड़ाका रोगी ग्राम उजरई, पोस्ट मलपुरा, जिला आगरा का हमसे चिकित्सा कराने मार्च सन् १९२५ ई० में आगरे आया था। वह एक अच्छा धनिक और जिमीदार था, किन्तु आज पर्यन्त हमको जितने रोगी मिले हैं उन सबसे उसका व्यापार बढ़ चढ़कर था। यद्यपि उसने पूर्ण पथ्यके साथ चिकित्सा करी और उसकी उस पीड़ाको, जो इसे सोलह वर्षसे असह्य दुःख दे रही थी, और जिसकी चिकित्सा करते, करते वह दुःखी हो गया था, पूर्ण रूपेण लाभ हो गया, किन्तु उसने और तो क्या वस्त्र निचोड़नेके यन्त्रका मूल्यभी नहीं चुकाया। हमने कई बार उसको बड़े, बड़े कठोर पत्रभी लिखे, परन्तु वह ऐसा निर्लज्ज हो गया कि उसीने उत्तर न दिया। हमने उसको प्रति दिन दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने एवं बड़ बन्धनोंका प्रयोग करनेकी सम्मति दी थी, और रसीले फलोंपर निर्वाह करनेको कहा था। इसके अतिरिक्त हमने उससे अफ्यून त्यागनेकोभी कहा था। परन्तु उसने इस लिए कि उसकी जातिमें अफ्यून सेवन करनेकी कुप्रथा है, अफ्यूनकी मात्रामें न्यूनता तो अवश्य कर दी, परन्तु उसका सर्वथा परित्याग नहीं किया। इसीसे बहुत कुछ चेष्टा करनेपरभी उसकी पीड़ाका समूल इति नहीं हुआ। फिरभी इतना अवश्य हुआ कि वह जो बिना पेटी बांधे खड़ाभी नहीं हो सकता था मीलों बिना पेटी और किसी प्रकारके कष्टके चल सकता था।

सन् १९२४ ई० के अन्तमें एक गृहस्थमें रहनेवाला साधु बम्बईमें मिला था। वह शिर पीड़ाका रोगी था। उसकी आयु प्राय पचपन वर्ष थी उसके नेत्र सदा लाल और मद मैले रहते थे। वह कई, कई दिनतक कोष्ठ-बद्धके कारण मल न त्याग सकनेका दुःख भोगा करता था। उसके शिरमें पीड़ाके अतिरिक्त सदा शुष्कता रहती थी, जिससे उसके कानोंमें प्रत्येक समय सनसनाहट होती रहती थी। उसको यह पीड़ा योगाभ्यास करनेसे हुई थी। हमने उसको प्रतिदिन दो बार उदर, छाती एवं शिरपर दो, दो घण्टे ताप पहुंचाने और फलोंपर जीवन निर्वाह करनेकी सम्मति दी थी, जिससे पहिले सप्ताहमेंही उसे यथेष्ट लाभ पहुंचा। क्योंकि वह सरलतासे मल त्यागन करने लगा, शिर पीड़ा और शुष्कतामें न्यूनता हो गयी, मूत्रके वर्णमें अन्तर प्रतीत होने लगा, नेत्रोंकी लाली कम हो गयी और कुछ, कुछ निद्रामेंभी वृद्धि हो गयी, और इसी क्रमसे उसे दिनों दिन लाभ होता गया। यहांतक कि जब हम फेब्रूएरी सन् १९२५ ई०

में बम्बईसे चले हैं तो वह बहुत कुछ आरोग्य था और हमारी भेटको कुछ फल लाया था।

नोवेम्बर सन् १९२३ ई० में आगरेके स्थानपर हमारे मित्र एक सेठजी अपने एक परिचित बहुत बड़े धनिक मित्रको, जो कि बहुत दुष्ट रोगसे पीड़ित था, जिसके कारण जीवनकी आशा न होनेसे वह विल (वसियत नामा) लिखनेका विचार कर रहा था, और यह कह रहा था कि कोई चिकित्सक चाहे जितना धन लेले किन्तु प्राण बचा दे, मिलने गये और उनके साथ, साथ हमभी गये। उस रोगीको उस समय साधारण ज्वर था, किन्तु हिचकियां और वमन आनेकी केवल उबकाइयां बहुत कष्ट दे रही थीं, और अनेक डाक्टरों एवं वैद्योंकी चिकित्सा द्वारा कोई लाभ न होनेके कारण वह जीवनसे हताश हो गया था। किन्तु हमारे सेठजीने उसे धैर्य बन्धाया और स्वयं अपने हाथसे उसकी छाती एवं उदरपर ताप पहुंचाना आरम्भ किया, जिससे तुरन्त उसको लाभ पहुंचना आरम्भ हुआ, और तीन दिनमें पूर्ण आरोग्य हो गया। इसके उपरान्त सन् १९२५ ई० में उसने हमसे अपनी सासकी चिकित्सा करायी, और उस बार हमारे प्रति उसका यह व्यापार रहा कि कभी उसने हमारी फ़ीस नहीं दी और कहता यही रहा कि हमने फ़ीस नहीं ली। फिरभी विना फ़ीसके उसकी और उसकी सासकी चिकित्सा करनेमें हमें सन्तोष है। क्योंकि जिन सेठजीने 'प्राकृतिक विज्ञान-' के मुद्रणका भार लिया है उन्होंनेही उसकी चिकित्सा करायी थी।

डेसेम्बर सन् १९१५ ई० में भटिन्डेमें हमको वहांके हास्पिटलका एक कम्पाउन्डर मिला था। उसकी आयु प्राय पच्चीस वर्ष थी और वह हस्त-मैथुन करनेके कारण बहुत अंशोंमें नपुन्सक हो गया था। अतः वह सन्तानोत्पत्तिके योग्य न रहा था। उसने अनेक वाजीकर्ण औषधियोंका सेवन और तीक्ष्ण तैलों आदिका मर्दन करके अपने शरीरको औरभी शिथिल कर लिया था। क्योंकि उन औषधियोंकी कृपासे शरीरके उत्तेजित होनेपर उसी प्रकार एकैक काम शक्तियां उत्तेजित हो गयीं, जिस प्रकार दूधके नीचे तीक्ष्ण अग्नि द्वारा उफान आनेपर दूध बाहर आ जाता है, किन्तु अन्तमें उफान आनेपर जैसे दूधका इति हो जाता है वैसेही उसकी शक्तियोंका इति होनेपर वह पहिलेसेभी अधिक नपुंसक हो गया। इसके उपरान्त उसने नपुंसकताके निमित्त कई तीक्ष्ण टीके-(Injection) भी लगवाये।

परन्तु उनसेभी हानिके अतिरिक्त कोई लाभ न हुआ। अतएव उसने हमारी सम्मति चाही। हमने उसको पूर्ण विश्राम करते हुए रसीले फलोंका सेवन करने और छातीसे जनेन्द्रिय पर्यन्त कुछ मासतक ताप पहुंचाने एवं लङ्गोटीकी आकृतिका टी (T) बन्धन रात्रिमें प्रयोग करनेकी सम्मति दी। किन्तु ताप लेनेकी केवल उसी समयतकके लिए आज्ञा दी थी जबतक अजीर्णका अनुभव हो और शरीरको चैतन्यता प्राप्त न हो जाय। इसके उपरान्त बन्धनोंका प्रयोग उस समयतक रखनेके लिए कहा था जबतक कि शरीरको पूर्ण रूपेण शक्तियां प्राप्त न हो जायं, और तबतक स्त्रीके निकट जानेसे रोकनेको कहा था जबतक स्वयं कामेच्छा न हो, प्रत्युत इच्छा होनेपरभी कुछ दिन किसी दूरके स्थानपर रहनेकीही आज्ञा दी थी। निदान् एक वर्ष पर्यन्त हमारी आज्ञानुसार चलनेपर उसके शरीरमें यथेष्ट चैतन्यता आ गयी और फिर प्रकृतिके नियमानुसार प्रातके समय उसे गर्भाधान करनेकी आज्ञा दी, जिसका फल यह हुआ कि उसकी स्त्रीके गर्भसे सन् १९१७ ई० में एक बालिकाका जन्म हुआ। हम उसके पत्रोंमेंसे एक, दोकी प्रति लिपि यहां देने चाहते थे; परन्तु वह इतने अश्लील हैं कि उनका प्रकाशित करना उचित नहीं।

सन् १९२५ ई० के आगस्ट मासमें आगरेके स्थानपर एक क्षयीकी रोगिनी हमको दिखायी गयी वह एक ऐसे साधारण पुरुषकी स्त्री थी जो कि उस समय उन्हीं महाशयके यहां एलेक्ट्रिककी दूकानमें अल्प वेतनपर कार्य करता था, जिनकी चिकित्सा हमने नोवेम्बर सन् १९२३ ई० में 'प्राकृतिक विज्ञान' का मुद्रण करानेवाले सेठजीके आग्रहपरकी थी। वह रोगिनी प्रायः अट्ठाइस वर्षकी थी और प्रायः आठ वर्षसे, जब कि उसके एक बालिका हुई थी, अनेकानेक रोगोंसे पीड़ित थी, और जिस समय हमने उसे देखा था उसके शरीरकी समस्त अस्थियां दृष्टिगोचर होती थीं, ज्वरका ताप १०१° के निकट रहता था, खांसीके कारण उसको समस्त रात्रि बैठेही व्यतीत होती थी, क्षुधा लुप्त हो गयी थी, मुखका स्वाद बहुतही बिगड़ा हुआ रहता था, शरीरमें चैतन्यता नाम मात्रकोभी नहीं दीखती थी, अन्त्र कभी नियमित रूपसे मल त्यागनका कार्य नहीं करती थीं और मासिक धर्म होनाभी बन्द हो गया था। अतः हमने दोनों समय दो, दो घण्टे उदर छाती एवं कमरपर ताप पहुंचाने एवं केवल रसीले फलोंपर निर्वाह करनेकी सम्मति दी थी। निदान् एक मासके भीतरही उसके ज्वरका ताप

न्यून होने लगा, खांसी सर्वथा लुप्त हो गयी, शरीरमें चैतन्यता प्रतीत होने लगी, क्षुधामें यथेष्ट वृद्धि हो गयी, निद्रा भले प्रकार आने लगी, मूत्रके रङ्गमें अन्तर हो गया। किन्तु दुःखकी बात है कि प्रथम तो धनाभावसे उसका पति उसे स्वच्छ वायुके स्थानमें रक्खनेको असमर्थ था, द्वितीय समयके अभावसे इसके पश्चात् वह नियमित रूपसे तापभी न पहुंचा सका, प्रत्युत कभी, कभी तो कई, कई मास पर्यन्त उसको एक बारभी ताप नहीं पहुंचाया गया। परन्तु इस परभी उसका अवतक केवल फलोंपरही निर्वाह हो रहा है। इसीसे यद्यपि उसका जीवन जोखिमसे निकल गया है तथापि रोगका इति नहीं हुआ है। हां, इतना अवश्य है कि जब ताप पहुंचाया जाने लगता है तभी उसे लाभ होने लगता है। इसके अतिरिक्त उसे मासिक धर्मभी होने लगा है और अब वह कुछ कार्य करके अपने पतिको सहायताभी देती रहती है। परन्तु यदि उसकी चिकित्साका यही क्रम रहा तो सम्भव है शीघ्र फिर उसके प्राण जोखिममें पड़ जावें।

डेसेम्बर सन् १९२३ ई० में जब कि हम बम्बई जा रहे थे एक महाशय सपत्नीक हमारी गाड़ीमें रतलामसे चढ़े। अतः उनसे बात-चीत होनेपर परस्पर एक दूसरेका परिचय हुआ। इसके उपरान्त उन्होंने अपनी स्त्रीके सम्बन्धमें सम्मति चाही। क्योंकि उनकी स्त्रीको गर्भवती होनेसे तीसरे, चौथे मासके उपरान्त गर्भपतन होनेकी व्याधि थी और उस समय उसे दो मासका गर्भ था। अतएव हमने उसी समयसे प्रसव-कालतक नित्य प्रति दो वार एक, एक घण्टे योनिसे ग्रीवा पर्यन्त ताप पहुंचाने और रसीले फल सेवन करनेकी सम्मति दी थी। किन्तु यदि बालककी लालसा न होती तो वह महिला कदाचित हमारी चिकित्साके समीपभी न जाती। परन्तु हमारे यहां सन्तानकी इच्छासे स्त्रियां सभी कुछ करनेको प्रस्तुत हो जाती हैं। फिर फलोंका सेवन करना कौन कठिन बात है। निदान् उसी समयसे उस महिलाने पूर्ण रूपेण पथ्यके साथ हमारी चिकित्साका पालन किया, जिससे यथोचित समयपर साधारण प्रसव पीड़ाके साथ एक सुन्दर और आरोग्य बालकका जन्म हुआ। किन्तु बालकका जन्म होनेके उपरान्त बड़ी कठिनतासे एक मास व्यतीत होनेपर उस महिलाने फलोंका सेवन करना त्याग कर एकैक गरिष्ठ उत्तेजक एवं रसहीन पदार्थ लेने आरम्भ कर दिये, जिसका फल यह हुआ कि माताके स्तनोंसे दूध निकलनेमें इतनी न्यूनता हो गयी कि बालक क्षुधासे पीड़ित रहनेके

कारण प्रत्येक समय चिल्लाता रहता था । अतः इस विषयमें फिर हमको लिखा गया, जिसके उत्तरमें हमने बहुत कुछ समझाकर विस्तारपूर्वक लिखा कि दूध सदा रसोंहीसे बनता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जब गायं हरी घास सेवन करती हैं, तो वह उस समयसे जब कि वह सूखी घासपर रक्खी जाती हैं, अधिक दूध देती हैं । इस लिए यदि दूध में वृद्धि करनी हो तो रसीले फलों या दूधपर निर्वाह करना चाहिये, किन्तु वह एक धनिककी स्त्री थी। अतः उसने हमारी सम्मति स्वीकार न करके बालकको दुग्ध पान करानेके निमित्त एक धायको रक्ख लिया।

सन् १९२३ ई० के मेय मासमें हमारे श्वसुरालयमें एक लड़केने, जिसकी आयु प्रायः सत्तरह वर्ष थी, और जिसकी टांगमें पीछेकी ओर ऐड़ीसे छः इञ्च ऊपर एक ऐसा घाव था जो बहुत समय हो जाने और अनेक चिकित्साएं करनेपरभी आरोग्य नहीं हुआ था, उसकी चिकित्साके सम्बन्धमें हमारी सम्मत्ति चाही । हमनें यह देखकर कि साधारण घाव है और वह एक दरिद्र लड़का है केवल ऐसा भोजन, जिसमें अधिक मिर्च मसाला नहो, लेने और प्रत्येक समय घावपर उष्ण मृत्तिका बन्धनोंके प्रयोग करनेकी सम्मति दी, जिससे एक मासमें उसका घाव आरोग्य हो गया। जब हम दुबारा सन् १९२४ ई० में वहां गये हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उसने उसी रीत्यानुसार एक तेलीके वैसेही घावको आरोग्य किया था ।

एप्रिल सन् १९१८ ई० में जबकि हम सोमना जिले अलीगढ़में थे हमने एक सात वर्षीय बालककी चिकित्सा की । उस बालककी ऊपरसे गिरनेके कारण खोपड़ी फट गयी थी । हमने उसको ज्वर हो आया था इस लिए दो दिन घावके अतिरिक्त छाती और उदरपर दो, दो घण्टे ताप पहुंचाने और इसके उपरान्त जबतक घाव आरोग्य न हो उसपर नित्य दो बार दो, दो घण्टे ताप पहुंचानेके उपरान्त मृत्तिका बन्धन प्रयोग करनेकी सम्मति दी थी, जिससे घाव खुला रहकर रोग न बढ़े । भोजनार्थ हमने उसे शहतूत और लोकाट सेवन करनेकी आज्ञा दी थी क्योंकि उस समय वहां यही फल पर्याप्त थे । उस बालकका घाव इक्कीस दिनमें आरोग्य हो गया था, इस-परभी वह एक मास पर्यन्त फलही सेवन करता रहा, और तबतक आहारमें परिवर्त्तन नहीं किया जबतक कि उसका पिता उसे हमारे समीप लाके हमारी आज्ञा दिला कर नहीं लेगया । वास्तवमें उस सात वर्षीय बालकके समान हमारी आज्ञानुसार चलनेवाला आज पर्यन्त कोई रोगी नहीं मिला । क्योंकि उसने कभी यहभी

प्रश्न नहीं किया कि अमुक फल सेवन किया जा सकता है या नहीं। अतः उन मुर्खोंको, जो अपनी जिह्वाके चटोरपनके कारण पथ्यसे रहनाही मृत्यु समझते हैं, और कुपथ्यसे रहकर अपने अमूल्य जीवनका नाश करते हैं, लज्जा आनी चाहिये।

सन् १९२३ ई०के एप्रिल मासमें ग्राम दीघी, ज़िले बुलन्दशहरमें एक छः वर्षीय मालीके बालककी चिकित्सा करनी पड़ी। उसके पैरमें एक मनुष्यके लकड़ी चीरते समय बैंटेसे निकलकर कुल्हाड़ीके उचटनेपर गहरा घाव हो गया था, जिससे स्वतन्त्रतापूर्वक रक्त प्रवाह हो रहा था। अतः हमने तुरन्तही घावपर ताप पहुंचवाकर मृत्तिका बन्धनका प्रयोग करवा दिया; और इसी प्रकार नित्य दो बार घावपर ताप पहुंचाया जाता था, और दिनमें कई बार बन्धनोंका प्रयोग होता था। उसको भोजनार्थ फल उपलब्ध न होनेके कारण केवल दूधकी आज्ञा दी थी। उसका घाव प्रायः दस दिनमें आरोग्य होगया था। किन्तु शोथ और पीड़ा तीन दिनमें लुप्त हो गयी थी। हमने घावके आरोग्य होनेके समयतक उसको घावके फटनेके भयसे चलने-फिरनेकी आज्ञा नहीं दी थी।

सन् १९१९ ई०के सेप्टेम्बरमें खुर्जे, ज़िले बुलन्दशहरमें हमको एक मैलेरिया-(जूड़ीका ज्वर) का रोगी मिला था। उसको प्रायः एक वर्षसे मैलेरिया दुःख दे रहा था। अतः हमने उसे जिस समय ज्वर चढ़े और उसके अतिरिक्त जितनी बार और जितने समयतक हो सके ताप लेने और रसीले फल सेवन करनेकी सम्मति दी। किन्तु ऐसा करनेसे एक तो ज्वरके चढ़ते समय शरीरके कम्पनमें न्यूनता हो गयी, दूसरे तापके कारण ज्वर अधिक कष्टदायक नहीं प्रतीत होता था, तीसरे अन्त्र मल त्यागनका कार्य नियमित रूपसे करने लगी थीं, अन्य कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तमें हमने उसे टब द्वारा ताप लेनेकी सम्मति दी, जिससे बड़ी कठिनतासे सात-सात, आठ-आठ घन्टे ताप लेनेपर एक मासमें मैलेरियासे पीछा छूटा था। परन्तु यदि वह इतने परिश्रमसे चिकित्सा न करता तो सम्भव था कि उसे क्षयी रोग हो जाता।

जून सन् १९२३ ई० में बम्बईके स्थानपर एक ज्योतिषीजी महाराजकी स्त्री की चिकित्सार्थ हमसे एक सेठजीने कहा, और हमको इस लिए 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणका कार्य रोककर उस महिलाकी चिकित्सा करनी पड़ी, कि वही सेठजी 'प्राकृतिक विज्ञान' के मुद्रणका भार सहन कर रहे हैं। उस स्त्रीके पगमें कई वर्षसे

नासूर और इसके कारण पञ्जेपर शोथ था। अनेक बड़े, बड़े चिकित्सक उसकी चिकित्सा कर चुके थे। अन्तमें हमने उसकी चिकित्सा करनी प्रारम्भ की और इसके लिए सेठजीके कहनेपर नित्य दो मास पर्यन्त हमको बम्बईसे माटुंगे जाना पड़ता था। किन्तु उसे बहुत कुछ लाभ होनेपरभी यह सभी व्यर्थ था, क्योंकि वह रोगिनी एक दिनभी पथ्यसे न रही। अन्तमें ज्योतिषीजी दुःखी होगये और चिकित्सा बन्द हो गयी। इसके उपरान्त ज्योतिषीजी हमें सौ रुपये देने लगे, किन्तु हमने इसलिए कि प्रथम तो वह एक तुच्छ धन था, द्वितीय सेठजीकीभी इच्छा नहीं थी कि हम उनसे कुछ लें, वह रुपया नहीं लिया।

जून सन् १९२१ ई० में हमको दिल्लीमें एक ऐसा रोगी मिला जिसका वाम हाथ अग्निसे जल गया था। उसने हाथ जलनेसे प्राय ३ या ४ मिनिट पीछेही हमको अपना हाथ दिखलाया। उस समय वह पीड़ा और दाहके कारण बहुत विकल हो रहा था। अतएव वहां उपस्थित जनोंमेंसे एक महाशयने उसे शीतल जलमें हाथ डुबोये रखनेकी सम्मति दी, क्योंकि वह जल चिकित्साके पक्षपाती थे। परन्तु हमने उसे ऐसा करनेसे इस लिए रोका कि अनेक बार हमारे अनुभवमें यह बात आचुकी थी कि जले हुएपर शीतल जलका प्रयोग करनेसे छाले पड़ जाते हैं, और दाहकी वृद्धि हो जानेसे निरन्तर कई दिवस पर्यन्त जले हुए अङ्गपर शीतलाति शीतल जलका प्रयोग करनेको वाध्य होना पड़ता है। अतः हमने उस जले हुए रोगीका हाथ साधारण तापकी बिना जलकी सहायताके पिसी हुई चिकनी मिट्टीमें बारह घन्टेतक दबवाये रक्खा, जिससे दाहका इति हो गया। इसके उपरान्त तीन दिन उसके हाथपर दिनमें दो बार दो, दो घन्टे ताप करके उष्ण मृत्तिका बन्धन प्रयोग करनेकी सम्मति दी, जिससे उसे पूर्ण लाभ हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक साधारण बात थी; परन्तु वास्तवमें यही वह रोगी था, जिसके कारण जल चिकित्सापर किसी अंशमें हमारा विश्वास नहीं रहा; और तभीसे हम जल चिकित्साओंको अद्योपान्त अप्राकृतिक समझते हैं।

नोवेम्बर सन् १९२६ ई० में आगरेमें हमको एक नेत्र रोगी मिला। वह एक दीन ब्राह्मण था और पुरानी कोतवालीकी बिल्डिङ्गमें प्राय एक दूकान पर बैठा हुआ मिला करता था, और मार्ग चलते जब हमारी दृष्टि उसकी ओर जाती थी तभी वह नमस्कार किया करता था। अन्तमें एक एक दिन उसने अपने रोगके

विषयमें हमसे कोई औषधि बताने को कहा, क्योंकि उस समयतक उसे यह ज्ञान नहीं था कि हम औषधि मात्रके शत्रु हैं। अतः हमने उसको प्रतिदिन नेत्रोंपर दो बार दो, दो घन्टे ताप पहुंचाने और रात्रिको उष्ण मृत्तिका बन्धन प्रयोग करनेकी सम्मति दी। किन्तु पथ्यके विषयमें इस लिए कुछ नहीं कहा कि प्रथम तो हमको यह आशाही नहीं थी कि वह पथ्यसे रहेगा, द्वितीय देखनेसे उसकी स्थितिभी ऐसी प्रतीत नहीं होती थी कि वह भिक्षुक होते हुए फलोंपर निर्वाह करसकेगा। इसके अतिरिक्त उसकी आयुभी सत्तर वर्षसे अधिक प्रतीत होनेके कारण हमें यह आशा नहीं थी कि उसकी दृष्टिमें उन्नति होगी। हम तो केवल यही समझे थे कि नेत्रोंपर ताप पहुंचानेसे उनकी लाली (दाह) जाती रहेगी और उनसे जलका प्रवाहित होना बन्द हो जावेगा। परन्तु आश्चर्य है कि विना पथ्यसे रहते हुएभी एकही सप्ताहमें उसे अपूर्व लाभ हुआ। वह जो कि किसीको केवल प्रतिबिम्बके रूपमें देखता था भले प्रकार उसकी मुखाकृति देखने योग्य हो गया, उसके नेत्रोंकी लाली और उनसे जलके प्रवाहित होनेमें बहुत न्यूनता होगयी। इसपरभी एक बात यह है कि न तो उस समयतक वह बन्धनोंका प्रयोग कर सका था और न नियम पूर्वक ताप पहुंचा सका था। उस समयतक वह एक पुरानी टोपियां धोनेवालेकी दूकानपर जलमें उबली हुई फेल्ट टोपियोंकी उष्णता द्वाराही, और वहभी केवल एक ही घन्टे, नेत्रोंको नित्य ताप पहुंचाया करता था। परन्तु चिकित्सा करनेसे एक सप्ताह पीछे जब उसने हमसे इस प्रकार ताप पहुंचाने और बन्धनोंका प्रयोग न करनेकी बात कही तो हमने उसको नियम पूर्वक ताप पहुंचाने और न्यूनातिन्यून रात्रिके समय बन्धनोंका प्रयोग करनेकी पुनः सम्मति दी। अतएव यदि उसने पूर्ण रूपेण उसका पालन किया तो उसे पथ्यसे न रहते हुएभी मनुष्यको चकित करनेवाला लाभ होगा, जिससे सिद्ध होगा कि तापकी क्या महिमा है।

नोविम्बर सन् १९२६ ई० में जिस समय कि हम जैन अनाथालय, आगरेमें ठहरे हुए थे एक दस वर्षीय लड़केकी उंगली हस्ततलकी ओर पकने लगी और दाहके कारण उस लड़केको चैन नहीं पड़ता था; और उस अनाथालयमें जैनी लड़कोंके अतिरिक्त अन्य हिन्दू लड़कोंकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। अतः उसकी उस वेदना युक्त पीड़ासे दुःखी होकर हमने अपनेही स्टोवपर तवा रखकर और उस बालककी उंगलीपर एक जलमें भीगा वस्त्र लिपटवाके उस तवेपर

उसकी अंगलीको ताप पहुंचाया, जिससे तीन दिनके भीतर उसकी अंगली ठीक हो गयी । किन्तु पीड़ा पहिलेही दिन लुप्त होगयी थी । तपेका ताप जब सह्य नहीं होता था तो अंगलीसे लिपटे हुए वस्त्रपर कुछ शीतल जल टपका दिया जाता था । जिस समय हम उस बालककी अंगलीकी चिकित्सा कर रहे थे उसी कालमें उसे मैलेरिया ज्वरभी हो गया था, जिसपर उस बालकने अनेक बार हमसे चिकित्सा करनेको कहा; परन्तु यह हमारी निर्बलता है जो हमने उसकी चिकित्सा इस लिए नहीं की कि उससे पहिले हम एक बालककी चिकित्सा करके देख चुके थे । उसको १०२° ज्वर था और ताप करनेसे १००½° रह गया परन्तु इसपरभी हमारी आज्ञानुसार वहांके कुछ मूर्खोंने उसे अनार इस लिए नहीं दिया कि कहीं बालकको शीत न आजाय, जिससे हमको बीचहीसे उसकी चिकित्सा छोड़नी पड़ी ।

आगस्ट सन् १९२६ ई० में लखनऊमें हम कुछ रोगियोंकी चिकित्सा कर रहे थे उसी कालमें एक रोगीके दस वर्षीय बालकके पगमें हाकी खेलते समय चोट लग गयी, जिससे वह बहुत विकल था और पगपर शोथ आगया था । यह देखकर उसकी माताने विना हमारी सम्मीत लिए उसको ताप पहुंचाना और मृत्तिका बन्धनका प्रयोग करना आरम्भ कर दिया; और इस प्रकार तीन दिनमें उसका पग ठीककर लिया ।

कल्प

हमारे देशमें किसी समय अनेक प्रकार शरीरका कल्प होता था । किन्तु इस युग में कल्पका होना इस लिए प्रायः असम्भव हो गया है कि मनुष्योंमें अनेक व्यसन उत्पन्न हो गये हैं, और उनके कारण वह स्वास्थ्य रक्षाके नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हैं । किन्तु यदि किसीकी इच्छा हो कि वह आरोग्य रहकर सुखसे जीवन व्यतीत करे और दीर्घायु हो तो उसे चाहिये कि वह कल्प करनेके निमित्त अधिक पतले रसवाले पदार्थोंको सेवन करके अपने शरीरमें रसीले पदार्थोंकी मात्रामें

वृद्धि करनेका इसलिए प्रयत्न करे कि जीवनका आधार रक्तपर है और रक्तकी मात्रा रसोंपर निर्भर है; अर्थात् शरीरमें जितना शुद्ध और अधिक रक्त बनाया जा सकेगा उतनाही शरीर रोग रहित और दीर्घायु होगा। किन्तु बिना ऐसे फलोंके, जिनका रस अधिक पतला नहीं है या भारी है, न तो शरीरको शुद्ध रक्तही प्राप्त हो सकता है और न उस रससे यथेष्ट रक्तही बन सकता है।

कल्प करनेके निमित्त निवासार्थ वैसेही देश, स्थान और घरकी आवश्यकता है जिसका कथन पीछे '**हमारे निवास स्थान**' नामक शीर्षक निबन्धमें हो चुका है और '**मनुष्यका भोजन क्या है?**' इस निबन्धके अनुसार उसके खान-पानकी व्यवस्था होनी चाहिये। सारांश यह है कि कल्प उसीके शरीरका हो सकता है जो पूर्ण रूपेण सात वर्ष पर्यन्त 'प्राकृतिक विज्ञान-' के अनुसार अपना रहन-सहन और आहार-विहार रख सकता है। इसके अतिरिक्त शरीरको स्वच्छ करनेके निमित्त उस समयतक जबतक कि शरीरमें कोई रोग रहे उसकी हमारी चिकित्सा विधिके अनुसार चिकित्सा करनाभी आवश्यक है, और शरीरसे रोग निकल जानेके उपरान्त नित्य धड़-बन्धन प्रयोग करने एवं यदाकदा समस्त शरीरको टब द्वारा ताप पहुँचानाभी आवश्यक है।

उपरोक्त विधिसे सात वर्ष पर्यन्त पूर्णतः 'प्राकृतिक विज्ञान-' के नियमानुकूल जीवन निर्वाह करनेसे शरीरके समस्त दोष दूर हो जाते हैं, और फिर समस्त शरीर स्वच्छ होनेपर ऐसाही सुन्दर, चैतन्य और जीवनमय हो जाता है जैसा एक प्राकृतिक स्वस्थ शरीरको होना चाहिये। क्योंकि कल्प होनेपर अस्थियोंके अतिरिक्त शरीरके समस्त जीर्ण पदार्थोंका नाश होकर उनके स्थानमें नूतन, नवजीवित, चैतन्य और कोमल पदार्थोंका जन्म होता है; प्रत्युत यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि एक बार शरीर फिर नया हो जाता है। परन्तु यह सम्भव तभी है जब कि कल्प करनेवाला प्रकृतिके अनुसार जीवन निर्वाह करके सात वर्ष व्यतीत करे।

जीवनमें जितनी बार शरीरका कल्प किया जायगा उसी परिमाणसे आयुके कालमें वृद्धि होती रहेगी, और अधिक आयु होनेपरभी देखनेमें वृद्ध न प्रतीत होगा। इसके अतिरिक्त कल्प करनेसे यदि प्रकृतिके नियमोंको पालन करता रहे तो

मृत्युके समयतकभी कोई व्यक्ति गर्भाधान करनेकी शक्तियोंसे कभी वंचित न होगा, उसकी त्वचामें झुर्रियां न पड़ेंगी और उसकी आकृतिमें अधिक अन्तर न होगा।

यहांपर कल्पके विषयमें इसीसे अधिक नहीं लिखा है कि वास्तवमें हमने आरम्भके निबन्धोंमें जो कुछ कथन किये हैं वह सब कल्पकेही साधनोंके निमित्त हैं।

इति